(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

अनुप्रेक्षा प्रवचन

प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय भाग

–प्रवक्ता–

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

–सम्पादक–

खेमचंद जैन, सर्राफ

–प्रकाशक–

सुनील जैन, सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,
१८५ए, रन्जीतपुरी, सदर मेरठ (उ०प्र०)
फोन : 2660567

द्वितीय संस्करण
१०००

सन् २००३

लागत मूल्य
७५/-

दो शब्द.....

अध्यात्मयोगी पूज्य क्षुल्लक श्री मनोहर वर्णी सहजानन्द जी महाराज द्वारा रचित अनुप्रेक्षा प्रवचन का द्वितीय संस्करण प्रस्तुत है।

बारह अनुप्रेक्षाओं का जैन आम्नाय में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वस्तु के स्वभाव को बार-बार चिन्तन करने को अनुप्रेक्षा या भावना कहते हैं। अनुप्रेक्षा–तत्व का निर्णय कराने वाली, वैराग्य व सम्यक्त्व उपजाने वाली, व संसार की सही स्थिति कर्मों के नाश व मोक्ष मार्ग दिखाने वाली है–द्वादशांग का सार है। इन्हें वैराग्य की जननी की संज्ञा दी गई है। जैसे माँ पुत्र को जन्म देती है, उसी प्रकार ये सहज स्वाधीन निर्दोष आनन्द को जन्म देती है। इनमें आत्म कल्याण का उपाय निहित है। संसार देह रोगों से विरक्ति उत्पन्न कराने में इनका विशेष योगदान है। जैन धर्म के सारे मुख्य सिद्धान्त–पर्यायो की अस्थिरता, असहायपना संसार की सारहीनता, देह की अशुचिता अकेलापन संसार में अपना कोई नहीं, कर्मों का आश्रव, संवर निर्जरा, लोक की रचना सम्यक ज्ञान की दुर्लभता व धर्म का महत्व व अन्य सभी आवश्यक उपयोगी विषय इनमें गर्भित है। बारह अनुप्रेक्षाओं को अनेक प्रख्यात कवियों व मनीषियों ने अपनी-अपनी शैली में कविता के रूप में सृजन किया है। जिनमें उल्लेखनीय है–श्रद्धेय भूधरदास द्यानतराय दौलतराम मंगतराय व बुध जन। बड़ी श्रद्धा व भक्ति से पूरे देश में इन का पाठ किया जाता है।

परम पूज्य वर्णी जी ने ग्रन्थ में अनुप्रेक्षाओं के साथ-साथ अन्य अनेक उपयोगी विषयों का भी अत्यन्त सुन्दर विवेचन सरल शैली मे किया है। आत्म कल्याण के इच्छुक प्रत्येक मुमुक्ष के लिए इस ग्रन्थ का स्वाध्याय निश्चित रूप से बहुत ही लाभकारी व प्रेरणादायक होगा।

ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है–पहले भाग में अनित्य, अशरण व संसार की विवेचना है। दूसरे भाग में एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर निर्जरा की विवेचना है। तीसरे भाग में लोक, बोधिदुर्लभ व धर्म की विवेचना है।

ग्रन्थ के रचयिता पूज्य श्री वर्णी जी महाराज के सम्बन्ध में कुछ भी लिखना सूरज को दीपक दिखाना है। उनका पूरा जीवन संयम की साधना, धर्म का प्रचार-प्रसार, धर्म की शिक्षा के लिए अनेक स्थानों पर पाठशालाओं का गठन, समाज में जागृति पैदा करना, अनेक ग्रन्थों की टीका या सृजन करने में व्यतीत हुआ है। उन्होंने इतना लिखा है जितना शायद ही किसी ने लिखा हो। उनके सारे ग्रन्थ शास्त्रोक्त अध्यात्म व आगमानुसार सरल भाषा में है। गूढ़ से गूढ़ विषय को छोटी-छोटी कहानियों व उदाहरण के माध्यम से एकदम सरल बनाया गया है जिससे कर्म ज्ञान वाला व्यक्ति भी समझ सके। पद्य रचना में भी वे असाधारण प्रतिभा के धनी थे। उनके कुछ पद बहुत विख्यात हुए है। जिनमें "हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता दृष्टा आतमराम" बहुत ही लोकप्रिय हुआ है। मेरठ व मुजफ्फरनगर को उनकी मुख्य कार्य स्थली रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

ग्रन्थ की स्वाध्याय हम सबको भी स्व को पहचानने व रच पर प्राप्ति की रूचि जागृत करने में माध्यम बने, इस आशा और विश्वास के साथ–

आप ही में एक–
कस्तूर चंद जैन
एकाउंट ऑफिसर, सदर मेरठ।

विषय सूची

क्र०सं०	विषय		पेज
	अनुप्रेक्षा प्रवचन प्रथम भाग		**१-१२३**
१.	अनित्यानुप्रेक्षा		१-२८
२.	अशरणानुप्रेक्षा		२९-४९
	अकालमरण	३८	
	दशलक्षण धर्म	४४	
३.	संसारानुप्रेक्षा		५०-१२३
	नरकगति के दुःख	५३	
	तिर्यंचगति के दुःख	६१	
	मनुष्यगति के दुःख	६९	
	देवगति के दुःख	९१	
	द्रव्य परिवर्तन	१११	
	क्षेत्र परिवर्तन	११४	
	काल परिवर्तन	११४	
	भव परिवर्तन	११७	
	भाव परिवर्तन	१२०	
	अनुप्रेक्षा प्रवचन द्वितीय भाग		**१२४-२३४**
४.	एकत्वानुप्रेक्षा		१२४-१४३
५.	अन्यत्वानुप्रेक्षा		१४४-१५३
६.	अशुचित्वानुप्रेक्षा		१५४-१६३
७.	आस्रवानुप्रेक्षा		१६४-१८०
८.	संवर भावना		१८१-१९८
९.	निर्जरानुप्रेक्षा		१९९-२३४
	अनुप्रेक्षा प्रवचन तृतीय भाग		**२३५-२४१**
१०.	लोकानुप्रेक्षा		२३५-२४१
११.	सहजपरमात्मतत्वाष्टकम्		२४२-२४२

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ परम् पूज्य श्री 105 क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज का संक्षिप्त जीवन परिचय

जन्म नाम	मगन लाल
चिरोंजा बाई जी द्वारा प्रचलित नाम	मनोहर लाल
जन्म तिथि	कार्तिक कृष्ण दशमी ब्रह्ममुहुर्त संवत् 1972, सन् 1915 ई०
जन्म स्थान	ग्राम दुमदुमा, जिला टीकम गढ़ बुन्देल खण्ड (म०प्र०)
पिता का नाम	श्री सिंघवी गुलाब राय जी जैन
माता का नाम	श्रीमती तुलसा बाई जी
शिक्षा	सिद्धान्त शास्त्री, न्याय शास्त्री, साहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ की परीक्षाएँ उर्तीर्ण
शिक्षण कार्य	बरूआ सागर विद्यालय के प्रधानाचार्य तथा अनेक विद्वानों साधु मुनियों के जैन दर्शन के गूढ़ विषयों के अध्यापक
शिक्षा-दीक्षा गुरु	परम् पूज्य गुरुवर 105 क्षु० गणेश प्रसाद जी वर्णी
दीक्षा के बाद नाम	पूज्य 105 क्षु० मनोहर लाल जी वर्णी सहजानन्द महाराज
समाज के प्रति देन	लगभग 500 ग्रंथों की रचना, श्री सहजानन्द शास्त्र माला की स्थापना, प्रवचन प्रकाशिनी संस्था की स्थापना, श्री भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मन्दिर की स्थापना, उत्तर प्रांतीय गुरुकुल हस्तिनापुर की स्थापना व अन्य अनेक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना के प्रणेता
साहित्य सृजन काल	सन् 1942 से सन् 1978 तक
शरीर त्याग	29 मार्च सन्ध्याकाल सन् 1978 त्यागी भवन, मेरठ कैन्ट।

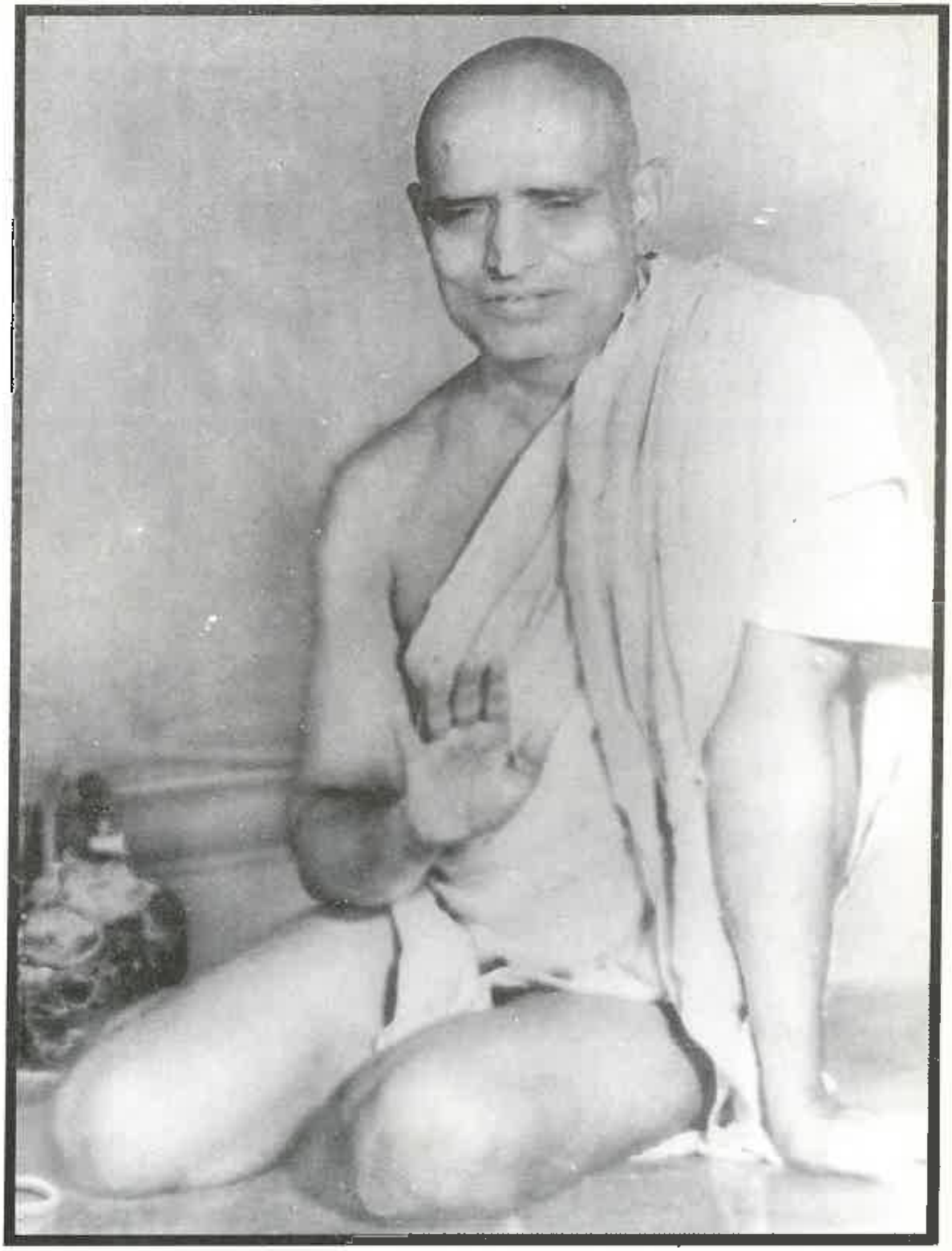

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज

हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

1.	आत्मसम्बोधन					26/-
2.	भागवत धर्म					20/-
3.	द्रव्यसंग्रह प्रश्नोत्तरी टीका					30/-
4.	तत्वार्थ सूत्र संक्षिप्त टीका					10/-
5.	आत्म परिचय					22/-
6.	समयसार सप्तदशांगी टीका					75/-
7.	सहजानन्द वाणी					20/-
8.	धर्म प्रवचन					30/-
9.	सुख कहाँ					10/-
10.	देवपूजा प्रवचन					20/-
11.	समयसार प्रवचन	भाग 1-2	50/-),	भाग 3-5	30/-),	
		भाग 6-9	20/-),	भाग 10-12	25/-),	
		भाग 13-15	50/-),	पूरा सैट	175/-)	
12.	सुख यहाँ	भाग 1-2	75/-),	भाग 3-4	55/-)	
13.	भक्तामर स्तोत्र प्रवचन					10/-
14.	ज्ञानार्णव प्रवचन	भाग 1-2	10/-),	भाग 3-5	25/-)	
		भाग 6-11	25/-)			
15.	सिद्ध भक्ति प्रवचन					12/-
16.	शान्ति भक्ति प्रवचन					10/-
17.	अनुप्रेक्षा प्रवचन	भाग 1-3	75/-),	भाग 4-6	10/-)	
18.	पुरुषार्थ सिद्धयुपाय प्रवचन					20/-
19.	स्वरुप सम्बोधन प्रवचन					12.50/-
20.	रत्नकरंड श्रावकाचार प्रवचन					60/-
21.	परमात्म आरती प्रवचन					12.50/-
22.	मोक्षशास्त्र प्रवचन	भाग 1-2	70/-),	भाग 3-4	14/-)	भाग 5-10 15/-
		भाग 11-12	20/-),	भाग 13-18	14/-),	भाग 19-21 10/-
		भाग 22-24	12/-),	पूरा सैट	155/-),	
23.	ज्ञानामृत प्रवचन					25/-
24.	सूत्रपाहुड प्रवचन, शीलपाहुड प्रवचन					18/-
25.	भावपाहुड प्रवचन					40/-
26.	मोक्षपाहुड प्रवचन					25/-
27.	सुभाषित रत्न संदोह प्रवचन					70/-
28.	रयणसार प्रवचन					60/-

आत्म-कीर्तन

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।

मैं वह हूं जो है भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।२।।

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निज को निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान।।३।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।५।।

आत्मरमण एवं मंगलतंत्र

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहजज्ञान घन स्वयंपूर्ण। हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मै०।।1।।
हूँ खुदका ही कर्ता भोक्ता परमें मेरा कुछ काम नहीं। परका न प्रवेश न कार्य वहां, मै०।।2।।
आऊ उतरूरमलूं निजमें निजकी निजमें दुविधा ही क्या। निज अनुभव रससे सहजतृप्त, मै०।।3।।

ओम् नमः शुद्धाय, ओम् शुद्धं चिदस्मि

मैं ज्ञानमात्र हूँ, मेरे स्वरूप में अन्य का प्रवेश नहीं, अतः निर्भार हूँ,
मैं ज्ञानघन हूँ, मेरे स्वरूप में अपूर्णता नहीं, अतः कृतार्थ हूँ।
मैं सहज आनन्दमय हूँ, मेरे स्वरूप में कष्ट नहीं, अतः स्वयंतृप्त हूँ।,

ओम् नमः शुद्धाय, ओम् शुद्धं चिदस्मि
ज्ञानघन सहजानन्दमय सहजात्मस्वप। जयवन्त होओ।

श्री वीतरागाय नमः

पूज्यपाद श्री कार्तिकेयाचार्य विरचितः

अनुप्रेक्षा प्रवचन प्रथम भाग

प्रवक्ता–अध्यात्म योगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर लाल जी वर्णी 'सहजानन्द महाराज'

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जना शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।।
तिहुवण-तिलयं देवं वंदित्ता तिहुवणिंदपरिपुज्जं।
वोच्छं अणुपेक्खाओ भविय–जणाणंद–जणणीओ।।1।।

देववन्दनपूर्वक अनुप्रेक्षावों के वर्णन का संकल्प–तीन भुवन के तिलक परमात्मतत्त्व को नमस्कार करके भव्य पुरुषों को आनन्द देने वाली भावनाओं को कहूंगा। भावना कहते हैं बार-बार हितरूप तत्त्व का विचार करने को। जिससे जीवों का हित हो उसके अनुसार बार-बार ईक्षण करना, प्रकर्ष रूप से निहारना इसे कहते हैं अनुप्रेक्षण। इस प्रसंग में नमस्कार किया जा रहा है भगवान जिनेन्द्र को। इसका कारण यह है कि अनुप्रेक्षा का फल जिन्होंने पाया है उनकी ओर दृष्टि देने से अनुप्रेक्षाओं के विचार में हमारा उत्साह जगता है। अनुप्रेक्षायें 12 हैं, जिनका विस्तार रूप से ग्रन्थ में वर्णन है, जिनके नाम स्वयं अगले श्लोक में आयेंगे, पर इस प्रकरण में थोड़ा जानने के लिए कहा जा रहा है जैसे **अनित्य भावना**–जगत् में जितने भी समागम हैं वे विनाशीक हैं। इस सम्पर्क के अन्दर उन ही चीजों में जो उनका द्रव्य है, मूल तत्त्व है, अविनाशी है वह तो नित्य है लेकिन वह मुझसे निराला है। मुझमें जो मनुष्य, पशु, पक्षी आदिक बनने, इच्छायें, कषायें जगने व भिन्न-भिन्न जानकारियां करने आदिक की बातें हैं वे सब अनित्य हैं, विनाशीक हैं। इन सबके अन्दर जो एक ज्ञानस्वभाव है, चैतन्यस्वरूप है वह नित्य है। अनित्य को अपनाये नहीं और निज नित्य पर दृष्टि दे यह फल है अनित्य भावना भाने का। **अशरण भावना**–जगत में जितने भी सम्बन्ध हैं–स्त्री, पुत्र, मित्रादिक वे सब मेरे लिए अशरण हैं, मेरे को सहाय नहीं हैं। लोक में थोड़ा बहुत जो कुछ सहाय नजर आता है सो मेरा ही भाव भला है, मेरा ही पूर्वकृत पुण्य है जिनके फल में कुछ सहाय नजर आ रहे है, किन्तु उन वस्तुओं की ओर से ऐसा कुछ भी नहीं है कि वे मुझे सहाय हो सकें। मेरे लिए सहाय कुछ है तो मेरा ही भाव, मेरा धर्म, मेरा विश्वास, मेरा ज्ञान, मेरा आचरण, ये मेरे लिए शरण हैं। ऐसी ही अनेक भावनायें जिनका कि वर्णन होगा वे भावनायें हमारे हित के कारण है और इन भावनाओं को भाकर जिन महान् संतों ने फल पाया है, कर्मों का नाश किया है, परमात्मपद पाया है उनका यहां स्मरण किया

त्रिभुवनतिलक देव को वन्दन–ये भगवान् जिनेन्द्र तीन लोक के तिलक हैं अर्थात् तीनों लोक में जितनी आत्मा हैं उन सब में श्रेष्ठ हैं। जिस मनुष्य में दोष न हों, गुणों का आधार हो, लोग उसी को तो श्रेष्ठ कहेंगे, किन्तु यह व्याख्या मनुष्यों की सीमा के अन्दर है। मनुष्य में जो दोष हो सकते हैं वे दोष न हों और जो गुण सम्भव हो सकते हैं वे गुण हों उस मनुष्य को श्रेष्ठ कहेंगे। तो इन सब जीवों में श्रेष्ठ, महान्, उत्कृष्ट आत्मा कौन है? सो ऐसे उत्कृष्ट आत्मा है भगवान वीतराग सर्वज्ञदेव, जिनके रागद्वेष रंच न रहा, विकार कर्म भी जिनके दूर हो गए, तथा ज्ञान दर्शन आदि गुण पूर्ण विकसित हैं। अरहंत अवस्था में शरीर रहता है, पर वह है परमौदारिक दिव्य देह और आयु के अन्त में उस देह का भी अभाव हो जाता है तब देहरहित भगवान होते हैं। देह सहित भगवान का नाम है अरहंत और देह रहित भगवान का नाम है सिद्ध। भगवान दोनों हैं, केवल बाहरी सम्पर्क का अन्तर है। अरहंत और सिद्ध में। अरहंत के साथ अभी शरीर का सम्बन्ध है और सिद्ध के साथ शरीर का सम्बन्ध नहीं रहा। यहां अरहंत के अभी अघातिया कर्म साथ हैं और सिद्ध के साथ अघातिया कर्म भी नहीं रहे। तो ये दोनों प्रभु हैं अरहंत और सिद्ध, वीतराग सर्वज्ञ यह सब किसका फल है? यह है उन अनुप्रेक्षाओं का फल। जैसे मां पुत्र को पैदा करती है इसी तरह अनुप्रेक्षायें शुद्ध आनन्द को पैदा करती है। शुद्ध स्वाधीन सहज निर्दोष आनन्द मिलता है इन बारह भावनाओं के चिन्तन से। तो वे तीन लोक के तिलक हैं क्योंकि दोष कुछ मिलता नहीं गुण समस्त पूर्ण हो गए। काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, इच्छा, जन्ममरण करना आदिक दोष रहे नहीं वही तो देव है, वही प्रभु है। गुण क्या होता है जीवन में? ज्ञान, दर्शन, आनन्द, चरित्र, श्रद्धा, अपने आप में मग्न रहना, शुद्ध आनन्द का निरन्तर अनुभव करना। जैसा आत्मा का सहज शुद्ध स्वरूप है वैसा ही स्वरूप प्रकट हुआ यही तो गुण है, सो ऐसा गुण जहां प्रगट हुआ है और दोष जहां एक नहीं है वह तीन लोक के सब जीवों में तिलक है, सर्वोत्कृष्ट है।

त्रिलोकपूज्य जिनेन्द्रदेव का वन्दन–जिनेन्द्रदेव तीन लोक के इन्द्रों के द्वारा परिपूज्य हैं। अधो, मध्य और ऊर्ध्व इन तीनों लोकों के इन्द्र जिनकी पूजा करते है। ऊर्ध्व लोक के इन्द्र 16 स्वर्गो के इन्द्र हैं, मध्य लोक के इन्द्र, चक्रवर्ती तो मनुष्यों में है और सिंह तिर्यञ्चों का इन्द्र है। अब अधो लोक का इन्द्र कौन है? पाताल लोक के नीचे रहने वाले प्राणियों का इन्द्र कौन है? तो इस पृथ्वी के नीचे पृथ्वी के बीच में तीन रचनायें है, तीन भाग है। शुरू के दो भागों में भवनवासी और व्यन्तर देवों के स्थान है और नीचे के भाग में नारकियों का निवास है। फिर उससे नीचे 6 नरकपृथ्वी और हैं। नारकियों के इन्द्र नहीं होते। भवनवासी और व्यन्तर इनके इन्द्र होते हैं, वे भी भगवान जिनेन्द्र के चरणकमल की वंदना करते हैं। वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र तीन लोक के इन्द्रों के द्वारा परिपूजित हैं, सो ऐसे भगवान जिनेन्द्र की वंदना करके भव्य जीवों को आनन्द उत्पन्न करने वाली अनुप्रेक्षाओं को कहेंगे। इस ग्रन्थ के रचने वाले स्वामी कार्तिकेय ऋषि हैं। प्रथम छंद में अनुप्रेक्षाओं के वर्णन का संकल्प करते है। ये अनुप्रेक्षायें भव्य जीवों को आनन्द उत्पन्न करती हैं। भव्य किसे कहते है? जिनकी सिद्धि निकट काल में होने वाली हो उनको कहते हैं भव्य। उन भव्यों में आनन्द हर्ष, अनन्तसुख उत्पन्न करने वाली ये अनुप्रेक्षायें माता की तरह हैं। उन अनुप्रेक्षाओं को कहूंगा।

देववन्दन–इस मंगलाचरण में देव को नमस्कार किया है। देव मायने क्या? तो देव शब्द में कितने ही भरे हुए है, जो दीव्यन्ति अर्थात् क्रीडन्ति जो क्रीड़ा करते है, रमण करते है परम आनन्द में, आत्मीय शुद्ध में जो खेलते रहते हैं उन्हें कहते हैं देव। कौन हैं ऐसे देव, जो उत्कृष्ट आनन्द में क्रीड़ा करते रहे

हैं अरहंत और सिद्ध। देव कहते हैं उन्हें जो कर्मों को जीतना चाहते है और जो कर्मों को जीत लेते हैं। मायने पंचपरमेष्ठी। अथवा देव का अर्थ है जो सूर्य से भी अधिक तेज़ के साथ प्रकाशमान हों उन्हें देव कहते हैं। ऐसा कौन है ऐसे हैं ये भगवान जिनेन्द्र अरहंतदेव। जिनके बाह्य में भी प्रभा है, पर अन्तरङ्ग प्रभा तो देखिये कि सूर्य का काम है अंधकार दूर करना, लेकिन अज्ञान अंधकार को दूर करने की सामर्थ्य सूर्य की किरणों में भी नहीं है और उस अज्ञान अंधकार को जो नष्ट कर सके, ऐसा जो प्रकाश स्वरूप हो उसे कोटि सूर्यो से भी अधिक तेजस्वी कहेंगे। अथवा देवका अर्थ है जो धर्म की परिपाटी चलाये उसे देव कहते हैं। ऐसा कौन है जिससे कि धर्म की परिपाटी चलती है? वे हैं अरहंत जिनेन्द्रदेव। जो लोक ओर अलोक समस्त विश्व को जानता है उसे देव कहते हैं। ऐसा कौन है? वे हैं वीतराग सर्वज्ञ अर्हन्त। अथवा जो अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का स्तवन करे, उपासना करे उसे कहते हैं देव। ऐसा कौन है? ऐसे हैं आचार्य, उपाध्याय और साधु स्वरूप प्रभु। अपने चैतन्यस्वरूप का स्तवन करते हैं, भक्ति करते हैं, गुणगान करते हैं, वे हुए देव। ऐसे तीन लोक के तिलक जगत में श्रेष्ठ सर्व इन्द्र धरणेन्द्रों द्वारा पूज्य प्रभु को वंदन करके अनुप्रक्षाओं को कहूंगा। अब 12 अनुप्रेक्षाओं का नाममात्र निर्देश दो गाथाओं से करते हैं।

अद्धव असरण भणिया संसारामेगमण्णमसुइत्तं।
आसव-संवर-णामा णिज्जर–लोयाणुपेहाओ।।2।।
इय जाणिऊण भावह दुल्लह–धम्माणुभावणा णिच्चं।
मण-वयण-काय-सुद्धी एदा दस दो य भणिया हु।।3।।

अनुप्रेक्षाओं के नामनिर्देश व प्रथम अध्रुवानुप्रेक्षा–अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर,निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मभावना, इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओं को जानें और मन, वचन, काय को शुद्ध करके इन १२ अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करें। इन सब भावनाओं का विस्तार रूप से वर्णन एक-एक प्रकरण में आयेगा फिर भी प्रकरण के कारण इन बारह अनुप्रेक्षाओं का थोड़ा भाव अभी जान लीजिये। अध्रुव अनुप्रेक्षा किसे कहते है? अध्रुव अर्थात् जो ध्रुव नहीं, नित्य नहीं, ये सब कुछ अध्रुव हैं। जो हमारे सम्पर्क में व्यवहार में ये सब समागम हैं वे अध्रुव हैं। इस प्रकर का चिन्तन होना सो अध्रुव अनुप्रेक्षा है।

अशरण भावना नामक द्वितीय अनुप्रेक्षा–कुछ शरण नहीं है। किसी भी जीव को इस लोक में अन्य कुछ भी शरण नहीं है? इस प्रकार निगाह बनाना, इस प्रकार चिन्तन बनाना सो अशरण अनुप्रेक्षा है। हम आपको सदा अपने भावों की संभाल रखना चाहिए। जरा-जरा सी बातों में हम अपने स्वरूप से चलित हो जायें, क्रोध, मान, माया, लोभादिक के वशीभूत हो जायें, इच्छाओं के आधीन हो जायें, यह खुद के अनर्थ के लिए बात है। यहां कोई किसी का रक्षक नहीं है। लोगों का यह घमंड करना बेकार है कि हमारी ऐसी अच्छी स्थिति है, हमारे पास इतनी सेना है, इतने मित्रजन है, इतना वैभव है, हम पूर्ण रक्षित हैं? अरे ऐसा घमंड करने की गुंजाइश कहां है? जब खुद का भाग्य प्रतिकूल होता है तो सबके सब एक साथ किनारा कर जाते हैं। जब बड़े-बड़े तीर्थंकर जैसे महापुरूष भी कर्म विपाक से छूटे नहीं, भले ही उन्होंने ज्ञान के बल से समता धारण की, उस कर्मविपाक से उनके आत्मा का बिगाड़ न हो सका। लेकिन देखो तो सही कि जिस आदिनाथ भगवान के कर्मभूमि के आदि में प्रजा को शरण दिया, भूलीभटकी प्रजा जो बड़ी विपत्ति में पड़ी हुई थी उसको शरण दिया। असि, मसि, कृषि आदिक सब धंधों का उपदेश दिया, प्रजा किस तरह सुख से रह सके, ये सब विधान बनाये अर्थात् जो प्रजा के

एक हस्तावलम्बन थे वे आदिनाथ मुनि होने पर 6 माह तक की तो उपवास की प्रतिज्ञा ही थी, उस विषय में तो कुछ कहना ही नहीं, लेकिन 6 माह के उपवास के बाद आहार को निकले तो 6 माह तक अन्तराय हुआ। इतने बड़े महापुरूष कि जिनकी प्रसन्नता का साधन इन्द्र बनाया करता था, देव जिनकी सेवा में रहा करते थे वे आदि जिनेन्द्र मुनि अवस्था में आहार को निकले, 6 महीने तक आहार के लिए निकले, पर अन्तराय होता रहा, तो यह कर्मविपाक नहीं है क्या? है कर्मविपाक। उन्होंने समता से सहा। सहा क्या समता रखी? कुछ बिगाड़ न हो सका। पर कर्मविपाक तो हुआ। तीर्थंकर पर उपसर्ग नहीं होता, लेकिन पार्श्वनाथ जैसे अनेक महापुरूषों पर मुनि अवस्था में उपसर्ग हुए। केवली होने पर तो उपसर्ग हो ही नहीं सकता। पर मुनि अवस्था में तो उपसर्ग हुए। तो जब ऐसे-ऐसे महापुरूषों पर भी उपसर्ग आये तो फिर हम आप जैसे साधारण जन किस बात पर अभिमान लायें कि हम हर तरह से उत्कृष्ट है, हमने अपना प्रोग्राम बहुत बढ़िया बना रखा है, अब हमको कोई तकलीफ नहीं मिल सकती। यह सब सोचना बिल्कुल व्यर्थ है। पता नहीं कब क्या हो जाय? तो भला इसी में है कि निरन्तर अपने परिणामों की संभाल रखने की कोशिश करें, क्षमा की प्रकृति बनायें। किसी से कोई अपराध बने, क्षम्य समझकर उसे क्षमा करें। कभी किसी प्रसंग में कितनी भी वृद्धि हो तब भी अपने को अभिमान न आये। जगत में कोई वस्तु सारभूत नहीं है। किसके लिए छल कपट करना? जो बात सही है उस सही बात को निभाना है। छल कपट का क्या काम? लोभ किसका करना? खूब कमाते जावो, जोड़ते जावो, एक समय में सारा का सारा छोड़कर जाना होगा। उसमें से कुछ भी वस्तु साथ जा सकेगी क्या? यह आत्मा अमूर्त ज्ञानपुञ्ज देह से निकल गया, बस सब यहीं का यही धरा रह जायेगा। किसका लोभ करें, यह सब जानकर यही निर्णय करें कि हमारा परिणाम नीतिपूर्ण होगा तो वह मेरे लिए शरण है, अन्य कुछ मेरे को शरण नहीं है, इस प्रकार का चिन्तन करना अशरण अनुप्रेक्षा है।

संसारानुप्रेक्षा नामक तृतीय अनुप्रेक्षा–संसार नाम है संसरण का, परिभ्रमण का। परिभ्रमण को संसार कहते है, वह 5 प्रकार का है–द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार। प्रकरण पाकर इस सम्बन्ध में कहा जायेगा, पर मोटे रूप से विचार करना कि इस संसार में यह जीव अनादिकाल से भ्रमण करता चला आया है। यहां कुछ भी वस्तु सुखदायी नहीं है। जितना सम्पर्क मिला यह सब दुःख का हेतु है। जब तक कर्मों का बन्धन है तब तक काहे की कुशलता? थोड़े से जीव को सुखसाधन प्राप्त हो गए तो इसमें क्या कुशलता मानना? कर्मबन्ध न रहे, कर्मरहित हो जाय, निष्कर्म केवल ज्ञान पुञ्ज, ऐसा ही हो जाय तो उसमें इस जीव को लाभ मिला समझिये, कर्मबन्धन के काल में कोई राजा महाराजा इन्द्र, वैभववान भी हो जाय तो उसमें कुशलता क्या है? संसार सारा दुःखमय है ऐसा चिन्तन करना सो संसार अनुप्रेक्षा है।

एकत्वानुप्रेक्षा व अन्यत्वानुप्रेक्षा नाम की चतुर्थ व पञ्चम अनुप्रेक्षा–एकत्व अनुप्रेक्षा–एक के निज का जो भाव है उसे एकत्व कहते है। यह मैं निज एक ज्ञानस्वरूप सबसे निराला अपने स्वरूपमात्र हूं, अकेला हूं, केवल चैतन्मात्र हूं, इस तरह का चिन्तन होना एकत्वानुप्रेक्षा है। अन्यत्वानुप्रेक्षा अन्य पदार्थों के भाव को अन्यत्व कहते हैं। शारीरादिक अन्य पदार्थों का जो स्वरूप है वह अन्यत्व है। उसका चिंतन करना अन्यत्व अनुप्रेक्षा है। देह भी निराला है, परिजन, कुटुम्ब, वैभव, सम्पदा आदिक सब मुझसे अलग हैं, ऐसा विचार करने को अन्यत्व अनुप्रेक्षा कहते हैं।

अशुचित्वानुप्रेक्षा नाम की छठवीं अनुप्रेक्षा–जो शुचि नहीं है उसे अशुचि कहते हैं। कौन सी वस्तु ऐसी

है जो अपवित्र है? इस पर विचार करो। लोग सोचेंगे कि नाली का पानी है अशुचि। उसकी छींट पड़ जाय तो लोग नहाते हैं। अरे, वह नाली का पानी क्यों अशुचि है? वह पानी भरे हुए कीड़ों का समुदाय है। तो आखिर क्या रहा अपवित्र? देह रहा अपवित्र। तो इस देह की अपवित्रता का चिन्तन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है। अभी जिस देह को हम आप लादे बैठे है उस देह की ही अपवित्रता सोचिए। इसमें क्या भरा है? हाड़, मांस, मज्जा, खून आदिक महा अपवित्र चीजें भरी हैं। और प्रकट भी दिखता है। इस शरीर में 9 द्वार हैं, जिनसे मल, मूत्र, नाक, थूक आदिक बहते रहते हैं। इस शरीर के अन्दर कोई पवित्र चीज नहीं दिखती, लेकिन ये मोही प्राणी इस अपवित्रता पर निगाह ही नहीं डाल पाते और उन्हें यह शरीर बड़ा भला प्रतीत होता है। इस शरीर की अपवित्रता का चिन्तन करना सो अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक बोधिदुर्लभ व धर्म भावना नाम की अन्तिम 6 भावना—आस्रवानुप्रेक्षा—कर्म झड़ते रहें, आते रहे। आत्मा हो में विश्रसोपचयरूप बंधी हुई कार्माणवर्गणायें कर्मरूप होती रहें, सो यह सब अनर्थ है ऐसा चिन्तन करना व वे क्यों होती है उनके कारण पर चिन्तन करना आश्रवानुप्रेक्षा है। संवरानुप्रेक्षा कर्मों के आगमन को रोक देना, नवीन कर्मों का प्रवेश न करने देना उसे संवर भाव कहते है। उस संवर की शरणरूपता आदिक का चिन्तन करना सो संवरानुप्रेक्षा है। निर्जरानुप्रेक्षा—कर्मों का एकरूप झरना, दूर होना इसे निर्जरा कहते हैं। यह भला है, इसमें मुक्ति का मार्ग हैं, आदिक विचार करना निर्जरानुप्रेक्षा है। लोकानुप्रेक्षा—जहां जीव आदिक पदार्थ देखे जायें उसे लोक कहते है। इस लोक में अज्ञानवश यह जीव समस्त प्रदेशों पर अनन्त बार पैदा हुआ और मरा। यहां कोई जगह सारभूत नहीं है। लोककी रचना आदिक का विचार करना लोकानुप्रेक्षा है। बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा—बोधि सम्यग्ज्ञान, चारित्र, धर्म ये कठिनता से प्राप्त होते हैं, ऐसा चिन्तन करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है और अन्तिम अनुप्रेक्षा है धर्मानुप्रेक्षा। जो उत्तम पट् धारण करा दे उसका नाम धर्म है। उस धर्म का अनुभवन करना, धर्म भाव का बार-बार चिन्तन करना, धर्म के फल का विचार करना, धर्म के चिन्तन में उत्साहित होना, इन सब भावों को धर्मानुप्रेक्षा कहते हैं। इस प्रकार ये 12 अनुप्रेक्षाओं का नाम है जिनका वर्णन अब क्रमशः किया जायेगा।

जं किंचि वि उप्पण्णं तस्स विणासो हवेइ णियमेण।
परिणाम-सरूवेण विण य किंचि वि सासयं अत्थि।। 4।।

अध्रुव भावना का वर्णन—अब अनित्य भावना का वर्णन करते हैं। लोक में जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है उसका नियम से विनाश होता है। पर्यायदृष्टि की अपेक्षा से तीन लोक में कुछ भी शाश्वत नहीं है। वस्तु का स्वरूप है यह कि वह नवीन पर्यायों से उत्पन्न हो और पुरानी पर्यायें उसमें विलीन हों और उसका सत्त्व सदा वही रहे। तो यहां वस्तु में जो उत्पाद व्यय है उसका तो सम्बन्ध पर्याय से है और जो सदा शाश्वत रहने का भाव है, अभेददृष्टि से वह द्रव्यपना है। और भेददृष्टि से उसमें ऐसे अनेक गुण हैं, वस्तु में द्रव्य और पर्याये ये दो तो माननी ही पड़ती हैं। अब इस द्रव्य को भेद दृष्टि से देखें तो गुण की कल्पना हुई और पर्याय की भेद की दृष्टि से देखें तो एक समय में अनेक पर्यायों की कल्पना हुई। तो द्रव्यत्व और गुणत्व की दृष्टि से पदार्थ नित्य है और पर्यायदृष्टि से पदार्थ अनित्य है। इस भावना में यह बात मुख्यतया बतायी है कि जीवों को इन अनित्य पदार्थों में राग और मोह उत्पन्न होता है। सो जिनमे वह जीव राग मोह करता है वे सब पदार्थ विनाशीक हैं।

मोही का विपरीत अध्यवसाय—इस मोही जीव को ऐसा भान है कि ये सब पदार्थ मेरे ही तो हैं। मेरे से

अलग कहां जायेंगे? अथवा ऐसा दृढ़ अध्यवसाय है इस मोही जीव का—कि वह समझ नहीं पाता कि यह मुझसे निराला है। इन पर पदार्थों को वह ऐकमेक कर डालता है। जगत में लड़ाई और किस बात की है? बस इस मोह राग का ही तो कलह है। एक वस्तु है वह तो जो है सो है, जहां है तहां है। मेरा तो किसी अन्य से सम्बन्ध नहीं। अब सम्बन्ध मानने वाले लोग उस एक वस्तु में चाहते हैं स्वामित्व व स्थायित्व और उसके अभिलाषी हैं अधिक एवं वह चीज होती है वियुक्त, सो वहां तो झगड़ा होगा ही। इस मोही जीव को बाह्यपदार्थों में जो मोह और मिथ्यात्व जगा है सो उसमें उसकी सीमा भी नहीं है। प्रत्येक मोही जीव यह चाहते हैं कि तीनों लोगों का समस्त वैभव मेरे ही पास आये, और वह वैभव तो गिनाचुना है, जो है सो है, जैसा सामने है। प्रत्येक जीव सभी वैभवों को चाहते हैं। तो यह व्यवस्था कैसे बने? मनचाहा हो नहीं पाता, अतएव मोही जीव दुःखी है। कोई पुरूष सन्तोषी भी हो, जो पाया उससे अधिक कुछ भी नहीं चाहता, फिर भी जिसमें संतोष कर रहा है, वह वस्तु है तो बाह्य, भिन्न, विनाशीक। उससे भी उसका क्या लाभ? दुःख यही है कि विनाशीक चीजों में हम अनुराग करते है कि यह मेरी ही है, मेरी ही रहेगी, मेरी ही थी, किन्तु इस पर किसी का क्या अधिकार? वस्तुत्व से विपरीत जो पर वस्तु के सम्बन्ध में मिथ्याभाव है, यही दुःखी करने वाला है।

वस्तु का अन्तः बाह्य स्वरूप—जरा इन वस्तुओं में अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग स्वरूप को तो देखो—जो बाह्य में वस्तुवें हैं, उनका जो बाहरी रूप है, जैसा उनका आकार प्रकार है, वे सब परिणमन विनाशीक है, किन्तु उनमें जो परमाणु हैं वे द्रव्य हैं अविनाशी। परन्तु परमाणुवों से मोह कौन करता है? जो भी मोह करता है इन दृष्यमान स्कंधों में करता है। यदि इन दृष्यमान पदार्थों में अन्तः रहने वाला स्थायी जो परमाणु हैं, सबसे छोटा अंश है, जो आंखों को नहीं दिख सकता है, उससे किसी को मोह नहीं जगता। वह नित्य है और अपने आपमें जो यह शरीर है, आकार मुद्रा है, पशु हो, पक्षी हो, मनुष्य हो, ये सब पर्यायें विनाशीक हैं। इनमें अन्तः जो ज्ञानस्वरूप तत्त्व है, आत्मा है वह द्रव्य है। उससे मोह कौन करता है? घर में रहने वाले लोग एक-दूसरे से मोह करते है वे कोई भी किसी की आत्मा से मोह नहीं करते। उस जीव का जो पर्याय है, शरीर है अथवा कल्पना में आया हुआ उसका कोई अंतः रूप है, विभाव पुञ्ज है उससे मोह करता है। ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व से कोई मोह नहीं करता। तो जो नित्यतत्त्व है अपने में या बाह्य पर पदार्थों में, उस तत्त्व से कोई मोह नहीं करता। जो मोह करता है वह पर्यायों से मोह करता है। पदार्थ का स्वरूप यथार्थ समझने पर मोह नहीं ठहरता। जो जीव मोह कर रहे हैं उन्हें पदार्थ के सत्यस्वरूप का भान ही नहीं है। जीव कभी पैदा नहीं होता, और कभी मरता भी नहीं। इस तत्त्व का जिन्हें भान हो वे जीव उस सम्बन्ध में व्यामोह तो न कर सकेंगे। जो मोह किये जा रहे हैं वे शरीर तो जड़ हैं, उनसे मैं लुटुंगा क्या? जो ज्ञानभाव है उसमें मोह करने की किसी को कल्पना ही नहीं होती। तो यथार्थस्वरूप का परिचय हो जाय तो वह पुरूष फिर मोह नहीं कर सकता। लोग सब मोह से ही परेशान है और मोह से मिलता कुछ नहीं। जो भी बाह्य में दृश्यमान है वह पर्याय है। द्रव्य भी साथ है, गुण भी साथ है मगर मोही जीव को द्रव्य और गुण का परिचय नहीं है। जो कुछ भी समझता है, पहिचानता है वह पर्याय को ही सर्वस्व जानता हुआ पहिचानता है।

व्यामोहविपदाविनाश का उपाय वस्तुस्वरूप का यथार्थ परिचय—द्रव्यगुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का यदि स्वरूप कोई समझ जाय तो वहां अज्ञान अंधकार, व्यामोह, आकुलता आदि ये कुछ भी नहीं ठहर सकते। जैसे (स्वर्ण) सोने में गुण भी है और पर्याय भी है, सोना चौकोर है या आभूषणों है, वह पर्याय है और सोने का रूप समझ लो पीलापन, एक दृष्टान्त में ही कह रहे हैं, तो गुण सदा वही रहता है, पर्यायें बदलती हैं। तो सोना

सदा पीला रहेगा और पर्यायें, उसकी मुद्रा, आकार, आभुषण ये सब बदलते रहेंगे। गुण पीलापन सोने से अलग चीज नहीं है, ऐसे ही आत्मा में देखो तो आत्मा एक द्रव्य है, अपने-अपने आत्मा को देखो—उसमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक अनेक गुण हैं और उसमें जो पर्यायें बन रही हैं पशु-पक्षी नरक निगोद, मनुष्य देव आदिक की और जो इच्छायें, कषायादिक भाव जग रहे हैं वे सब पर्यायें हैं। पर्यायें नष्ट होती हैं, द्रव्य नष्ट नहीं होता। यहां किसी ने कुछ गाली दे दी या अनबन जैसी बात कह दी तो विवेक करना चाहिए कि प्रथम तो यह जो आत्मा है वह तो सहज ज्ञानस्वरूप है, उसमें तो अपराध नहीं है। अब उपाधिवश कर्मोदयवश इसके विपरीत परिणमन होता है, उसमें यह भूला है, इस बेचारे का क्या अपराध है? यह तो एक पर्याय की बात हो रही है। जैसे कोई शराब पिये हुए हो और वह गाली देवे तो भले लोग यह जान कर कि इस बेचारे का क्या अपराध है? शराब पिये हुए है सो इसकी बुद्धि बिगड़ी है और उस बिगड़ी बुद्धि में बक रहा है, उस शराबी पर कोई गुस्सा तो नहीं करता। जैसे—कोई पागल हो और वह दसों गालियां बकता है और सुनने वाले जानते हों कि यह पागल है तो सुनने वाले कोई उस पर गुस्सा तो नहीं करते। वे जानते है कि यह पुरूष नहीं सब कुछ बक रहा, इसका यह पागलपन बक रहा है, तो यों ही जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी समझदार पुरूष है वे दूसरे की विपरीत परिणति देखकर, प्रवृत्ति निरखकर समझते है कि यह तो बेचारा निरपराध है, इसमें उपाधिवश यह व्यामोह आया है और उस व्याहमोह से यह अपनी इस प्रकार की प्रवृत्ति कर रहा है, यह जो स्वयं द्रव्य है इसमें कोई अपराध नहीं। ज्ञानी जीव इसीलिए क्रोध में नहीं आते। फिर अपने आपके बारे में भी विचारें कि इस दूसरे पुरूष ने जिसको गाली दी है वह मैं नहीं। इसने तो इस शरीर को ही देखकर गाली दी है। शरीर मैं नहीं हूं। मुझ तक गाली नहीं पहुंची। तो जैसे कोई दूसरे को कुछ कहे तो मैं तो आकुलित नहीं होता, इसी तरह ये लोग भी इस दूसरे को कह रहे हैं, इस शरीर को कह रहे हैं, उसमें मुझे आकुलित क्यों होना चाहिए? ये सब दृश्यमान् विनाशीक हैं, मैं अविनाशी तत्त्व हूं।

अध्रुवतत्त्व के व्यामोह से छूटकर ध्रुवतत्त्व के परिचय के लिए अध्रुवभावना—इस लोक में दृश्यमान् यह सारा समागम विनाशीक है। इस विनाशीक समागम में अनुराग करने से कर्मबन्ध है, मिथ्यात्व की बढ़वारी है, अपनी बरबादी है, ऐसा जानकर ज्ञानी पुरूष अनित्यता का मोह छोड़कर अपने नित्य ज्ञानमात्र स्वरूप की उपासना करते हैं। तो अनित्य भावना में यह विचार चल रहा है कि यह सब कुछ अनित्य है। इस विचार के साथ, अनित्य जानने के साथ यह भी प्रतीति करना चाहिए और भाव रखना चाहिए कि इन सब में जो द्रव्य है वह नित्य है। उस द्रव्य के लक्ष्य से कोई व्यवहार करता ही नहीं है। मैं जो आत्मद्रव्य हूं नित्य हूं, यह मैं आत्मद्रव्य नित्य किसी से व्यवहार नहीं करता तथा कोई इस मुझ नित्य आत्मद्रव्य से व्यवहार नहीं किया करता। जो कुछ पहिचान हो रही है, जो कुछ लड़ाई हो रही है, जो कुछ झमेला चल रहा है, वह सब इन दृश्यमान पुद्गल स्कंधों के साथ और झमेला कर रहा है यह भूलाभटका व्यामोही संसारी जीव। अपने को दुःख से छूटना है, शान्ति में आना है तो उसके लिए एकमात्र यही उपाय है कि हम अध्रुव परतत्त्वों से दूर हों और ध्रुव ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व में प्रतीति बनायें।

जम्मं मरणेण समं संपज्जई जोव्वणं जरा-सहियं।
लच्छी विणास-सहिया इय सव्वं भंगुरं मुणह।।5।।

जन्म की मरणसहितता—जन्म तो मरण के साथ बंधा हुआ है। यौवन जरासहित है, लक्ष्मी विनाश सहित है, इस कारण हे भव्य! तुम इन सबको भंगुर अनित्य ही जानो।

ऐसा कोई जन्म नहीं है जिसके बाद मरण न हो। मरण तो ऐसा मिल सकता है कि जिसके बाद जन्म न हो, जैसे कि तीर्थंकरों का मुनीश्वरों का निर्वाण। निर्वाण भी मरण है, जिसे पंडित पंडितमरण कहते हैं। आयुक्षय तो है ही। जिस आयुक्षय के बाद फिर उसका जन्म नहीं होता। नया शरीर नहीं मिलता उसे निर्वाण कहते है। तो मरण तो ऐसा हो सकता है कि जिसके बाद जन्म न हो, पर ऐसा जन्म कोई नहीं है कि जिसके बाद मरण न हो। जन्म और मरण ये दो एक प्रकार के ओर छोर की अग्नि हैं। जैसे एक बाँस के दो पोल में कोई अन्दर कीड़ा पड़ा है और छोर को आग लग जाय तो जैसे उस ओर छोर की आग के बीच पड़ा हुआ कीड़ा तड़फता है इसी प्रकार यह संसारी जीव जन्ममरण के ओर छोर के बीच रहकर दुःखी रहता है।

जवानी की जरासहितता–जैसे जन्म मरणसहित है ऐसे ही जवानी बुढ़ापा सहित है। हम आप लोगों को कोई अभी तक मिला क्या ऐसा कि जो जवान ही जवान रहा आया हो और वृद्धावस्था के उन्मुख न हुआ हो। ऐसा तो हो ही नहीं सकता। जवानी बुढ़ापा सहित है। जो आज जवान लोग हैं उनके मन में बुढ़ापे की कुछ बात मन में नहीं आती है। परन्तु जब समय बीतता है, बुढ़ापा आ धमकता है तब तो लोग अनुभव करते ही है। ऐसा कोई यौवन नहीं हैं जो बुढ़ापा से सहित न हो। बुढ़ापे में कमर झुक जाती है, सर भी कुछ नीचा हो जाता है, तो उस घटना को लक्ष्य में लेकर कवि लोग अलंकार में कहते है कि ये पुरूष और स्त्री अपनी गुमी हुई जवानी को ढूंढने के लिए नीचे मुख किए हुए है कि हाय। मेरी जवानी कहां गई? तो यह यौवन जरा सहित है। बुढ़ापे में अनेक क्लेश है। एक दृष्टि से इस जीवन में प्रकृत्या उत्तरोत्तर क्लेशवाली आयुविधि मालूम होती है कि यह मनुष्य जब उत्पन्न होता है तो पहिले बालक रहता है। तो बालक को तो सब आनन्द ही आनन्द है। दुःख का कोई काम नहीं, माता-पिता उस बालक के पीछे चिन्तित रहते है, उसका भरण पोषण करते है। उस बालक को कुछ भी तो फिक्र नहीं रहती। जब वह बालक कुछ और बड़ा होता है तब भी वह बड़ा मौज मानता है; मगर उस बालकपन के मौज से कम। बाद में अब बुढ़ापा आता है तो उसे बहुत दुःख भोगना होता है। तो इस जीवन में क्या आशा की जाय? ज्यों-ज्यों क्षण गुजरते है त्यो-त्यों दुःख की अवस्था में आते है। बुढ़ापे के बाद मरण हो जाता है। तो यों इस जीवन में सार कुछ नहीं है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कष्ट ही कष्ट उठाना पड़ रहा है, किन्तु जो ज्ञानी पुरूष हैं वे इन अवस्थाओं में नहीं रमते और अपने अन्तः सहज चैतन्यस्वरूप मात्र अपनी प्रतीति अनुभूति करते है, इस कारण वे सुखी हैं। लोक में सम्यग्दृष्टि ही सुखी है। मोही मिथ्यात्वी तो प्रत्येक स्थिति में दुखी हैं। धनिक हो गए, राजा महाराजा हो गए तो वहां भी दुःखी है क्योंकि वस्तु स्वरूप उसके ज्ञान में नहीं है। यौवन बुढ़ापा सहित है। बुढ़ापा आता है, अज्ञानी उसमें विह्वल होता है, मिथ्यात्व का बंध करता है, ज्ञानी उसका ज्ञाता रहता है और कर्मों का प्रति समय निर्जरण करता है।

लक्ष्मी की भंगुरता–यहां यह भावना भायी जा रही है कि जो कुछ समागम हैं वे सब अनित्य हैं, मिट जाने वाले हैं, उनमें प्रीति करना व्यर्थ है। जन्म भी मिटेगा, जवानी भी मिटेगी और यह वैभव लक्ष्मी जिसका कुछ समागम हुआ है यह भी विनाशसहित है। इसका भी फल आखिर मिटना ही है। किसी भी तरह मिटे। धनिकों को देखकर ज्ञानी पुरूष को आश्चर्य नहीं होता, न वाञ्छा होती किन्तु ज्ञाता रहते हैं और कुछ कल्पना चलाता है तो उस धनी पर दयामयी कल्पना चलाता, उसे सम्यग्दृष्टि बड़ा नहीं समझता, किन्तु दयनीय समझता है। इस बेचारे को कब सुबुद्धि पैदा हो कि यह अपने स्वरूप को निरखकर अपने में तृप्त रहा करे, सत्य मार्ग पर लगे। तो ये ही बातें अज्ञानी के दुःख के कारण है, किन्तु ज्ञानी इनको निरखकर अपने धर्मभाव में ठहरता है। जन्म और

जवानी दोनों ही विनाशीक हैं, लक्ष्मी भी विनाश सहित है लक्ष्मी का अर्थ धन पैसा वैभव से है। अभी है, भविष्य का कुछ पता नहीं।

जन्म, जवानी, लक्ष्मी का सांसारिक सुखों की विपत्तिरूपता–जन्म, जवानी लक्ष्मी ये सब भंगुर हैं, साथ ही ये विपत्ति से युक्त हैं, इनमें विपत्ति लगी है। जवानी है उसके साथ भी विपत्ति लगी है लक्ष्मी है तो उसके साथ भी विपत्ति लगी है। कोई प्रसन्न हो जाय मुझ पर और प्रसन्न हो करके कहे कि जो तुम चाहते हो सो मांग लो। तो यह मांगना चाहिए कि मुझे ऐसा जन्म मिले कि जिसके बाद मरण न हो। दे सकता है क्या कोई? कोई नहीं दे सकता। प्रभु भी अपने कल्याणमय स्वरूप में मग्न हैं। वह भी कुछ देते नहीं हैं। कोई प्रसन्न होकर मुझसे कहे कि मांगो कुछ, तो मैं मांगूंगा कि ऐसी जवानी मिले कि जिसके बाद बुढ़ापा न आये। क्या कोई इस बात का ठेका ले सकता है? इसी प्रकार यह कहा जाय कि मुझे लक्ष्मी मिले और उसका कभी भी वियोग न हो, तो ऐसा कभी हो नहीं सकता। ये सब विपत्तियों के साथ लगी हुई हैं। इन सबको भंगुर मानो, विपत्तिमय मानो, विनाशीक मानो इसी तरह सुख की भी बात है। संसार का सुख दुःख के साथ अनुबद्ध है। कोई प्रसन्न होकर कहे कि मांग लो, जो मांगोगे सो देंगे। मांगकर तो देखो–मुझे ऐसा संसारी सुख चाहिए कि जिसके बाद दुःख न हो।ये संसार के सुख-दुःख चक्र की तरह परिवर्तित होते रहते है। ये सब विनाशीक तत्व है। इसमें प्रीति करने में लाभ नहीं है। इनका यथार्थ स्वरूप जानकर इनसे उपेक्षा रखकर केवल ज्ञानस्वरूप को ज्ञान में लेते हुए आनन्द रस विभोर रहना, इतना ही मात्र सार है। बाकी इन बाह्य पदार्थों में पड़कर इस आत्मा का अकल्याण ही करना है।

अथिरं परियण-सयणं पुत्त-कलत्तं-सुमित्त लावण्णं।
गिह-गोहणाइ सव्वं णव-घण्-विंदेण सारिच्छं।।6।।

ये सब समागम अस्थिर हैं। जैसे कि जब नये मेघ आते है तो वे मेघ कितनी देर ठहरते है? बिखर जाते हैं, नष्ट हो जाते है, उसी तरह से यहां का सारा समागम थोड़ी देर को आता है और फिर बिछुड़ जाता है। परिवार लोग और सुजन-सुजन तो कहलाये कुटुम्बी लोग अथवा अपने मित्रजन और परिवार लोगों में सब आ गया। कुटुम्बी लोग है उनके अतिरिक्त जो कुछ घर में गाय, भैंस, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, आदिक जो कुछ भी स्नेह के सम्पर्क में थे वे परिवार के लोग और स्वजन ये सबके सब अस्थिर है। जैसे मरने पर कुटुम्ब के लोग दुःख मानते हैं वैसे ही गाय, भैंस, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली आदि भी दुःख मनाते है और उन्हें भी यह ज्ञान हो जाता है कि मेरा मालिक मर गया है। इससे परिवार लोगों में केवल मनुष्य ही नहीं आते, जिन-जिन चेतनों से स्नेह था और जो चेतन बड़ा स्नेह भी दिखाते थे वे सब चेतन परिवार में शामिल हो जाते है। जब घर का बड़ा घर आता है तो कुत्ता बिल्ली भी उछल कर पूंछ हिला कर कैसे पास में बैठ जाते है? जैसे कि उससे उनके पुत्रादिजन प्यार करते है ऐसे ही ये पशु पक्षी भी उस गृहपति से प्यार रखते है। तो ये सब परिवार में शामिल है। ये अस्थिर हैं, कुछ देर को मिलते और फिर बिछुड़ जाते हैं।

पुत्र, कलत्र व स्वजन की अस्थिरता–पुत्र और स्त्री ये सब भी अस्थिर हैं। यद्यपि परिवार में सब आ गए फिर भी परिवार में सबसे अधिक प्रीति के विषय होते हैं ये पुत्र और स्त्री। जिस पुरूष के स्त्री नहीं है, पुत्र नहीं हैं, वह घर में रह रहा है जहां और सब भाई वगैरह मौजूद है और रहते है तो भी लोग यह ही कहते है कि देखो कुछ है नहीं और व्यर्थ के मोह में पड़ा है। लोग स्त्री पुत्र के सिवाय अन्य को भाई भतीजे आदि को उसका कुछ मानते ही नहीं। तो इससे सिद्ध है कि परिग्रह जो है वह पुत्र और स्त्री से होता है। घर बसता, घर

का आधार, जाल का आधार, फंसाव का आधार पुत्र और स्त्री हैं और मित्रजन ये भी अस्थिर हैं। जितने हस्तावलम्बन परिजनों के होते है उससे भी अधिक हस्तावलम्बन मित्रों का होता है। अनेक मित्र ऐसे निष्कपट होते हैं कि चाहे अपना भाई कपट रखले पर मित्र के कपट नहीं होता। और धर्ममार्ग में तो जितने भी सम्यग्दृष्टिजन हैं उनका परस्पर एक दूसरे में तो कपट होता ही नहीं है। यदि कपट है तो वहां सम्यक्त्व नहीं। कपट का मतलब जो व्यवहार में आपत्ति का कारण बन सके, ऐसी माया उसे तो शल्य बताया है। माया, मिथ्या, निदान—ये तीन ऐसी शल्य हैं कि इनके रहते हुए सम्यक्त्व नहीं होता। तत्त्वार्थसूत्र में जो यह कहा है कि व्रती के माया, मिथ्या, निदान ये तीन शल्य नहीं होते। उसका अर्थ यह नहीं है कि व्रती से नीचे अविरत सम्यग्दृष्टि के माया मिथ्या निदान हो जायें। उसका भाव यह है कि सम्यक्त्व के बिना व्रती नहीं होता। सम्यक्त्व में निःशल्यवृत्ति होती है, निःशल्य होना है। सम्यक्त्व की बात, सम्यक्त्व का चिन्ह है निःशल्यता। तो अनेक मित्र ऐसे होते है कि जिनके कुछ भी कपट नहीं है। परस्पर में एक दूसरे के गुणों से आकृष्ट हैं और इसी बल पर उनकी मित्रता है।

लावण्य गृह गोधन आदि की अस्थिरता—लावण्य अर्थात् शरीर की सुन्दरता जवानी ये सब भी अस्थिर हैं। जो वृद्ध हैं या वृद्ध होने के सन्मुख हैं वे सब अनुभव करते होंगे कि वह समय कैसे गया जिसका कुछ पता ही नहीं। गए हुए समय को लोग यों सोचते हैं कि कैसे बीत गया? उसका कुछ पता ही नहीं हो रहा। आज का दिन अब आधा रह गया है, बीतेगा,यह बहुत बड़ा दिख रहा है, इसमें तो अभी 6 घंटा बाकी है और गया हुआ समय जो जीवन के 50—60 वर्ष गुजर गए उन्हें लगता है कि कैसे निकल गए, जैसे मानो रात दिन हो न होते हों और एक चुटकी में चले गए हों, इस तरह लगता है तो यह सुन्दरता यह जवानी ये सब अस्थिर हैं, नष्ट हो जाने वाली चीजें हैं। घर और गोधन ये सब अस्थिर हैं। रहने के घर दुकान आदिक और गोधन पशु वगैरह गाय भैंस आदिक ये सबके सब अस्थिर हैं। जैसे कि नये मेघ आये तो वे अस्थिर हैं और बिखर गए। एक कथानक है कि एक राजा छत पर बैठा हुआ था, उसने मेघ आकाश की ओर देखा तो बादलों का एक बहुत बढ़िया मंदिर बना हुआ दिखा। वह राजा चित्र बनाने में कुशल भी था। उसने सोचा कि इस बादलों से बने हुए मंदिर का चित्र ले ले और इसी तरह का एक मंदिर बनवायेंगे। ज्यों ही वह नीचे से कागज पेन्सिल लेकर ऊपर छत पर गया त्यों ही वे सारे बादल यत्रतत्र बिखर गए थे। मंदिर की प्रतिकृतिका वहां नाम न था। इस दृश्य को देखकर उसके चित्त में विरक्ति उत्पन्न हुई और उसी समय वह विरक्त होकर दीक्षित हो गया।

भिन्न व अध्रुव पदार्थों के व्यामोह में आत्मा की बरबादी—भैया! यह बात यथार्थ है कि ये सब समागम कभी न कभी विघटेंगे। जो लोभ किया जा रहा, जो ममता की जा रही वह सब बिल्कुल व्यर्थ है। बिल्कुल एक व्यर्थ की बात है कि अन्य जीवों के लिए इन असार जड़ पदार्थों का लोभ कषाय के साथ हम संचय करते हैं। हमको उससे क्या मिलता है और व्यर्थ हम श्रम करते हैं, विकल्प करते हैं, पाप कमाते हैं। तो यह तो दयनीय अवस्था है। जैसे लोग ऐसे चतुर पुरूषों को देखकर सोचते हैं कि ये बड़े चतुर हो रहे हैं। सब कुछ कमा. रहे हैं, जोड़ रहे हैं, ये बड़े चतुर हैं। अरे वे चतुर नहीं हैं, वे दयनीय हैं। उनकी बुद्धि इस ओर लगी है कि खूब परिग्रह कमा लें। तो ठीक है, खूब कमालो पर यह अन्त में कुछ काम न देगा। यह जीवन मिला है, रत्नत्रय की साधना के लिए। बारबार दृष्टि ज्ञानमात्र निज स्वरूप पर जाय, उसकी चर्चा सुनने में आये, उसका ख्याल आये, स्मरण हो और सज्जन पुरूषों की सेवा हो, सत्संग हो, ज्ञान बढ़े जिससे कि हमारा धर्म पालन हो, इसके लिए

यह मनुष्य जीवन है। धन कमा कमाकर जोड़कर रख जाना यह सब बेकार है। तो ये सब समागम एक नवीन मेघ के सदृश असार हैं।

सुरधणु–तडिव्व चवला इंदिय–विसया सुभिच्च–वग्गाय।
दिट्ठ-पणट्ठा सव्वे तुरय-गया रहवरादी य।।7।।

समागमों की इन्द्रधनुषवत् चपलता–ये सब इन्द्रिय विषय नौकर समूह, हाथी, घोड़ा, रथ आदिक ये इन्द्रधनुष और बिजली की तरह चंचल हैं और देखते-देखते विलीन हो जाते हैं यह बात प्रत्यक्ष अनेक बार देखी गई है, कि कोई पुरूष मर रहा तो देखते-देखते ही चला गया, वहां किसी का जोर नहीं पड़ता कि इसे कुछ देर जिन्दा रख लें। कोई कितनी ही ताकत लगाये, (हाथ पैर की ताकत तो वहां काम नहीं देती) केवल भाव भर बनाये जाते हैं। लेकिन कोई ताकत वहां काम नहीं देती। यह जीव इस देह को छोड़कर चला जाता है। लोग कहते हैं कि यह अब नष्ट हो गया, पर नष्ट होने लायक तो यहां कोई चीज नहीं है। जैसे बिजली चमकी तो चमकने के बाद लोग कहते कि अब बिजली नष्ट हो गयी पर वह नष्ट कहां हुई? जो स्कंध अभी प्रकाश के रूप में आये थे वे स्कंध तो रहे, केवल उसका प्रकाशरूप मिट गया। यहां कोई चीज नष्ट नहीं होती, केवल एक पर्याय ही बदलती है। तो पर्यायों से ही लोगों का व्यवहार है, पर्यायों से ही रागद्वेष मोह है। परमार्थ चीज से कौन मोह करता है?

स्पर्शनेन्द्रिय विषय की भंगुरता–इन्द्रिय के विषय भी चंचल याने भंगुर हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत इनका विषय क्या है? स्पर्शन का विषय है ठंडा, गरम, रूखा, चिकना आदिक। जाड़े के दिनों में गर्म स्पर्श तथा गर्मी के दिनों में ठंडा स्पर्श चाहिए। सोने के लिए गद्दा, तकिया आदि कोमल स्पर्श चाहिए। तो ये स्पर्श कभी कोई इष्ट होते हैं कभी कोई अनिष्ट होते हैं। ये सभी स्पर्श के विषय इन्द्रधनुष की तरह चंचल हैं। इन्द्रधनुष लोकरूढ़ि में कहते हैं। वस्तुतः यह इन्द्रधनुष कोई इन्द्र का धनुष नहीं है, जैसा कि देहाती लोग मानते हैं। यह तो बादलों में सूर्य की किरणें इस ढंग से पड़ती है कि उसका रंग बिरंगा चित्रण सा अर्द्धवृत्ताकार बादलों में हो जाता है। उसे लोग इन्द्र का धनुष कहते है। तो जैसे वह इन्द्रधनुष चंचल है, वह उस ही शकल में बना रहे, यह बात नहीं है। जरा सी देर में उसका आकार भंग हो जाता है। इसी तरह यह स्पर्शन का विषय भी भंग हो जाता है, मिट जाता है, बिछुड़ जाता है और प्रकार परिणम जाता है।

रसनेन्द्रिय विषय की भंगुरता–रसना इन्द्रिय का विषय है खट्टा मीठा आदिक रसों का स्वाद लेना। कहते हैं ना कि घाटी नीचे माटी। जितनी देर मुख में है खाने की चीज, जब तक जीभ की नोक उस चीज में लग रही है उतनी देर का स्वाद है। यह सारी जीभ स्वाद नहीं लेती, केवल जीभ की नोक का सम्बन्ध होने से स्वाद मालूम होता है। तो वह स्वाद कितनी देर का है जिसके पीछे लोग कुछ भी आगे पीछे की बात नहीं सोचते। खाने के लोभी खाते जाते हैं और बड़े प्रमादी बनते हैं, बीमार हो जाते हैं और दुःखी होते हैं। रसासक्ति में बड़ा दुःख तो यह है कि रस के लोभ में जो उपयोग बना उस उपयोग के कारण अपने स्वरूप की सुध भी नहीं रही और सुध रखने की पात्रता भी नहीं रही। तो रसनेन्द्रिय का विषय इन्द्रधनुष की तरह चंचल है। थोड़ी देर में यह नष्ट हो जाता है।

घ्राण, चक्षु व कर्ण इन्द्रिय के विषय की भंगुरता–घ्राण इन्द्रियका विषय है गंध। हवा अनुकूल है तो गंध आ गई और हवा प्रतिकूल हो गयी तो गंध भी हवा के साथ उड़ गयी। अथवा अपनी इन्द्रिय ही बेकार हो

गई तो वह विषय मिट गया। पदार्थ तो मिटने वाले हैं ही, मगर इन्द्रिय के द्वारा उन पदार्थों का उपभोग करना यह क्रिया भी अस्थिर है। चक्षुइन्द्रियका विषय है रूप। लोग इष्टरूप को देखकर उसमें प्रीति करते हैं, मगर वह रूप चीज है क्या? वह कोई हाथ से उठाकर उपयोग में लाने वाली चीज है क्या? कोई खाने-पीने में आने वाली चीज है क्या? दूर ही इन्द्रिय है, दूर ही रूप है, मगर यह व्यामोही जीव दूर से ही देखता हुआ, जहां कि मिलता भी कुछ नहीं है, अपने परिणामों को मलिन बनाता है और पाप बंध करता है। तो रूप विषय भी इन्द्रधनुष की तरह चंचल है। रूप का उपभोग चंचल है, रूप भी चंचल है। जैसे कि सनतकुमार चक्रवर्ती की कथा बहुत प्रसिद्ध है। अखाड़े से आकर जब नहाने को बैठे थे, धूल भरा शरीर था तब तो देवों ने बड़ा आश्चर्य किया उनके रूप को देखकर वे कामदेव, थे सनतकुमार चक्रवर्ती और जब किन्हीं ने कहा कि तुम अभी क्या रूप देखते हो। जब दो बजे दिन में खूब सज धजकर सिंहासन पर राजदरबार में बैठे हों उस समय इनका रूप देखिये। वे देव उस समय भी गए तो देखकर माथा धुनते है और कहते है ओह। अब वह रूप नहीं रहा जो प्रातःकाल देखा था। तो रूप भी इन्द्रधनुष की तरह चंचल है। कर्णइन्द्रिय का विषय है शब्द। सुहावने शब्द, राग रागनी भरे शब्द अथवा अपनी इच्छा के अनुकूल शब्द, इच्छा की उत्तेजना करने वाले शब्द, ये शब्द सुहाते हैं मगर वे शब्द भी चंचल हैं, और उन शब्दों का उपभोग करना भी चंचल है।

सेवकादि सभी समागमों की भंगुरता जानकर अध्रुव की उपेक्षा करके निज ध्रुवतत्त्व में उपयुक्त होने का अनुरोध–उत्तम सेवक हों, जो स्वामी की निष्कपट प्रीति भाव से सेवा करते हों और हितचिन्तक भी हों, ऐस भृत्यसमूह भी नष्ट हो जाने वाले हैं और जो कुछ ये हाथी घोड़े रथ आदिक दिखते हैं ये सब दिखते दिखते नष्ट हो जाने वाले हैं। यह तो बहुत दूर की सोचने की बात है। जीवन में तो रोज घटनाये होती हैं, इन्द्रिय विषय कितनी बार चाहते हैं? कितनी ही बार उन विषयों का उपभोग करते हैं, वे उपभोग भी अस्थिर रह जाते हैं, विषय भी बिगड़ जाते हैं और आपस में मेलजोल वाले मिलते हैं, बिछुड़ते है तथा यह भी देखने में आता कि आज जो निष्कपट सेवक है वह कही थोड़ी ही देर बाद विपरीत बन जाय। तो अपना भृत्य तो नष्ट हो गया ना? नौकर चाहे वही रहे पर उस मालिक के लिये तो वह सेवक नष्ट हो गया। मित्र जो आज अनुकूल हैं वे भी प्रतिकूल हो जाते हैं। तो मित्र तो नष्ट हो गए, पुरूष मिले ही वही हैं लेकिन मित्रपना तो न रहा। तो ये सबकी सब बातें इन्द्रधनुष की तरह चंचल है, ऐसा जान कर इनमें अनुराग और व्यामोह न करें। इनको ही देखें तो इनका जो परमार्थस्वरूप है जो शाश्वत है, उस पर दृष्टि दें कि परमार्थ सत् तो वह है, ये सब तो पर्याय मात्र हैं, आये हैं मिटेंगें–अपने बारे में भी यही दृष्टि दें कि यह ऊपर का ढांचा, व्यवहार यह सब पर्यायमात्र हैं। इसमें जो एक शुद्ध ज्ञान रूप तत्त्व हूं, जिसका कि यह सब फैलाव बना है वह मैं ज्ञानतत्त्व हूं। परमार्थ सत् पर दृष्टि दे, अध्रुव की प्रीति छोड़े, यही अध्रुव भावना भाने का प्रयोजन है।

पंथे पहियजणाणं जह संजोओ हवेई खणमित्तं।
बंधुजणाणं च तहा संजोओ अद्धुओ होइ।।8।।

मार्ग में पथिकजनों की तरह बन्धुजनों के समागम की क्षणिकता–जैसे मार्ग में पथिकजनों का संयोग क्षणमात्र का है वैसे ही बंधुजनों का संयोग भी अस्थिर होता है। चले जा रहे हैं, सामने के मार्ग से कोई आ रहा है। रास्ते में वे मिल गए तो वह कितनी देर का समागम है? इसे भी अपना काम करना है उसे भी अपना काम लगा है, सो क्षणमात्र बात करके या तम्बाकू बीड़ी आदि खाने पीने वाले हुए तो खा पीकर अथवा धार्मिक पुरूष

हुए तो रामराम कहकर चल देते है। रास्ते में जो पुरूष प्राप्त हैं उनका सम्बन्ध कितने समय का है? अत्यन्त अल्प समय का है। तो ऐसे ही यह संसार एक चौपथ ही है। यहां कोई नरकगति से आया, कोई तिर्यञ्च, मनुष्य अथवा देवगति से आया। मिल रहे है, तो यह मिलना कितनी देर का है? अत्यन्त अल्पकाल का है। कोई 50–60–70 वर्ष भी साथ रहें तो वह अतिस्वल्पकाल है। जब कि काल अनादि अनन्त है। समय की कोई आदि नहीं कि कब से शुरू हुआ है? अगर शुरू हुआ है तो इसका अर्थ है कि उसके पहिले समय न था। क्या ऐसी कोई कल्पना कर सकता है कि जिसके पहिले कोई समय ही न हो। न तो काल की आदि है और न अन्त है। क्या आगे भी कोई ऐसा समय आ सकता है कि जिसके बाद समय न रहे? तो अब अनादि अनन्तकाल कितना महान है जिसका अन्त ही नहीं। उसके समक्ष यह 100–50 वर्ष का तो जीवन क्या, करोड़ों सागर पर्यन्त का भी समय न कुछ चीज है। तो यह जो कुछ वर्षो का संयोग मिला है यह संयोग अत्यन्त स्वल्प काल का है और फिर काम सबको लगे है अर्थात् अपना जन्म-मरण करना यही सबका काम है। सो अपने-अपने भाग्यवश जैसा जिसका परिणाम है, जिसने जैसा बन्ध किया, आगामी आयु बांधी उसके अनुसार वह चल देता है और यहां जो रह गए वे तो दुःखी होते है। देखो, जो मर गया वह अगली गति में गया, वह तो अपना आनन्द करता है, नया शरीर ले लिया। नया संग मिल गया, नई ऋद्धि मिल गई। यदि परिणाम अच्छा रहा और उसने देव आयु का बंध किया तो यहां से चलकर वह देव बन गया और तुरन्त ही बड़ी-बड़ी ऋद्धियां वैभव सब कुछ मिल गए। तो वह तो वहां आनन्द करता है और जहां से वह जीव गया वहां जिन्दा रहने वाले जीव हाय तौबा मचाते हैं। वे हाय तौबा मचाते हैं तो अपना ही हाय तौबा मचाते हैं दूसरे का नहीं मचाते।

प्रेमदर्शकों की भंगुरता–भैया! ये जितने भी संयोग हैं वे सब क्षणमात्र को हैं, इसी तरह समझिये कि बन्धुजनो का यह संयोग अध्रुव ही है, स्वल्पकाल में नष्ट हो जाने वाला है। "सोच लो जिनका मुझ पर प्यार बना था। भारी आशागार बना था दुनिया की लीला दिखलाकर। वे गए किस ओर सरसर। स्वर्गीय जो आपके बाबा थे? वे आपको गोद में लेकर खिलाते थे। कितनी आशा भरी थी, कितनी प्रीति थी, आपके प्यार के कारण आपके बाबा आपके आपके पिता को भी डांट देते थे, आपके पिता से लड़ बैठते थे, क्योंकि पिता का पुत्र पर प्यार होने पर भी व्यवहार में उतनी प्रीति नहीं दिखा पाता पिता जितनी कि दादा बाबा दिखाते हैं। कुछ वजह है उसकी कि पुत्र के प्रति पिता कठोर बन जाता है, पुत्र को डांट भी देता है और बाबा यह सहन नहीं कर सकता। तो जो बाबा आपके प्यार के कारण आपके चाचा पिता आदिक से भी लड़ बैठते थे वे अब कहां है? थोड़ी देर को उन्होंने अपनी लीला दिखायी और कहीं के कहीं चले गए। और भी सोच लो जो जो रिश्ते प्रीति के अधिक कारण होते है, मां मौसी आदिक जो जो अधिक प्रीति किया करते हैं वे सबके सब अब कहां हैं और जिनके हैं उनका **भरोसा** क्या? तो यह सारा का सारा सम्बन्ध स्वल्प काल के लिए है। इस सम्बन्ध में अपने आपको मोह में न लगाना चाहिए।

अइलालिओ विदेहो ण्हाण-सुयंधेहिं विविहभक्खेहिं।
खणमित्तेण वि विहडइ जलभरिओ आमघड़ओव्व।।9।।

अतिलालित देह का भी क्षणमात्र में विघटन–जैसे कि कच्चा घड़ा पानी से भरा हुआ हो तो वह विघट जाता है, फूट जाता है, टूट जाता है, गल जाता है, इसी तरह से बहुत-बहुत प्रीती से इस देह का लालन-पालन करें, बहुत सुगंधित द्रव्यों से स्नान करें, नाना प्रकार के पदार्थों को खाकर इस शरीर को पुष्ट करें तो भी यह

क्षणमात्र में ही विघटित हो जाता है। जब तक रह रहा है, रह रहा है। जिन्दा रहने में आश्चर्य है, मरने में आश्चर्य नहीं। जैसे जब बरसात होती है तो खपरैल वाली छत से नीचे पानी गिरता है तो नीचे बड़े-बड़े पानी के बबूले बन जाते हैं। बच्चे लोग खड़े-खड़े परस्पर में उन बबूलों को देखकर कहते है कि यह बबूला हमारा है, यह तुम्हारा है और जिस बच्चे का बबूला अधिक देर तक टिक गया वह खुश होता है और अपने को जीत गया मानता है। तो उन बबूलो के फूटने में आश्चर्य नहीं, किन्तु उनके अधिक देर तक बने रहने में आश्चर्य है। हम आप जैसे कि जो जीव गर्भ में ही खिर जाते है क्या उस तरह खिर नहीं सकते थे, खिरे भी होंगे। अनेक बार जैसे अनेक बालक उत्पन्न होते ही मर जाते है, गर्भ से निकलते ही मर जाते है, उस तरह से क्या हम आप नहीं मर सकते थे? उस समय भी मर सकते थे और इतने जीवन में कई बार जल में डूबने अथवा बीमारी में मरने आदि के मौके आये तो क्या उस समय मर नहीं सकते थे? उस समय भी मर सकते थे। लेकिन आज भी हम आप जो बचे हुए हैं, जिन्दा बैठे हैं, इसमें आश्चर्य है। मरने का कुछ आश्चर्य नहीं, कभी भी मर सकते थे। अब तो यह संकल्प करना चाहिए कि हम यदि बचे हैं, जीवित हैं तो अब मुफ्त जीवित हैं, अर्थात् कायदे से तो उन अनेक घटनाओं में ही मरने में कुछ कसर न रही थी। यदि उन घटनाओं में ही मर गए होते तो यहां का कुछ भी मेरे लिए क्या था? परन्तु नहीं मरे अभी तक और सब कुछ है, तो कुछ ऐसा भाव बनाना चाहिए कि जिसमें सन्तोष हो और पाप परिणाम न हो। आत्मदर्शन, आत्मध्यान के लिए उत्साह रहे।

वर्तमान दुर्लभ अवसर न खो देने के लिए चिन्तन—भैया! अब तो ऐसा भाव बने कि हममें धारणा होनी चाहिए कि जिससे हम इस ज्ञायकस्वरूप शाश्वत सहजस्वरूप को निरख निरखकर सन्तुष्ट हों, पवित्रता बढ़ायें और कलमषताओ का ध्वंस कर दें। यह काम इस जीव ने अनादिकाल से अब तक नहीं कर पाया। मौके भी अनेक मिले होंगे लेकिन वे सारे मौके चूक गए। आज एक मौका और मिला हुआ है। इस मौके को हम चूकाते हैं अथवा नहीं, यही एक समस्या है। यदि हम अपने सम्यक्त्व भाव का आदर करते हैं, रत्नत्रय में हमारी प्रीति है, रत्नत्रय के विरूद्ध अधर्म भाव में हमारा व्यामोह नहीं है तब तो समझिये कि हम इस दुर्लभ मौके को नहीं चूक रहे हैं, इसका हम खास लाभ ले रहे है और यदि इस तरफ हमारी दृष्टि नहीं बनती, केवल आरामदेह का साधन और विषयों की दृष्टि अथवा लोगों में इज्जत यश का ख्याल ये सब दुष्परिणाम रहते है तो समझिये कि हम अपना यह मौका चुका रहे हैं। जिस शरीर में आत्मबुद्धि करके ये सारे व्यसन लाद रहे है, यह शरीर जलभरे कच्चे घड़े की तरह क्षणमात्र में नष्ट हो जायेगा। नहाना, सुगंधित इत्र आदिक लगाना, खूब अच्छा अच्छा खिलाना पिलाना, बहुत बहुत लालन पालन करना ये सब व्यर्थ के कार्य है क्योंकि यह शरीर शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा। इस प्रकार की अध्रुव भावना भाकर अध्रुव से प्रीति छोड़े और ध्रुव ज्ञानस्वभाव में अपना आदर करें।

जा सासया ण लच्छी चक्कहराणं पि पुण्णवंताणं।
सा कि बधेइ रइ इयर–जणाणं अपुण्णाणं।। 10।।

लक्ष्मी में किसी के पास बंधकर रहने की अशक्यता—चक्रवर्ती जैसे पुरायवंतों के भी जो लक्ष्मी शाश्वत न रही तो फिर पुण्यहीन अन्यजनों से वह क्या प्रीति बाँधेगी? चक्रवर्तियों के वैभव की बात देखो या तो चक्रवर्तियों को वैराग्य हो गया तो सारा वैभव उनसे विलग हुआ या वे चक्रवर्ती मर गए तो वैभव उनसे विलग हुआ। और किसी किसी चक्रवर्तियों का मरण तो दयनीय दशा में भी हुआ तो जब पुण्यवान चक्रवर्तियों के भी यह लक्ष्मी सदा न रही तो अन्य जनों की तो कथा ही क्या है? मुख्य बात तो यहां भी दिखती है कि लक्ष्मी, यह

जड़ वैभव पौद्गलिक ढेर तो वस्तुत्व दृष्टि से भिन्न हैं। यद्यपि एक इस मलिन अवस्था में जब भी भूख-प्यास लग रही है, उसे बरदाश्त नहीं कर सकते या मोहादिक लग रहे हैं उस घटना में ऐसा लगता है कि वैभव बिना जीवन क्या? लेकिन वास्तविक दृष्टि से देखो तो वैभव है तो क्या, नहीं है तो क्या? यदि जीव का ज्ञान विह्वल है, उसमें तंदा आती है, बेहोशी है तो उसका जीवन बेकार है, क्या है? कुछ दिन का यह जीवन है। कुछ मायामय पुरुषों ने हमें बड़ा न समझ पाया तो इसमें कुछ हानि है क्या? और बड़ा समझ लिया तो इसमें हमारा कुछ उत्कर्ष है क्या? आत्मा का तो कोई साथी है ही नहीं। यह जीव जैसे परिणाम करता है। उसके अनुसार कर्मबन्ध करता है और फल भोगता है, जन्म-मरण करता है। परिणामों के अनुसार ही इसकी गति और मुक्ति होती है। तो इसका कोई सहारा नहीं है। ये जितने भी समागम हैं ये अध्रुव हैं, इनकी तो यह करतूत है कि इनमें मोह करने के कारण ये मोह के विषयभूत बनने के कारण मुझे ठीक हालत में नहीं रहने देते और भविष्य में दुर्दशा के बीज बनते हैं।

कत्थ विण रमइ लच्छी कुलीण धीरे विवि पंडिए सूरे।
पुज्जे धम्मिट्ठे विय सुवत्त-सुयणे महासत्ते।।11।।

लक्ष्मी के वियोग की अवश्यम्भाविता–यह लक्ष्मी कहीं भी स्थिरता से रहकर नहीं रहती। जो बहुत पुण्यवान लोग हैं, जिनको उस समय लोक में बड़ा माना जाता है उनके पास भी यह विभूति सदा नहीं रहती। जब बड़े-बड़े पुरुषों के चरित्र को सुनते हैं, हुआ क्या? पांडव और कौरव हुए, झगड़ा चला, किसी को राज्य मिला, किसी को कुछ हुआ, आखिर सब बरबाद हुए और जो बच रहे उन्होंने क्या राज्य किया ही किया? वे भी थोड़ा मन भर कर विरक्त होकर चल दिए। राम-लक्ष्मण की कथा में आइये। बहुत प्रतापी पुरुष, सारे जीवन भर विपदा विपदाका ही समागम। थोड़े समय को लौकिक वैभव मिल भी गया तो उस समय भी चैन नहीं। एक न एक अपवाद, चिन्ता, शल्य कुछ न कुछ चलते ही रहे। अन्त में हुआ यही कि सबको बिछुड़ना पड़ा। किसी महल में आये, इकट्ठे हुए, परिणाम यह निकला कि कोई किसी तरह गया, कोई किसी तरह गया। कोई विरक्त हो गया, आखिर वियोग हुआ, वैभव भी विघटा। तो अपने-अपने बारे में भी यह सोचना चाहिए कि यह कितना-सा वैभव है? बड़े-बड़े पुण्यवान चक्री राजा महाराजाओं के वैभव के समक्ष हमारा क्या वैभव? यह न कुछ जैसा वैभव अभिमान के योग्य या रम्य है क्या? इसमें न भूलें और अपने आपके निर्विकल्प ज्ञानस्वभाव की दृष्टि बनायें कि मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र हूं, इस मुझका अन्य कोई बाहरी वैभव नहीं है।

कुलीन व धीर में भी लक्ष्मी रमने का निषेध–कोई ऐसा सोचे कि मैं कुलीन हूं, मुझे छोड़कर यह लक्ष्मी कहां जायेगी? लक्ष्मी तो मेरे साथ रहेगी ही, तो उसका ऐसा सोचना व्यर्थ है। बड़े-बड़े कुलीन पुरुषों के साथ भी यह लक्ष्मी न रही। कोई सोचे कि मैं धीर हूं, गम्भीर हूं, बड़ा विचारक हूं, हर एक काम को मैं खूब विचार कर करता हूं, मुझे कभी नुकसान नहीं होने पाता, मेरे पास से लक्ष्मी चली जाए, ऐसी गुंजाइश कहां है? तो ऐसा सोचना व्यर्थ है। कोई बड़ा धीर भी हो, पुण्यवान भी हो उसका भी यह सोचना व्यर्थ है कि लक्ष्मी मुझे छोड़कर जा नहीं सकती। कैसा भी धीर हो, गुणी हो, गम्भीर हो तो भी यह लक्ष्मी उसके साथ सदा न रहेगी। लक्ष्मी एक जगह जमकर नहीं रहती।

लक्ष्मी का एक जगह न रमने का उदाहरण–एक सेठ था, योगवश वह दरिद्र हो गया अब अपनी आजीविका वह कैसे चलाये? तो उस समय राजदरबार में एक अर्जीनवीसी का काम करने लगा। कुछ अर्जियाँ लिख दे और बदले में दो-चार आने पैसे जो मिल जाते उनसे वह अपना गुजारा करता था। एक दिन वह अपने

मकान की छत से सीढ़ियों द्वारा नीचे उतर रहा था तो जीने में एक आवाज आयी, क्या मैं आऊं? सेठ ने आकर सेठानी से कहा। तो सेठानी थी समझदार। उसने समझ लिया कि लक्ष्मी बोलती है। तो सेठानीने कहा कि तुम कह देना कि मत आओ। जब दुबारा आवाज आयी तो सेठ ने कहा मत आओ। यों ही जब कई दिन आवाज आयी तो सेठानी ने कहा कि अच्छा इस बार कह देना कि आओ तो सही पर आकर जावौ नहीं, तो आना। तो आवाज आयी कि ऐसा तो नहीं हो सकता। जाऊंगी तो सही पर तुम्हें इतनी सहूलियत देती हूं कि जाऊंगी तो बताकर जाऊंगी। जब फिर वही आवाज आयी तो सेठानी ने सेठ से कह दिया कि अच्छा कह दो कि आ जाओ। जब दूसरे दिन सेठ से लक्ष्मी ने कहा कि क्या मैं आ जाऊं? इन शब्दों के प्रत्युत्तर में सेठ ने कहा—अच्छा आ जाओ। अब देखिये दूसरे दिन से लक्ष्मी किस प्रकार आती है। दूसरे दिन रानी को एक पत्र लिखवाना था अपने (पति) राजा के लिए तो उस अर्जीनवीस (सेठ) से लिखवाया और बदले में एक अशर्फी दी। उस सेठ (अर्जीनवीस) ने पत्र को इस ढंग से लिखा कि राजा को न विषाद हो, न आकुलता हो और राजा का घर आना भी हो। राजा ने उस निबंध को पढ़कर यह अनुभव किया कि इसके लिखने वाला बड़ा बुद्धिमान पुरुष है, सो घर आने पर उस अर्जीनवीस (सेठ) को अपना मंत्री बना लिया। अब क्या था? लक्ष्मी आने के हजारों रास्ते थे। थोड़े ही दिनों में वह मालामाल हो गया। अब वह सेठ सोचता कि मैं धनिक तो हो गया पर लक्ष्मी ने यह कहा था कि मैं जाऊंगी तो सही, पर बताकर जाऊंगी, सो मैं देखूंगा कि वह लक्ष्मी अब किस तरह मेरे पास से जाती है उसने उस लक्ष्मी को न जाने देने के लिए क्या किया कि अपने घर के हीरा जवाहरात सोना, चाँदी रत्न आदि कीमती चीजों को एक हंडे में भरकर अच्छी तरह से तवा ढांककर उसे रखवा दिया और बीच आंगन में गड़वा दिया। लेकिन देखिये वह लक्ष्मी जाती है तो किस तरह जाती है? एक दिन राजा मंत्री को अर्थात् उसी सेठ को साथ में लेकर विनोदार्थ जंगल गया। चलते-चलते थक जाने के कारण राजा एक पेड़ के नीचे आराम करने लगा। मंत्री ने राजा का सिर अपनी जंघा पर रख लिया। राजा को निद्रा आ गई। इसी बीच वह लक्ष्मी आयी और बोली कि अब मैं जाती हूं, तो मंत्री (सेठ) बोला—मैंने तुझे हडों में भरकर जमीन में गाड़ दिया है, देखे अब तू कैसे जाती है? तो फिर लक्ष्मी बोली—मैं जाऊंगी। तो वह मंत्री (सेठ) फिर बोला—तू नहीं जा सकती...मैं तो जाऊंगी। इतने में मंत्री को क्रोध आया और राजा की तलवार उस लक्ष्मी को मारने के लिए खींच ली, उसी झटके में राजा के नेत्र खुल गए। देखा कि ओह! मेरे मारने के लिए मंत्री ने तलवार खींची। सो उस समय तो राजा ने कुछ न कहा। मंत्री राजा से ज्यादा तन्दुरूस्त भी था। अब दोनों चुपचाप चलते जा रहे थे। मंत्री ने भी यह न कहा था कि मैंने लक्ष्मी को मारने के लिए तलवार खींची थी, क्योंकि वह जानता था कि मेरी इस बात पर विश्वास ही कौन करेगा? आखिर वे दोनों जब राजदरबार में पहुंचे तो राजा ने अपने सिपाहियों को यह हुक्म दिया कि इस मंत्री को व इसके पूरे परिवार को शीघ्र ही इस राज्य से बाहर निकलवा दिया जाये। सिपाहियों ने उस मंत्री को तथा उसके परिवार को राज्य से बाहर निकाल दिया। तो देखिये—इस कथानक का तात्पर्य यह है कि यह लक्ष्मी जाती है तो इस तरह चली जाती है। कोई यह न सोचे कि मैं पुण्यवान हूं, कुलीन हूं, धीर हूं, मुझे लक्ष्मी छोड़कर कैसे जायेगी? यह सोचना व्यर्थ है।

पंडित, शूर, धर्मिष्ठ आदि पुरुषों में भी लक्ष्मी के रमने का निषेध—अथवा कोई यह सोचे कि मैं बड़ा चतुर हूं, विद्वान हूं, अनेक कलाओं का जानकार हूं, मुझे लक्ष्मी छोड़कर कैसे जायेगी अथवा कोई यह सोचे कि मैं बड़ा बलवान हूं, युद्ध में अनेक राजाओं पर विजय प्राप्त कर लेता हूं, मुझे लक्ष्मी छोड़कर कैसे जायेगी? तो यह सब सोचना बिल्कुल व्यर्थ है। लक्ष्मी कहीं भी रमकर रहती ही नहीं है। कोई यह सोचे कि मैं तो पूज्य हूं,

धर्मात्मा हूं, आखिर लक्ष्मी को पूज्य के, धर्मात्माओं के पास रहना ही चाहिए तो यह भी उनका सोचना व्यर्थ है, क्योंकि यह लक्ष्मी किसी भी जगह रमकर नहीं रहती। कोई सोचे कि मैं बड़ा सुन्दर, कामदेव के सदृश रूपवान हूं, आखिर सुन्दरता पर तो लक्ष्मी को मोहित ही रहना चाहिए मुझे छोड़कर लक्ष्मी कहां जायेगी? तो यह सोचना बिल्कुल व्यर्थ है। कोई कैसा भी रूपवान हो, कैसा ही बलवान हो, कैसा भी महान पराक्रम वाला हो पर यह लक्ष्मी किसी भी जगह रमकर नहीं रहती। तो जो चीज सदा अपने पास रहने की नहीं, उसके प्रति हमारा आदर हो, लोभ हो, मोह हो, तृष्णा हो तो यह कोई भली बात नहीं है। जिस उपयोग में, जिस शल्य में, जिस विडम्बना में अपने आपकी दृष्टि से भी वंचित रहे और केवल शरीर विषय खानपान आदिक की धुन में रहे और सांसारिक सुविधाओं का ही उद्देश्य रहे तो यह कैसे हित की चीज हो सकती है? इस लक्ष्मी से, इस परिग्रह से वैभव से तो मुख मोड़ना होगा, यथार्थ ज्ञान करना ही होगा और अपने को ऐसा अनुभवना होगा कि मैं देह से भी निराला (वैभव की तो बात ही क्या) ज्ञानमात्र एक आत्मतत्त्व हूं।

ता भुंजिज्जउ लच्छी दिज्जउ दाणे दया पहाणेण।
जा जल-तरंग-चवला दो तिण्णि दिणाइ चिट्ठेइ।।12।।

विनाशीक लक्ष्मी का उपयोग व दान करने का सदुपयोग कर लेने का संदेश–हे हित चाहने वाले पुरुषों! इस लक्ष्मी का तब तक उपभोग कर लो, दया प्रधान होकर दान कर लो जितने दिन, दो चार दिन जब तक कि यह चपल लक्ष्मी जल के तरंग की तरह ठहर रही है। जैसे पानी की लहरें आती हैं और जाती हैं इसी प्रकार लक्ष्मी, यह वैभव सम्पदा भी आती और जाती है। लक्ष्मी से मतलब किसी देवी देवता का रूप नहीं, किन्तु यह वैभव सम्पदा जहाँ साक्षात् एक हित की दृष्टि करके मोहीजन व्यासक्त रहा करते। इन समस्त वैभव समागमों का सदुपयोग कर लें क्योंकि ये दो चार दिन ही ठहरने वाले हैं। सो जब तक जितने क्षण ये ठहर रहे हैं उतने क्षण इनका उपयोग कर लेना चाहिए। इन्हें भोगें, अच्छे कामों में दान दें, क्योंकि लक्ष्मी की, सम्पदा की तीन ही दशायें हैं–दान, उपभोग और विनाश। मरकर जाने वाले पुरुषों को देख लो कि आखिर अकेले ही जाना पड़ता है, और कोई यह सोचे कि हम भले ही अकेले मरकर जायेंगे, और कुछ साथ न ले जायेंगे, लेकिन धन जोड़ लेंगे तो यहां बच्चों को धनिक बना देंगे। वे तो मौज करेंगे। तो इस अभिप्राय में मिथ्यात्व भी बसा हुआ है। संसार के इन अनन्त जीवों में से दो चार जीवों के प्रति इतनी अधिक आस्था, इतनी अधिक रुचि कि स्वयं उसका कुछ भोग न करेंगे, स्वयं कुछ दान न कर सकेंगे, स्वयं हैरान होंगे, अथवा जिस किसी भी प्रकार जीवन बितायेंगे। मगर भाव यह है कि लड़के बच्चे तो धनी बन जायेंगे, ये तो खुश रहेंगे, सो प्रथम तो यह बात है कि लड़के बच्चे इस तुम्हारे आत्मा के तो कुछ लगते हैं नहीं, कल्पना से तुमने उन्हें अपना मान रखा और फिर मरण के बाद तो आप न जाने कहां किस गति में पहुंचोंगे? दूसरी गति में पहुंचने पर फिर वहाँ जो बच्चे होंगे उनको अपना मानेंगे, इस मनुष्य गति में जिन्हें अपने बच्चे समझते थे वे तो फिर आपके लिए कुछ न रहेंगे। तो विवेकी जन कहते हैं कि यहां की प्राप्त लक्ष्मी का उपभोग कर लो या दान कर लो अन्यथा इसका विनाश होना तो निश्चित ही है।

जो पुण लच्छिं संचदि ण य भुंजदि णेय देदि पत्तेसु।
सो अप्पाणं वंचदि मणुयत्ते णिप्फलं तस्स।।13।।

वैभव का उपभोग व दान न कर सकने वालों के मानव जीवन की निष्फलता–जो पुरुष इस लक्ष्मी

का संचय करते हैं, न खुद उसका उपभोग करते हैं, न पात्रों को दान करते हैं सो वे तो अपने आत्मा को ठग रहे हैं। उनका मनुष्यत्व अर्थात् यह मानव जीवन निष्फल है। जो मुनष्य केवल वैभव का संचय करते हैं, न खुद खायें, न दूसरों को दान दें, वे समझते हैं ऐसा कि मैं दूसरों को उल्लू बना रहा हूं, मैं बड़ा चतुर हूं, लेकिन वस्तुतः वे अपने आत्मा को ठग रहे हैं उन्हें इस मनुष्य पर्याय के जीवन से लाभ क्या? खुद का किसी तरह पेट भरना, यह तो सब जगह होता है। पशु-पक्षी आदिक सभी जीव जब जन्म लेते हैं तो उनकी उदरपूर्ति भी होगी, लेकिन पर वस्तुओं में जो अपने आपको एक लोक व्यवस्था प्राप्त हुई है उसमें इतना लोभ रखना, न भोग कर सकना, न दान कर सकना, ऐसी प्रवृत्ति से मनुष्य जीवन व्यर्थ है। मनुष्य पर्याय केवल धन संचय के लिए नहीं है। धन जोड़ते जावों, किसी भी प्रकार जुड़े, उसमें से न भोग हो, न दान हो, इस प्रकार की वृत्ति रखना मानवजीवन पाकर योग्य नहीं है। कोई मनुष्य इस मानव पर्याय को पाकर केवल धन संचय में ही समय लगा है, उसमें ही उपयोग बसाता है न खुद भोग सकता, न दान कर सकता, वह अपने आपको ठग रहा है, क्योंकि उसने अपने आप पर दया नहीं की और धन संचय को ही कल्याणकारी समझा। उसका पूरा हितरूप पुरुषार्थ केवल धनसंचय करना है, ऐसी उसके चित्त में बात बसी है।

धन संचयासक्त पुरुष की विपत्तियां व आत्मवञ्चना–धन संचय का आसक्त पुरुष सोचता है कि जिसे संचय कर रखा है वह सदा मेरे साथ रहेगा। यह बिछुड़ेगा इतनी भी बात चित्त में नहीं आती अगर यह बात चित्त में आ जाये कि ये सब बिछुड़ेंगे तो भी अवश्य उसका सदुपयोग करें। संचय की बुद्धि फिर न रखेगा। मोही जन सोचते अवश्य हैं ऐसा कि यह सम्पदा मेरे साथ सदा रहेगी लेकिन जीवन भर भी जिस किसी भी प्रकार धन संचय कर लो, आखिर जब मरणकाल आता है तो चूंकि दिख रहा है ना कि मैंने बड़ी कृपणता करके स्वयं उपभोग न लाकर, किसी के उपकार में न लगाकर जो धन जोड़ा है। वह सब यहीं पड़ा रहा जा रहा है। छोड़कर जाना पड़ रहा है। यों कितना कठिन क्लेश होता होगा उसे? यदि उसकी प्रकृति में धन के उपभोग और दान की बात होती तो उसमें उदारता भी जागती, मरते समय उस कर्तव्य का पालन किया उसका सन्तोष भी रहता, लेकिन मोह में, धन संचय में ही सारा जीवन लगाया उसका न खुद भोग किया, न दान किया तो ऐसे पुरुष ने धन को ही सबकुछ समझा और उसमें ही अपना जीवन गंवा दिया तो उसका मनुष्य जीवन पाना व्यर्थ ही रहा। उस जीवन से उस आत्मा ने कुछ भी लाभ नहीं पाया।

जो संचिऊण लच्छि धर णियले संठवेदि अइदूरे।
सो पुरिसो तुं लच्छिं पाहाण-समाणियं कुणदि ।।14।।

धन गाड़कर रखने वाले कृपण की करतूत–जो पुरुष लक्ष्मी का संचय करके जमीन के नीचे में बहुत गहरे गाड़ देता है तो उस पुरुष ने क्या किया उस वैभव को, उस लक्ष्मी को पत्थर के समान बना दिया। जैसे जमीन के नीचे पत्थर गड़े हैं। तो उन पत्थरों से क्या लाभ? वे न भोग में आ सकते, न दान में आ सकते जैसे किसीधनिक कंजूस ने धनसंचय करके उसे जमीन में गाड़ दिया। उसमें से वह न खा-पी सकता है, न किसी के उपकार में लगा सकता है तो क्या किया उसने? उसको पत्थर के समान कर दिया। जैसे जमीन में अन्दर गड़े हुए पत्थर से कोई काम नहीं बनता इसी प्रकार कंजूस के गड़े हुए धन से भी कोई काम नहीं बनता और ऐसे धनिक कंजूस के मुकाबले में कोई गरीब बहुत से पत्थर अपने घर में जमीन के नीचे गाड़ दे और यह मान ले कि जैसे धनिक ने लाखों का वैभव गाड़ रखा है। ऐसे ही यह मेरा वैभव भी गड़ा हुआ है। धनिक का लाखों

का धन और गरीब के ढेरों पत्थर जमीन में गड़े हुए होने से दोनों एक समान हो गए। न धनिक के धन से ही कुछ काम निकल सकता है। और न गरीब के उन पत्थरों से। तो जो पुरुष लक्ष्मी संचय करते हैं, पृथ्वी में गहरे गाड़ देते हैं वे तो लक्ष्मी को पत्थर के समान कर देते हैं। लोग गाड़ते हैं रक्षा के विचार से कि जमीन में गाड़ देंगे तो कोई चुरा न सकेगा, छुड़ा न सकेगा, लूट न सकेगा। परन्तु ऐसा करके मनुष्य कृपण होने के कारण उसे निकालना न चाहे, उसका उपभोग न करना चाहे तो वह तो उस लक्ष्मी को पत्थर की तरह बना देता है। जैसे जमीन के नीचे ईंट पत्थर वगैरह गड़े रहते हैं, गाड़े जाते हैं, इसी तरह उसने भी वैभव को जमीन में गाड़ दिया तो क्या किया जा सकेगा उस वैभव का?

अणवरयं जो संचदि लच्छिं ण य दे दि णेय भुंजेहि।
अप्पणिया विय लच्छी पर लच्छि-समाणिया तस्स।।15।।

उपभोग दानहीन धनसंचयासक्त पुरुष की लक्ष्मी की व्यर्थता–जिसने निरन्तर लक्ष्मी का संचय किया, न किसी को दिया, न अपने उपभोग में लिया, तो उसने अपनी लक्ष्मी को दूसरे की लक्ष्मी के समान कर दिया। अगर उस लक्ष्मी का न स्वयं उपभोग किया, न पात्रों को दान किया, उसे रखे ही रहा तो आखिर उसे छोड़कर तो जाना ही होगा। मरण तो अवश्य होगा। उस रखे हुए धन को यदि पुत्रों ने भी लिया तो क्या है? वे भी परजीव हैं, जैसे और जीव हैं वैसे ही वे भी जीव हैं। जो मरकर चला गया उसके लिए यहां के लड़के अब क्या रहें? उसने तो अपने वैभव को दूसरे के वैभव के समान बना दिया। दूसरे का ही बना दिया। अपना वहाँ रहा ही क्या? जैसे पराये धन को हम न किसी दूसरे को दे सकते, न भोग सकते, इस लोक में ऐसी व्यवस्था है ही, दूसरे के धन का हम कुछ कर ही नहीं सकते, कुछ अधिकार ही नहीं, तो ऐसे ही अपने भी धन को अगर खुद नहीं भोग सकते, किसी के उपकार में नहीं लगा सकते तो वह खुद का धन भी पराये धन के समान हो गया। वह तो केवल उस वैभव का रखवाला (पहरेदार) भर रहा। कहीं यह धन बिगड़ न जाये, यह सुरक्षित बना रहे, यों केवल उस वैभव की रखवाली भर की। सो ठीक है। जब घर वालों के पुण्य का उदय है, जिनके उपभोग में वह धन जायेगा, जब उनके पुण्य का उदय है तो उसमें किसी को तो नियमित होना ही चाहिए। कोई भी सेवक बने, उसके पुण्योदय का कोई तो फल पाने के लिए नौकर बने। तो यों समझिये कि दूसरों को सुखी रखने के लिए, पुण्यवानों की चाकरी करने के लिए केवल एक नौकरी ही की जा रही है, तत्व कुछ नहीं है, पहरेदार है, दूसरे लोग भोगे, खायें, उनके लिए ही यह सब वैभव है, ऐसा यह एक बड़ा ईमानदार रखवाला बना है। वह रखवाला बड़ा ईमानदार है कि उसमें वो जो अपने लिए कुछ न ले और उस वैभव का दूसरों का मानकर अपने को रखवाला ही समझकर सच्ची रखवाली करे। ऐसे ईमानदार रखवाल अब भी कहीं-कहीं मिलते हैं लेकिन वह कंजूस धनिक साक्षात् ईमानदार रखवाल हैं। उस वैभव का जो अपने लिए कुछ न करे, न खाये, न दान आदि करें और दूसरों के उपभोग के लिए उस वैभव को पूर्ण सुरक्षित रखे वही तो सच्चा रखवाला है। जब तक कोई विवेक भरी दृष्टि न रखेगा और पाये हुए समागमों में उपेक्षा बुद्धि न होगी तब तक न पाये हुए समागमों का वह सदुपयोग कर सकेगा और न वह अपना अध्यात्मिक विवेक ही बना सकेगा। जहाँ पर द्रव्यों में इतनी ममता है कि वह उनका न खुद उपयोग करें, न दान दें, केवल उनकी रखवाली ही करते रहें तो इतने मुग्ध पुरुष अपने अध्यात्म प्रगति में उत्थान ही क्या कर सकते हैं? ऐसी बात जानकर इस मिले हुए वैभव का सदुपयोग करना चाहिए और संचय की आसक्ति छोड़कर आत्मनुभव के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

लच्छी ससत्तमणी जो अप्पाणं धरेदिल कट्ठेण।
सो राई-दाइयाणं कज्जं साहेदि मूढप्पा।। 16।।

द्रव्य पर्याय की यथार्थ श्रद्धा बिना निराकुल पद के लाभ का अनवसर–लोक में जितने समागम हैं वे सब अध्रुव हैं अध्रुव होने का कारण यह है कि प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है, यह वस्तु का स्वरूप है। यदि कोई उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला नहीं है तो वह है ही नहीं। ऐसा कुछ भी लोक में नहीं जो उत्पादव्यय-ध्रौव्य से रहित हो। चाहे किन्हीं घटनाओं में यह बात स्पष्ट समझ में आये अथवा न आये, लेकिन उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय प्रत्येक पदार्थ होता है। समागम में जो चीजें आयी हैं वे एकदम मूर्त रूप हैं, उनका तो उत्पाद व्यय स्पष्ट समझ में आता हैं कि अपने से भिन्न पदार्थ है और वे अध्रूव हैं, इस कारण अपने से बाहर किसी भी पदार्थ में उपयोग रमाने में हित नहीं है। जिनको श्रद्धा यथार्थ है वे न भी चल सके तो भी श्रद्धा यर्थाथ होने से वे कभी अवश्य तिर जायेंगे, और जिन्होंने अपना कुछ उद्देश्य ही नहीं बनाया, जिनकी श्रद्धा ही सही नहीं है वे चाहे कितना ही धर्म के नाम पर श्रम करें पर तिरने की लेन उन्हें नहीं मिलती। जैसे किसी जगह कोई हवेली बनने का काम हो रहा हो और कोई मजदूर हिसाब रखने वाले रजिस्टर में नाम लिखाये बिना ही श्रम करने लगे तो खूब श्रम करने पर भी जब मजदूरी मिलने का मौका आता है तो वह पुरुष मजदूरी पाने से वंचित रह जाता है। इसी प्रकार जो श्रद्धाविहीन है वह बड़ा श्रम करने पर भी उसका लाभ नहीं प्राप्त कर सकता। जिसकी श्रद्धा दृढ़ है उसने समझ लीजिए मोक्ष महल के निर्माण में अपना नाम लिखा लिया और श्रद्धा ही नहीं है तो धर्म के नाम पर कितने ही श्रम किए जायें, पर तिरने की गैल उसे नहीं मिल पाती।

कल्याणार्थी की स्व के प्रति आस्था–प्रत्येक कल्याणार्थी को यह दृढ़तम श्रद्धा होनी चाहिए कि मेरा मेरे सिवाय और कुछ ध्रुव नहीं हैं मेरे साथ मैं ही रहने वाला हूं और मेरे लिए मैं ही हितरूप हूं। मुझको अन्य कुछ भी हित नहीं है। ये समस्त पदार्थ अध्रुव हैं। परिवार, स्वजन, वैभव, यश, कीर्ति आदिक सभी के सभी अध्रुव हैं और उनमें इस मनुष्य को सबसे अधिक प्रीति लक्ष्मी में है, वैभव में है किन्तु वह वैभव अध्रुव है, जो मिट जाने वाली चीज है। उसका यदि उपभोग अथवा दान न किया जाए तो वह तो मिटेगी ही। अतः इसे अपने उपभोग में लगाये ढंग से खाये-पिये रहे, कुछ दूसरों के उपकार में लगाये, धर्म साधन का अपना ढंग बनाये। सब प्रकार की सामर्थ्य पाकर, आजीविका का साधन पाकर भी लक्ष्मी का संचय पाकर भी यदि उसका सदुपयोग न कर सके तो यह समझना चाहिए कि हम दूसरों के लिए उस लक्ष्मी के रखवाल बन रहे हैं। जो पुरुष ऐसी विनश्वर लक्ष्मी में आसक्त चित रहता है उसे बड़े कष्टों का सामना करना पड़ता हैं वह मूर्ख आत्मा करता क्या है? उसका सारा श्रम राजा के लिए या अन्य लोगों के लिए है। धन की गति छोड़कर जाने में यही तो होगी। या तो दूसरे लोग उसे संभालेंगे या राजा उसकी संभाल करेगा। और इस धन का विकल्प कर करके जो अपने को आत्मानुभव का अपात्र बना लिया, बाह्य दृष्टि होने के कारण जो अपने में एक विह्वलता बना ली वह उसकी गांठ में रही। वह चीज गांठ में न रही जिसके पीछे लोग लड़ते हैं, विकल्प करते हैं, राग-द्वेष करते हैं। पर जो रागद्वेषादिक किए वे कुछ काल तक कष्ट देने के लिए इस जीव के साथ रहेंगे।

धनसंचय का निष्फल व व्यर्थ संचय करने का श्रम–यह मनुष्य धन संचय के लिए बड़े-बड़े कष्ट उठाता है। परदेश में जाय, समुद्रों में यात्रा करे, बड़ी कठिन धूप में श्रम करे, बड़ी-बड़ी लड़ाइयां इत्यादि करे, यों अनेक प्रकार के कष्ट सहकर भी जो धन कमाया है उसका जो अपने लिए खर्च नहीं करते, परोपकार आदि में

नहीं लगाते, केवल उस धन का संचय करते रहने की ही जिनकी बुद्धि रहती है उन्होंने किया क्या? उनके मरने के बाद उस धन को या तो राजा लेगा या अन्य लोग और उन्होंने उस धन के पीछे जो विकल्प बनाया है, जो रागद्वेषादि किए उनका फल वे स्वयं भोगेंगे। वस्तु स्वरूप पर दृष्टि देकर विचार करो कि जो ये विकल्प किए जा रहे है कि हम जो धन इकट्ठा कर रहे हैं इससे हमारे लड़के खुश रहेंगे उनको कोई तकलीफ न होगी, सो प्रथम तो यह बात सामने ही है कि लड़के लोग प्रायः अनुकूल नहीं चलते हैं, वे जानते हैं कि इन पर हमारा अधिकार है सो दिल ज़रा खुला हुआ है अतएव जरा-जरा-सी बात में प्रतिकूल हो जाते हैं। और अनुकूल भी रहें कोई तो उनके प्रति वह पिता अनेक प्रकार के विकल्प बनाकर उनके पीछे हैरान ही रहेगा। उनको सुखी रखने के लिए ही निरन्तर प्रयत्नशील रहेगा। मरते समय कोई सोचे कि हमने इतना धन जोड़ा और यह सारा-का-सारा हमसे छूटा जा रहा है, तो हमारे लड़के लोग तो इसका उपभोग करेंगे, वे तो सुख से रहेंगे, तो वे लड़के लोग भी क्या हैं? जैसे जगत के अन्य सब जीव हैं वैसे ही वे भी है। मरने के बाद तो रंचमात्र भी किसी से सम्बन्ध नहींरहता, कुछ परिचय ही नहीं रहता। पता नहीं मरकर वह किस देह में, किस गति में गया, पता नहीं उस पर क्या बीतेगी? कोई अगर समझ भी जाए कि यह जो गाय, भैंस अथवा मेढ़क बना है, यह मेरे पिता का जीव है तो भी उससे वह प्रीति तो नहीं कर सकता। जो प्रीति स्वार्थ साधने के समय में होती है वह प्रीति वहीं तक है। कोई ऐसा विकल्प तो नहीं करता कि चलो, यह मेरे पिता अथवा पति का ही तो जीव है, मेढ़क बन गया तो क्या हुआ, इससे कुछ प्रीति कर लें। मरने के बाद किसका कौन और जीवित अवस्था में भी किसका कौन?

हितकारी लक्ष्य और हितार्थ चिन्तन--वास्तव में मुख्य लक्ष्य यह होना चाहिए कि हे प्रभो, मेरे को मेरे सहज स्वभाव की दृष्टि जगे और उसमें ही मेरा उपयोग अधिक काल तक रहे, यही एकमात्र सार है इस दुःखमय संसार में। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ सार नहीं है। जैसे बच्चे लोग बड़े हर्ष से अपने माता-पिता को अपना शरण मानकर उनके पास बैठते हैं, उनकी गोद में खेलते हैं इसी प्रकार अनन्तचतुष्टय के धनी, जिनका स्वभाव विकसित हो गया है ऐसे वीतराग सर्वज्ञ अरहंत देव, उनको हम एक समवशरण की घटना में सोच सकते हैं। तुरन्त ही अपनी दृष्टि आकाश में रचित समवशरण में ले जाये, वहां चतुर्मुख भगवान विराजे हैं उनकी वीतरागता, सर्वज्ञता, निर्दोषता और स्वभाव पूर्ण विकसित हैं। अनन्त आनन्द के स्वामी हैं। वे ही मेरे लिए शरण हैं, उनके लिए ही मेरा सर्वस्व समर्पण है। तो शरण मानकर क्या करें? उनके निकट रहें, हाथ पैर से नहीं किन्तु उपयोग द्वारा, ज्ञान द्वारा। जब दुनिया में सर्वत्र क्लेश ही क्लेश हैं तो फिर निर्दोष प्रभु के दर्शन करने में, उनके निकट रहने में अपना सारा लाभ ही लाभ है। तो शरण गहें तो हम उस निर्दोष आत्म विकास की शरण गहें। उस शरण के गहने से हमें अपने आपके स्वभाव का भी स्पर्श होगा, दर्शन होगा। बस इतना ही मात्र तो सार है, बाकी सब तो एक आपत्ति है। जब बाहरी दृष्टि करते हैं, लोगों का समागम मिलता है बाजार में या अन्यत्र कहीं तो सब मोहियों का समागम मिलता है। तो उससे एक प्रेरणा सी मिल जाती है कि हम भी धनी बनें, बड़े बनें धन बिना क्या है जीवन में? इस प्रकार से एक धनी यशस्वी आहिक महान नेता या सरकारी पदाधिकारी कुछ न कुछ बनने के लिए भाव उमड़ने-सा लगता है। यही भाव विपत्ति है। जहाँ पर उन भावों में अपनी अभिरुचि जगी वहीं इसके विपदा शुरू हो गयी, लेकिन ऐसे लोग हैं बहुत और केवल आत्मदर्शन करो, आत्मा के निकट रहो, ऐसी बात कहने वाले अथवा ऐसी चर्चा प्रसंग करने, इस धुन में रहने वाले है अति कम लोग, तो जहाँ अपनी शरण छोड़कर, अपनी दृष्टि छोड़कर बाहर में कुछ देखा तो बस विपदायें शुरू हो जाती हैं। फिर जो पुरुष इस वैभव लक्ष्मी में आसक्त

हैं और अपने आपको बड़े कष्ट में रखते हैं उस वैभव के संचय के लिए ही जिनकी धुन है। उन्होंने तो समझिये कि सरकार के या कुटुम्बियों के या अन्य लोगों के प्रयोजन को साधा और अपना काम कोई नहीं साधा।

जो वड्ढारदि लच्छिं बहु-विह-बुद्धीहिं णेय तिप्पेदि।
सव्वारंभं कुव्वदि रत्ति-दिणं तं पि चिंतेई ।।17।।
ण य भंजदि वेलाए चिंतावत्थो ण सुवदि रणणीए।
सो दासत्तं कुव्वदि विमोहिदो लच्छि-तरुणीए।।18।।

लक्ष्मी वर्द्धन के विकल्प की व्यर्थता—जो पुरुष नाना तरह की चतुराईयों से लक्ष्मी की वृद्धि करते हैं, धन बढ़ाते हैं और तृप्त नहीं होते हैं। वे पुरुष लक्ष्मी रूपी कामिनी में आसक्त होकर उसकी नौकरी करते हैं। भैया! लक्ष्मी आये, बढ़े, यह दोष के लिए नहीं हैं, पुण्योदय से लक्ष्मी आती ही है। चक्रवर्तियों को बड़ी-बड़ी ऋद्धियाँ और रत्न वगैरह सिद्ध होते हैं। तो वैभव, लक्ष्मी, सम्पदा आने में दो नहीं, वह तो पुण्य का फल है लेकिन उस लक्ष्मी में आसक्त रहना, उसके विकल्प करके तृप्त न होना, यह दोष की बात है। कितना ही धन पास हो लेकिन यह विचार ही नहीं आ पाता कि जो कुछ धन हमें मिला है वह जरूरत से कितने ही गुणा ज्यादा है और ऐसी बात है प्रायः करके। इसका प्रमाण यह है कि कल्पना करो कि जैसे अन्य गरीब जन हैं ऐसा ही यदि मैं होता तो क्या उस स्थिति में गुजारा न करता? उस मुकाबले में तो कितने ही गुना धन है। और अपनी वर्तमान परिस्थिति में भी तो जरूरत से ज्यादा है। अथवा इसका भी क्या विचार करना, उदयानुसार जो आता है सो ठीक है। कर्त्तव्य तो यह बताया गया है कि उसका ही विभाग करके कि इतना उपभोग में, इतना धर्म में, इतना कुटुम्ब पोषण में भाग करना है। 6 भाग, 8 भाग, 10 भाग करके उस तरह जैसे आप लोग संस्थाओं का बजट बना लेते हैं। उस तरह से ही आप अपनी आय का भी बजट बनाकर अपना काम चलाइये व उसी में तृप्त रहिए। घर के जैसे लोग हैं, उनका जैसा उदय है वैसी ही बात बीतती है, वैसी ही आय है, वैसा ही हिस्सा है। अतृप्त होने का तो कोई काम ही नहीं।

बरबादी के काम में मौज न मानने का विवेक—भैया! अतृप्ति तो उस काम में होनी चाहिए जिसमें हम अपनी बरबादी समझते हैं। बरबादी है अपनी विषय कषायों के बढ़ने में, पञ्चेन्द्रिय के विषयों में हमारे विकल्प रहे, बढ़े वह हमारी बरबादी है। विषयों में तृप्ति नहीं होती, उनसे हटना चाहिए। क्रोध, मान माया, लोभ ये चारो कषायें मेरे गुणों को जला देती हैं, ये कषायें अग्निवत हैं। जब क्रोध आता है तो कहाँ तो मैं सहज ज्ञानानन्द स्वभाव मात्र और कहाँ ऐसी प्रवृत्ति कि उस क्रोध में बाह्य वस्तु ही नजर आती है और इस ढंग से कि मैं इसको नष्ट कर दूं। तो कहाँ तो मेरा एक शान्त स्वभाव, आनन्द मग्न रहने का स्वभाव और कहां इस तरह का एक विकल्प विपदा? तो यह क्रोध अग्नि है, जो मेरे शान्ति गुण को जला देती है, मेरे गुण विकास को खत्म कर देती है। मान कषाय भी इसी प्रकार है। बाह्य पदार्थों में, पर्यायों मे करने का अहंकार, सबसे अपने को बड़ा मानने का अहंकार, जब ये अहंकार के परिणाम होते हैं, तो अपने आपकी क्या सुध रहती है? तो मान करना यह विपदा है जिसमें मेरे गुण भुने जा रहे, मैं बरबाद हो रहा हूं। मायाचार में भी तृप्ति नहीं होती। मायाचारी पुरुष अज्ञानी हैं। जो मायाचार करके समझते कि मैंने कैसा दूसरे को ठग लिया, कैसा इसे बेवकूफ बनाया, अपना काम साधायों अपनी, करतूत पर तृप्ति करते हैं, पर वह तृप्ति लायक बात है क्या? उन्होंने अपने आपको ठगा। मेरा कहां तो अतुल विकास का स्वभाव, ऐसा वैभव कि ज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक को जान जायें, इस गुण के आगे इस वैभव

के आगे लोक में कोई वैभव है क्या इसकी तुलना के लिए? सबकुछ तुच्छ है। तो मैं मायाचार करके अपने उस केवल ज्ञान गुण का घात कर रहा हूं और मैं अपने आपको कितना ठग रहा हूं? माया कषाय से भी आत्मा के गुण बरबाद हो जाते हैं। क्षोम कषाय लोभ में एकदम पर की ओर दृष्टि रहती है। पर के संचय से, पर को अपनाने का जो भाव रहता है उस भाव में अपने आपकी क्या सुध रहती है? तो ये विषय कषाय इस जीव को बरबाद करने वाले हैं, इनसे तो हटने की ही कोशिश करें, इनमें तृप्त न हों और अतृप्त न हों कि इन कषायों को और बढ़ा लें। ये तृप्ति और अतृप्ति के विषय नहीं हैं।

अतृप्ति के कारणभूत् आशा के परित्याग का शिक्षण–जो लोग इस लक्ष्मी का संचय करके तृप्ति अथवा अतृप्ति मानते हैं वे मूढ हैं, किन्तु इस परिस्थिति में मुझे बस कुछ न चाहिए। मैंने तो अपने आत्मा हित के साधन का एक उपाय बना लिया है, बस उसी में तृप्त रहूंगा। इस प्रकार की जिसकी भावनायें रहती हों उसे कहें विवेकी। जो पुरुष नाना प्रकार की चतुराइयों से लक्ष्मी में वृद्धि करते हैं और उससे तृप्त नहीं होते, उसकी बढ़ोत्तरी के ही विकल्प बनाये रहते हैं वे पुरुष इस लक्ष्मी रूपी तरूणी के दास बन रहे हैं। जो सर्व प्रकार के आरम्भ करने में न्याय-अन्याय कुछ नहीं गिनते, योग्य-अयोग्य कुछ नहीं गिनते, जो महापाप के साधन हैं उनको भी करने लगते हैं, जहाँ जीव हिंसा विशेष हैं आदिक दोष हैं, उन समस्त आरम्भों को करते हैं और इतना ही नहीं, रात-दिन उनका ही विचार करते रहते हैं और उनमें तृप्त न होकर वे रात-दिन चिन्तित रहा करते हैं। यद्यपि आजकल सरकार ने व्यापारियों का समय नियत कर दिया है, वे 8-9 घंटे ही अपनी दुकान खोल सकेंगे औरसर्विस करने वालों का भी 7-8 घंटे का नियत समय है, फिर भी फर्क देखिये कि दुकानदार तो दुकान निश्चित समय के अतिरिक्त न खोल सकने पर भी तत्सम्बन्धी विकल्प रात-दिन बनाये रहते हैं, उनका समय कहाँ नियत बना? और सर्विस करने वालों को तो जहाँ निश्चित समय खत्म, बस काम खत्म और तत्सम्बन्धी विकल्प खत्म। दुकानदार को तो धन वृद्धि की कुछ आशा रहती है और सर्विस वालों को धन वृद्धि की क्या आशा? उनको तो जो वेतन नियत है सो ही है। तो अन्तर यह आया कि जो व्यापार करते हुए भी पायी हुई लक्ष्मी में यह समझते है कि इतना धन बहुत है, उससे तृप्त रहते हैं, जो आये वही ठीक है, उसका रात-दिन विचार नहीं चल सकता, लेकिन जो लोग संचय करके तृप्त ही नहीं होते वे तो रात-दिन चिन्तित ही रहेंगे और इतना ही नहीं, वे समय पर खा-पी भी नहीं सकते। चिन्तावान होकर रात को सो भी नहीं सकते, और धर्म की ओर लगना भी नहीं चाहते, समझिये कि वे लक्ष्मी रूपी तरूणी की दासता कर रहे हैं।

इस अध्रुव भावना में यह बताया जा रहा है कि जो समागम मिले हैं वे विनाशीक हैं, उनमें प्रीति रखने से अपना हित नहीं है। अपने आपके स्वरूप को जानें और श्रद्धा करें कि आनन्दमय तो यही स्थान है। निर्दोष निष्कलंक स्वयं ही स्वयं यह ही मैं अपने में सर्वस्व हूं और यह कभी मिटेगा नहीं। इसे ही रहना है। यह ज्यों का त्यों रह जाये, यही मेरा कल्याण है, यही मेरा आनन्द है, साधन है, ऐसी श्रद्धा करके अपने आपकी ओर जो झुके मुझे उसका पुरुषार्थ सार है, बाहरी बातों में जो पुरुषार्थ किये जाते हैं वे अपने काम न आयेंगे।

जो वड्ढमाण–लच्छिं अणवरयं देदि धम्म-कज्जेसु।
सो पंडिएहिं धुव्वदि तस्स वि सहला हवे लच्छी।।19।।

धन का सदुपयोग कराने में उत्साह देने वाले दो निर्णय–जो पुरुष अपनी बढ़ती हुई लक्ष्मी को सदा धर्म के काम में देते रहते हैं उनकी लक्ष्मी सफल है और विवेकीजन, समझदार लोग भी उसकी प्रशंसा करते हैं

जहाँ मान लिया कि यह वैभव एक तो पुण्यानुसार आता है, दूसरे यह सदा नहीं रहता, ये दो बुद्धियाँ इसके व्यवहार को सुन्दर बना देती हैं। बातें दोनों यथार्थ हैं, वैभव पुण्यानुसार आता है, उसके अनेक दृष्टान्त हैं। कभी ऐसा भी नजर आता कि जिन लोगों की वर्तमान करतूत खोटी है और लक्ष्मी उनके भी आ रही है, तो भी वहां यह समझना चाहिए कि पूर्व समय में जो शुभभाव किये, जो पुण्यबंध किया इसका यह फल प्राप्त हो रहा है। जो इस समय भी भाव ठीक रख रहा है तो उसका पूर्व पुण्य भी है, वर्तमान भी है जो भविष्य में भी फल देने को है। एक तो बात यह है कि लक्ष्मी के संचय के बारे में अधिक विकल्प यों न करना कि सबकुछ बाह्यसमागम भाग्य के अनुसार आता है। इसके विपरीत कुछ नहीं होता। दूसरी बात—जो आता है सो नष्ट होता है। यदि धन को कोई यो ही रखे रहे, उसका उपयोग न करे, दान न करे तो जितना है उतना ही बना रहेगा और अगर उसका उपयोग करे, उसका दान करे तो उसकी फिर नई पूर्ति होगी। जैसे कुएं में जल भरा रहे, उससे जल निकाला न जाये तो जितना जल है उतना ही बना रहेगा और अगर उस कुएं से जल निकलता रहे तो उसकी पूर्ति भी होती रहेगी। भले ही तुरन्त ऐसा लगे कि जल कम हो गया लेकिन उस जल की पूर्ति शीघ्र ही हो जाती है। ऐसे ही यह बात निश्चित है कि यह वैभव पुण्योदय के अनुसार आता है। उसका जितना उपयोग किया जायेगा, जितना परोपकार आदि के कार्यों में लगाया जायेगा उतना हीं पुण्यरस बढ़ेगा और उस निकले हुए धन की पूर्ति स्वत: ही पुण्योदय से होती रहेगी तो पहली बात यह है कि धन उदयानुसार आता है। दूसरी बात यह है कि धन का स्वभाव मिटने का है, एक जगह जमकर रहने का स्वभाव नहीं है। यहाँ-वहाँ चलता ही रहेगा जब यह बात है तो फिर इस पाये हुए धन वैभव का उपभोग करना चाहिए और परोपकार आदि धार्मिक कार्यों में खर्च करना चाहिए।

विनाशीक वस्तु का त्याग करके अविनाशी वैभव पाने में सच्ची बुद्धिमत्ता—जो पुरूष पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा आहार दान आदिक चार प्रकार के दानों में लगाते हैं उनका वैभव पाना सफल है और विवेकी जन ऐसे पुरुषों को बड़ी प्रशंसा की दृष्टि से निरखते हैं। जो चीज मिट जाने वाली है उसका उपयोग करके एक बड़ा काम साध लेते तो उसने तो चतुराई की, थोड़ा खर्च करके बहुत काम निकाला। विनाशीक चीज को खर्च करके एक अविनाशी लाभ लूटें, एक पवित्र भाव बनाया, तो समझिये कि उसने तो एक बहुत बड़ा काम ही किया है। ऐसा जानकर कि जब ये समागम उदयानुसार प्राप्त होते हैं और विनाशीक हैं तो इनका सदुपयोग करना चाहिए और उसे भी अपने आपमें पात्रता जगेगी।

जिसके पास वैभव है उसका यदि वह उपयोग नहीं करता तो वह आत्महित साधने का पात्र नहीं बन पाता, क्योंकि विकल्प यहां है, लोभ वहां है, उपयोग इनमें रमा है, उन्हें विनाशीक मान नहीं पाता तो वह आत्महित का पात्र नहीं बन पाता। इससे यहां आचार्य संतजन यह उपदेश करते हैं कि वैभव पास है तो उसका उपयोग करें और दान करें अन्यथा तीसरी गति जो नाश है वह तो होगी ही, और यह जीव व्यर्थ ही विकल्प करके कष्ट भोगेगा।

एवं जो जाणित्ता विहलिय-लोयाण धम्म-जुत्ताणं।
णिरवेक्खो तं देदि हु तस्स हवे जीवियं सहलं।।20।।

धन समागम की विनाशीकता जानकर जरूरतमन्द धार्मिक जनों को यथासमय देते रहने में जीवन की सफलता—इस लोक का सारा समागम विनाशीक है। जिसका जन्म हुआ उसका मरण अवश्य होगा।

जो यौवन मिला है उसका फल बुढ़ापा है। लक्ष्मी वैभव मिला है तो उसका फल वियोग होना है। चेतन अचेतन ने समस्त पदार्थ (परिग्रह) अध्रुव हैं। यहां का संयोग सब क्षणमात्र का है। जैसे रास्ते में चलते हुए सामने से जंगल से, किसी रास्ते से आते हुए मुसाफिर मिल जायें तो वह कितनी देर का समागम है? सबको अपना-अपना प्रयोजन है। अपने कार्य के लिए थोड़ा ही मिलाप करके चले जाते हैं, यों ही ये स्वजन, मित्रजन, कुटुम्बजन सब थोड़ी देर को मिले हैं और अपने-अपने कर्मानुसार यहां से चले जायेंगे। जिस वैभव में लोग आसक्त हो रहे हैं वह वैभव जब बड़े-बड़े पुण्यवान् चक्रवर्तियों के पास भी न रहा फिर पुण्यहीन लोगों के पास जमकर तो रहेगा ही क्या? इस लक्ष्मी का कोई भरोसा नहीं कि किसके पास रहे? कहो जो कुलीन पुरुष हैं उनके पास न रहे और जो पाप कर्म करते हैं उनके पास रह जाये। कोई बलवान हो निर्बल हो, पूज्य हो, अपूज्य हो, किसी भी समय यह लक्ष्मी बंधकर नहीं रहती। इस कारण यह निर्णय रखना चाहिए कि जब तक यह विनाशीक लक्ष्मी ठहर रही है तब तक इसका उपयोग कर लें अन्यथा नष्ट हो जायेगी, विकल्प मचाना होगा, दुःखी होना पड़ेगा। इस लक्ष्मी को जो धर्म कार्यों में प्रदान करता है उसकी लक्ष्मी सफल है ऐसा विद्वज्जन कहते हैं। इस प्रकार इस समागमों की रहस्य की सारी बात जान कर जो पुरुष निरपेक्ष होकर निर्धन साधर्मी जनों को दान करता है उसका जीवन सफल है।

वात्सल्य और स्थितिकरण नामक सम्यक्तावाङ्ग की प्रासंगिक झांकी–सम्यग्दर्शन के वात्सल्य अंग में बताया है कि जो पुरूष किसी भी कारण धनहीन होने से, आजीविका हीन होने से, रूग्ण होने से या किसी कषाय आवेश के कारण धर्म से च्युत होता हो तो उसे उपाय लगाकर धर्म में स्थित कर दें, यह सम्यक्त्व का स्थितिकरण अंग है और साधर्मीजनों से निष्कपट प्रीति रखना साधर्मी जनों से जिनकों रत्नत्रय से प्रीति है। संसार शरीर भोगों से जो विरक्त हैं, जो आत्महित का चिन्तन करते हैं, ऐसे पुरूष भी आजीविकाहीन हो सकते हैं; सम्यक्त्व भी जगे और असाता का उदय भी ऐसा चल सकता है कि आजीविका भी ढंग से न रह सके। तो ऐसे साधर्मी जनों को कुछ द्रव्य दान करके, उनमें उपयोग करके उन्हें स्थिर करना, उनमें प्रीति रखना यह कर्त्तव्य है साधर्मी का। सर्वप्रथम यह बात है कि जिसने यह निर्णय कर लिया हो कि वैभव पुण्यानुसार आता है और यह है विनाशीक, वह सबकुछ करने को तैयार हो सकता है। जिसकी इन दो बातों में श्रद्धा नहीं, निर्णय नहीं, वह वैभव का उपयोग अच्छे कार्य में नहीं कर सकता। विनाशीक वैभव मिला है तो उसका ऐसा उपयोग बनाया जाना है कि साधर्मी जन भी अपने धर्म में स्थिर रह सके और धर्म कार्य भी एक प्रभावना के साथ चल सके। ऐसा विवेकपूर्ण प्रयोग करने वाला पुरूष इसमें बड़ी प्रसन्नता मानता है। जबकि कृपण लोग अपना कुछ भी खर्च होने में विषाद मानते हैं। इतना ही नहीं, दूसरा कोई किसी को दान देता हो तो उसमें भी वे कृपण लोग विषाद मानते हैं।

कृपण अज्ञानी जनो की दानियों और ज्ञानियों पर सविस्मय दृष्टि–कृपण लोगों को दान देने की घटना एक अटपटी-सी लगती है कि कहीं इसका दिमाग तो नहीं फिर गया। यह अपना वैभव इस तरह से लुटा रहा है। कोई कंजूस शहर में से किसी बड़े मार्ग से जा रहा था, वहां देखा कि एक सेठ गरीब लोगों को खूब वस्त्र, धन, रुपया पैसा आदि बांट रहा था। उस दृश्य को देखकर उसके सिरदर्द शुरू हो गया। घर पहुंचा तो स्त्री पूछती है 'नारी पूछे सूमसे काहे बदन मलीन। क्या तेरो कुछ गिर गया, या काहू को दीन'।

हे पति देव! आज आप क्यों मलिन हैं? आज आपका कुछ गिर गया, या किसी को कुछ दे डाला है? तो वह सेठ जवाब देता है 'ना मेरा कुछ गिर गयो, ना काहू को दीन। देतन देखा और को तासो बदन मलीन'।। अर्थात हे प्रिये! मेरा न कहीं कुछ गिर गया है और न ही मैंने किसी को कुछ दिया है, बल्कि मैंने दूसरे को मनमाना

धन-दौलत खूब गरीबों को लुटाते हुए देख लिया है इसलिए आज मेरा बदन मलीन है। जैसे अज्ञानी लोग जब ये चर्चायें सुनते हैं कि सुकुमाल मुनि ग्रहस्थावस्था में इस तरह की सुकुमालता में पले पुसे थें नई शादी, प्रथम गर्भ, और विरक्त होकर चल दिये। लोगों ने बहुत समझाया कि पहले अपनी संतान को राजतिलक कर देना तब विरक्त होना तो अचरज करते हैं।

लेकिन जब ज्ञान और वैराग्य भेदरूप में दृढ़तम बन जाता है तब पर की ओर दृष्टि लगाना नहीं सुहाता। तो अज्ञानी जन इन कथाओं को सुनकर अचरज कर सकते हैं कि कैसा उनका दिमाग बन गया। आज कल भी तो माता-पिता यदि किसी लड़के को ऐसे देखें कि यह तो त्यागियों के पास अधिक बैठता उठता है, उनकी सेवा शुश्रुषा में अधिक रहता है सो विभ्रम हो जाता है कि कहीं इसका दिमाग तो नहीं फिर गया है। वे डॉक्टरों से राय लेते हैं और उसे ऐसा उपदेश देते हैं कि उसकी बुद्धि ठिकाने आ जाये और वह अपने घर को घर समझने लगे। तो जिसका जैसा परिणाम रहता है उसके प्रतिकूल कुछ बात दिखे तो उसे अटपटा मालूम होता है। इन कृपणों को तो दानियों का दान करना भी अटपटा जैसा काम लगता है। लेकिन जो पुण्यवान हैं, धर्मात्मा हैं, सम्पन्न हैं, जिनको अपने आपके स्वरूप का निर्णय है, जिन्होंने वस्तुस्वरूप का मर्म जाना है वे जब तक घर गृहस्थी में रहते हैं तब तक अनेक प्रकार से उस प्राप्त धन का सदुपयोग करते हैं।

दानियों की ही वास्तविक सम्पन्नता–अब जरा शोभा की दृष्टि से देखो तो यदि कोई सम्पन्न पुरूष धर्मात्मा अपने पड़ौस में रहने वाले साधर्मी जनों की सेवा में कुछ धन व्यय करता है तो उस मौहल्ले में उस नगर में उस पुरुष की बहुत बड़ी शोभा होती हैं लोग समझते हैं कि धन संचय करने के कारण हमारी शोभा है, हमारा बड़प्पन है। जो लोग धन की वृद्धि में अपना अभिप्राय लगाते हैं, श्रम करते हैं उनका प्रयोजन क्या है? यह प्रयोजन तो है नहीं कि हमको रोटी, कपड़ा नहीं मिलता इस प्रयोजन का साधन तो साधारण-सा ही हो सकता है, किन्तु दुनिया में मैं विशिष्ट कहलाऊं, मेरा बड़प्पन रहे, मैं खासा धनी माना जाऊं इसीलिए ना धन का संचय करते हैं? कोई धन संचय करे और कृपण हो, न स्वयं के उपभोग में खर्च कर सके, न दान आदिक में तो भला बतलाओं कि लोक में उसका बड़प्पन रहेगा क्या? या कोई साधारण भी धनी है और वह परोपकार में अथवा उपभोग में, मित्र जनों में कुछ खर्च करता है, दान करता है उसका बड़प्पन लोक में है। लोकयश त्याग बिना नहीं बनता। धनी हो तो धन का त्याग करे और उपभोग में लाये तो यश बनता है। विद्वद्जन हों तो विद्या से अन्य लोगों को लाभान्वित करें तो यश है। कोई शूरवीर है तो वह छोटे लोगों की रक्षा करे। जो लोग आतंक मचाते हैं, अन्याय करते हैं उनका डटकर मुकाबला करें तो उन शूरवीरों का यश है। मतलब यह है कि यश का सम्बन्ध त्याग से है, उसके बदले में वे उनसे कुछ चाहें नहीं, उन साधर्मी जनों की बाधाओं को जो द्रव्यदान करके दूर करें उन पुरुषोंका जीवन सफल है।

जल बुब्बुय-सारिच्छं धण-जोव्वण-जीवियं पि पेच्छंता।
मण्णंति तो वि णिच्चं अइ-बलिओ मोह-माहप्पो।।21।।

व्यामोही पुरुषों का अतिबलिष्ट मोहमाहात्म्य–धन, यौवन, जीवन, जल के बुलबुले की तरह अनित्य है। ऐसा देख रहे हैं लोग तो भी मोह का अति बलिष्ट माहात्मय तो देखिये कि ये लोग उन्हें नित्य मानते हैं। दूसरे लोग कोई मर गए, उनकी अर्थी में भी साथ जा रहे और समझ रहे कि जीवन अनित्य है। जो जीता है सो मरता है चर्चा भी ऐसी करेंगे, पर अपने आप पर भीतर घटित करते हुए कुछ चर्चा या भाव बन रहा सो बात नहीं है और इतनी ऊपरी चर्चा भी यह तब तक है जब तक कि शमशान में उसके जलने के प्रसंग में अछूत कहलाते

हैं। जहां उस कार्य से निवृत्त होकर नदी तालाब अथवा कुएं में नहाया तो उसके साथ ही साथ उस चर्चा का भी नहान कर देते हैं। फिर उतनी भी चर्चा नहीं रहती। जैसी कि एक बाहरी चर्चा चल रही थी। तो हम देखते हैं कि बाहर में कि जवानी ढ़लती है, हर एक कोई बूढ़ा बनता है। अगर उम्र रही आये तो यह मनुष्य जवान ही तो न रहेगा, वृद्ध बनेगा। मगर बच्चों के व ताजे जवानों के मन में यह बात कभी भीतर समाती है क्या कि हम भी बूढ़े बनेंगे। मोह का माहात्म्य देखिये कि बाहर चर्चा भी कर लेंगे पर अपने आप पर उसको घटित कर सकें, ऐसा अन्तरङ्ग भाव नहीं बनता। यह क्या है? मोह का माहात्म्य।

अज्ञानियों का ईक्षण—लोग देखते भी हैं कि देखो कोई कल तक धनिक था, रात भर में ही उसका सब कुछ लुट गया, गरीब हो गया। जब देश का बंटवारा हुआ तब लोगों पर कितनी कठिन स्थितियां आयी? रात्रि व्यतीत हुई, खाने को रोटियों का भी ठिकाना नहीं, दूसरों ने दया करके उन्हें रोटियां खिलायीं। ऐसी स्थितियों में वे अत्यन्त गरीब लोग जो लाखों का वैभव छोड़कर भारत देश में पाकिस्तान से आये। उन सबका भाग्य उनके साथ था। अब अनेक उदाहरण ऐसे मिलेंगे कि एक दो वर्षों के अन्दर ही वे फिर वैसे के ही वैसे धनिक बन गए। तो बात क्या थी? उनका पुण्योदय उनके साथ था। कुएं से जल निकाल लिया जाए तो झरनों से उतना ही जल फिर भर जायेगा। इसका स्पष्ट उदाहरण देख ही रहे हैं। खैर यहां प्रकरण यह चल रहा है कि हम देखते हैं कि दूसरों का धन यों लूटा, यों नष्ट हो गया, राजा ने वसूल कर लिया अथवा वे मरकर धन छोड़कर चले गए, किसी भी तरह धन का वियोग हुआ, पर अपने आपके पाये हुए धन के प्रति यह तर्क ही नहीं लाते कि हमारा यह धन भी वियुक्त होगा, नष्ट होगा। यह सब एक अज्ञान का माहात्म्य है। जैसे कोई किसी जंगल में खड़ा था, अचानक वहां आग लगी तो एक-दो ओर आग बढ़ गयी। वह आग से बचने के लिए एक पेड़ पर चढ़ गया। अब वहां से देख रहा है कि चारों तरफ आग फैल गयी। देखो वह हिरण मरा, देखो वह खरगोश मरा, वे देखो अनेक पशु-पक्षी मर रहे, यों दृश्य देखकर वह विनोद कर रहा है, पर उसके चित्त में यह बात नहीं आती कि यह अग्नि बढ़ती-चढ़ती यहां तक भी आयेगी, यह पेड़ भी भस्म होगा और हम भी भस्म होंगे। तो उस ही अज्ञानी की तरह इन मोहीजनों की प्रवृत्ति है। दूसरों का धन नष्ट होते देख रहे हैं, उसे सिनेमा, नाटक जैसा समझ रहे हैं। यहां भी देख रहे है कि जीवन गुजरा, यौवन गुजरा, धन गुजरा यों देखते हुए ही मोह का माहात्म्य तो देखिये कि अपने बारे में अपना धन, यौवन, जीवन आदि नित्य ही मान रहे हैं। ऐसी व्यवस्था बनाते कि मानो यहां सदा ही ये सब चीजें रहनी हैं।

अध्रुव समागम में अपना कर्त्तव्य—अपना कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि इन अध्रुव समागमों का विकल्प तोड़कर या उन्हें अध्रुव ही जानकार उनकी उपेक्षा रखकर ध्रुव जो निज आत्मा है, हितकारी है, उसकी ओर कुछ दृष्टि होनी चाहिए। सबकुछ देखा, सबकुछ किया, सबमें रहे, सबसे गुजरे, सार कहीं न मिला। सार है तो केवल अपने आपका आत्मतत्व जैसा है, जो है, वैसा निरखते जाओ, सार वहां मिलेगा। और उस स्वरूप की निरखन से हटकर जहां किसी बाह्य में उपयोग फंसाया, बस अज्ञान बना प्रकाश मिटा, विकल्प हुये। अपना उपयोग अपने ज्ञान समुद्र से हटकर बाहर की ओर चला, वहां उपयोग की चोंच की, सो वहां आकुलता ही आकुलता है, पाप बंध हैं, जन्ममरण की परम्परा है। किसके लिए हम इस संसार में जन्म-मरण की परम्परा बढ़ायें? कुछ तो चिन्तन करना चाहिए। क्या इन मोही पुरुषों में अच्छा कहलवाने के लिए, या ये लोग कुछ कह दें कि यह बहुत बड़े हैं, इतनी मात्र बात कहलाने के लिए मैं संसार में जन्म-मरण की परम्परा बढ़ाऊं, नरक, निगोद, एकेन्द्रिय, विकलत्रय आदिक में जन्ममरण की परम्परा बढ़ाऊं, इतनी बड़ी अनर्थ हेतु भूत विपत्तियां न कुछ जैसी तुच्छ माया

रूप बातों में पड़ कर सहन करूं क्या? कुछ विवेक से काम लेना चाहिए। ये सब बातें उपेक्षा किये जाने योग्य हैं। अपने आपका स्वरूप जैसा कि लघु सूक्ष्म भाररहित सबसे निराला ज्ञानमात्र, भावमात्र जो अपने आपका स्वरूप है उस स्वरूप में दर्शन में अपना उपयोग लगे, प्रयत्न रहे, यह बात बन सके तो वे हैं सार के क्षण और इससे हटकर जितना हम विकल्पों में रहे वे हैं हमारे सारहीण क्षण।

चइऊण महामोहं विसए मुणिऊण भंगुरे सव्वे।
णिव्विसयं कुणह मणं जेण सुहं उत्तम लहह।।२२।।

सर्वसमागम को भंगुर जानकर व्यामोह को त्यागने का कर्त्तव्य—अध्रुव अनुप्रेक्षा के इस प्रकरण में इस अंतिम छंद में आचार्य संबोधन करते हैं कि हे भव्य जीवो! अब तो समस्त समागमों को भंगुर विनाशीक मानकर इन विषयों के महामोह को तज दो। इन विषयों में प्रीति, इन विषयों में उपभोग कितना बड़ा धोखा है? विषयों के उपभोग के समय ये विषय बड़े सुहावने लगते हैं। इनमें बड़ा सुख विदित होता है, लेकिन यह जो अन्य पदार्थों में उपयोग रमा और उनमें राजी रहे, इसका कितना कठिन फल होता है? वह असह्य होगा। एक नौकर प्रतिदिन राजा की शय्या बिछाया करता था बड़ा कोमल सुगंधित। एक दिन उसके मन में आया कि मैं इस पर दो मिनट लेटकर तो देख लूं कि राजा कितना आराम किया करता है? दो मिनट लेटने को पड़ा कि उसे निद्रा आ गयी, अब वह सो रहा। इतने में राजा आया तो उसने नौकर को अपनी शय्या पर सोते हुए देखा, उसे बड़ा गुस्सा आया कि देखो मेरा नौकर कितना बेहूदा है, मेरे लिए शय्या सजाता और आप आराम करता है। तो राजा ने नौकर को जगाया और खूब बेंतों से पीटा। नौकर खूब हंसता रहा। उसको हंसते हुए देखकर राजा बड़ा हैरान हुआ कि देखो हम तो इसे पीट रहे हैं और यह खूब हंस रहा है। राजा ने उस नौकर से हंसने का कारण पूछा तो नौकर ने जवाब दिया कि महाराज, मैं तो सारे जीवन में थोड़े से समय को ऐसी शय्या पर कुछ समझने के लिए लेटा तो मैं तो इतना पिटा और आप जीवन भर इस शय्या पर सोते रहेंगे तो न जाने आपको कितना पिटना पड़ेगा, इस बात का सोचकर हमें हंसी आ रही है। तो इन विषयों में रमना, इन लौकिक सुखों को ही सर्वस्व समझना यह तो जीवन के उत्कर्ष की बात नहीं है। इन विषयों से मुख मोड़े और अपने मन को निर्विषय बनायें।

अनित्य भावना के अनुप्रेक्षण का लाभ लेने का अनुरोध—अनित्यानुप्रेक्षा की जो भावना की और कुछ अन्तः अनुप्रेक्षण किया तो इसका फल यह है कि यथार्थ जानकर, निज को निज पर को पर जानकर इन सब पर पदार्थों से अन्तः प्रीति छूटे और अपने मन को निर्विषय बनाये, ऐसा ध्यान करके, ऐसा उपयोग जोड़कर ज्ञानस्वरूप निज तत्व में इस ज्ञान को लगाकर इस मन को ऐसा बनायें कि यह किसी भी विषय को न भोगे। एक कवि ने लिखा है कि यह मन तो नपुंसक है। इन्द्रियां भोगती हैं सारे विषयों को और यह मन सिर्फ उन्हें देखकर खुश हो रहा है। यह उन विषयों को भोग नहीं सकता। (नपुंसक विषय भोग तो नहीं सकता) तो भाई यथार्थ स्वरूप जानकर इस मन को विषयों से दूर हटायें। जब तक मन में विषय लालसा बनी हुई है तब तक यह जाल, यह भ्रमण, यह आत्मानुभव का सत्य आनन्द, यह नहीं मिल सकता, यह जाल नहीं छूट सकता। यदि सच्चा सुख प्राप्त करना चाहते हो तो इस अनित्यानुप्रेक्षा का भाव बनाना चाहिए। सबकुछ बात अपने आप घटित करके एक ही बार एक झटके से समस्त पर पदार्थों को हटाकर इस मन को निर्विषय बनायें। इससे ही हम उत्तम सुख प्राप्त करेंगे।

●●●

अशरणानुप्रेक्षा

तत्थ भवे किं सरणं जत्थ सुरिंदाण दीसदे विलओ।
हरि-हर बंभादीया कालेण य कवलिया जत्थ।।२३।।

भव में पर की शरण्यता का अभाव–उस संसार में क्या शरण है जहां कि देवेन्द्र का भी विलय देखा जाता है और हरिहर ब्रहा आदिक भी जहां पर काल के द्वारा कवलित हुए हैं। उस संसार में फिर शरण ही क्या है? देवगति में सभी देवों का और देवों के इन्द्र का वैक्रियक शरीर होता है। और सागरों पर्यन्त उनकी आयु होती है। अनेक पखवारों में श्वास लेने का उन्हें श्रम करना होता है, जबकि यहां मनुष्यों को एक मिनट में ३-४ श्वास तो लेने ही पड़ते हैं वहां अनेक पखवारों में श्वास ली जाती और वर्षों में कभी क्षुधा की कुछ वेदना होती है तो उनके कंठ से ही अमृत झड़ जाता है, बाहर से किसी चीज को खाने का कष्ट नही करना पड़ता। उनके शरीर में मल-मूत्र पसीना आदिक कोई अपवित्रता नहीं है। तो ऐसे हैं देवेन्द्र, वे सागरों पर्यन्त वहां स्वर्ग के सुख भोगते हैं, सागरों की आयु असंख्याते वर्षों की होती है। एक सागर कितने समय का होता है इसके लिए उपमा प्रमाण ही समर्थ है। गिनती समर्थ नहीं है। कल्पना में लाओ कि कोई दो हजार कोश का लम्बा-चौड़ा गहरा गड्ढा है, जिसमें बाल के छोटे-छोटे हिस्से जिनका कैंची से भी विभाग न बनाया जा सके और वे भी रोम किसके? उत्तम भोग भूमि के पशु के रोम समझिये क्योंकि वे बहुत पतले होते हैं, कर्मभूमि या मनुष्यों के बाल मोटे होते हैं, उससे ८ वां हिस्सा पतले जघन्य भोग भूमिया के मनुष्यों के रोम होते हैं। वहां से वे भी ८ वें हिस्से पतले मध्यम भोगभूमि के और उससे भी ८वें हिस्से में पतले उत्तम भोगभूमि के मनुष्यों के बाल होते हैं और इतने छोटे टुकड़े रोम के उस गड्ढे में भरे जाये और मानो उस पर हाथी फिरें, वे बाल खूब दब जायें ताकि अधिक रोम उस गड्ढे में समा सकें और फिर १०० बर्ष में एक रोम का टुकड़ा निकाला जाय। जितने वर्षों में समस्त रोम निकल सकें उतने समय का नाम है व्यवहार पल्य, उससे अंसख्यात गुना है। उद्धार पल्य, उससे असंख्यात गुना है अद्धापल्या, ऐसे एक करोड़ अद्धापल्य में एक करोड़ का गुणा किया जाय उतने समय का नाम है एक सागर। अब उतने अनगिनते वर्षों तक कोई दो सागर कोई १०, १५, २० सागर ऐसी बड़ी स्थिति वाले देवेन्द्र भी जहां विलय को प्राप्त होते हुए देखे गए हैं। उन्हें भी मरण करना पड़ता है। तो ऐसे भव में फिर और क्या शरण है?

दुर्लभ तरणसाधन पाकर उससे लाभ न उठाने का भयंकर अज्ञान–यदि अपने आपके सम्बन्ध में ऐसे अशरणत्व का विचार किया जाये तो अन्य सर्व आकांक्षायें हट सकती हैं इस अनादि अनन्त काल के सामने हम आपको १००-५० वर्ष का जीवन क्या गिनती रखता है? सागरों की आयु भी गिनती नहीं रखती। एक स्वयं भूरमण समुद्र के अथाह जल के सामने एक बूंद जितनी गिनती रख सकता है उतनी भी गिनती सागरों की आयु में नहीं आ पाती। कारण यह है कि काल तो अनन्त है, तो अनन्त काल के प्रवाह में कुछ समय को जो किसी भाग में नहीं आ सकता, काल का अनन्तवां भाग ही कह सकते हैं। ऐसा तो क्षणिक जीवन है। किन्तु एक श्रेष्ठ मन का भव मिला है। जब संसारी जीवों की ओर दृष्टि देते हैं तो इस भव का मूल्य विदित होता है। ये स्थावर, जो बोल नहीं सकते, ये विकलत्रय जिनकी भाषा नहीं है और पशु-पक्षी जो भले ही चिल्लायें,

किन्तु जिनके कोई भाषारूप वचन नहीं हैं। उनके मुकाबले में जो मनुष्य जीवन अपने भाव दूसरे को बता सकते हैं, दूसरे के भाव खुद समझ सकते हैं और मन भी इतना श्रेष्ठ मिला है मनुष्यों को कि बहुत ऊंचे तत्वज्ञान की बात समता समाधि के परिणाम ये सब सिद्ध किये जा सकते हैं। इतना विशिष्ट क्षयोपशम मिला, ऐसी ज्ञान की योग्यता मिली और उसका हम सदुपयोग न करना चाहे, आराम में, विषय प्रीति में, देह साधना में और लोकयश में समय गंवाया जाय तो समझिये कि हम कितने अमूल्य अवसर को यों ही खो रहे हैं? जैसे अनेक दृष्टान्त दिये जाते हैं कि कोई पुरूष रत्न पाकर पैरों का मल का छुटाने में उसका उपयोग करे अथवा बड़े चन्दन के वृक्ष को काटकर उसे जलाकर राख बनाकर उस राख का प्रयोग बर्तन मलने में करे तो जैसे लोक में उन्हें मूढ़ माना जाता है, तो उनसे भी अधिक मूढ़ता उस जीव की है, जो ऐसे श्रेष्ठ ज्ञान वाला भव पाकर, श्रेष्ठ मन पाकर इसको तत्वाज्ञान में लगाये नहीं, ज्ञानस्वरूप निज तत्व की आराधना में लगाये नहीं और व्यर्थ इन संसार बढ़ाने वाले विषयों में लगाये तो यह उसकी महामूढ़ता है।

इस भव में हरि हर की कालकवलितता—इस लोक में किसका कौन शरण है? ये सभी जीव अपनी आयु के उदय से जन्म लेते हैं, आयु के क्षय से मरण करते हैं। मुक्ति से पहले कोई जीव ऐसा नहीं कि जिसको मरण न करना पड़े और की तो बात जाने दीजिए। जिनके विषय में इस लोक में बड़ी प्रसिद्धि है, हरि (नारायण) हर (महादेव) ब्रह्म आदिक वे भी काल से काबलित हो गये। हरि नाम नारायण का है। भरत ऐरावत में प्रत्येक चतुर्थ काल में ९ नारायण होते है। इनको अर्द्धचक्री भी कहते हैं। वे भी अन्त में काल से कवलित हुए, जैसे अन्तिम नारायण श्रीकृष्ण, उनसे पहले हुए लक्ष्मण, उनसे पहले ७ और हुए, तो ये सब हरि भी काल से कवलित हुंए। इनकी भी मृत्यु हुई। यह बात सर्व शासन वाले मानते हैं कि हां वे भी मरण को प्राप्त हुए। हर नाम है महादेव का, रूद्र का। इस चतुर्थ काल में ११ रूद्र हुए, जिनमें अन्तिम रूद्र सात्य की जो महादेव नाम से प्रसिद्ध हुए। वे दिगम्बर थे, उनका स्तवन जो उनके भक्त लोग करते है वे भी दिगम्बर के रूप में मानते हैं। ये दिगम्बर साधु थे, इनकी बड़ी कठोर साधना थी। ११ अंग ९ पूर्व के ये ज्ञानी थे। उस साधना में उनको दशम विद्यानुवाद सिद्ध होने को हुआ तो कुछ विद्या सिद्ध हुई, कुछ विद्यायें सिद्ध होने को आयीं और उन विद्याओं ने जब अपनी सेवा अर्पित की, निवेदन किया, आप जो चाहें सो हम करें, हम आपके दास हैं। उस समय उनका भाव मोहित हुआ, वे इच्छा में लगे और मोक्षमार्ग की साधना से हटकर ये विषय साधना में लगे। फिर चमत्कार तो इनका था ही ये बहुत प्रसिद्ध थे। लोक में बड़े रूप में माने ही जाते थे। साधना से हटने पर कुछ बल पौरुष चमत्कार भी शेष रहा और उस बल पर इनकी प्रसिद्धि हुई, ये महान् माने गए। ये भी काल के द्वारा कवलित हुए।

ब्रह्मादिक की कालकवलितता—ब्रह्म के सम्बन्ध में लोक कल्पना यह है कि विष्णु की नाभि से कमल निकला और उससे ये उत्पन्न हुए और ये चार मुख वाले थे, इन्होंने इस लोक को रचा। इस कल्पना में यह परख करें कि किस चारित्र के एवज में लोक में यह कल्पना जगी? यह कर्मभूमि है, इसके प्रारम्भ में जबकि भोगभूमि नष्ट हो चुकी थी। प्रजा में बड़ी खलबली मची। कैसे रहें, कैसे जीवन गुजारें, सिंहादिक जानवर क्रूर होने लगे, सर्वत्र भय का आतंक छा गया, उस समय आदिनाथ भगवान ऋषभदेव ने गृहस्थावस्था में इन प्रजाजनों को सुरक्षित रखा, सम्बोधा। उनके अवधि ज्ञान तों था ही सो प्रजाजन जिससे सुरक्षित रहें, औद उनका निर्वाह हो सके वे सब विधियां बतायीं। यह एक लोक सृष्टि समझिये। कितना विशिष्ट परिवर्तन हुआ?

जहां लोग अपने सामने आने वाली समस्याओं का हल न कर सकें वहां वैसी योजनायें बनायी जायें तो यह एक रचना ही समझिये। तो समझिये कि ये ऋषभदेव इस रचना के करने वाले थे किस रूप में? एक प्रजा को संभालने के लिए। असत् को सत् नही बताया और वे चतुर्मुख थे। यद्यपि गृहस्थावस्था में वे चतुर्मुख न थे। केवली भगवान होने पर समवशरण में चारों ओर मुख दिखने का अतिशय हो जाता है। हुआ तो उन्हीं का ना। तो चतुर्मुख रूप से प्रसिद्ध हुए। नाभि कमल से उत्पन्न हुए। तो उनके पिता का नाम नाभि राजा था। तो ये कुछ सदृशतायें हैं जिससे उनके सम्बन्ध में यह इस प्रकार का आख्यान बना। तो अब लोक में ब्रह्म को जिस किसी भी रूप में परखते हैं लोग। आखिर वे भी न रहे, तो जिस संसार में बड़े-बड़े सुरेन्द्र का भी बड़े महान् पुरुषों की भी विलय देखा जाता है उस भव में फिर क्या शरण है?

अशरण मानव का भ्रान्ति में व्यर्थ श्रम—यहां हम आप लोग बड़ी-बड़ी व्यवस्थायें बनाते हैं। बड़े सामान जोड़ते हैं, जैसे कि मानो सदा ही यहां रहना हो। और यह पता नहीं कि कल क्या होगा? जो भी पुरुष मरे हैं। उनके सम्बन्ध में किसे पता था कि कल क्या होगा? वे अचानक ही मरण कर गए। तो इस आयु का क्षय यो ही अचानक होगा। जब तक आयु है तब तक व्यवहार चल रहा है। तब यहां सार क्या रखा है? जनता के बीच कुछ बड़प्पन बनाने का व्यवहार, कुछ अपने विषय साधन आराम का व्यवहार, इन सबमें सार क्या है? सब परेशानियां हैं, पराधीनतायें हैं। परेशानी नाम उसका है जहां पर ईशान हो, दूसरा मालिक हो। जब भावों में यह आ जाये मैं इसका मालिक, मेरा यह मालिक तो परेशानी शुरू हो जाती हैं। कि किसी का कोई शरणमान करके अपने आपको भ्रम में बनाये रहना और सत्य शरणभूत को जो एक आत्मस्वभाव है, सहज परमात्मतत्व है, केवल ज्ञानब्रह्म है, ज्ञान स्वरूप है, उसकी आराधना में अपने इस पाये हुए ज्ञान का उपयोग न करें तो समझिये कि हम वैसे भी अशरण हैं और अन्तः भी अशरण हो गए।

सीहस्स कमे पडिदं सारंगं जह ण रक्खदे को वि।
तह मिच्चुणा य गहिदं जीवं पिण रक्ख दे को वि।।२४।।

मृत्युगृहीत प्राणी की रक्षा की अनुपायता—जैसे सिंह के पन्जे में पड़े हुए हिरण को कोई नहीं बचा सकता इसी प्रकार मृत्यु द्वारा गृहीत जीव को कोई नहीं बचा सकता। दृष्टान्त दिया है कि जब मृग सिंह के पंजे में आ जाता है तो सिंह जैसा पराक्रमी जीव और उसके एकदम पूर्ण वश में आ गया मृग तो उस क्रूर जानवर से रक्षा कराने में कौन समर्थ है? सिंह की तो बात जाने दो, यहां ही जब कोई चिड़िया किसी पंखी को चोंच में दबा लेती है तो अपने लोग देखते रह जाते हैं, उस पंखी को बचा नहीं सकते। पक्षी झट लेकर उड़ जायेगा। अथवा जब कभी बिल्ली चूहे को पकड़ लेती है, बेचारा चूहा छटपटाता रहता है, पर हम आप उसे देखते ही रह जाते हैं, बचा नहीं सकते। जीव जब मृत्यु के द्वारा गृहीत है तो उसको बचाने में कौन समर्थ है? अपने ही परिवार में जब कभी किसी का मरण होता है तो सभी लोग उसे देखते रह जाते हैं। कोई उसे बचा नहीं पाता। यद्यपि उस मरने वाले के प्रति परिवार के लोग बड़ा-बड़ा खर्चा भी कर देते हैं पर काल आ जाने पर उसे कोई बचा नहीं सकता। तो वे सभी काल के द्वारा कवलित हुए।

ज्ञान की जागृति में ही यथार्थ जीवनता—एक बुढ़िया थी, उसके कई बच्चे मर चुके थे, केवल एक छोटा बच्चा बचा था। उस बच्चे के प्रति उस बुढ़िया को बड़ा स्नेह था। अचानक वह भी मर गया तो उस बुढ़िया को बड़ा क्लेश हुआ। वह बहुत विह्वल हो गयी, अपने उस मरे हुए बच्चे को वह इधर-उधर लिए

फिरे। उसे एक निर्ग्रन्थ साधु महाराज दीखे। साधु की वंदना की और निवेदन किया कि महाराज मेरा यह मरा हुआ बच्चा अगर जीवित हो जाये तो हमारे प्राण रह सकते हैं। तो उसकी विह्वलता देखकर मुनिराज बोले, मां तेरा बेटा जिन्दा तो हो सकता है पर यदि एक काम कर सके तो। हां महाराज बताओ। तू सरसों के दाने ला, पर अपने घर से मत ला, दूसरे के घर से मांगकर ला, और उस घर से मांगकर ला जिस घर में कभी कोई मरा न हो। तो बुढ़िया खुश हो गई और बोली कि यह काम तो अभी करके लाऊंगीं। वह पहुंची एक घर और उस घर वालों से कहा कि मुझे १ पाव सरसों दे दीजिए ताकि मेरा मरा हुआ पुत्र जिन्दा हो जाये। तो घर वालों ने कहा अरे पाव ही क्यों, मनो सरसों ले जाओ। मगर यह तो बताओ कि तुम्हारे घर में कभी कोई मरा तो नहीं? अरे मरे तो बहुत से लोग हैं। हमारे ही सामने दादा, बाबा, भाई आदि मर गए। तो हमें नहीं चाहिए सरसों। यों वह बुढ़िया दूसरे, तीसरे आदि कई घरों में गई, पर कोई घर ऐसा न मिला जिसमें कोई मरा न हो। इसी घटना के बीच उस बुढ़िया को ज्ञान मिल गया? ओह! यहां तो सभी मरते हैं और यह जीव तो निराला है, दूसरा है, पहले से भी यह मेरा न था, अब भी मेरा नहीं है। यहां तो अटपट ही जीव मिलते रहते है। यहां किसी का किसी से कोई रिश्ता नहीं है। यहां तो अटपट कोई भी जीव आ गए, पर इस मोही जीव में मोह करने की ऐसी आदत पड़ी है कि अत्यन्त भिन्न जीवों को यह अपना मानता है। यहां किसी का किसी से रंच भी तो सम्बन्ध नहीं है। ये सब बातें जब उस बुढ़िया के ज्ञान में आ गईं तो वह बड़ी खुश होकर मुनि महाराज के पास गई। मुनिराज ने उसे प्रसन्न देखकर पूछा–मां, तेरा बेटा जीवित हो गया क्या? तो वह बुढ़िया बोली–हां महाराज! मेरा बेटा जीवित हो गया। मेरा ज्ञान जिन्दा हो गया, वही मेरा बेटा है।

जीव का अपने-अपने विभाव में राग–सोचो परखो भैया! बाहर के लिए कौन रोता है? बाह्य पदार्थों से कोई मोह नहीं करता। मोह होता है इस जीव को तो इसकी खुद की ही कल्पनाओं से होता है। इसको आप्त मीमांसा में बताया है कि तीन तत्त्व माने गए हैं–शब्द तत्त्व, अर्थ तत्व और ज्ञान तत्त्व। जैसे पुस्तक कहा तो उसमें जो अक्षर वर्ण हैं वे तो हुए शब्द पुस्तक और ये कागज जिनमें लिखा हुआ है ये हैं अर्थ पुस्तक और इस पुस्तक का जो प्रतिभास है, मेरे में जो पुस्तकाकार ज्ञान हो रहा है, वह है ज्ञानपुस्तक। यों ही सभी बातों को लगाइये–'शब्दपुत्र' पु और त्र इन वर्णों का नाम है शब्दपुत्र। अर्थपुत्र–दो हाथ पैर वाला जो आपके घर में खेला हो, दुकान आदि करता हो वह है अर्थपुत्र। और उसके सम्बन्ध में जो भाव बना, जो विकल्प बने वह है ज्ञानपुत्र अब आप यह बतलाओ कि राग आप किस पुत्र से करते हैं? शब्दपुत्र से तो राग करेगा ही कौन? वे तो पु और त्र, ऐसे अक्षर लिखे हैं उन अक्षरों को कोई अपने पुत्र की भांति गले लगाता है क्या? उससे तो कोई राग करता नहीं और जो जीव हैं। जो असमान जाति पर्याय में आया है, आपके घर जिसने शरीर धारण किया उस अर्थपुत्र से भी आप राग नहीं करते। वह आपके राग का विषयभूत बन रहा है। एक द्रव्य अन्य द्रव्य में कुछ परिणति नहीं करता, अन्य में कुछ सम्बन्ध नहीं बन पाता, आप जिस भी पर्याय में हैं, पात्रता में हैं, कषायों की योग्यता में हैं उनके अनुसार उदयानुसार आपमें राग की परिणति होती है, तब नोकर्म भी अर्थपुत्र बन रहा है। आप किसमें एक मेक हो रहे, कौन है आपका अधिकरण? आपका अधिकरण है आप। आपके विभाव में आपका अधिकार हैं। उस राग से राग हो रहा, उस विकल्प में राग चल रहा, पर उस अर्थपुत्र से राग किया ही नहीं जा सकता। राज्यमान परिणति राग बन रही परिणमन, उसका आधार तो यह रागी जीव है, अर्थपुत्र नहीं है। तो आपके राग का अधिकरण पुत्र तो नहीं बन सकता। आपके विभाव का अधिकरण बाह्य अर्थ तो नहीं

बन सकता। आप ही अधिकरण हैं और अधिकरण का ही चिन्ह है मैं। तो आप किसमें राग करते हैं? आप आपमें राग करते हैं, जैसी भी पर्याय हो रही, परिणमन हो रहा, उसमें आप रज्यमान हैं। अर्थपुत्र से भी राग नहीं, किन्तु अर्थपुत्र को विषयभूत बनाकर जो यह विकल्प चल रहा है, उस विकल्प में राग है।

ज्ञान की जागृति में ही स्वयं की स्वयं में शरण रूपता–हां भैया! अब फिर उस बुढ़िया के निकट देखें उस बुढ़िया मां का यह ज्ञानपुत्र मुर्दा हो रहा था, उन विकल्पों में कायर हो रही थी। जब ही उसका ज्ञान संभला वह प्रसन्न हो गयी और कहने लगी कि महाराज मेरा जो ज्ञानपुत्र मुर्दा हो गया था वह अब जिन्दा हो गया और मोहजननी मर गयी। मोह तो मरे और ज्ञान जागृत हो तभी तो प्रसाद गुण आ सकता है। यों ही एक कवि का अलंकार है कि एक संन्यासी बहुत पवित्र हृदय के थे, जिनको निरन्तर उस सहज ज्ञान ब्रह्म का ही रमण रहे, उस ओर ही जिनकी दृष्टि रहे तो ऐसे पुरुष बाह्य नित्य-नैमित्तिक क्रियाकाण्डों में बिल्कुल समयानुसार सावधान रहें, यह जरा कठिन होता है क्योंकि जिन्हें निजस्वरूप रुच गया अन्तस्तत्व में अधिक दृष्टि रहती है तो बाहरी बातों में उतनी सावधानी बाह्य ढंग से नहीं की जा सकती। जैसे कि बाह्य क्रियाकाण्ड में बुद्धि लगाने वाले पुरुष करते हैं। तो कभी संध्या छूट जाये, कभी संध्याकर लें। कभी मन ज्यादा हो तो ज्यादा भी कर लें। तो किसी एक व्यक्ति ने कहा–महाराज, तुम तो संध्या ही ढंग से नहीं करते। तो उस सन्यासी का उत्तर था कि–

मृता मोहमयी माता ज्ञान पुत्रों हाजीजनत्। सूतकद्वयसंपाते कथं संध्या मुपाकश्म हे।।

मेरी मोहरूपी माता तो मर गयी और ज्ञानरूपी बेटा पैदा हो गया, यों हमको दो-दो सूतक लग रहे हैं। अब जिसके डबल सूतक लगे हुए हों वह संध्या में कैसे सावधान रहे? तो कहने का प्रयोजन इतना ही है कि यदि अपना ज्ञान सही रूप में जागृत रहता है तो उसके लिए वह स्वयं शरण है, और ज्ञान अगर मुर्दा बना, कायर बना, अपने स्वरूप से हटकर बाह्य पदार्थों में रति करता है तो वह तो सीधा अशरण ही है और यहां लोक दृष्टि में एक स्थूल रूप से कहा जा रहा है कि जीव जन्म लेता है, मरता है। जब वह मरण करता है तो उस काल में उस जीव को बचाने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है।

जइ देवो वि य रक्खदि मंतो तंतो य खेत्तपालो य।
मियमाणं पि मणस्सं तो मणुया अक्खया होंति।।२५।।

मनुष्यों को व्यर्थ अनर्थ शरणभ्रम–यह जीव अपनी रक्षा के लिए, मृत्यु से बचने के लिए मंत्र, तंत्र, देव क्षेत्रफल आदिक अनेक की शरण ग्रहण किया करता है। वह यह नहीं सोच पाता है कि ये स्वयं अरक्षित हैं मेरी क्या रक्षा कर सकेंगे? यदि मरते हुए भी मनुष्य को मंत्र, तंत्र, क्षेत्रपाल आदिक कोई भी देवी देवता रक्षा कर सकते होते तो मनुष्य समूह अक्षय हो जाता। आज के समय में जैसे कि पैदा होने वालों की संख्या बहुत बढ़ रही हैं कल्पना करो कि केवल १०० वर्ष का ऐसा मौका दिया जाये कि जहां एक भी मनुष्य न मरे तो यहां मनुष्य समा नहीं सकते। यह तो एक १०० वर्ष की बात है और यदि रक्षा करता होता कोई देवी देवता तो ऐसी चाह वाले तो अनादि से ही हैं ना और ऐसा प्रयत्न कर रहे है तो मनुष्य तो अविनाशी हो जाता। पर आज कोई १०० वर्ष की उम्र का भी देखने को नहीं मिलता। लोगों ने तो यहां तक बाह्य शरण को शरण समझा है और अपने धर्मशास्त्र में, मंत्रों में, वाक्यों में, आगमों में इन इन्द्रों की, देवों की पूजा उपासना नमस्कार आदि ये सब भर दिये हैं। कोई लोग नाना प्रकार के देवों के नाम धर देते हैं, वैसे हैं या नहीं, एक कल्पना भर बनाकर

जगह-जगह चबूतरों पर रास्ते में कुछ पत्थर रंग दिया, देवी देवता हो गए और उन पर मनोती करते हैं कि मेरा बच्चा अच्छा हो जाये, जिन्दा हो जाये। पर कर्म सबके साथ है, उनके अनुसार संसार में प्रवर्तन होता है, उनके मेटने में कोई भी देवी देवता माता-पिता आदि समर्थ नहीं हैं, मिथ्यात्व का बंध उल्टा और कर लिया जाता है।

जिनको आत्मा पर, कर्म पर, उनके सही स्वरूप पर, उनके रंग-ढंग परिणमन पर यथार्थ रूप से विश्वास नहीं है उनका जीवन तो फुटबाल की तरह यत्र-तत्र डोलते रहने में व्यतीत होता है, कोई एक श्रद्धान ही नहीं है। और ऐसे श्रद्धाविहीन भावों से कुछ परम्परा के कारण वीतरागदेव की मूर्ति को भी मानते, वीतराग का नाम भी बोलें, जो परमात्मा हुए हैं उनका नाम ले-ले कर भी नमस्कार करें, लेकिन उनकी दृष्टि में तो वह सब इस प्रकार है जैसे अन्य देवी देवता। कुछ स्वरूप ही नहीं पा सकते। जैसे अनेक लोग यह श्रद्धा किए हैं कि इस देवी देवता की उपासना से सुखी रहेंगे, बैकुण्ठ मिलेगा, इसी तरह सत्य जैन शासन के कुल में जन्म लेकर भी लोग प्रायः ऐसा विश्वास करके अपने कुल देवताओं को मानते हैं कि इस देवी देवता की उपासना से परिवार सुखी रहेगा, मुक्ति मिलेगी—पर उनकी दृष्टि में मुक्ति का कुछ अर्थ नहीं। यदि ये कोई देवी देवता कह दें कि तुम रोज आकर मंदिर में मुक्ति की प्रार्थना करते कि मुझे मुक्ति मिले तो लो हम तुम्हें मुक्ति दिलाते हैं। मुक्ति के मायने है छूटना। चलो तुम घर छोड़ो, परिवार छोड़ो, धन दौलत छोड़ो, हम तुमको मुक्ति दिलवायेंगे। अकेलापन रहना यही तो मुक्ति का स्वरूप है। तो जोर से प्रार्थना करने वाला संसार सुखार्थी मानव तो यही कहेगा कि हमें नहीं चाहिए ऐसी मुक्ति। यदि सत्य शासन के कुल में जन्म भी ले लिया लेकिन श्रद्धा यथार्थ नहीं है तो उसका यथार्थ लाभ तो नहीं लिया जा सकता। मेरे आत्मा को, मेरे आत्मा के सहज स्वरूप का दर्शन, अनुभवन ही मात्र शरण है, इसके अतिरिक्त बाह्य में कुछ भी शरण नहीं है, इस पर विश्वास नहीं है। सो यह मुनष्य अपनी रक्षा के लिए देवों का शरण ढूंढते और जो मुनष्यों में बहुत बड़े हुए राजा, महराजा, चक्री, नारायण आदि उनकी शरण ढूंढते हैं। वहां भी यह विश्वास बनाते हैं कि यही भगवान का स्वरूप हैं, ये भगवान के भेजे हुए हैं। अनेक मजहब वालों ने ऐसा ही तो माना है कि भगवान के लड़के हैं। भगवान के भेजे हुए हैं, पैगम्बर हैं, यह हमारी रक्षा करेंगे और अनेक जगह तो कुछ देशों में अब भी प्रथा है कि अपने पोप से प्रार्थना करो, उनको सन्तुष्ट करो तो वे लिख देंगे कि तुमको स्वर्ग मिलेगा और वे राजी हो जाते हैं कि मुझे तो भगवान के बेटे ने कह दिया कि तुझे स्वर्ग मिलेगा, तो यह सब बहुत बड़ा व्यामोह का अंधकार है। इस लोक में मेरे लिए केवल यह अमूर्त ज्ञानभाव मात्र अपने आपका दर्शन ही शरण है, अन्य कोई शरण हो ही नहीं सकता।

सुरक्षा के लिये मृत्युञ्जय और तन्त्र का अन्वेषण—लोग अपनी रक्षा के लिए मृत्युञ्जय आदिक मंत्रजाप करते हैं कि मृत्यु को जीत लेवें ऐसा मंत्रजाप कराते हैं। पर मृत्युञ्जय जाप जिनसे कराते हैं उन्होंने भी मृत्यु को जीत लिया क्या? अरे मृत्युञ्जय का जाप तो आत्मस्वरूप का दर्शन अनुभवन जहां समझ में आया कि यह मैं आत्मा शाश्वत हूं, अमर हूं, इसका किसी से कुछ नाता ही नहीं है। जहां मोह मिटा, अपने शाश्वत स्वरूप की खबर हुई कि लो उसने मृत्यु को जीत लिया। मृत्यु है मेरी ऐसा मानने वाला ही तो मृत्यु से घबरायेगा और इस बात का सम्बन्ध है मोह से, अपने परिग्रह से। परिजन, मित्रजन, यशकीर्ति आदिक में मोह हो तो उसे ये सब बातें सतायेंगी। जहां यह भाव बना कि 'मैं तो समस्त पर पदार्थों से विविक्त केवल ज्ञानानन्द स्वरूप मात्र हूं। इस ही के दर्शन से, इस ही के निकट रहने से इस मुझ आत्मा का कल्याण है, अन्य कोई

शरण ही नहीं,' वह यहां कुछ न चाहेगा और न वह अपनी मृत्यु समझेगा। जिसे मृत्यु पर विजय पाना है उसे तो अपने ज्ञानानन्दस्वरूप अंतस्तत्व का मनन चाहिए। अन्तस्तत्व मृत्युञ्जय है और मनन का नाम मंत्र है। यही है मृत्युञ्जय मंत्र, पर लोग इस सुगम स्वाधीन निरपेक्ष उपाय को न करके मोहवश अज्ञानवश बाह्य पदार्थों में आत्मीयता की बुद्धि लगाये हैं और मेरी मृत्यु न हो इस भाव से वे अनेक उपाय किया करते हैं। कई मनुष्य यंत्र-तंत्र औषधि आदिक की खोज करते हैं अपनी रक्षा के लिए। तो वह तंत्र कौन सा है, जिससे अपनी रक्षा हो जाये? वह तंत्र है रत्नत्रय, यही एक सत्य उपाय है कि जिसमें हम आप शान्त सुखी रह सकेंगे, हममें पवित्रता एवं निर्मलता उत्पन्न हो सकेगी। जैसा हमारा यथार्थस्वरूप है वैसे ही रह जायेंगे। कोई इस मंत्र को तो करे नहीं और बाहर ही बाहर अपनी रक्षा के लिए मंत्र, तंत्र, औषधि आदिक की खोज में रहे तो इसमें क्या रक्षा हो जायेगी?

मृत्यु से बचाव करने के लिये देवी देवताओं की व्यर्थ और भ्रान्त मान्यता—लोग मृत्यु से बचने के लिए यक्ष क्षेत्रपाल भैरव आदिक अनेक नाम रख रखकर और कल्पना में उनका भयंकर रूप बनाकर उनकी अटपट मुद्रा बनाकर अपने दिल पर स्वयं अपनी कल्पना से प्रभाव डालकर इस ही व्यामोहवश अपनी रक्षा के लिए उनसे प्रार्थना करते हैं, उनको नमस्कार करते हैं, सर्वस्व समर्पण का भाव रखते हैं पर उनकी रक्षा नहीं हो पाती। यदि मरते हुए मनुष्यों की ये देवी देवता आदि रक्षा कर सकते होते तो यह मनुष्य मरणातीत हो जाता, कभी विनाश ही न होता पर ऐसा कभी हुआ भी है क्या? तो यह सब देखकर भी अपने बारे में ऐसी प्रतीति नहीं लाते कि मैं सर्व पर पदार्थों से भिन्न हूं।

यह देह भी मुझसे निराला है, कषायें भी मुझसे निराली हैं। मैं तो एक सहज ज्ञानानन्दमात्र हूं। मेरा स्वरूप शाश्वत है। मुझे किसी प्रकार का क्लेश नहीं हैं ऐसा अपने आपमें अपने अंतस्तत्व का दर्शन करते हुए यहां ही प्रगति करना, उपयोग को रमाना, अर्थात् इस ढंग का उपयोग बनाना यह है, वास्तविक तंत्र, संकटों से दूर होने का। यही किया जाना चाहिए और कोई मंत्र तंत्र नहीं जो जीव को मरने से बचा सके।

अइ–बलिओ वि रउद्दो मरण–विहीणो ण दीसदे को वि।
रक्खिज्जंतो वि सया रक्ख–पयारेहिं विविहेहि।।२६।।

नाना सुरक्षा के उपायों पर भी अतिबलादिसम्पन्न मनुष्यों के भी मरण की अवश्यंभाविता—बड़े-बड़े बलशाली पुरुष भी जो बड़े रौद्र हैं, भयानक हैं, वे सदा रक्षा के अनेक उपाय करते हैं और देखने में लगता है कि इन्होंने ऐसे साधन बना लिये कि ये सुरक्षित रहेंगे लेकिन ऐसा कोई दृष्टिगोचर नहीं होता जिसका कि मरण न होता हो। इस मृत्यु से बचने का कौन-सा उपाय बनावे? एक कवि ने तो यह बतलाया कि ये मनुष्य तो बड़े सुरक्षित स्थान में रह रहे हैं। देखो इस लोक में सबसे भयानक जीव हैं, नारकी, जो एक दूसरे को देखते ही उस पर आक्रमण कर देते हैं और उसे बरबाद करने का यत्न करते हैं। जिनके शरीर की गंध यहां आये तो उस गंध मात्र से कोशों के प्राणी मर जायें। तो ऐसे भयानक हैं नारकी सो देखो उनको नीचे ढकेल दिया कि ये मनुष्य को सता न सकें, और इन मनुष्यों पर कोई अगल बगल से आकर उपद्रव न करे इसके लिए कितने ही कोट और कितनी ही खाइयां चारों तरफ बनी हैं। द्वीप वेदिकायें जम्बूद्वीप, लवण समुद्र आदि असंख्यातों द्वीप समुद्र की कितनी बड़ी खाइयां चारों तरफ हैं। समुद्र फिर कोट, फिर समुद्र, फिर कोट, यों असंख्यातें कोट और खाइयां इस द्वीप के चारों ओर हैं जिसके कि इन मनुष्यों को कोई सता न सके और देखो देवताओं को ऊपर

बसा दिया इसलिए कि इनकी छत्रछाया मनुष्यों पर रहे ताकि ये सुरक्षित रहें। एक कवि की कल्पना की यह बात कही जा रही है कि प्रकृति ने इन मनुष्यों की रक्षा के लिए कितने साधन जुटाये, फिर भी ये मनुष्य रक्षित न रह सके। यह काल यानि आयुक्षय जिस चाहे, पर जब चाहे आ धमकता है और इस मनुष्य को मरण करना पड़ता है। कोई मुनष्य तो गर्भ में ही खिर जाते हैं, कोई गर्भ से निकलते ही मर जाते हैं, कोई बचपन में, कोई जवानी में, तथा कोई वृद्धावस्था में मरण को प्राप्त हो जाते हैं। यों ये मनुष्य जब चाहे अचानक ही मरण कर जाते हैं। तो मृत्यु का कुछ आश्चर्य नहीं, आश्चर्य है जीवित रहने में। मृत्यु तो यह संसार ही है। यहां तो अतिबलिष्ट पुरुष भी जिन्होंने अपने को अनेक ढंगों से सुरक्षित बनाया हो, उनका भी मरण देखा जाता है। बड़ा फौज-फाट दलबल सेना और प्रत्येक मनुष्य अपने प्रयत्न भर पूरा रक्षा का साधन बनाये रखने का यत्न करता है लेकिन नाना उपायों से रक्षा किए जाने पर भी बड़े-बड़े बलिष्ठ राजा-महाराजा भी मरण से बच नहीं सकते।

एवं पेच्छंतो वि हु गह-भूय-पिसाय-जोइणी-जक्खं।
सरणं मण्णइ मूढ़ो सुगाढ़-मिच्छत्तभावादो।।२७।।

गाढ़ मिथ्यात्व में अज्ञानियों की ग्रहभूतादि में शरण्यत्व की मान्यता--यह जीव इस तरह से आशरण दीख रहा है। किसी को कोई शरण नहीं हो पाता। ऐसा देखते हुए भी मुग्ध मानव ग्रह आदिक को शरण मानते हैं। ग्रह--रवि, चन्द्र, मंगल, केतु, बुध आदिक जो बताये हैं ज्योंतिषशास्त्र में तो ज्योतिषी लोग बताया करते हैं कि तुम पर ये ग्रह लगे हैं, यह अनिष्ट है, इसकी मान्यता करो, पूजा पाठ कराओ तब शान्ति मिलेगी इतने वर्ष का शनिचर लग गया। यों अनेक बातें बनाते हैं। देखने में तो कुछ नहीं लगता। शरीर पर कुछ लगा नहीं, आत्मा में कोई चीज आयी नहीं, एक भय मान लिया कि ये ग्रह मेरा विनाश कर रहे हैं। यद्यपि निमित्त ज्ञान है, पर उसका तो इतना ही अर्थ है कि उससे कुछ अंदाज की सूचना होती है इष्ट अनिष्ट की जिससे कुछ अंदाज किया। निमित्तज्ञान आदिक से, किसी हिसाब से, तो इसमें कर्त्तव्य की बात तो न आयी। वे कुछ मेरा अनिष्ट कर दें या मेरा भला कर दें, यह बात तो उनमें नहीं बसी है, मानें तो क्या, न मानें तो क्या, एक समान हैं। बल्कि उस विषय को तुम मानो ही मत जानना ही न चाहो, क्या है, कौन ग्रह लगा है, कैसा हो रहा है, उसकी जानकारी में ही मत पड़ो, क्योंकि जैसी निमित्त उपादान की विधि है उसके अनुसार होता है। सांसारिक स्थितियों में निमित्त तो कर्मोदय है मगर निमित्त टालकर अपनी वास्तविक रक्षा करना चाहते हो तो ऐसा उपाय करो, ऐस उपाय बनाओ कि ये कर्म अपने आप खिर जायें। ऐसा न जानकर न ऐसा उपाय समझकर बाहर से ग्रह आदिक को मान रखा है वे मेरा इष्ट करेंगे अथवा अनिष्ट करेंगे, यह सब तो संसार में रूलने का, जन्म-मरण करते रहने का श्रम है। एक अपने सम्यक्त्व रतन को निर्मल रखें तो संसार के संकटों से तिर सकेंगे, अन्यथा यह संसार का जन्म-मरण छूट नहीं सकता। १०-५ वर्ष की बढ़िया व्यवस्था बना लेने में इस जीव का क्या पूरा पड़ेगा? यों तो अनेक भवों में बड़े-बड़े आराम भोगे होंगे, सांसारिक विषय सुख पाये होंगे। उनसे तो कोई उद्धार की बात होने की नहीं है।

प्रभु विकसित सहज स्वभाव के रूप में ही निरखने से श्रेयो लाभ--अब कुछ समझदारों ने इतना सोचकर कि इन ग्रहों की मुख्यता के नाम पर एकदम कुदेव पूजा में न लग जायें इसलिए यह उपाय निकाला है कि सूर्यग्रह यदि कुपित हो तो अमुक तीर्थंकर की पूजा करो, चन्द्र ग्रह यदि कुपित हो तो अमुक तीर्थंकर की पूजा करो। ९ ग्रहों को शान्त करने के लिए इस तरह का विधान करो। ऐसा कोई भाव रखे वह भी कमजोरी

है। अरे! एक शुद्धस्वरूप ज्ञानानन्दमय परमात्म तत्व की उपासना से ये संसार के जन्म-मरण के विभावों के सब संकट दूर हुआ करते हैं। एतदर्थ उस शुद्ध तत्व की उपासना करना है। वस्तुतः यह भाव ही संकटों से दूर करेगा। ये बीच के ये सब भाव किसी सीमा में शुभ भी हुए, लेकिन एक सत्य श्रद्धा न मिली, शुद्ध उद्देश्य न बन पाया तो संसार से तिरने की लाइन पर अपनी गाड़ी नहीं आ सकती। कुदेवों से हटकर वीतराग प्रभुमूर्ति की ओर किसी भी आशय से लगाव होना अपेक्षाकृत भला है कि चलो ग्रह अनिष्ट निवारण के लिए इस तीर्थंकर का नाम लेकर पूजा करो, लेकिन वास्तविकता देखें--अन्तः स्वरूप का प्रत्यय उद्देश्य बनाये बिना संसार संकट दूर हो नहीं सकता। अपने आत्मा के उस ज्ञानानन्द स्वरूप की श्रद्धा करो। उसमें कोई बाधा देने वाला है ही नहीं। किसकी शान्ति के लिए मनोती करना? आत्मा में जो विभाव हो रहे हैं, यह स्वयं जो अपने पर कुपित हो रहा है। उसको शान्त करने का यत्न होना चाहिए। अनेक लोग रक्षा के लिए भूत व्यन्तरों की उपासना करते है, लेकिन ऐसी उपासना करने वाले भी कोई बचे क्या? एक देहात में भैंसों पर शीतला माता की बीमारी छा गयी। वहां एक किसान के घर में करीब ७०-८० भैंसे थीं, सो उस बीमारी में दो-चार भैंसें उस किसान की मर गईं। उन भैसों की रक्षा के लिए वह शीतल माता की प्रतिदिन पूजा करने लगा और शीतला देवी पर चढ़ाए गए जल को वह अपनी सभी भैसों पर छिड़कने लगा था। इतना करने पर भी बराबर उसकी भैंसें मरती गईं। जब सिर्फ ५ भैंसे जीवित बचीं तब उस किसान को शीतला माता पर क्रोध आया और शीतला माता के चबूतरे पर रखी हुई बटरियों को फोड़-फाड़ कर तालाब में फैंक दिया। समय की बात कि उसके बाद वे ५ भैंसे बची रहीं। तो यह सब भ्रम की बातें हैं कि इन देवी-देवताओं की मनौती से, इनके पूजन से हमको शरण मिलेगी। मोही अज्ञानी जीव व्यर्थ ही पिशाच, योगिनी, देवियां, काली, चन्द्रिका, दुर्गा आदिक अनेकों की उपासना में लगते हैं।

परोपयोग की वासना हटाकर अन्तः स्वरूप में रमने में ही वास्तविक शरण लाभ--कुछ समझदार लोग भी दुर्गा, काली आदि की उपासना उसी मान्यता के रूप में करते हैं, पर उसका अर्थ बदल देते हैं, जिससे स्पष्ट अटपटापन आये। दुर्गा एक शक्ति है, उस शक्ति की उपासना करना चाहिए, इतना तक भी अर्थ बनाकर मान्यता वही रखते हैं। यदि कोई शक्ति है हमको सुरक्षित रखने की तो वह है एक आत्मानुभूति, उसी को दुर्गा मानें तो इसमें कोई विरोध की बात नहीं है। शब्द के अर्थ से भी जाहिर होता है। कि जो दुःखेन गम्यते, अर्थात् जो बड़े कष्ट से जाना जाय पाया जाये, उसे दुर्गा कहते हैं। आत्मानुभूति का पाना बड़ा दुर्लभ है। तो वह शक्ति मुझमें हैं, उसकी उपासना करें। तो लोग व्यामोहवश कुछ समझदार होने के कारण शब्द बदल देते हैं पर उपासना उसी रूप में करते हैं, श्रद्धा उसी रूप की रखते हैं। कोई मुझसे भिन्न शक्ति है। जो मुझे बरबाद करने पर भी तुल सकती है, उसे प्रसन्न करें, यह भाव फिर भी उनका नहीं मिटता। यक्ष मणिभद्र आदिक अनेक नाम लेकर उन यक्षों की उपासना करते हैं पर सुरक्षित कोई नहीं रह पाता। यह सब मिथ्यात्वका ही तो माहात्म्य है कि कुछ समझदार होकर भी बुद्धि विपरीत हो गई। यह गहन मिथ्यात्व का ही परिणाम है जो अपनी रक्षा के लिए इन बाहरी देवी-देवता, मंत्र, तंत्र, ग्रह आदिक की मनौती में रहते हैं, इनका जाप जपते हैं, इनको अपना सर्वस्व समर्पित करने का भाव रखते हैं यह सब एक बड़े व्यामोह का काम है। जान रहे हैं ये जीव कि यहां मेरा कोई शरण नहीं है, सब अशरण हैं, तिस पर भी शरण मानने की भीतर से वासना नहीं गयी। जिस चाहे किसी को शरण मानकर उसकी उपासना करके अपने आपको मृत्यु से बचने की प्रार्थना करते

हैं, लेकिन मृत्यु है ही कहां जीव के स्वरूप में उस स्वरूप को निरखें, और मृत्यु पर विजय प्राप्त करें, फिर इस जीव पर कोई संकट नहीं है।

आउक्खएण मरणं आउं दाउं ण सक्कदे को वि।
तम्हा देविंदो वि य मरणाउ ण रक्खदे को वि।।२८।।

मरण और अन्य के द्वारा अन्य को आयु देने की अशक्यता—प्राणियों का मरण आयु के क्षय से होता है और आयु को कोई भी देने में समर्थ नहीं है, इस कारण देवेन्द्र भी हो, कोई मरण से बचाने में समर्थ नहीं है।

आयुकर्म तो अपने उपभोग से ही नष्ट होता हैं और उस आयु को देने में कोई दूसरा समर्थ नहीं है। जो आयु बंधी हुई है। कर्मबंध के समय में, उसका उदय होने पर स्थिति चाहे कम हो जाये पर उसकी वृद्धि नहीं होती। जैसे हम आप मनुष्य हैं तो हम आप लोगों की आयु त्रिभाग में बंधती है। मानो किसी की आयु ९९ वर्ष की है तो उसके दो बटा तीन ६६ वर्ष तक अगले भव की आयु न बंधेगी। जब उसकी आयु के एक बटा तीन ३३ वर्ष शेष रहेंगे तब आयु बंधेगी। अब जो ३३ वर्ष शेष रहेंगे और उनमें भी यदि आयु नहीं बंधती तो उसके भी त्रिभाग में यानि जब करीब ११ वर्ष शेष रहेंगे तब आयु बंधेगी। तब भी बंध न हो तो उस ११ वर्ष के भी तीन भाग करिये। उसके दो भाग गुजरने पर आयु का बंध होगा। इस तरह जीवन के ८ बार त्रिभाग का अवसर है। तब भी आयु न बंधे तो अन्त में तो बंधेगी ही। तो जो आयु बांध ली है नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदिक तो आयु बंधने के समय ही चार बातें निश्चित हो जाती है। पहली बात तो बता ही दी गई, प्रकृति आयु, यह नरकभव में रहेगा, तिर्यञ्चभव में रहेगा, किस भव में रहेगा आगे कहां जन्म होगा, उसकी प्रकृति तो बंध गई। उसके साथ कितने दिन रहेगा, यह स्थिति भी बंध जाती है और उस आयु में कितनी दृढ़ता है वह अनुभाग भी बंध जाता है। और उस प्रकृति में कितने परमाणु बंधे हैं वह भी निश्चित हो जाता है। हां कुछ भव ही ऐसे हैं कि जो बंध किया जब उसका उदय आयेगा तब से लेकर वह उतने वर्ष तक जीवित रहेगा ही, बीच में मरण नहीं कर सकता। ऐसे निश्चित भव हैं देवगति के, नरक गति के, तथा मनुष्य गति में भोगभूमिया जीवों के और चरमशरीरी जीवों के। मनुष्यों में चरमशरीरी जीवों को बताया है कि उनका बीच में मरण नहीं होता, ये कर्मभूमि में ही होते हैं। शेष जीव आयु के पहले भी मरण कर जाते हैं, अर्थात् उदीरणा मरण होता है तो शेष समय के निषेक उसी समय खिर जाते हैं? वह उसका अकाल मरण होगा।

अकाल मरण के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य—अकाल मरण का बंधना किसी कर्म में शामिल नहीं है। कोई प्रकृति ऐसी नहीं है जहां यह पता हो कि यह अकाल में मरेगा। बंध हो गया मान लीजिए कि ५० वर्ष की आयु का बंध है, उनका उदय आयेगा। उस ५० वर्ष के मायने यह हैं कि ५० वर्ष में जितने समय हैं उन समयों में प्रत्येक समय में आयु के निषेक खिरते रहेंगे। इतने निषेक हुए, आयु के कि एक-एक निषेक एक-एक समय में खिरे तो ५० वर्ष लग जायेंगे, यह है उस आयु की स्थिति की पद्धति। अब जैसे किसी पर ३० वर्ष की ही आयु में कोई विषभक्षण, शस्त्रघात, एक्सीडेन्ट आदिक कुछ आपत्तियां आयें और वहां ही वह मरण कर गया तो शेष आयु के निषेक सब उस अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में खिर जायेंगे। यह अकाल मौत भी ज्ञानियों के ज्ञान में आयी हैं जैसे कि अनेक भविष्य के परिमण भी ज्ञात हुए, सो इस दृष्टि से कहा जाता है। कि अकाल मौत निश्चित है—जब होना है तब हो। लेकिन जिस पर बात गुजर रही है उस ही की दृष्टि से देखा जाये तो वहां

कोई निर्णय नहीं पड़ा है। जैसे किसी मनुष्य को निरखकर हम उसके रूप को, लम्बाई-चौड़ाई को जान जाते हैं पर यह तो नहीं जान सकते कि इस मनुष्य का यह नाम है, यह अमुक का पिता है आदि। यह तो पहले से सुन रखा है, परिचय कर रखा तब जानते हैं; कोई अपरिचित मनुष्य कहीं बाहर से विदेश से आ जाये तो उसके बारे में तो वह कुछ नहीं बता सकता। तो यों ही अकाल मौत तो एक परिचय करने की बात है। उस आत्मा को निरखकर अकाल मौत नहीं विदित की जाती है। वहां तो जैसे अजीब पदार्थों में निमित्त उपादान का सम्बन्ध है इसी तरह अकाल मौत के साधन मिलने पर उस तरह के निमित्त का सम्बन्ध है।

आयु वृद्धि की अशक्यता—उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि भोगी जाने वाली आयु चाहे कम हो जाये, बढ़ नहीं सकती। जैसे लोग औषधि सेवन करते हैं इस भाव से कि हमारी आयु बढ़ जायेगी, पर यह कभी सम्भव नहीं है कि बहुत उत्तम औषधि मिलने पर उनकी आयु बढ़ जाये। भोगी जाने वाली आयु घट जाये यह तो सम्भव है, पर आयु की वृद्धि हो जाये यह सम्भव नहीं। जिसका मरण होगा उसकी आयु के क्षय से मरण होगा। उसकी आयु देने के लिए कोई समर्थ नहीं है। चाहे वे देवेन्द्र हों, पर कोई रक्षा नहीं कर सकता। मां को अपना बच्चा कितना प्यारा होता है? यदि बच्चा बीमार हो जाये तो वह मां उस बच्चे को अपनी गोद से नीचे नहीं रखना चाहती, उसे देखती ही रहती है। उसका हृदय कहता है कि चाहे मेरे प्राण तक न्यौछावर हो जायें पर मेरा बच्चा जीवित रह जाये, इतना तक व्यामोह होता है उस मां को, लेकिन वह मां जो सर्वस्व लुटाने के लिए तैयार है बच्चे के जीवन के लिये, वह भी अपने मरण करने वाले बच्चे को बचा नहीं पाती, वह देखती ही रह जाती है। उस बच्चे को जीवित रखने में उस मां का कोई वश नहीं चलता। कितना भी कोई प्रेमी हो पर किसी को मरने से बचा नहीं सकता। एक बात और यहां जानने की है कि जिस मनुष्य ने अगले भवकी आयु बांधी तो उस आयु की घट बढ़ हो जाये, उसमें भी कमी बेसी हो जाये, यह बांधे जाने वाले भव में ही सम्भव है। आयु बढ़ भी सकती है लेकिन जन्म लेने के बाद नहीं बढ़ सकती। जैसे यहां देव आयु का बंध किया, अच्छे परिणामों में रहकर अच्छी आयु की स्थिति बांधी, बांधने के बाद परिणाम बिगड़ जायें तो वह आयु घट भी सकती है। मानो १० सागर की आयु बंधी, परिणाम बिगड़ गए तो १० सागर से कम भी हो सकती है, खैर अगर परिणाम सुधर गए तो १० सागर से ज्यादा भी आयु हो सकती है, पर अगले भव में जन्म ले लेने के बाद आयु बढ़ नहीं सकती। देवगति में तो अकाल मरण भी नहीं होता।

मरण से सुरक्षा पाने के लिये अन्य के शरण ग्रहण का मिथ्यापन—भैया! आयु को देने में कोई समर्थ नहीं है ऐसा जानकर किसी पर से शरण का भाव रखना यह केवल आकुलता ही पैदा करता हैं। यहां बाहर में कोई मेरा शरण नहीं है। मेरा परिणाम निर्मल रहे वह तो मेरे को शरण है, अन्य कोई मेरा शरण नहीं। यहां लोग सोचते हैं कि किसी को धोखा दे दिया, किसी पर अन्याय किया तो यहां लाभ हो रहा है। तत्काल के परिकल्पित मिथ्या लाभ को लाभ समझकर लोग व्यर्थ ही अपने परिणाम बिगाड़ते हैं, वे यह नहीं जानते कि इस समय जो हमारे खोटे परिणाम हो रहे हैं वे हमें आगे बहुत दुर्गति में ले जायेंगे और यदि न्याय पथ पर रहकर अपने धर्म भाव से चलकर कुछ नुकसान भी हो रहा है, तो भी कुछ नुकसान नहीं है। देख तेरे परिणामों में निर्मलता रहेगी तो यह तेरा निर्मल परिणाम तेरे को बहुत उन्नति के मार्ग में ले जायेगा। प्रथम तो विशिष्ट पुण्योदय होगा और विशुद्ध जो धर्मस्वरूप है उसकी दृष्टि बनेगी, पात्रता बनेगी। तेरा तो इसमें उत्थान ही उत्थान है। वर्तमान में धन वैभव की होने वाली हानि को हानि मत गिन। परिणामों में जो मलिनता हो उसको

हानि समझ। परिणामों की पवित्रता ही तेरी रक्षा कर सकने में समर्थ है, अन्य कोई दूसरा तेरा रक्षक नहीं है। उत्तम बात तो यह है कि अपने आकिञ्चन शाश्वत ज्ञानमात्र सहज स्वभाव को निरखकर अपने को मृत्यु रहित देख तो तू सुरक्षित ही है।

नित्यं खदति हस्ति शूकर पलं सिंहो बलि तद्रतिः वर्षेणैकदिने शिलाकणचरौपारावते सा सदा।
न ब्रह्मव्रत नाशमेतिमथवा स्थान्नवं भुक्तेर्गुणः तद्रक्षा कुरुते स एव पुरुषः साधोर्मनः संयमः।।

अप्पाणं पि चवंतं जह सक्कदि रक्खिदुं सुरिंदां वि।
तो किं छंड़दि सग्ग सव्वुतम-भोय-संजुत्तं।।२९।।

मोही मानवों द्वारा सुरक्षा के लिये प्रार्थित देवेन्द्रों की अपने मरण से अपने आपको भी बचाने की अशक्यता–जिन देवों से हम अपनी शरण मांग रहे हैं, जिनसे हम अपने को मृत्यु से बचाने की प्रार्थना करते हैं उन देवेन्द्रों के बारे में भी जरा निर्णय कीजिए कि जब उनका आयुक्षय होता है तो वे अपने आपकी रक्षा कर सकते हैं क्या? नहीं कर सकते। बहुत से लोग बैकुण्ठ मानते हैं, तो वह बैकुण्ठ क्या है? वैकुण्ड। वै, कण्ठ ऐसे इसमें दो शब्द है। वै मायने निश्चय से और कण्ठ मायने गला स्थान। लोक रचना में जब पुरुषाकार तीनों लोक की रचना बतायी जाती है तो देखिये, उस पुरुषाकार में कंठ की जगह क्या बना हुआ है? नव ग्रैवेयक। पुरुषाकार लोक रचना में ग्रीवा की जगह का जो स्थान हो सो ग्रैवेयक और वैकुण्ठ का भी यही अर्थ है। तो यह जीव वैकुण्ठ अर्थात् नवग्रैवेयक तक हो आया जिसे लोग मुक्ति के सामान मानते हैं। मुक्ति का स्थान तो परम आनन्दमय है, पर कुछ लोग वैकुण्ठ भी मुक्ति स्थान के समान मानते हैं। कई लोग मानते हैं कि कल्पकाल बीत जाने के बाद उनको ईश्वर वहां से यानि वैकुण्ठ से ढकेलता है और उन जीवों की फिर इस संसार में जन्म लेना पड़ता है। ऐसा जो कथन है किन्ही का, वहां यह आया कि नवग्रैवेयक तक भी उत्पन्न हो गया यह जीव फिर भी संसार से तिरने का उपाय यह न पा सका, ऐसा भी हो जाता है, उसे यहां जन्म लेना पड़ता है। इसकी चर्चा कहीं जा रही है। वहां के सम्यग्दृष्टि इन्द्र को भी मरण करके जन्म लेना होता है। पर वैकुण्ठ की बात कह रहे, तो वहां हुआ क्या? मुक्ति नहीं हुई, राग नहीं मिटा, किन्तु राग मंद हुआ। तो ऐसा बैकुण्ठ मानने वाले लोग भी कहते हैं कि जीव का राग कभी मिट ही नहीं सकता। राग अत्यन्त कम हो जाएगा, न की तरह हो जायेगा, बैकुण्ठ हो जायेगा, फिर कुछ कल्प काल में संसार में आना होगा, याने उनका भी मरण होता है। ऐसे ये देवेन्द्र भी सागरों पर्यन्त स्वर्ग के उत्तम सुख भोगते हैं, फिर भी जब उनकी आयु क्षय का समय होता है तो उन्हें कोई भी बचाने में समर्थ नहीं है।

देवेन्द्र व देव देवियों के शरीर की सातिशयता–यदि देवेन्द्र अपने आपको बचा सकते होते, तो स्वर्ग क्यों छोड़ते? देवों का, देवेन्द्रों का सुख सांसारिक सुख में उत्तम सुख है। वैक्रियक शरीर है। उनकी देवांगनाओं के भी वैक्रियक शरीर है, जिनकी तुलना तो स्तवन में एक जगह तीर्थंकर के पर मौदारिक शरीर से की गई है। मानो भगवान ने कहा कि हे समन्तभद्र, तुम आप्त की खोज कहां करते फिर रहे हो? आप्त तो हम हैं, देखो–देवता लोग हमारे पास आयें, आकाश में हम चलें, चमर छत्र हम पर ढुरे, आप्त तो हम हैं। यह एक अलंकार रूप में कहा गया हैं कहीं भगवान इस तरह से किसी से बातचीत नहीं किया करते। भगवान तो ऐसे उत्कृष्ट आत्मा को कहते हैं जिससे कोई बातचीत भी नहीं कर सकता। यों तो कोई किसी भी जीव अथवा अजीव पदार्थ से बातें करने लगे। प्रभु की ओर से कोई प्रकार का जवाब न मिलेगा। जहां किसी से रंच भी

राग द्वेष न रहा, जो वीतराग हैं, अनन्त आनन्द में लीन हैं वे किसी से बातचीत करते फिरें यह सम्भव नहीं। न तो समय पर अथवा तीर्थंकर प्रकृति के उदय से अथवा वचन योग से भव्य जीवों के भाग्य से समय पर दिव्यध्वनि है। उनके पास बातचीत करने का समय नहीं है। कि उनके माता-पिता पुत्र बन्धु मित्रजन उनसे आकर मिले, कुशलता पूछें तो वे उत्तर देते हैं कि कोई बातचीत का वहां प्रसंग नहीं हैं यहां तो एक अंलंकार भाषा में कहा गया है कि भगवान ने यों पूछा तो समंत भद्र ने परीक्षा प्रधान होने से निःशंक होकर उत्तर दिया कि हे प्रभो! आप इसलिए बड़े नहीं हो कि आपके पास देवता आते हैं, आप आकाश में चलते हैं अरे क्यों नहीं? यों नहीं कि ये बातें मायावी पुरुषों में भी सम्भव हो सकती हैं। अच्छा फिर समंतभद्र, देखो ना कि मेरे शरीर का आन्तरिक चमत्कार कितना ऊंचा है कि जहां राधरूधिर मलमूत्र पसीना आदिक कोई धातुवें न रहीं, स्फटिक मणि की तरह निर्मल शरीर है, मायावी पुरुष ऐसा नही बना सकते। भले ही माया से देवसिद्धि करके लोगों को कुछ इस प्रकार से चमत्कार करके दिखला दें लेकिन शरीर उससे निर्मल तो नहीं बन गया। इस कारण हम ही आप्त हैं। तब वहाँ समंतभद्राचार्य निःशंक होकर कहते हैं कि शरीर का ऐसा चमत्कार मल, मूत्र, स्वेद आदिक का न होना, ये बातें तो देवों में भी पायी जाती है। तो आप इस नाते से महान नहीं हैं। जिन देवों के शरीर की तुलना समंतभद्र ने अरहंत देव के शरीर से भी कर दी, समता बता दी, अब तो अब आप समझ लीजिये कि उन देवेन्द्रों का कैसा मनोहारी वातावरण रहता है? देवियां भी ऐसे ही शरीर की हैं।

देवेन्द्र व देव देवियों की विभूति कला की भी सातिशयता—देवेन्द्र व उनकी देवियों की कलावों का उनकी विभूतियों का तो कहना ही क्या है? यहां ही जब कभी बहुत बढ़िया गाना-बजाना हम आप देखते-सुनते हैं तो उनकी कला पर मुग्ध हो जाते हैं। जब बहुत सुरीले और बहुत ढंग के राग में बाजे बजते हुए देखते हैं, या कहीं बहुत से संगीतज्ञ अपनी संगीत कला का प्रदर्शन कर रहे हों तो ऐसा लगता है कि धन्य है इनको, कहां से इन्होंने ऐसी कला सीखी? ये तो बहुत ऊंची कलायें हैं, लेकिन इन कलाओं से भी बहुत ऊंची कलायें देव देवियों में प्रकृत्या पायी जाती है। जब यहां की कलाओं पर ही मुग्ध होकर धार्मिक अवसर में, प्रभु दर्शन में, प्रभुवंदन में हमारा भाव बहुत लगता है तो भला सोचिये कि उस साक्षात् समवशरण में चारों ओर से देव देवियां आते हैं और गान तान नृत्य आदिक अपनी समस्त कलाओं का उपयोग करते हैं, वह कितनी ऊंची कला है? वे जानते हैं कि यही एक मौका है इसलिए अपनी पूरी शक्तिभर कलाओं का उपयोग करें और कहीं तो मौका मिलता नहीं हैं अपना सर्वस्व न्यौछावर करने लायक। तो यहां कलावान पुरुष एवं महिलाओं की कला से आप अंदाज कर लीजिए कि उन देवी देवताओं में इनसे कितने गुणी अधिक कलायें होती होंगी? देवों को मनमाने भोगोपभोग प्राप्त है। वे जहां चाहें जब चाहें बिहार कर जाते हैं। उन्हें खाने-पीने आदि की कोई चिन्ता नहीं, उन्हें कोई रोजगार करने की जरूरत नहीं। वहां सर्व प्रकार के उत्तम भोग साधन हैं।

उत्तम भोग संयुक्त देवेन्द्रों का भी अवश्य भावी मरण जानकर अन्तःशरण्यस्वरूप को निहारने की शिक्षा—उत्तम भोग वाले स्वर्ग को इन्द्र देवेन्द्र क्या शौक से छोड़ते हैं? अरे उन्हें छोड़ना पड़ता हैं। और अनेक देवों को तो उस मरण से ६ महीने पहले से इतना संक्लेश होता है कि कहो कुछ देव तो मर कर वहां से एकेन्द्रिय में जन्म लें। देवता लोग जिनकी अनगिनतें वर्षों की आयु होती हैं उन्हें उस आयु के त्रिभाग वें आयुक बंध नहीं है। सारी आयु भर उनके बंध नहीं, केवल ६ महीने जब शेष रहते हैं तब उसमें आठ

त्रिभाग होते हैं। अर्थात् जब दो महीने आयु शेष रह जायें देवों की तब जाकर उनका आयु बंध होता है तब भी आयुबंध न तो दो महीने के भी त्रिभाग करिये यो ८ त्रिभाग में कभी बंध जातीहै, तब भी न बंधे तो अन्तिम अन्तर्मुहुत में तो बंध ही जाती। उस समय जिन देवों की यह विदित है कि यह स्वर्ग छोड़कर जाना है, ऐसा सुख छोड़ करके जाना है और जाना होगा नीचे, ऐसे ऐसे मलिन शरीरों में, ये भोग सब छूट जायेंगे, उस समय उनका संक्लेश इतना कठिन हो सकता है कि ऐसे देव मिथ्यादृष्टि कई तो मरकर एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो जाते हैं। यहां प्रसंग यह चल रहा है कि ये देवेन्द्र भी अपने आपको च्युत होने से बचा नहीं सकते। जब आयुक्षय होता है तो अपना मरण भी नहीं बचा सकते। अगर बचा सकते होते तो सर्व उत्तम भोगों से संयुक्त स्वर्ग को क्यों छोड़ते? और दूसरों को मृत्यु से बचाने की बात तो दूर रही, वे देवेन्द्र खुद को भी मौत से नहीं बचा सकते।

ऐसा जानकर एक निर्णय बनाना है कि मरण का भी क्या डर करना? मरण का डर होता है मोह में, इस व्यामोह में कि यह छूटा, वह छूटा। जब मैं पूरा जितना हूं उतना ही यहां से जाऊंगा, अपने आप में ही मेरी सृष्टि है, अपने आप में ही मेरा निर्णय है, आनन्द पावे, दुःख पावे, सुख पावें, सब यहां के ही करतब का काम कर रहे हैं, तब मेरा बाहर में क्या रहा? किसका क्लेश? जब यों अपने आपको जो संभालता है उसको मरण का भय नहीं होता। आत्मदर्शन करें, अपने आप में रमने के कारण, तृप्त रहने की आदत बनावें, यही मात्र मेरा शरण है, बाहर में अन्य कुछ भी वस्तु मेरे लिए शरण नहीं हैं।

दंसणणाण चरित्तं सरणं सेवेह परमसद्धाए।
अण्णां किंपिण सरणं संसरं किं पि ण।।३०।।

परमश्रद्धा से सम्यक्त्व शरण ग्रहण करने का उपदेश—हे भव्य जीवों, बड़ी उत्कृष्ट श्रद्धा के साथ दर्शन ज्ञान, चरित्र रूप शरण की सेवा करो। संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को उनके सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है।आत्मा का हित शान्ति में है। शान्ति निराकुल अवस्था में ही है। निराकुल अवस्था कब मिलती है? कहां मिलती है? मोक्ष में। कर्मों से, विभावों से, शरीर से मुक्त होने में परम शान्ति का अभ्युदय रहता है। तब मुक्ति को प्राप्त करने का उद्देश्य होना चाहिए। जी रहे हैं, घर में हैं अथवा साधु हैं, किसी भी अवस्था में है, इस मनुष्य जीवन में जीने का उद्देश्य क्या है? मुक्ति प्राप्त करने का उपाय करना, दूसरा और उद्देश्य नहीं है। अन्य कोई काम इस आत्मा को हित में नहीं पहुंचाता। यह बात खुद की है, अपनी है, निरपेक्ष है। इस आत्महित के कार्य में किसी से प्रार्थना करने की जरूरत नहीं कि घर वाले सन्तुष्ट हो, हमारे पिता, पुत्र आदि हम पर प्रसन्न हों तो इसमें आत्महित का उपाय बनेगा। किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं है। केवल अपने आत्मा की दृष्टि से अपने आप वह उपाय बनता है। वह उपाय क्या है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक चारित्र। निश्चय से सम्यग्दर्शन यही है कि परद्रव्यों में से भिन्न सहज जो अपना आत्मस्वरूप है अंतस्तत्व है उस शुद्ध सहज शाश्वत ज्ञान स्वभाव रूप अपने आपकी प्रतीति हो। अब यह सम्यग्दर्शन जिन उपायों से होता है उन भावरूप उपायों को सम्यग्दर्शन व्यवहार से कहते हैं। निश्चय सम्यग्दर्शन के लक्ष्य में सप्तत्त्व का श्रद्धान, देव, शास्त्र, गुरु का यथार्थ श्रद्धान होना सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

व्यवहार रत्नत्रय का मूल आधार व उद्देश्य परमार्थ रत्नत्रय—जो-जो व्यवहार के कार्य रत्नत्रय की पूर्ति कराने में साधक हों वे व्यवहार रत्नत्रय होंगे और व्यवहार धर्म होंगे। यदि हमारे किन्हीं कामों में रत्नत्रय

के मार्ग की बात नहीं निकलती तो वह व्यवहार धर्म ही नहीं है। जैसे गृहस्थों के ६ आवश्यक कार्य हैं–

देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। वीतराग सर्वज्ञदेव की भक्ति करना यह देव पूजा है। देवमूर्ति के समक्ष देवत्व का भाव, भक्ति होना, भक्ति करना देव पूजा है। गुरुवों की, जो कि मंद कषाय वाले हैं वीतरागता की ओर चलने वाले हैं जो एक रत्नत्रय के मार्ग में लगे हुए हैं उन गुरुवों के संग में रहना, उनकी वैयावृत्ति करना, विनय रूप से रहना यह गुरुपासना है। स्वाध्याय किसी धार्मिक ग्रन्थ का वाचन करना, सुनना, पढ़ना उसके अर्थ का अवधारण करते हुए और उसको अपने आप पर घटाते हुए जो पढ़ते हैं वह स्वाध्याय कहलाता हैं। संयम-इन्द्रिय विषयों को रोकना, किसी भी प्राणी की हिंसा न होना, इसका यत्न करना यह सब संयम है। अपनी इच्छाओं को रोकना तप है। यह तो संसार है, इष्ट वस्तु सदा पास रहती नहीं, हैं, न मिले उसका खेद नही करना और कभी किसी इष्ट के पाने की वांछा हो तो उस वांछा को दूर करने का यत्न करना यह सब तपश्चरण है और छठवां आवश्यक है दान। पात्रों को, अतिथियों को आहर, औषधि, शास्त्र, अभय आदिक दान करना जिससे उनका उपकार अपना उपकार, और अनेक जीवों का उपकार है। जो एक दान तीर्थ की प्रवृत्ति चलाते रहें उससे अनेक जीव भी लाभ पायेंगे। तो दान भी एक आवश्यक है। अब इनमें देखो कि ६ कामों को करते हुए रत्नत्रय की साधना में सहयोग होता है या नहीं? देव पूजा में श्रद्धान की पुष्टि है। जिसके श्रद्धान हो वही तो देववन्दन करने आयेगा। देववन्दन करते हुए में श्रद्धा का पोषण है। गुरूवों का सत्संग, जिनको कुछ त्याग से प्रेम है, चरित्र से प्रीति है, मुक्ति से प्रीति है, वे ही पुरुष मुक्ति के मार्ग में लगे हुए गुरुवों के संग में आयेंगे, उनकी वैयावृत्ति करेंगे। उससे चरित्र को मदद मिले। स्वाध्ययाय से, सम्यग्ज्ञान को सहयोग हुआ। तप से चरित्र को तथा दान से श्रद्धा को, साधना को विशेष सहयोग मिला। तो इन आवश्यकों से रत्नत्रय में सहयोग हो सकता है, अतएव ये व्यवहार धर्म हैं।

परमश्रद्धा से परशरण्य रत्नत्रय की सेवा का उपदेश–देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। ७ तत्वों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है और निश्चयतः समस्त परभावों से भिन्न अनादि अनन्त अखण्ड शाश्वत एक सहज ज्ञान स्वभाव में अहं रूप से अनुभव करना, प्रतीति करना, रूचि करना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्ज्ञान निश्चयतः ज्ञान स्वभाव रूप निज अंतरतत्वका ज्ञान बनाना सो सम्यग्ज्ञान है और इस निश्चय सम्यग्ज्ञान के लिए जो इतना वाचन होता है, चर्चा होती है इसका ज्ञान बनाना, पढ़ना-लिखना आदि से जो ज्ञान सम्पादन करना है वह व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। सम्यक्चारित्र–समस्त परभावों से हटकर स्वभाव में लीन होने को निश्चयतः चरित्र कहते हैं, और ऐसे चरित्र के पाने का उद्देश्य बनाने वाला पुरूष जिन उपायों में रहता है वे उपाय व्यवहारतः चारित्र हैं। तप, व्रत, संयम आदिक अनेकानेक यत्न हैं, ये सब चारित्र हैं। तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र इनको शरण रूप मानते हुए भव्य जीव इनकी सेवा करें, अन्य को शरण मत मानें। अपने सहज अंतस्तत्व का दर्शन, अनुभवन उस ही में ज्ञान को डुबा देना, मग्न कर देना, ज्ञानोपयोग में अन्य कुछ न बसाना, ऐसा अपने आपमें अर्न्तध्यान होने का सम्यक्चारित्र कहते हैं। यही एक शरण है, इसकी सेवा करें।

आत्म हित के परम उपाय के उद्देश्य की भूल में विपदा विडम्बना–उद्देश्य में रंच भी भूल न करें। हम जितना कर सकें सो ठीक है, न कर सकें तो उसका भी ज्ञान करें, पर उद्देश्य में तो जरा भी पीछे न होना चाहिए। इस संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को अन्य कुछ भी शरण नहीं है। सम्यक् बोध के बिना क्रिया आचरण श्रम करने से संसार से तिरने की लैन नहीं मिल सकती। भले ही मंदकषाय होने से पुण्यबंध हो

सकता है और साथ ही मिथ्यात्व का अभिनिवेश होने से अपने को लोक समुदाय में ठीक-ठीक प्रमाणीक कर देना आदिक ऐसी ही दुनिया की अभिलाषायें रहें तो पुण्य के एवज में पाप भी हो सकता है। किन्तु सम्यक्बोध यदि है तो उसके अभिप्राय गंदे न होंगे और जितना भी वह कर सकेगा उससे वह सच्ची लैन में ही लगा रहता है। बोध हुए बिना क्रिया से फायदा नहीं उठाया जा सकता। कुछ मुसाफिर लोग किसी शहर में कपड़ा खरीदकर अपने गांव को जा रहे थे। रास्ते में शाम हो गई। जाड़े की दिन थे, सो वे एक वृक्ष के नीचे ठहर गए। जाड़ा अधिक लगा तो उन्होंने एक उपाय किया। आस-पास की बाड़, पतली लकड़ियां बीनकर इकट्ठा की और चकमक से आग लगाकर फूंका और खूब रातभर अच्छी तरह से तापकर रात बिता दी और प्रातः काल अपने गांव चले गये। अब दूसरी रात आयी तो उस पेड़ पर रहने वाले बंदरों ने सोचा कि हम लोग ठंड में यों ही ठिठुर रहे हैं, देखो वे लोग भी तो हमारी ही तरह के हाथ पैर वाले थे, जिन्होंने पिछली रात को अपनी ठंड मिटायी थी। अपन लोग भी वैसा ही करें। सो सभी बंदर आस-पास की बाड़ की छोटी पतली लकड़ियां बीन लाये और उन्हें एक जगह इकट्ठा करके तापने बैठ गए। फिर भी ठण्ड न मिटी तो उनमें से एक बन्दर बोला कि अभी इसमें लाल-लाल चीज तो डाली ही नहीं गई, ठंड कैसे मिटे? अब क्या था, आस-पास उड़ रहे पट बीजना जो कि लाल रंग के थे, सभी बन्दरों ने उन्हें पकड़-पकड़ कर खूब उन लकड़ियों में झौंका, अब लकड़ियों के चारों तरफ सभी बन्दर तापने बैठ गयें तब भी जाड़ा न मिटा तो एक बंदर बोला कि अभी जाड़ा कैसे मिटे? उन लोगों ने तो मुख से फूंका था, अभी अपन लोगों ने मुख से इसे फूंका तो है ही नहीं। सो उन्होंने मुख से खूब फूंका, फिर भी जाड़ा न मिटा। तो फिर उनमें से एक बन्दर बोला कि उन लोगों ने तो उकुडू बैठकर हाथ फैलाकर अपनी ठंड मिटाई थी, उस तरह से हाथ फैलाकर तो अभी अपन लोग बैठे नहीं, ठंड कैसे मिटे? सो वे उस तरह से हाथ फैलाकर बैठ गए पर ठंड न मिटा सके। यों उन बंदरों ने प्रयत्न तो सारे कर लिए, पर ठंड न मिट सकी। उसका कारण क्या था? उसका कारण यही था कि ठंड मिटाने का जो मूल निमित्त अग्नि थी उसका उन्हें ज्ञान न था। इसी प्रकार से समझ लो कि सम्यक्त्व का बोध हुए बिना कितने ही श्रम कर लिए जायें पर उनसे वास्तविक लाभ नहीं लूटा जा सकता। जिसको यथार्थ बोध होता है वह थोड़े से संक्षेप में ही उसका सारा मर्म जान जाता है, और जिसमें प्रतिभा नहीं, उस प्रकार की जिसमें पात्रता नहीं, वह उससे वंचित रहता हैं तो सम्यग्ज्ञान के बिना क्रियायें कितनी ही कर ली जायें पर उनसे वास्तविक लाभ न मिल पायेगा।

ज्ञान और आचरण के निर्भ्रान्त योग में कल्याण—सम्यग्ज्ञान होने से श्रद्धान ज्ञान ठीक मिलें पर चारित्र न हो तो उससे भी लाभ नहीं लूटा जा सकता। दृष्टान्त दिया है कि एक अंधा और एक लंगड़ा जंगल में थे। उस जंगल में लग गई आग। तो देखो अंधे में चलने की तेज सामर्थ्य थी पर उसे यह पता न था किस दिशा में जाने से हमारी रक्षा हो सकती है और लंगड़ा यह जानता था कि इस दिशा में जाने से हमारी रक्षा हो सकती है, पर उसमें चलने की सामर्थ्य न थी। यदि वे दोनों मित्र बनें, परस्पर उनका सहयोग हो तो लंगड़ा अंधे के कंधे पर बैठ जाये लंगड़ा दिशा बताता जाये, अंधा तेजी से चलता जाये तो वे दोनों रक्षित हो सकते हैं। तो ऐसे ही समझिये कि ज्ञान और आचरण ये दोनों अगर अलग-अलग हैं तो उसमें मोक्ष का मार्ग नहीं चला जाता और दोनों हिलमिल चले रहे हैं साथ तो उसकी मोक्षमार्ग में गति हो जाती है। लेकिन एक बात और इसके अन्दर देखिये, उस घटना में लंगड़ा और अंधा ये दोनों चल रहे हैं, लेकिन कोई यह समझे कि अंधा बड़ा तेज चलता है, लंगड़े की दृष्टि उस अंधे में जोड़ दें तो समझिये कि उसको अभी मर्म ठीक नहीं विदित हुआ।

इसी तरह हम आत्मा जानते देखते हैं। यह शरीर चलता है, पर आत्मा की दृष्टि को हम शरीर से जोड़ दें, देखो ये देख रहे, देखो ये जान रहे, शरीर पिण्ड को निरखकर देखने जानने की बात जोड़ना, यह उनकी तरह उपक्रम है कि जैसे कोई लंगड़े की दृष्टि अंधे में समझता है? मैं क्या हूं? इसके सच्चे निर्णय में सब कुछ मार्ग मिलता है। यहां भी हम सुखी रहेंगे और आगे भी सुखी रहेंगे। यह करने योग्य एक बहुत बड़ा काम है कि अपने आपको यथार्थ समझ जाऊ कि मैं क्या हूं?

सहजशुद्ध अन्तस्तत्व की दृष्टि का कर्त्तव्य—इस अन्तस्तत्व को समझना सुगम भी है और कठिन भी है। कठिन तो तब है जब हमारा लक्ष्य ही न बने, हम चाहते ही नहीं, हममें रूचि ही नहीं। विषयों में रुचि है। तो जहां बाह्य पदार्थों में रुचि है वहां अन्तस्तत्व की बात क्या समझ सकेंगे? सुगम यों है कि खुद ज्ञानमय है, खुद का ज्ञान है, खुद को समझना है। इसमें कौन सा विघ्न है? तो अपने जीवन में एक यह निर्णय बनाये कि मैं जीवित हूं तो रत्नत्रय की साधना के लिए। मेरे जीवन का और कोई दूसरा अर्थ नहीं है। अपने जीवन का उद्देश्य ही यदि कुछ और है तो जैसे सब संसारी जीव जन्म-मरण करते हैं उसी रूढ़ि में, उसी क्लास में हम आप भी आ गए। तो अपना उद्देश्य जब तक अपने आपको जानने का, तृप्त रहने का नहीं बनता तब तक हम आकुलता से दूर नहीं हो सकते। इस कारण हम आपको चाहिए कि परम सन्तोष के साथ दर्शन ज्ञान चारित्र की आराधना करें। संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवों को अन्य कुछ भी शरण नहीं है।

अप्पाणं पि य सरणं खमादि भावेहिं परिणदो होदि।
तिव्वकसायाविट्ठो अप्पाणं हणदि अप्पेण।।३१।।

दशलक्षण धर्मपरिणति में शरण्यरूपता के कथन मे क्षमा वह मार्दव के शरण ग्रहण का उपदेश—आत्मा को अपने आपको यही शरण है कि हम आत्मा को क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य इन परिणामों से परिणत न हों। वह अपने आपको खुद शरण है जो अपने को धर्मरूप परिणत करता है। जब निज और पर का यथार्थ ज्ञान करके पर से उपेक्षा भाव रखकर निज में ही हितरूपता की प्रतीति करता है तो उस मनुष्य में क्षमा आदिक धर्मों का आना सुगम है। कोई विपरीत चल रहा है, विपरीत वातावरण है उस वातावरण से घबराना और अनिष्ट समझकर हटना ओर जो अपने को इष्ट लगे उसमें प्रीति करना, यह उत्कर्ष की पात्रता नहीं है। प्रतिकूल भी वातावरण हो, कोई अपशब्द भी कह रहा हो, कोई अपमानित भी कर रहा हो, तो भी उस पर द्वेष न करना, उसे कुछ ग्लानिकी दृष्टि से न देखना, अपने आपके परिणामों को शान्त स्वरूप में बनाये रहना यह क्षमा भाव है। इस रूप से जो जीव परिणत होते हैं वे खुद अपने आपको शरण हैं। नम्रता—इस लोक में अपने आपके प्रति बड़प्पन का भाव न होना जैसे सब तैसा मैं, अन्तर है तो कुछ परिणामों का ही तो अन्तर है। स्वरूपतः हम और सब जीव एक समान हैं। फिर वस्तुतः हम अन्य से बड़े हैं, मुझसे अन्य छोटे हैं इस प्रकार का कहां अवसर है? सर्व जीवों को स्वभावतः समान जानकर उनके प्रति समता का व्यवहार करना सो नम्रता है। बाहरी रूप से इस शरीर को ही निरखकर कोई सोचे कि मैं तो इनसे बड़ा हूं, इस प्रकार का जो पर्याय में लगाव रखना है उस ही को तो अहंकार कहते हैं। यह अहंकार न रहे, अपने आपके ज्ञान स्वभाव की प्रतीति रहे, यहीं नमता है। नम्रता का अर्थ है झुकना। अपने आपकी ओर झुकना है वह है निश्चयतः नम्रता । यही है वास्तविक कोमलता। इस धर्म में जो जीव परिणत हैं वे स्वयं अपने आपको शरण समझते हैं।

उत्तम आर्जव और उत्तम शौच धर्म ही शरण के ग्रहण का उपदेश—सरलता का अर्थ है माया, छल, कपट न होना, संसार में ऐसा कौन सा प्रयोजन है जिसके लिए मैं मन में कुछ और वचन में कुछ कहूं व परिणति कुछ और करूं। यह मेरे लिए घातक प्रवृत्ति है। मामला स्पष्ट है। मैं ज्ञान स्वभाव मात्र हूं। मुझे अपने आपमें ही विश्राम करना है। अन्य बातों से कुछ प्रयोजन ही नहीं। फिर मन, वचन, कायको विषयों की कसरत करना किसलिए? जो प्रत्येक ऐसे सरल उपायों से परिणत होते हैं वे अपने आपको आप ही शरण हैं। जहां लोभ कषाय नहीं, ज्ञानातिरिक्त समस्त पर द्रव्यों को पर भावों को जिन्होंने हेय जाना भिन्न जाना शरणरूप नहीं समझा वे पुरूष पवित्र है। क्योंकि अन्तः वे कैवल्य से अपना लगाव रख रहे हैं। जहां कैवल्य है वहीं तो पवित्रता है। जैसे चौकी पर बींट पड़ी है तो वह अपवित्र है और अगर उस बींट को धोकर अलग कर दिया गया, केवल चौकी ही चौकी रह गयी तो वह पवित्र है।

आत्मा के शरण और हनन की विधि का निर्णय—आत्मा को शरण क्या है और आत्मा को हनने वाला कौन है, इन दो बातों की चर्चा चल रही है। संसार में जबकि यह देह मुझसे निराला है ओर देह भी मेरे काम आने को नहीं हैं, बल्कि सारे क्लेशों का मूल यह शरीर लगा हुआ है, मान लो यह मैं आत्मा हूं तो कुछ। जो हूं वही अकेला रहता, एक भाव मात्र, ज्ञान स्वभाव मात्र ज्ञानदर्शन मात्र आनन्द स्वरूप आकाशवत् निर्लेप स्वयं सिद्ध यह मैं आत्मा ही आत्मा होता, इसके साथ अन्य कुछ न होता, शरीर न होता तो यह आत्मा कितना आनन्द में रहता? भूख प्यास के क्लेश इस शरीर के कारण ही तो हैं। सम्मान अपमान आदिक की बुद्धि इस शरीर के ही कारण ही तो है। जहां कहीं अपमान हुआ तो हम इस शरीर को ही यह मैं हूं, मेरा अपमान हुआ, यह बुद्धि किया करते हैं। केवल मैं ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा ही होता तो ये दुःख आते ही नहीं। इस जनसमूह में जो कि अनेक मूढ़ हैं, खुदगर्ज हैं, कर्म के प्रेरे हैं, जन्ममरण करते हैं, अशरण हैं, उनमें यह चाहना कि ये लोग मुझे बड़ा माने यह तो बहुत बड़ी विपत्ति है, लेन-देन कुछ नहीं, किसी के काम कोई आता नहीं, व्यर्थ में अपने आत्मा की दृष्टि अपने से हटाकर इन मूढ़ पापी पुरूषों में उलझाकर और खुद को पापी बनाना अथवा यह चाहना कि ये लोग मुझे कुछ समझे, मैं ठीक हूं, धनिक हूं, बड़ा हूं, ऐसे जो विकल्प होते हैं उन पुरूषों से जो आशा का परिणाम होता यह जीव पर बहुत बड़ी विपदा है। और इतना बड़ा भारी जुल्म है यह अपने आपके भगवान आत्मा पर कि इस जुल्म के फल में पेड़-पौधे पशु पक्षी कीड़ा मकौड़ा आदि कितनी ही गतियों में भ्रमण करना पड़ रहा हैं तो अपना शरण बाहर में यह देह भी नहीं है, फिर अन्य जीवों का तो कहना ही क्या? ये सब तो प्रकट भिन्न हैं, वे तो मेरे आत्मा में इतना भी सम्बन्ध नहीं कि क्षेत्र की अपेक्षा भी सम्बद्ध हो यानि एकक्षेत्रावगाह भी नहीं। जो मानते हैं कि मेरे को शरण मेरे लड़के हैं तो प्रथम तो लोक व्यवहार के नाते भी लड़के सुख पहुंचाने वाले नहीं हैं, यह खुद को विकल्प करके मानता है ऐसा और मान लो कदाचित् पहुंचाया भी सुख तो सुख नहीं पहुंचाया किन्तु उन्होंने अपनी ही इज्जत रखने के लिए या बाप से कुछ मिलने की आशा से अपनी किसी कारण से चेष्टा की। इन कारणों से वे लड़के कुछ अनुकूल व्यवहार करते हैं। बाहर में कोई शरण नहीं है।

उत्तमक्षमा दिगुणपरिणत अपने आपकी अपने आपको शरण—आत्मा का शरण केवल अपने आपका आत्मा है जो दस लक्षण रूप धर्म में परिणत हो रहा है। क्षमा भाव में हम स्वयं रहें तो हम अपने आपकी रक्षा कर रहे हैं। क्रोध करके कौन-सा वैभव लूट लेंगे? शान्ति से रहें, न्याय नीति से रहें, किसी पर अन्याय करने का भाव ही न रखें और अपनी प्रकृति ऐसी बनाये कि कोई अगर कुछ अपराध भी कर डालता

है तो हम यथाशक्ति उस पर क्षमा भाव ही रखें। इससे तत्काल भी शान्ति है और भविष्य भी बहुत अच्छा रहेगा और क्रोध के फल में तत्काल भी अशान्ति है और भविष्य भी बहुत बुरा निकलता है। हम मार्दव परिणाम से रहें। कोमल, निरहङ्कार भाव से रहें। इस लोक में मिला क्या है जो अंहकार के लायक हो? इससे करोड़ों गुने वैभव पूर्वभव में मिल चुके होंगे या इससे करोड़ों गुना वैभव वालों का नारायण चक्री आदि का वैभव भी वैभव न रह सका, यहां कौन सा वैभव अहंकार किये जाने योग्य है और कौन सी कला अंहकार के योग्य है? जो कुछ थोड़ा सा व्यावहारिक ज्ञान पाया वह ज्ञान भी क्या अहंकार के लायक है? ज्ञान तो मुझमें अनादि अनन्त समस्त पदार्थों के जानने का है। केवल ज्ञान स्वभाव हैं? आज जो थोड़ा-सा ज्ञान पाया है या कुछ लौकिक कलायें सीख ली हैं वह अहंकार किए जाने लायक नहीं हैं। सब जीवों को अपने ही समान ज्ञानानन्द वाला देखें और नम्रता से रहें, तो यह नम्र परिणाम अपने आपके भगवान की ओर झुका देगा और प्रसन्न रखेगा। छल-कपट न करना, इस सरलता में मनुष्य कितना प्रसन्न रहते हैं? मायावी पुरुष सदा आकुलित रहते हैं। और वे एक माया को छुपाने के लिये अनेक मायाचार करते हैं। ज्यों-ज्यों माया के भाव बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों उसके छुपाने के लिए माया करने का भी काम बढ़ता जाता है, चैन नहीं मिलता। लोक में कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसको पाने के लिए छल कपट करना चाहिए। सरल भाव में रहे तो इसे कितना आनन्द रहेगा।

लोभ परिहार करके उत्तम शौच धर्म परिणत हुए अपने आपकी आपको शरणरूपता—लोभ परिणाम में इस जीव की बड़ी दुर्दशा हो रही है। जो प्रकट पर हैं, अपने से न्यारा है, जिसका सम्बन्ध ही कुछ नहीं है उसे अपना मानना। मैं आत्मा चेतन, अमूर्त भाव मात्र हूं, जिसको कोई छू भी नहीं सकता, ऐसा मैं आत्मा और इन मूर्तिक विनाशीक स्कंधों को मानना कि ये मेरे हैं, यह तो बड़ी विडम्बना है जीव पर और लोभ के परिणाम में इस भव में भी सुख नहीं मिलता। लोभी की तो यह स्थिति समझिये कि वह एक ईमानदार रखवाला है कि जो धन पाया है उसमें से अपने लिए भी न खर्च करे, दूसरे के उपकार में भी न दे और सारा का सारा मालिक को दे जायें। यहां मालिक के मायने हैं लड़के बच्चे आदि। उनको सब सौंप जाएं, खुद उपयोग में रंच भी न ले तो यह तो रखवाली करने की ही बात है। उसे कभी शान्ति नहीं मिलती और लोभ का त्याग हो, योग्य कार्य आये, उसमें व्यय करे, अपने लिये भी उपभोग में लाये और जाने कि यह सम्पदा तो विनाशीक है, इसको यदि खर्च करेंगे तो पुण्य के अनुसार अवश्य उतना भर जायेगा। जैसे कुवें से पानी निकलता है तो उसमें झिरों से उतना पानी अवश्य आकर भर जायेगा, ऐसे ही इस धन का जितना भी खर्च किया जायेगा उतना धन अवश्य ही पुण्यानुसार आ जायेगा। इस धन को हाथ पैर नहीं कमाते, धन तो पुण्य के अनुसार आता है। तो जो लोग लक्ष्मी का परित्याग करते हैं वे शौच धर्म का पालन करते है। देह में भी लोभ न करें। देह को सजाने का, शृंगार करने का, उसको देखकर खुश होने का जो भाव है वह है देह का लोभ। इससे भी इस जीव को कुछ लाभ नहीं मिलता, लेकिन इतना व्यामोह है इस जीव को कि जिससे इसकी बरबादी हो रही है। तो जहां सर्व प्रकार के लोभों का त्याग हो वहां उत्तम शौच धर्म प्रकट होता है। यश कीर्ति चाहना यह भी लोभ है, उसका भी लोभ न करें और यह दृष्टि रखे कि इतनी बड़ी दुनिया ३४३ धनराजू प्रमाण लोक में यह कितना सा क्षेत्र है जिस क्षेत्र में हम यश की चाह करते हैं? न कुछ चीज और जितने से क्षेत्र में यश मिला वह न कुछ सा क्षेत्र है। यह लोक दो चार हजार पुरुष जिसमें यश चाहते हैं, ये अनन्त जीवों के समक्ष कितने से जीव हैं, जिनसे हम यश चाहकर अज्ञान बढ़ाकर जन्म-मरण बढ़ा रहे हैं। अनादि अनन्त काल के सामने यह १००–५० वर्ष का जीवन क्या गिनती रखता है? इतने से जीवन में न कुछ जैसे यश की चाह करना यह अज्ञान

है और इसमें कलयाण नहीं है, तो समस्त परका, परभावों का त्याग करना यह उत्तम शौच है।

उत्तम सत्यपरिणत अपने आपकी आपको शरणरूपता—जब क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषायें दूर हो जाती हैं, शान्त हो जाती हैं तो आत्मा में सच्चाई प्रकट होती है, अन्तरङ्ग जैसा है तैसा सत्य प्रकट होता है। ऐसा पुरुष जो कषायों के आवेश में नहीं घिरा है वही सत्य वचन बोल सकता है। क्रोध से घिरा पुरुष अनेक बार असत्य बोल सकता है। कोई समझदार भी हो और वह क्रोध में बोलेगा तो वह कोई न कोई असत्य तक भी बोल सकता है। अंहकारी पुरुष तो अनेक बार असत्य ही बोलता है और असत्य पर ही उसका अहंकार टिका हुआ है। मायाचार करने वाला पुरुष सत्यवादी तो हो ही नहीं सकता। कोई छली कपटी जो दूसरों के मारने का फंसाने का षड्यन्त्र रच रहा हो वह क्या सही बता सकता है? बल्कि वह तो ऐसा झूठ बोलेगा कि लोगों को सच मालूम हो, लोगों को विश्वास उत्पन्न हो। लोभ में जो ग्रस्त पुरुष हैं वे सत्य बोलने में असमर्थ हैं। तो जहां चारों कषायें शान्त हो जाती है वहां सत्यवादिता प्रकट होती है और आत्मा सत्य बन जाता हैं। तो जब उत्तम सत्य धर्म प्रकट हुआ तो वह आत्मा अपने आपको शरण है।

उत्तम संयम व तपरूप भावों से परिणत अपने आपकी आपको शरण—जो जीव कषायें शान्त कर लेते हैं, जिनमें सच्चाई प्रकट होती है वे इन्द्रिय संयम और प्राण संयम दोनों का पालन कर पाते है। अपने इन्द्रियों को वश में करना। स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्श चाहती है, इस स्पर्शन इन्द्रिय से ही कामसेवन जैसा पाप होता है। उन सब बातों को वश में करना, विषय निरोध करना, यह बात उन्हें ही प्राप्त होती हैं जिन्होंने अपने आपको सबसे निराला जाना और इन बाह्य बातों में अपना अकल्याण समझा, ऐसे ही पुरुष इन सब अवगुणों से हटकर इन्द्रिय संयम में आते हैं। ऐसे ही रसना, घ्राण, चक्षु, तथा कर्ण आदि के विषय हैं। इन्हें भी वश में कौन करता है? जो ज्ञानी है। जिन्हें आत्महित की विशिष्ट इच्छा जगी है वही इन इन्द्रियों को वश में कर सकते हैं। मन का विषय तो असीम है, अनियत है। अभी कुछ चाहा जा रहा, फिर मन किसी बात पर होगा और जिसमें सन्तोष पाने की कोई सीमा ही नहीं है, यश फैलाना चाहा तो अभी तो गांव भर में अपना यश फैलाने की सोचते। इतने पर भी संतोष नहीं होता तो जिले में यश फैलाने की सोचते। इतने पर भी संतोष नहीं होता तो देश में, विदेश में, दुनिया में यश फैलाने की सोचते। पर दुनिया में सर्वत्र यश फैल जाये यह बात असम्भव है। तो मन के विषय से इस जीवका हनन ही हो रहा है। इससे दूर रहने की पात्रता उन्हीं पुरुषों में आती है जो कषायों को दूर करें और अपने आपके स्वरूप का श्रद्धान करें। सम्यग्दर्शन सहित क्षमा, मार्दव, आर्जव सत्यधर्म जिससे प्रकट हो ऐसे ही पुरुष तो संयम की भली प्रकार साधना करते हैं और ऐसे ही पुरुष उत्तम तप का सही पालन कर पाते हैं। इच्छा निरोध को तप कहते हैं। इच्छाओं को दूर करना, इच्छायें आये तो उन्हें मारना जैसे अनेक गृहस्थ ऐसे भी पाये जाते हैं कि यदि उन्हें इच्छा हुई कि हमें खीर खाना है तो उसी समय वे खीर का त्याग कर देते हैं। क्यों ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई। तो इस प्रकार से इच्छाओं का दमन करना, यहएक तप है। तो ऐसा विशिष्ट तप भी ज्ञानी पुरुषों द्वारा साध्य है।

उत्तम त्याग परिणत आत्मा की स्वयं शरण्यता—आत्मा का शरण्य है उत्तम त्याग। ज्ञानमात्र अपने आपके स्वरूप के ग्रहण के सिवाय बाकी समस्त परभावों का त्याग कर देना उत्तम त्याग है। जो जिस लायक है, जो जितने में फंसा है, जिसका जितने में समागम है, जो जिस पद में है वह वहां उस समागम में त्याग बुद्धि रखना और त्याग करना, विकल्प हटाना यह उनका उत्तम त्याग हैं। त्याग बिना कोई शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता लोक में भी, परलोक में भी। जो लोग धन कमाते हैं और समय परखर्च करते हैं, चाहे उन्होंने किया

खुदगर्जी से अपने आपके मोह से लेकिन उतना त्याग तो करना ही पड़ा। तब वे लोक में सुखी बन सके और फिर जिनकी दृष्टि जगत के सब जीवों पर करूणामय रहती है, जिनके स्वरूप ज्ञान का प्रकाश हुआ है वे तो भली-भाँति त्याग निभाते हैं, पर के उपकार के लिए आया है, ऐसा जानकर उसे खर्च करते हैं और बड़े-बड़े साधु संत जन ज्ञानभावातिरिक्त समस्त परभावों का त्याग करते हैं। तो उत्तम त्याग भी ऐसे पुरुष निभा पाते हैं जिनके सम्यक्त्व हुआ है और जिनकी कषायें शान्त हो गई हैं।

उत्तम आकिञ्चन्य व ब्रह्मचर्य से परिणत आत्मा की शरण्यरूपता–उत्तम आकिञ्चन्य–यह तो एक अमृत तत्व है। जीव को अशान्ति से हटाकर शान्ति में ला सकने योग्य यह आकिञ्चन्य धर्म है मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं केवल ज्ञानानन्द स्वरूप मात्र हूं कुछ भी मेरा नहीं है, समस्त पर पदार्थों से भिन्न ज्ञानमात्र अपने आपको भाव करना यह उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है। यह कितना शान्ति प्रद भाव है? इस लोक में भी जब कोई विपत्ति से घिर जाता है, कोई संकट आ पड़ते हैं, इष्ट वियोग हो जाता है, धन हानि हो जाती है, या कोई भी अनिष्ट बात आ गयी तो उसे समझाने का तरीका क्या है? चाहे किन्ही शब्दों में कोई समझाये, उसमें आकिञ्य भाव की पुट अवश्य होगी। जैसे किसी को इष्ट वियोग हो गया तो लोग समझाते हैं–अरे भाई जगत में कोई किसी का नहीं है, अपने-अपने स्वरूप को देखो–सबसे निराले अपने आत्म स्वरूप को देखो। यों आकिञ्चन्य की बात जब अपने हृदय में रखता है तब वह वियोगी पुरुष शान्त हो जाता है और जो उत्कृष्ट रूप से इस आकिञ्चन्य धर्म को निभाये उसे मोक्ष मिलता है। **उत्तम ब्रह्मचर्य**–इसी के लिये समस्त धर्म पुरुषार्थ हैं और यह स्वयं धर्मरूप चरमफल है। ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा में मग्न हो जाना यही उत्तम ब्रह्मचर्य है। इस ब्रह्मचर्य धर्म के प्रसाद से यह जीव शान्त आनन्द मग्न रहता है। जिन प्रभु की हम उपासना पूजा करते हैं, जिनकी मूर्ति को भी हम आदर से पूजते हैं उस ही नाते ना कि जो परमात्मा हुए हैं उस स्वरूप की भक्ति के नाते। तो वे प्रभु हैं क्या? ब्रह्मचर्य की साक्षात् मूर्ति। अपने ज्ञानानन्द स्वरूप में निमग्न हैं। उनका उपभोग अब वहां से हटता नहीं। ऐसे परम पवित्र हैं वे प्रभु। उस ही उत्तम ब्रह्मचर्य के नाते हम परमात्मा की पूजा करते हैं। फल उन्हें पूर्ण मिल गया है।

अपने आपके हनन का साधन और हनन से बचाकर शरण्य बनने की उपाय की कर्त्तव्यता–यों जीव जब इन दस लक्षण धर्म से परिणत होता है तब तो वह अपने लिए खुद शरण हैं, किन्तु जब क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक तीव्र कषायों से आविष्ट हो जाता है, कषायों से घिर जाता है तो वह अपने आपको अपने आपके द्वारा मारता है। खुद ही खुद का हत्यारा बन गया है। कषायें करके ज्ञानानन्द स्वरूप इस आत्मा की हत्या की जा रही है। तो इसका हनन करने वाला, नाश करने वाला लोक में यही खुद है तो कषायों से घिर जाता है, बरबाद हो जाता है। कैसा श्रेष्ठ जन्म पाया, कैसा श्रेष्ठ धर्म पाया कि जगत के जीवों पर दृष्टि देकर निरखें तो असम्भव जैसा लगता है। इतना सुयोग पाया लेकिन इस सुयोग के अवसर में भी पशु पक्षियों की भाँति ही आहार निद्रा, भय, मैथुन, परिग्रह आदि में जुटे हुए हैं तो समझिये कि कितने बड़े ऊंचे मौके को नष्ट किया जा रहा है और अपने सहज परमात्म तत्व की हत्या की जा रही है? आत्मा का शरण्य आत्मा का निर्मल परिणाम है और आत्मा का हनन करने वाला आत्मा का कषाय भाव है। ऐसा जान करके इन कषायों से हटना और क्षमा आदिक निर्मल परिणामों में रहना, यही विवेकी पुरुषों का कर्त्तव्य है।

●●●

संसारानुप्रेक्षा

एक्कं चयदि सरीरं। अण्णं गिणहेदि णव-णवं जीवो।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हदि मुंचेदि बहु-वारं।।३२।।
एवं जं संसरणं णाणा–देहेसु होदि जीवस्स।
सो संसारो भण्णदि मिच्छ-कसाएहिं जुत्तस्स।।३३।।

मित्यात्व कषाय संयुक्त जीव का संसार में संसरण–यह संसारानुप्रेक्षा है, इसमें संसार के स्वरूप का कुछ चिन्तन किया गया है यह जीव एक शरीर को तो छोड़ता है और अन्य नये-नये शरीर को ग्रहण करता है। संसार में और हो ही क्या रहा है? हम आप पर विपदा है ही क्या? यही तो संसार है कि मरना और जीना इस जीव ने मरने और जीने के प्रवाह में इस बीच में कहीं थोड़े से समय को जो जीवन पाया बस वहीं पर्याय बुद्धि में अटक जाता है। आत्मा की बात तक नहीं सूझती। फल यह होता है कि संसार में जैसे कीड़ा-मकौड़ा पशु-पक्षी आदिक अनेक प्रकार के जीव दिखते हैं वैसी पर्यायों में इसे जन्म लेना पड़ता है आज हम आप मनुष्य पर्याय में हैं तो इन कीड़ा मकोड़ों की पर्याय में न जाना पड़े तब तो अपना कुछ बड़प्पन समझिये अन्यथा यहां के इन मोही मलिन स्वार्थी लोगों द्वारा मिलने वाले कल्पित बड़प्पन से कुछ भी लाभ न प्राप्त होगा। यह जीव एक शरीर को छोड़ता है और अन्य नये-नये शरीरों को ग्रहण करता है। इस तरहनाना शरीरों में इस जीव का परिभ्रमण चलता रहता है। इसी का नाम है संसार। तो ऐसा भ्रमण किसका होता है? जो जीव मिथ्यात्व कषायों में सहित हैं, जिनका अभिप्राय सही नहीं है, जो विषय कषायों से मलिन है।

संसार की दुःखरूपता और चेतन की विडम्बना–यह संसार प्रकट दुःखमय है। आत्मानुशासन में आचार्य ने एक जगह बताया है कि इस भव के ओर व छोर दो हैं, जन्म और मरण। जैसे कि एक बांस के पोर के ओर छोर दो हैं–एक तरफ का और दूसरी तरफ का। अब उस बांस के ओर छोर में लग जाय आग और उसके बीच में पड़ा हो कोई कीड़ा, तो उसके दुःख का क्या ठिकाना? इसी तरह प्रत्येक भव के ओर छोर में लगी है जन्म मरण की आग और उसके बीच में हम आप प्राणी पड़े हुए हैं। जो जीव विषय सुखों में सुख मान रहे, जो बाह्य वस्तुओं को निरखकर खुश हो रहे हैं, उन बाह्य वस्तुओं से अपना प्रभाव मान रहे। दुःखी तो हैं ये जीव बहुत लेकिन इसको वे नहीं समझते। वे तो जानते हैं कि जो मिला है इस भव में, जो हम बड़े हुए हैं सो हम ही हैं, पर अपनी सुध नहीं लेते, भविष्य की सुध नहीं लेते। यही है संसार। तो जब तक जीव के मिथ्यात्व और कषाय भाव लगे हैं तब तक इसको यही करना पड़ेगा। देखो यह खेद की बात है कि हम आप सबका स्वरूप है। प्रभु का जैसा। प्रभु भी एक चेतन द्रव्य हैं, वह भी चेतने का ही काम कर रहे हैं और निर्लेप होने के कारण वे शुद्ध चेतना बनाते रहते हैं। वहां है केवल शुद्ध जानन देखन, रंच भी विकल्प नहीं है, रंच भी ख्याल नहीं, किसी भी पर में उपयोग नहीं, विशुद्ध ज्ञान दर्शन, परम आनन्द रूप अवस्था है और चेतन ही हम हैं। हमारा स्वरूप प्रभु जैसा है कि शुद्ध चेतते रहें, पर यहां क्या गुजर रहा है, कैसे-कैसे भवों में जन्म मरण करना पड़ रहा है, यह सब अपने ही अपराध की बात है। मित्थात्व भाव लगा है, यह भी कुछ-कुछ जानते हैं या शब्दों में जानते हैं कि निकट ही वह दिन है जबकि शरीर को छोड़कर जाना ही पड़ेगा। कोई बचा है

क्या? बड़े बलवान बड़े पंडित, बड़े धनी, बड़े-बड़े रक्षा के उपाय करने वाले कोई इस जगत में बचा है क्या? जो यह शरीर छूटेगा, अकेले जाना होगा, इसका फिर क्या रह जाता है? यहाँ विकल्प मचा रहे हैं, बाह्य वस्तुओं को अपना रहे हैं, उस बाह्य के बीच लड़ाई झगड़े मचा रहे हैं, दूसरे को बैरी मान लेते हैं। रहेगा क्या इसका? सब व्यर्थ की बातें हैं ना, ऐसा समझे और कुछ अपने हित की ओर आयें तब तो इस मानव जीवन के पाने की सफलता है अन्यथा जैसी सबकी हालत है तैसी ही अपनी हालत समझिये।

मिथ्यात्व के अध्यवसाय में ही कष्ट की बीजरूपता—मिथ्यात्व भाव क्या है? जो मैं नहीं हूं उसे मानना कि मैं हूं। जो मेरा नहीं है उसे मानना कि मेरा है बस यही मिथ्यात्व है। धन वैभव मैं नहीं हूं, मेरा नहीं है, प्रकट भिन्न है, पर उसे अपना प्राण समझना और उसे समझना कि यह मेरा ही तो वैभव है, यही मिथ्यात्व है। यह देह मैं नहीं हूं। यह है खून, हाड़, मांस आदिक का घर, अचेतन, और यह मैं शुद्ध चेतन, ज्ञान दर्शन स्वरूप अमूर्त आत्मा हूं। जब मैंने माना कि यह शरीर ही मैं हूं तो जब कोई अपमान भरी बात कहता है तो वह बात सहन नहीं होती। ये चार लोग जो मेरे प्रति इतनी अपमानजनक बातें सुन रहे हैं तो ये लोग मुझे क्या कहेंगे? इन्हीं विकल्पों के कारण इस जीव को बड़ा कष्ट सहन करना पड़ रहा है। धर्मपालन के मार्ग में अभ्यास करना है भेद विज्ञान का। प्रभु पूजा के प्रसंग में यही तो निरखना है कि हे प्रभो! आपने भेद विज्ञान किया और समस्त पर भावों से हटकर अपने ज्ञानस्वभाव में लगें, उसका फल यह है कि आपका आत्मा परम पवित्र शुद्ध हो गया है। यही बात मेरे को करने की है, मेरा भी स्वरूप ऐसा ही है। तो प्रभु के चरित्र को देखकर उस पथ पर चलने की प्रेरणा हमें लेनी चाहिए प्रभु पूजा में। देखो यह देह मैं नहीं हूं, लेकिन यह जीव मानता है कि यह देह ही मैं हूं, बस इसी भूल के कारण इस जीव को अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं देखो भैया! भूख, प्यास, ठंड, गर्मी, आदिक के दुःखों को तो थोड़ा कह सकते हैं कि इनसे बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है, पर होने पर भी देह पर इनका प्रभाव है, इस लिए न बरदाश्त काबिल है अभी, लेकिन कोई गाली देता है, कोई अपमान भरे शब्द बोलता है तो उसका क्यों बुरा माना जाता है? मिथ्यात्व महाविष का पान किया है ना, तब जो भी विडम्बना हो वह सब आश्चर्य नहीं है।

भेद विज्ञानामृत पान के बिना मिथ्यात्व विष की अपरिहार्यता—ऐसा भेद विज्ञान सुदृढ़ करें कि अपने आप का यह दृढ़ निर्णय बने कि यह शरीर मैं नहीं हूं, मैं एक शुद्ध चेतन आत्मा हूं। अभ्यास धर्म के लिए और करना क्या है? यही। तो देखिये—यह देह मैं नहीं हूं, पर मिथ्या दृष्टि मानता है कि यह देह हो मैं हूं, इस ही कारण इस पर सारे संकट छाये हैं, शारीरिक, मानसिक, वाचनिक आदिक सभी विषय इस पर मंडरा जाता हैं और अन्दर चलिये—ये विषय कषायों के परिणाम मैं नहीं हूं, यह कैसे समझा जाये? तो देखिये—दर्पण में मेरे हाथ या मुख की छाया पड़ गई तो छाया पड़ने पर भी वह छाया दर्पण की नही है। छाया दर्पण की होती तो दर्पण के साथ ही सदा रहती। हाथ सामने हो तो, न सामने हो तो सदा छाया रहनी चाहिए थी और दर्पण के सामने हाथ करके झट हाथ हटाकर, झट हाथ सामने करके, अनेक बार हाथ को हटा-हटा कर आप देखते जायें और निर्णय करते जायें कि छाया दर्पण की नहीं है, ऐसी ही अपने आपके स्वरूप की बात है। ये कर्म उदय में आते हैं उनका निमित्त पाकर ये राग द्वेष विषय कषाय के परिणाम होते हैं। उदय हो तो हो नहीं तो नहीं, जैसा उदय तैसा परिणाम। तो इस बात के समझने से यह विदित होता है कि ये विषय कषाय विकल्प तरंग मेरे स्वरूप नहीं हैं। यदि ये मेरे स्वरूप होते, तो कर्मोदय हो तो, न हो तो, ये तरंग सदा रहने चाहिये थे

और फिर क्या रहे, क्या न रहे, इसकी व्यवस्था भी नहीं बन सकती। इस कारण यह निर्णय है कि ये कषाय भाव भी मैं नहीं हूं। तब मैं क्या हूं? एक शुद्ध ज्ञान स्वरूप। उसकी जिन्हें प्रतीति नहीं है ऐसे मिथ्यात्वग्रस्त जीवों को पर्याय बुद्धि होने के कारण इस संसार में जन्म मरण के दुःख उठाने पड़ते हैं।

मिथ्यात्व और कषायभाव में दुःखों का संयोजन—मिथ्यात्व है महापाप। जहां अपने आप की सुध ही नहीं है, उसका तो सारा बिगड़ गया, उसे तो कुछ प्राप्त नहीं हुआ। महापाप है मिथ्यात्व। उसके बाद अब कषाय की बात सुनो—क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय क्या हैं? जीव गुणों को फूक देने के लिए आग हैं। कषाय के कारण ही तो इस सहज परमात्म तत्त्व भगवान आत्मा की यह गति हो रही है। जन्मते हैं, मरते हैं, घोर दुःख सहते हैं। जो भी समागम जहाँ प्राप्त होते हैं उनसे कुछ लेन-देन नहीं, कोई वास्ता नहीं, लेकिन ऐसी बुद्धि बन जाती है कि ये सब मेरे ही तो हैं। ये ही मेरे बाधक और साधक हैं। ये सारे विषय कषाय हैं, इनके फल में संसार में जन्म मरण के घोर दुःख सहन करने पड़ते हैं। तो मिथ्यात्व कषायों से युक्त जीव का नाना देहों में संसरण होता रहता है, सो समझिये कि यह संसार कितना दुःखमय है? यहां चार गतियां हैं—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। सो इन गतियों में सिवाय क्लेशों के और कुछ नहीं नजर आता। क्या करना है? किस बात में सन्तुष्ट होना है? यहाँ के किस लाभ अलाभ में प्रसन्न रहना है? कोई भी समागम हमारे हित का हेतु नहीं है। अपने आपको पहिचाने बिना, अपने आपमें रमण किए बिना आत्मा को शान्ति कभी नहीं हो सकती। एक ही निर्णय है। इससे संसार के संकटों से छुटकारा चाहने वाले पुरुषों को साहस करके एक बार अन्तः यह शुद्ध ज्ञान बनाना ही होगा कि मेरा तो बस यही ज्ञानानन्द स्वभाव मात्र मैं हूं। जो ऐसा नहीं समझते हैं उनको चारों गतियों में जन्म मरण करना पड़ता है। उन चारों गतियों में व्यक्त घोर दुःखमयी नरक गति में महान क्लेश हैं इस बात का यहां वर्णन करते हैं।

पाव-उदयेण णरए जायदि जीवो सहेदि बहुदुक्खं।
पंचपयारं विविहं अणोवमं अण्ण-दुक्खेहिं।।३४।।

पापोदय से नरक गति में देही का जन्म—पाप कर्म के उदय से यह जीव नरकों में जन्म लेता है और वहाँ ५ प्रकार के अनेक दुःखों को सहता है, जो दुःख बड़े कठिन हैं और जिनकी अन्य गति के दुःखों से उपमा नहीं दी जा सकती। नरक गति के समान दुःख अन्य गति में नहीं बताये जा सकते। पहिले तो यही देखिये—जो नरकगति में जन्म लेंगे वे प्राणी मरण समय में अति विह्वल दुःखी होते हुए जन्म लेंगे, सो उनके जन्म होने के स्थान भी कैसे खराब हैं सो देखिये—नरकों में रहने का स्थान पोलरूप है। ये सारी बातें जहां प्रकृति से ही दुःखमय हैं, वहां के दुःखों का कौन वर्णन कर सकता है? जहाँ नारकी रहते हैं वे पोल की तरह हैं, यहां पर तो छोटे-छोटे पोल होते, पर नरकों में अनगिनते कोशों के लम्बे-चौड़े पोल होते है। जैसे किसी एक फिट लम्बे एक फिट चौड़े और एक फिट मोटे काठ में भीतर ही भीतर छोटे बड़े अनेक सूराख होते हैं, जिनका मुंह किसी ओर भी न हो। बाहर से देखने वाले लोग यह कह ही नहीं सकते कि इसके अन्दर पोल है या छेद हैं, ऐसे काठ के टुकड़े में जैसे भीतर-ही-भीतर छेद हैं इस माफिक एक पृथ्वी में भीतर-ही भीतर अनेक जगह ऐसे बड़े-बड़े पोल हैं वे पृथ्वियां एक र जू लम्बी चौड़ी हैं और मोटी भी काफी है। इतनी बड़ी पृथ्वी में बीच-बीच अनगिनतें कोशों में अनेक पोल हों तो इसमें आश्चर्य नहीं। वहां नारकियों का निवास है और वे नारकी उत्पन्न होते हैं किस तरह कि उन पोलों के ऊपरी भाग में जहाँ पृथ्वी है वहाँ पर खोटे-खोटे आकार के

उपपाद जन्म स्थान बने हैं, तिकोने, चौकोने, गोल, ऊंट के आकार नाना तरह के बिड़रूप स्थान बने हैं, वहाँ नारकी जीव का जन्म होता है। नारकी वहाँ से नीचे औंधा मुंह किये हुए गिरता है और जमीन पर सैकड़ों बार उछलता रहता है। जब कभी वह जमीन पर टिक पाता कि टिकते ही चारों ओर से अनेक नारकी जीव उस पर धावा बोलते हैं, फिर वहाँ किस प्रकार के दुःख होते हैं, उसका वर्णन इस प्रसंग में चल रहा है।

नरकगति में जन्म लेने के बीजभूत् पापों का वर्णन–वहाँ कैसे जीव जन्म लेते हैं कि जो हिंसा करते हैं। हिरण, मुर्गे, सूकर मनुष्य आदिक किन्हीं भी जीवों की हिंसा करते हैं, अन्याय करते हैं, झूठ बोलते हैं, दूसरों का धन चुराते हैं, पर नारी को बुरी निगाह से देखते हैं, उससे राग करने का भाव रखते हैं, जो परिग्रह के बड़े लोभी हैं, जो परिग्रह को खूब दबाकर रखते हैं, उसे स्वपर के उपयोग में लगाने का साहस नहीं रखते, जो बहुत क्रोधी हों, बड़ा घमंड करने वाले हों, छली कपटी दम्भी हों, लालची हों, मर्मभेदी कठोर वचन बोलते हों, दूसरों की चुगली निन्दा आदि करते हों, साधुजनों की निन्दा करते हों, जिनकी बुद्धि खोटी है, जो जरा-जरा सी बातों पर शोक और दुःख करने की आदत बनाये हुए हैं, जो रात दिन धन का संचय करने की ही फिकर में लगे रहते हैं ऐसे पुरुष मर कर नरक गति में जन्म लेते है। अब सोचना चाहिए कि मरण तो अवश्य ही होगा, इसके बाद मेरी क्या गति बने, उस पर भी दृष्टिपात करना है भावना भाइये कि मैं देह से भी निराला केवल ज्ञानमात्र हूं। इस ज्ञानमात्र निज स्वरूप की भावना अपने आपका उद्धार कर देगी। यही इसका मात्र शरण है। अन्य परिश्रम इस जीव के शरण नहीं है। ऐसे पापी जीव मरकर जब नरक में जन्म लेते हैं तो उसे बहुत दुःख सहने पड़ते हैं, जिन दुःखों को ५ प्रकार की जातियों में विभक्त करके अभी कहेंगे।

असुरोदीरिय–दुक्खं सारीरं माणसं तहा विविहं।
खित्तुब्भवं च तिव्वं अण्णोण्ण-कयं च पंचविहं।।३५।।

नरकों में असरोदीरित दुःख–भवनवासी देवों में एक असुर कुमार जाति के भी देव होते हैं, वे बड़े कलह प्रिय होते हैं, उनको इसमें मजा आता है कि जो अधिक से अधिक लड़ाये जा सकने योग्य हों, उनको परस्पर भिड़ाकर लड़ाई करायी जाये और उसका मजा देखा जाये। जैसे यहाँ भी अनेक पुरुष ऐसे होते हैं जो यह देखना चाहते हैं कि ये दोनों कुत्ते लड़े और हम देखें कि ये दोनों किस तरह से एक दूसरे को काट मार कर पछाड़ते हैं। उनको देखने में मजा आता है। बहुत से मनुष्य ऐसे हैं कि जो मुर्गा-मुर्गी की लड़ाई कराते है और उस पर जुआं खेलते हैं। दूसरे जीव की चाहे जान चली जायें पर खुद को मौज मिलना चाहिए, ऐसी प्रकृति के बहुत से लोग होते हैं। सुना है कि लोग उन मुर्गा मुर्गी के पैरों में छोटी-छोटी छुरियां बांध कर उन्हें लड़ाते हैं और यह देखकर खुश होते हैं कि किस मुर्गे ने किस मुर्गे को खूब घायल करके लथपथ कर दिया। तो इसी तरह असुर जाति के देव भी नरकों में जाकर उन नारकियों को परस्पर में भिड़ाते हैं। किसी नारकी में थोड़ा क्रोध कम हुआ या थक कर थोड़ा विश्राम लेने लगा तो वह असुर कुमार जाति के देव उन नारकियों को पूर्वभव की अनेक बातें याद दिला-दिला कर उन्हें भिड़ा देते हैं। तो एक दुःख तो नरको में यह है कि असुर कुमार जाति के देव दुःख उत्पन्न कराने जाते हैं। उनके द्वारा उदीरित दुःख नारकी भोगते हैं।

नरकों में अन्य चार प्रकार के दुःख–दूसरा दुःख है शारीरिक। उनका शरीर महा दुर्गन्धित है, जिसमें भूख प्यास सदा रहती है, उनकी यह भूख-प्यास कभी शान्त नहीं हो पाती, क्योंकि थोड़ा उपशम करने का भी साधन वहाँ नहीं है। यहाँ लोक में पाया जाने वाला समस्त अनाज भी खा लें तो भी उनकी भूख नहीं मिट

सकती, किन्तु मिलता एक दाना भी नहीं। शरीर के यों अनेक प्रकार के दुःख हैं, जो कि संक्षेप रूप से सब आगे बताये जायेंगे। नरकों में तीसरा दुःख है मानसिक दुःख। मन निरन्तर चिन्तित रहता है, दूसरों को नष्ट करने के लिए, क्रोध में जला भुना रहता है। चौथा दुःख है क्षेत्र से उत्पन्न होने वाला। जहाँ का क्षेत्र ही दुःखमय है, वहाँ की मिट्टी का कण यहाँ कदाचित् आ जाय यह कल्पना करो तो उस कण में इतनी दुर्गन्ध है कि उस दुर्गन्ध में मारे कोशों के जीव मर जायें। और वहाँ ऐसी सारी पृथ्वी ही हैं। यहाँ यदि भींत में या जमीन पर फर्श पर बिजली का जरा करेन्ट आ जाए तो उस भींत को छूने से झनझनाहट होती है, कष्ट होता है, और वह इस प्रकार का वेदन है जैसे कि बिच्छू ने काटा हो तो देखो जब यहां करेन्ट वाली जमीन को छूने से उसकी वेदना होती हैं। बिजली की सामान्य करेन्ट लग जाने का यों अनुभव होता है तब सोचिये नरकों में तो ऐसी ही सारी जमीन हैं कि वहाँ के छूने से इतना दुःख होता है कि जितना हजार बिच्छुओं के काटने से भी नहीं होता। वह क्षेत्र से उत्पन्न हुआ दुःख भी तीव्र है। ५वां दुःख है—वे नारकी जीव परस्पर में लड़ते हैं, प्रहार करते हैं, उसका महान दुःख है।

असुरोदीरित दुःख के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य—इन ५ प्रकार के दुःखों में से पहिले दुःख की बात सुनो, ये असुर कुमार जाति के देवों का दुःख तीसरे नरक तक है। ये तीसरे नरक तक जा सकते हैं। वहाँ जाकर नारकियों को कष्ट देते हैं। लड़ने भिड़ने के लिए उकसाते हैं। तो समझिये कि प्रथम तो वे नारकी खुद ऐसे प्रचण्ड हैं कि स्वयं ही लड़ना भिड़ना पसन्द करते हैं, द्वेष से भरे होते हैं और फिर उन्हें उकसाने वाले मिल जायें तो उनका क्रोध और अधिक उमड़ता है। जिससे वे और भी अधिक दुःखी हो जाते हैं। नरकों में नारकी जीव को ही दुःख है। वहां ये देव पहुंचते हैं, उनको यदि वहाँ की जमीन छूने से दुःख होता तो जाते ही क्यों? सबकी जुंदी-जुदी बात है। मनुष्य बिजली का तार छुवें तो मर जाते हैं लेकिन रबड़ पहिनकर या काठ से सम्बन्ध होने पर वे ही पुरुष नहीं मरते। तो यहाँ भी जैसे विशेषतायें देखी जातीं ऐसे ही उन असुर कुमार के देवों के वैक्रियक शरीर की ऐसी ही बिशेषतायें हैं कि नरकों में नारकी जीव दुःखी होते, पर वे देव नहीं दुःखी होते। वे तो मजा लेने के लिए ही जाते हैं और वे लड़ाते हैं। कुछ देव जो ज्ञानी हैं वे किसी नारकी को समझाने के लिए भी जाते हैं। वे अच्छे देव हैं। लेकिन ये असुर कुमार जाति के देव समझाने के लिए नहीं किन्तु भिड़ाने के लिए जाते हैं। अब यहाँ यह न समझिये कि तीसरे नरक तक के नारकियों को दुःख ज्यादा है और नीचे नरक के नारकियों को कुछ दुःख कम हो गए, असुर कुमार जाति के देव तीसरे नरक के बाद नहीं जा पाते तो उन नारकियों को थोड़ा विश्राम मिल जाएगा, तो ऐसी बात नहीं है ज्यों-ज्यों नीचे नरक है उनमें क्षेत्र सम्बन्धी दुःख प्रकृति से बढ़ते रहते हैं। गर्मी तथा सर्दी नीचे के नरकों में अधिक होती है। तो यह क्षेत्र सम्बन्धी दुःख तो नीचे नीचे के नरकों में प्रकृत्या बढ़ते ही रहते हैं। इस तरह उन नरकों में प्रकृत्या महान् क्लेश हैं।

छिज्जइ तिलतिलमित्त भिंदिज्जइ तिल-तिंलतर सयलं।
वज्जग्गीए कठिज्जइ णिहप्पए पूय-कुंडम्हि।।३६।।

दुःख का वेदन कराने में उपयोगिनी अशुभ विक्रिया—लोक में जितने भी जीव हैं वे सब अपने करतब से अपने करतब का फल पाते हैं। कोई किसी का यहाँ साथी नहीं हो सकता। पुण्यादय है तो सांसारिक सुखों में कुछ दूसरों लोग निमित्त हो जायेंगे और यदि पाप का उदय है तो सब जगह दुःख के साधन

बन जायेंगे। अपना सुख-दुःख अपने ही भावों पर अवलम्बित है। जिसने हिंसा, झूठ चोरी, कुशील, परिग्रह का तीव्र खोटा परिणाम किया, पाप के कार्य किये उसके नरक आयु बंध जाती है और उसके उदय में फिर नरक में जन्म लेना पड़ता है। तो नरक में क्या-क्या दुःख है, उसकी बात चल रही है। नरको में ५ प्रकार के दुःख होते हैं—एक तो असुर कुमार जाति के देव तीसरे नरक तक जाकर उन नारकियों को परस्पर लड़ाते हैं। एक-दूसरे को ऐसी बात कहते हैं कि जिससे उनको क्रोध आ जाये और लड़ाई ठान लें। दूसरा दुःख उनका शारीरिक दुःख है। एक नारकी दूसरे नारकी को देखते ही क्रुद्ध होता है और जितना जो कुछ बनता है मारने का ही प्रयत्न करते हैं। उनका वैक्रियक शरीर होता है। जब सोचा कि इसको तलवार से मारें तो उनके हाथ खुद ही तलवार बन जाते हैं, अगर उन्होंने सोचा कि इसको काटें, खायें तो उनका शरीर ही बिच्छू, सर्प, सिंह, व्याघ्र आदि बन जाता है, पर उनकी विक्रिया खोटी विक्रिया है तथा अपृथक् विक्रिया है। वे अपने शरीर का कुछ बना लें मगर दूसरा शरीर अलग नहीं बना सकते। उनका खुद का ही शरीर जो चाहे तलवार, बर्छी आदि हथियार बना लें, ऐसी उनके शरीर की विक्रिया है। वे एक दूसरे के शरीर के तिल-तिल मात्र बराबर टुकड़े कर डालते, तिल-तिल करें देह के खण्ड, और फिर भी वे मरते नहीं हैं। मर जायें तो चलो नरक से तो निकले, लेकिन उनके शरीर के टुकड़े पारे की भाँति फिर मिलकर पूरे बन जाते हैं। फिर दुःख सहते हैं, वे एक दूसरे शरीर को भेद डालते हैं, विदीर्ण कर डालते हैं। जैसे कि सिंह अपने पन्जों से किसी के पेट को विदीर्ण कर दे तो उस तरह से वे नारकी एक दूसरे के देह को विदीर्ण कर देते हैं। वे किसी को कढ़ाई में पकाते हैं। अब उसका अंदाज समझिये तो मानो बहुत बड़ी कढ़ाई में जिसमें खूब तेल गर्म होता रहे, उसमें यदि किसी पुरुष को डाल दिया जाये तो यह कितने कठिन दुःख की बात है। ऐसे क्रूर परिणाम तो यहां मनुष्य भी कर डालते हैं। सुना है कि जब हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का बंटवारा हुआ तो पाकिस्तान में ऐस तेल के कड़ाहा गर्म करके उनमें हिन्दुओं के बच्चों को पटक दिया तो यह कितने कष्ट की बात है। ऐसे-ऐसे कष्ट तो नरकों में रोज-रोज ही नारकी जीवों को प्राप्त होते रहते हैं।

नरकों में दुःख के अन्य साधन—नरकों में दुःसह कष्ट कौन से जीव पाते हैं। जिन्होंने किसी का वध किया, झूठ बोला, दूसरे का धन चुराया, पर स्त्री अथवा पर पुरुष को बुरी दृष्टि से देखा, जिन्होंने तृष्णा किया आदि, ऐसे जीव नरकों में जन्म लेते हैं। उनको नरकों में क्या-क्या कष्ट हैं सो थोड़ा यहां बताया जा रहा है पर उन कष्टों को शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। उन दुःखों को तो वे ही जानें जिन पर दुःख बीतते हैं। वहां के शाल्मली वृक्ष कठोर पत्ते वाले होते हैं, जैसे यहां पेड़ होते हैं तो उनके पत्ते नरम होते हैं लेकिन वहां के वृक्षों के पत्ते तलवार की तरह पैनी धार के होते हैं। वे कड़े भी होते हैं। छाया के लोभ से कोई नारकी उन पेड़ों के नीचे जाकर बैठता तो उन पेड़ों के पत्ते उस नारकी पर गिरते तो उसका शरीर भिद जाता है। वहां एक नारकी दूसरे नारकी को जलती हुई अग्नि में झौंक देता है। कोई नारकी किसी नारकी का मित्र नहीं हैं। जैसे यहां कोई एक कुत्ता दूसरे कुत्ते को देखकर उस पर आक्रमण कर देता, उसे दूसरे कुत्ते का देखना नहीं सुहाता ऐसे ही एक नारकी दूसरे नारकी को देख राजी नहीं होता, वे झट एक दूसरे को मारने के लिए कटिबद्ध होते हैं। यहां बड़े दुर्गन्धित राध रूधिर मल जैसे कुण्ड रहते हैं उन कुण्डो में उनको फैंक दिया जाता हैं। उन नारकियों को कहीं कोई सहारा नहीं। कभी वे भागें भी तो किसी के डर से तो भागने में आगे जो नारकी मिला उसी से पिटा। किसी तरह बड़े श्रम से कहीं बैतरणी नदी बहती हुई मिली, तो शीतल जल के स्पर्श की आशा

से उस जल में प्रवेश करते ही उसकी महा दुर्गन्ध से तथा तीक्ष्ण धार विष जैसे उसके पान से या उसके स्पर्श मात्र से उनका शरीर छार-छार हो जाता है। इतने कठिन दुःख नरकों में ये नारकी जीव पाप के उदय से सहते रहते हैं।

इच्चेव माई दुक्खं जं णरए सहदि एय–समयम्हि।
तं सयलं वण्णेदुं ण सक्कदे सहस–जीहोवि।।३७।।

नरक गति के दुःखों का वर्णन करने की सहस्त्रजिह्व में भी अक्षमता–इस प्रकार के अनेक तरह के दुःख जीव एक समय में नरक में सहता है, उन समस्त दुःखों का वर्णन करने के लिए हजारों जिह्वायें भी समर्थ नहीं हैं। उस नरक में छेदन-भेदन आदिक जो दुःख एक समय में ही सहा जाता है जब उसका वर्णन हजारों जिह्वाओं द्वारा भी नहीं किया जा सकता तो फिर सारे जीवन भर के दुःखों की तो कथा ही क्या है? पाप का तीव्रतम फल उन नरकों में होता है। नरक और निगोद–ये बड़ी कठिन दुर्गतियां बतायी गई हैं। निगोद में भी बहुत ही कठिन क्लेश हैं। एक समय में १८ बार जन्म-मरण होता है, उन्हें जन्म मरण के क्लेश से ही फुरसत नहीं मिलती। उन निगोदिया जीवों के क्लेश और तरह के, नारकी जीवों के क्लेश और तरह के है। मार-पीट छेदन भेदन, आग में जला देना, खूब तप्त कड़ाहें में झौंक देना, शूली पर चढ़ा देना, जैसा चाहे अस्त्र-शस्त्र मार देना, वहां किसी भी प्रकार की दया नहीं है, ऐसे नाना प्रकार के दुःख जो नरकों में एक समय में हो रहे हैं उनका ही कोई वर्णन नहीं कर सकता। तो फिर सारे जीवन भर के दुःखों की तो फिर कहानी ही कौन कहे? और इस पर भी उन नारकियों की उम्र कितनी? दस हजार वर्ष की उम्र से कम का कोई नारकी नहीं होता। फिर अधिक अनगिनते वर्षों की, (३३ सागर तक की) आयु होती है। इतने वर्षों पर्यन्त उन नारकियों को अपनी भूल का दुःख भोगना पड़ता है।

पर्यायानुसारिणी बुद्धि रखने में दुर्लभ मानव जीवन का यापन–अब यहां मनुष्य जन्म पाया, जैन धर्म का शरण पाया, श्रावक कुल पाया, जगत के और जीवों पर निगाह डालकर देखो तो हम आपने आज कितना श्रेष्ठ भव पाया? कीड़े-मकौड़ों का, पशु पक्षियों का भी जीवन क्या जीवन है? एक मनुष्य जीवन ही ऐसा है कि जिसमें अपने मन की बात दूसरों से कह सकते, दूसरों के मन की बात खुद समझ सकते। बड़े-बड़े ग्रन्थ जो आचार्यों ने बनाये हैं, जिनकी बहुत ऊंची तपस्या थी, बड़े-बड़े साम्राज्य धन वैभव को छोड़कर जो ऋषि बने उन्होंने अपने जीवन के अनुभव जिन ग्रन्थों में लिखे उन ग्रन्थों के पढ़ने का हम उत्साह नहीं बनाते, समय नहीं निकालते, आत्महित की लगन नहीं होती और जो इस पर्याय की बात है उसी में ही मस्त रहा करते हैं, खाने-पीने शृंगार आदिक करने में ही अपने जीवन के अमूल्य क्षण खोते। कहां तो इतना अपवित्र यह देह, हाड़, मांस, मज्जा, खून, पीप, मल, मूत्र आदिक अपवित्रताओं का घर, फिर भी इस शरीर को अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों से सजाना, उसे देख-देख कर खुश होते, यह कोई भली बात नहीं है। आज कल के जमाने में तो बहुत-सी महिलायें क्रीम पाउडर, स्नो, लिपिस्टिक आदि लगाकर शहर की गलियों में नंगे सिर घूमने निकलती हैं, अपने शरीर को देख-देखकर खुश होती हैं, न जानें उनका क्या हाल होगा? वे इसीलिए तो अनेक प्रकार के शृंगार करती हैं कि दूसरे लोगों की निगाह में हम अच्छी जंचें, तो उनका यह ख्याल कितना खोटा है? उन्हें अपने आत्महित करने का ख्याल कहां हो सकता है? इस मानव जीवन को पाकर तो संसार के संकटों से सदा के लिए छूटने का उपाय बनाया जा सकता है। अगर ऐसे मानव जीवन को पाकर विषय भोगों में, शान में,

पर्याय बुद्धि में लग गए तो समझिये कि हम अपने जीवन को बिल्कुल व्यर्थ ही खो रहे हैं। अपना कर्त्तव्य तो यह है कि इस बात को सोंचे कि हमारा आत्महित कैसे हो, हम यथार्थ यथार्थ वस्तु का स्वरूप समझें और अपने जीवन को सफल करें। इन व्यर्थ की विनाशीक बातों में अपना उपयोग लगाने से हाथ कुछ नहीं आता। **ऐसे दुर्लभ मनुष्य भव का समागम भी व्यर्थ है जिसमें आत्महित करने की चर्चा की बात मन में नहीं आये।**

संसार संकटों से छटने के लिये अपने कर्त्तव्य का विचार–मुझे तो संसार के संकटों से छूटना है, एक अपने आत्म स्वरूप की सुध हो, उसको दृष्टि में ले, उसको निरखकर तृप्त रहा करें तो भव भव के संचित कर्म भी खिरेंगे और नवीन कर्म न बंधेंगे, और कुछ ही समय बाद पूर्ण कर्मबन्ध मिट जायेंगे और संसार के संकटों से छुटकारा प्राप्त हो जायेगा। अपने आपके बारे में यह सोचिये कि मेरा स्वरूप तो वैसा है जैसा भगवान का। भगवान भी चेतन है। हम भी चेतन हैं, अन्तर यह हो गया कि भगवान तो वीतराग हो गए, निर्दोष हो गए, केवल हो गए, उनके समस्त झगड़े छूट गए और यहां हमारे अभी सारे झगड़े लगे हैं, कर्म साथ हैं, शरीर साथ है। विषय कषायों में हम चैन मानते हैं। मूल से स्वरूप तो वैसा ही है जैसा कि प्रभु का। बार-बार यह चिन्तन करें और ध्यान में लायें कि मेरा कहीं कुछ नहीं है, यह शरीर भी किसी दिन जला दिया जायेगा। लोग इस शरीर को भी मरण होने के बाद अपने घर में नहीं रखने देते, उन्हें शीघ्र ही उस मुर्दे को घर से बाहर निकालने की पड़ती है। तो शरीर तो वही है जो पहले था, जिससे लोगों का बड़ा अनुराग था, अब क्यों उस **शरीर से वे घर के लोग प्रीति नहीं करते? अरे कोई उस शरीर से प्रीति नहीं करता था, न कोई उस शरीर में** रहने वाले आत्मा से ही प्रीति करता था। कोई ऐसा नहीं सोचता कि इस आत्मा का कल्याण हो, यह सुखी हो। सभी लोग अपने अपने स्वार्थ में निरत हैं, जिसको जिस तरह से सुख मिल सकता है वह वैसी चेष्टा करता हैं। विरोध करे तो अपने सुख के लिए, किसी को राजी करे तो अपने सुख के लिए, जो सुख समझ रखा है कल्पना में उसकी प्राप्ति के लिए यह जीव चेष्टा करता है। कोई किसी का प्रेमी नहीं है। संसार का ऐसा स्वरूप जानकर कर्त्तव्य यह है कि इन सबसे चित्त हटायें और ज्ञानस्वरूप अपने आत्मा के ध्यान में अधिकाधिक योग लगायें, यह है करने का काम। समस्त परभावों से हटकर अपने परमात्मा स्वरूप में आना है। स्त्री, पुत्रादिक परिजनों से मोह बसाया जाता है वह तो एक बेकार की बातें है। कोई बड़ा प्यारा पुत्र हो, बड़ा सुहावना लगता हो. तो उससे किया जाने वाला मोह दुःख का ही कारण बनता है। ऐसा जानकर पर से हटें और अपने में दृष्टि लावें तो संसार के ये घोर दुःख न भोगने पड़ेंगे।

सव्वं पि होदि णरए खेत्त-सहावेण दुक्खंद असुह।
कुविदा वि सव्व-कालं अण्णोण्णं होंति णेरइया।।३८।।

नरकों में पाप का तीव्र विपाक–नरक में सभी वस्तुएं दुःख को देने वाली हैं और अशुभ होती हैं। नरक पाप का तीव्र फल पाने का स्थान हैं। नरक का प्रत्येक स्थान दुःख का कारण है। पृथ्वी है वह भी दुःख का कारण है, जिसके छूने से इतना क्लेश है कि जितना हजार बिच्छुओं के काटने में भी नहीं होता। जहां इतनी तीव्र ठंड व गर्मी है कि मेरू के बराबर लोह पिण्ड भी जम और पिघल जाये। वहां इतना प्रचण्ड क्रोध है कि एक नारकी दूसरे नारकी को सुहाता ही नहीं है। वहां द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये सभी खोटे हैं, किसी नारकी की किसी दूसरे नारकी से मित्रता नहीं है, वे नारकी सदा क्रुद्ध बने रहते हैं। जैसे यहां भी कुछ मनुष्य ऐसे पाये जाते हैं जिनके चेहरे पर सदा क्रोध की झलक दिखती रहती है। ऐसे मनुष्यों को देखकर लोग यह

भी कह देते हैं कि यहाँ नारकी जीवों की तरह है। तो वे नारकी जीव सदा क्रुद्ध ही रहते हैं और परस्पर में एक दूसरे का घात करते रहते हैं। शरीर में जितने रोग बताये गए हैं। उन सब रोगों की संख्या करीब साढ़े ५ करोड़ की है। नारकियों का शरीर है वैक्रियक, पर समस्त रोगों का घर है। यहां मनुष्यों को तो फोड़ा, फुंसी, खांसी, बुखार आदिक १०, २०, ५० रोगों के नाम मालूम हैं पर सारे रोग करीब साढ़े ५ करोड़ है। तो वे समस्त रोग.उन नारकी जीवों के उस वैक्रियक शरीर में बसे रहते है। कहने को है उनका वैक्रियक शरीर पर उस वैक्रियक शरीर से केवल ये उपयोग इतना ही उठा सकते है कि एक तो वे बीच में मरते नहीं। तिल-तिल बराबर देह के खण्ड हो जायें तो भी वे शरीर खण्ड फिर पारे की तरह मिल जाते हैं और एक बन जाते हैं। एक तो नारकियों के वैक्रियक शरीर में बसे रहते हैं कहने को उनका वैक्रियक शरीर यह उपयोग है और दूसरा यह उपयोग है कि जैसे किसी दूसरे नारकी को मारना है, तो उनके हाथ ही अनेक प्रकार के शस्त्र रूप बन जाते हैं। उनका भाला, बरछी, तलवार आदि शस्त्र कहीं बाहर से नहीं लाने पड़ते। उनका शरीर ही उस रूप परिणाम जाता हैं। जैसे यहां मनुष्यों में ही देखो–किसी को मारना हुआ तो हाथ ही मुष्ठिक बन जाता, हाथ ही गदा, चाकू आदि की तरह दूसरे मनुष्य पर प्रहार कर देता है। यह तो एक बिना विक्रिया वालों की बात है। एक हाथ बीसों तरह से प्रहार करता है। इन हाथों से बाहा उपकरण चाकू, बरछी, कांटा, गदा, कटोरी आदि बना लेते, पर नारकियों के ये सभी चीजें उनके हाथ की विक्रिया से बन जाते हैं। वे उनका ही शरीर दूसरे नारकियों को जलाने के लिए आग रूप बन जाता है। तो उन नारकियों का वह वैक्रियक शरीर इन दो उपयोगों में आता है तो देखो इन नारकियों का शरीर भी और उन नरकों की भूमि दुःख रूप है। जैसे यहां कोई पुरुष दरिद्र है, इस पर भी उसे इष्ट वियोग हो गया है, शरीर भी उसका नाना प्रकार के रोगों से घिरा है, आस-पास के लोग भी उससे घृणा करते हैं, सिपाही लोग, राजा लोग भी जिसको पूछते नहीं, वे भी उसको यहां वहां भगाते हैं, तो ऐसा पुरुष अपने को असहाय समझता है, हाय, मेरा कोई न हुआ। सभी लोग मुझ पर प्रहार करने के लिए उतारू हैं। इससे भी करोड़ों गुना दुःख उन नरकों में है। वे अपने आपको इतना असहाय समझते हैं कि जिससे निरन्तर दुःखी रहा करते हैं।

नारकीय क्लेशों से मुक्ति पाने के लिये उचित कर्त्तव्य का विचार–नरक सम्बन्धी घोर दुःख इस जीव को उठाने पड़ते हैं खोटे परिणाम के कारण। तब यहां यह उचित है कि हम अपना परिणाम संभाले। जरा-जरा सी बातों पर क्रोध मत लावें किसी कमजोर पुरुष पर, उसे मिटाने के लिए कमर न कसें। यदि कुछ बल पाया है तो दूसरों की रक्षा में उस बल का प्रयोग करें, दूसरे के विनाश में उस बल का प्रयोग न करें। अब यह कितनी खोटे भवितव्य की बात है कि जब कभी किसी पर क्रोध किया जाता है तो इतना तक सोच डालते हैं कि चाहे हमारे हजारों लाखों रुपये खर्च हो जायें, पर हम इसे कुछ मचा चखा ही दें। अब बतलाओं–दूसरे को उससे कुछ बिगाड़ हो सके, अथवा न भी हो सके, इसका कुछ पता नहीं, पर उसने स्वयं का परिणाम तो बिगाड़ ही लिया। तो अपना परिणाम खोटा बनाना यह कोई बुद्धिमानी नहीं है। अब तो भला कुछ ऐसा विचार करना चाहिए कि आजीविका का साधन बनाना जरूरी है, सो साधन भी बनायें, कुछ धन भी बचावें, यह तो ठीक है, वह धन तो अपने भी और दूसरों के भी काम आयेगा, पर क्रोध करना और अपना धन भी गंवाना, सरकारी लोगों की विनय भी करना, अनेक प्रकार के संकट सहना, यह तो कोई विवेक की बात नहीं है। तो अपने को समझना चाहिए कि जरा-जरा सी बातों पर कषाय न करें। घमंड का तो विकल्प ही न करे। क्या हूं

मैं? जो मैं हूं उसे कोई जानता नही। जो मैं नहीं हूं उसे मैं हूं, इस प्रकार की लोग कल्पना करते हैं। तो यहां घमंड करने लायक कोई बात ही नहीं हैं छल-कपट आदि करना ये भी सब बिल्कुल जीव का अनर्थ करने वाली बातें हैं। लोभ करना, शरीर का लोभ, शरीर का शृंगार करना आदि ये सब मिथ्यात्व के पोषण हैं। तो इन मिथ्या भावों को दूर करें और कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुवों के प्रति श्रद्धा न करके, सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरुवों के प्रति श्रद्धा रखें। अपने में सम्यक्त्व उत्पन्न करें, इस ही के प्रसाद से हमारे ज्ञान का प्रकाश होगा और हम संसार के घोर संकटों से छुटकारा पा सकेंगे। यह काम तो है ठीक और विषय कषायों में लगना, यह तो नरक गति में पटकने का कारण है। तो इन खोटे परिणामों से बचें और अच्छे कामों में लगें, इसमें ही हम आपका हित है।

अण्ण-भवे जो सुयणों सो विय णरए हणेइ अइ–कुविदो।
एवं तिव्व-विवागं बहु कालं विसहदे दुक्खं।।३९।।

स्वजनत्व के कोरे भ्रम का दिग्दर्शन–यह जीव निज में और पर में भेद विज्ञान न होने से शरीर को ही आत्मा मानने से शरीर के जो साधन हैं, शरीर के इन्द्रिय के जो विषय हैं उनकी पुष्टि में ही एकचित्त रहा। स्पर्शनादि इन्द्रियों से स्पर्श करना, खाना, पीना, सुगंध लेना, रूप देखना, रागिनी सुनना और अनिन्द्रिय प्रेरणा से यश कीर्ति चाहना, इन छहों प्रकार के विषयों में यह जीव अब तक आसक्त रहा और इस ही के फल में कुटुम्बियों में अधिक मोह किया। कुटुम्बियों में मोह में न्याय अन्याय कुछ नहीं गिना। अपने आपकी बड़ी बरबादी की ओर उस समय नरक आयु का बंध किया तो यह जीव नरक में गया। नरक में वे कुटुम्बीजन जिनके पीछे बहुत पाप किया, उनमें से कोई साथी नहीं हो रहा है, अब यह नारकी जीव अकेला ही उन पाप के फल को सह रहा है। और कदाचित् उन कुटुम्बियों में से भी कोई जीव उसी जगह नरक में नारकी बन जाय तो पहले भव में जो कुटुम्बी थे माता-पिता पुत्र, स्त्री आदिक, जो बड़े स्नेही जीव थे वे नरक में आने पर इसको अत्यन्त क्रोधी बनकर मारते हैं, घात करते हैं। अब बताओ क्या रहा उस कुटुम्ब सम्बन्ध? सुकौशल की मां जिसको सुकौशल से अधिक प्यार था, सुकौशल के पिता कीर्तिधर राजा विरक्त हो गए थे, तो सुकौशल की मां ने यह हुक्म दिया कि कोई निग्रन्थ मुनि हमारे नगर के आस-पास न आ सके। उसे डर था कि यदि मेरा बेटा सुकौशल किसी मुनि के दर्शन कर लेगा तो वह भी विरक्त हो जायेगा। तो अपने बेटे को विरक्त न होने देने के लिए घर में ही रखने के लिए इतना अन्याय किया। आखिर एक समय मुनिराज कीर्तिधर ही चर्या के अर्थ उसी राजमहल के निकट आये। रानी ने देखा तो पहरेदार से कहा कि इस घर खोऊ को, निर्लज्ज को, असगुन को यहां से बाहर निकाल दो। पहरेदार ने निकाल दिया। यह बात सुकौशल की धाय भी देख रही थी कि देखो अपने ही पति को यह राजमाता कैसे दुर्वचन कहकर निकाल रही है। उस दृश्य को देखकर धाय को आंसू आ गए। सुकौशल ने पूछा, मां ये आंसू क्यों आये? तो उसने बड़े खेद के साथ बताया कि तुम्हारे पिता जो आत्म साधना के लिए मुनि हुए, जिनको संसार में किसी चीज की अभिलाषा न रही, इतना बड़ा राजपाट छोड़ा और योगी बने, वही तुम्हारे सामने जो आये थे उनको तुम्हारी राजमाता ने दुर्वचन कहकर निकाल दिया। दर्शन तो सुकौशल ने कर ही लिया था, और जब यह समाचार जाना तो उसे संसार चरित्र से तुरन्त घृणा हो गयी। यहां कौन किसका साथी? सुकौशल विरक्त हो गए, आत्म ध्यान में रत हो रहे और यहां सुकौशल की मां इष्ट वियोग में पागल हो गयी। उसे कुछ न सूझा। आखिर दुर्ध्यान में मरी और मरकर सिंहनी हुई। जहां

सुकौशल तप कर रहे थे उस ही वन में वह सिंहनी हुई। जब सुकौशल को देखती हैं तो उसे उल्टा स्मरण होता है। इस दुष्ट के कारण दुर्ध्यान में मरी और सिंहनी बनी। सो उस सिंहनी ने सुकौशल के ऊपर हमला किया, जो कि पूर्वभव का बेटा था उसे पन्जों से नोच दांतों से चबाया। उस समय सुकौशल अपने ध्यान में रत रहे, सावधान रहे, वे मोक्ष गए, उनका निर्वाण हुआ, पर जगत का चरित्र बतला रहे हैं कि देखो यहां कौन किसका साथी है?

अपने को बाह्य से अशरण जानकर व्यामोह परिहार करने का अनुरोध—आज दुनिया के लोग भ्रम में आकर जगह-जगह डोल डोल कर धन संचय करने में जुटे हैं तो ठीक है वे जुटे रहें, पर जिन्हें अपना आत्म कल्याण करने की चाह है वे कुछ थोड़ा अपने आपकी ओर भी दृष्टि दें। धन जोड़-जोड़कर क्या कर लिया जायेगा? आत्मा को तो जन्म मरण के चक्र लगे हैं। यहां पर थोड़े से समागम पाकर विषयों में रत रहें, आत्महित का भाव न बनायें तो यह अपने आप पर कितना बड़ा भारी अन्याय है? तो अब तो कुछ मोह को ढीला करना चाहिए। अभी आपको कुटुम्ब छुड़ाने की बात नहीं कह रहे, अगर छोड़ा जा सके तब तो भला ही है, नहीं तो सम्यग्ज्ञान बनाओ और वस्तु का सही स्वरूप अपने चित्त में रखो। इस जीवन का यहां कोई साथी नहीं है। यहां कुटुम्ब में कोई किसी की सेवा करता है तो समझो कि उसे भी अपन गरज है अथवा जिनका पुण्योदय है उनका चाकर बना हुआ हैं। यहां किसी जीव का किसी अन्य जीव से कुछ रिश्ता नहीं है। जीव तो अमूर्त है, उसमें तो स्पर्शन का भी प्रसंग नहीं। यह जीव इस देह से भी निराला है, जब देह भी इस जीव का साथी नहीं है तो फिर कौन इसका साथी होगा? एकदम मोह में उन्मत्त होना अनर्थ है। जैन शासन का शरण पाया तो साहस करके उन ग्रन्थों उन ग्रन्थों का अवलोकन करें चिन्तन करें, मनन करें और उनमें बताये गए पथ के अनुसार चलकर अपना जीवन सफल करें। न जाने कितना कितना श्रम करके ऋषियों ने, आचार्यों ने, संतों ने अपने जीवन के अनुभव उन ग्रन्थों में लिखे। अब उनको देखने का, पढ़ने का हम आप लक्ष्य न बनायें, समय न निकालें तो यह कितने खेद की बात हैं। देखिये, पाप के फलों में यह जीव नरक गया और इसके ही पूर्वभव के परिजन मित्रजन इष्ट लोग भी नरक गए तो वहां एक दूसरे के मित्र न बनकर शत्रु बन जाते हैं और वे एक दूसरे का घात करने का ही यत्न करते हैं। ऐसे तीव्र पाप कर्मों का उदय है नरकों में, जिनको यह नारकी जीव सहता है।

अपने भविष्य का स्वयं पर उत्तरदायित्व—हम अपना भविष्य खुद बनाया करते हैं। हम दुःखी हों, सुखी हों, शान्त हों, अशान्त हों, हर प्रकार की स्थितियां हम ही खुद बनाया करते हैं, कोई दूसरा नहीं बनाता, प्रभु तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द से सम्पन्न हैं, वहां कोई विकल्प नहीं उठता। ऐसे परमपवित्र परमात्मा हम आप लोगों की ओर कोई दृष्टि नहीं बनाता कि हमकों पुण्य कराये, पाप कराये, स्वर्ग, नरक भेजे, जन्म, मरण कराये। वह तो अपने ज्ञाननन्द स्वरूप में लीन है, निर्दोष है, पूर्ण वीतराग है वहां। परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करके हम अपने स्वरूप का परिचय पाते हैं और निर्विकल्प होकर हम अपनी अनुभूति कर लेते हैं, बस यही है उपकार प्रभु स्मरण का। प्रभु हम आप को कुछ नहीं करते और यहां के लोग चाहे कोई कितने ही मित्र हों, कैसे ही साथी हों, वे भी इसका कुछ नहीं करते हैं। सबका उदय अपने साथ लगा है। घर में जिस बेटे के पाप का उदय है उस बेटे के मददगार उसके मां, बाप तक भी नहीं बन सकते और जिसके पुण्य का उदय है, उसके चाहे कोई विरूद्ध भी व्यवहार करे, वह भी उसके अनुकूल पड़ता है। श्रीकृष्ण महाराज के पुत्र थे प्रदनम्न, जो काल सम्वर के राजा के यहां पले थे। वहां प्रदनम्न को मारने के लिए

काल सम्वर के और बेटों ने बड़ा प्रयत्न किया लेकिन उनके मारने के प्रयत्न से ही प्रदनम्न को ऋद्धि मिली। तो यह सब अपने कमाये हुए पुण्य पाप का फल है। कोई जीव हम आपको सुख-दुःख दे सकता और न परमात्मा सुख-दुःख देता। हम जैसा भाव करते हैं वैसा ही कर्म उसी समय बंध जाता है। एक समय के मोह के परिणाम में ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक के लिए मोहनीय कर्म बंध जाता हैं सागर बहुत बड़ा होता है। अनगिनत वर्षों का तो एक सागर होता है और फिर ऐसे एक करोड़ सागर में एक करोड़ सागर का गुणा करने पर जो आये उसे एक कोड़ाकोड़ी कहते हैं। ऐसे ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक एक क्षण भी मोह करने में दुःख भोगना पड़ता है। तो जो चीज आज बड़ी सस्ती लग रही है—विषय भोगना, मोह करना, राग करना, कषाय करना आदि उसका फल भविष्य में बहुत महंगा होगा। इसके फल में ऐसे नारकीय दुःख भोगने पड़ेंगे। तो खोटे परिणाम के फल में जो नरक आयु का बंध किया उसके परिणाम में यह जीव नरक जाता है और तीव्र दुःखों को सहता है।

तत्तो णीसरिदूण जायदि तिरिएसुँ बहु वियप्पेसु।
तत्थ विपावदि दुःखं गब्भे वि य छेयणादीयं।। ४०।।

निर्यग्गति में गर्भ में ही हो जाने वाले छेदनादि दुःखों का वर्णन—यह जीव नरक गति से निकलता है तो तिर्यञ्च हुआ। तिर्यञ्च भी अनेक प्रकार के भेद हैं, वहां पर भी महान दुःख सहने पड़ते हैं। कितने ही तिर्यञ्चों का तो गर्भ में ही छेदन आदिक हो जाता है। आजकल जो बड़े कोमल चमड़े के सन्दूक, पेटी, झोला और जूते और आदि तैयार किये जाते हैं, वह कोमल चमड़ा किस प्रकार से तैयार किया जाता है उसकी बात यदि सुने तो जी कांप जता हैं। बताते हैं लोग और होगा भी ऐसा कि लोग गर्भिणी गाय को बहुत गर्म पानी के नल के नीचे खड़ा कर दिया तो गर्म पानी के पड़ते ही चमड़ी फूल जाती है और फिर उसे बेतों से पीटते हैं, और उस ही कठिन दुःख में वह गर्भिणी गाय बच्चे को गर्भ से बाहर निकाल देती है और उस बच्चे को तत्काल ही गर्म पानी के छींटें मारकर लोग उसका व गाय का यंत्र से चमड़ी निकाल लेते हैं। ऐसी चमड़ी से तैयार किए हुए जूते, थैला, पेटी आदि का लोग बड़े शौक से प्रयोग करते है। यह कितना अनर्थ है, कितना बड़ा पाप का कार्य है? ऐसे चमड़े के उपयोग में कितने ही पशुओं को घात करने का उत्साह दिया है चमड़ा पहिनने वालों ने। इसी कारण इस बात का तो विवेक करना चाहिए कि चमड़े की बनी वस्तुओं का इस्तेमाल न करें और बल्कि मरे हुए जानवरों के चमड़े का भी उपयोग न करें, क्योंकि आप लोग यदि मृत पशु के चमड़े का उपयोग न करेंगे तो वे सस्ते हो जायेंगे, जिससे लोग खुद मरे हुए जानवरों के चमड़े का ही प्रयोग कर लेंगे। बेचारे निरपराध पशुओं की हिंसा करने में कमी हो जायेगी। आप लोग रबड़ के अथवा कपड़े के बने हुए जूते, थैला, पेटी आदि का प्रयोग करें। चमड़े की बनी हुई। किसी भी चीज का उपयोग न करें। ऐसी-ऐसी बड़ी निर्दयता से गर्भ में ही उन पशुओं के बच्चों को मार डाला जाता है। तो ये है तिर्यंच गति के दुःख।

चतुर्गति भ्रमण तिर्यञ्च गति के दुःखों का वर्णन—संसारी जीवों की चार गतियां होती है। यह जीव अनादि काल से अब तक इन्हीं गतियों में भ्रमता फिरता चला आया है। तिर्यञ्च गति का बहुत बड़ा विस्तार हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रीय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ये तो तिर्यञ्च ही होते हैं, ये और नहीं होते। पञ्चेन्द्रिय ऐसे हैं कि चारों गतियों में होते हैं। पशु, पक्षी आदिक तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय हैं। नारकी मनुष्य और देव सभी पञ्चेन्द्रिय जीव होते हैं, तिर्यञ्च गति में सभी को अनेक दुःख हैं। एकेन्द्रिय जीव हैं, पेड़ खड़े हैं, फुलवारी खड़ी है। जिसने

चाहा फूल, फल, लकड़ियां आदि तोड़ लिया, कोई लोग तो धर्म के नाम पर भगवान पर चढ़ाने के लिये लोग फल, फूल तोड़ लेते हैं। तो वे एकेन्द्रिय जीव जो मुस्कुरा रहे थे, खूब हरे भरे बने हुए थे उनको लोग जब चाहे तोड़ लेते हैं, ये सब दुःख उन एकेन्द्रिय जीवों को सहने पड़ते हैं। पर क्या एकेन्द्रिय जीवों की क्या, यह तो हम आपकी कथा है। हम आप लोग भी कभी एकेन्द्रिय जीव थे। आज बहुत सा रास्ता पार करके मनुष्य बने हैं। यह मानव जीवन पाना अति दुर्लभ है यहां जो विभिन्न प्रकार के जीव दिखते हैं वैसी ही दशा कभी हम आपकी भी थी और अगर अब भी न चेते तो ऐसी ही दशा हम आपकी रहेगी। एकेन्द्रिय जीवों में सबसे निकृष्ट जीव निगोदिया है, जो कि एक श्वास में १८ बार जन्म मरण करते हैं, ऐसे निगोदिया जीव आधार में भी रहते और निराधार भी रहते। जैसे आलू, मूली आदिक अनन्तकाय के पत्ते, फल, फूल वगैरहा में रहते हैं। तो समझिये कि सूई की नोक में जितना कण आ जाए उतने से कण में अनन्त निगोदिया जीव बसे हैं, आलू, मूली आदिक खाने से ऐसे निगोदिया जीवों की हिंसा होती है। इन आलू, मूली आदिक के खाने में जो पाप लगते हैं उससे कई गुणे पाप बाजार की सढ़ी गली चीजे दही, जलेबी आदि खाने में लगते हैं। गोभी का फूल भी अत्यन्त अभक्ष्य है। उसे अगर कोई फूल की थाली में झाड़कर देखे तो बहुत से छोटे शरीर वाले जीव प्रत्यक्ष दिख जायेंगे। तो ऐसी अभक्ष्य चीजों के खाने में झाड़कर देखे तो बहुत से छोटे शरीर वाले जीव प्रत्यक्ष दिख जायेंगे। तो ऐसी अभक्ष्य चीजों के खाने से बहुत से निगोदिया जीवों की हिंसा होती है। जो लोग भक्ष्य का कुछ भी विवेक नहीं रखते, जो रात दिन जब चाहे खा रहे हैं, उनका न जानें क्या होगा? यह संसार दुःखमय है, इसमें हम आपकी जन्म मरण की परम्परा चल रही है। यहां यदि न्याय-अन्याय, भक्ष्य अभक्ष्य आदि का विवेक करके न चलेंगे तो नरक, तिर्यञ्च आदिक गतियों कैसे-कैसे कलेश होते हैं उसकी बात चल रही है। निगोद जीवों को एक श्वास में १८ बार बार जन्म मरण होता है, श्वांस भी कितना जितना कि नाड़ी एक बार उचकती है उतना समय। वह समय करीब १ सेकण्ड का होता है, उस करीब एक सेकण्ड के समय में २३ बार जनम मरण होता है। ऐसी-ऐसी गतियों से निकल-निकल कर यह जीव दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय में भी आता है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—ये चार प्रकार के जीव हैं, जिनमें उत्कृष्ट मनुष्य हैं। जहां बड़ा श्रेष्ठ मन है ऐसा मनुष्य भव हम आपने पाया है। यहां भी न चेते तो फिर वही हाल होगा जैसे जगत के जीवों की यहां चर्चा चल रही है। इस जीव का आदि स्थान निगोद है, और अन्तिम स्थान जो पूर्ण आनन्द का है, जिसके बाद फिर जन्म नहीं, वह स्थान निर्वाण का है। उन निगोदों में कितने ही जीव तो ऐसे हैं जो अब तक अनादि काल से निगोद से नहीं निकले, वे कहलाते हैं, नित्य निगोद और जो निगोद से निकल आये थे, अन्य गति में जिन्हों ने जनम ले लिया और वे ही जीव फिर निगोद बने तो उनको कहते हैं इतर निगोद। ये भी तिर्यञ्च गति में हैं। तिर्यञ्गति में क्लेश बहुत कठिन है। उन सब गतियों से गुजरकर आज हम आप मनुष्य हुए हैं तो कुछ तो ख्याल करना है। मोह में, भोगोपभोग में, विषय कषायों में इनमें ही उपयोग नहीं लगाना हैं, नहीं तो इसके फल में ऐसे नरक तिर्यञ्च आदिक गतियों के घोर दुःख सहन करने पड़ेंगे।

तिरिएहिँ खज्जमाणों दुट्ठ-मणुस्सेहिं हम्ममाणो वि।
सव्वत्थ वि संतट्ठो भय-दुक्खं विसहदे भीमं।।४१।।

दुष्ट मनुष्यों द्वारा तिर्यञ्चों के हते जाने का दुःख—ये तिर्यञ्च कितने ही तो गर्भ में छेद दिये जाते

हैं मांस भक्षी कोई कोई तो ऐसा भी करते हैं कि गर्भ से जो बच्चा निकले उसका तुरन्त घात कर डालते हैं। कितने ही तिर्यञ्च दूसरे तिर्यञ्च के गर्भ से ही बच्चे को निकालकर खा डालते हैं। तिर्यञ्चों की रक्षा करने वाला कौन है? दुष्ट मनुष्यों के द्वारा भी ये तिर्यञ्च मारे जाते हैं और खाये जाते हैं। तो बात ज्यादा क्या कहना? आज के समय में यह बहुत अंधेरे की बात चल रही है। जगह-जगह अनेक कसाई खाने खोले जा रहे हैं, पशु पालन, मत्स्य पालन आदि जिनके नाम पर भारत का कितना ही पैसा बरबाद किया जाता है। एक विदेशी पुरुष ने एक सभा में भाषण करते हुए कहा था कि हम तो समझते थे कि भारत एक धर्म प्रिय देश है। इस भारत से सभी विदेशों ने धर्म की शिक्षा प्राप्त की थी लेकिन आज हम कितना अनर्थ देख रहे हैं कि कितनी ही हत्यायें हो रही हैं। पशुपालन, मत्स्य पालन, मुर्गी पालन आदि के कार्य केवल इसीलिए किए जाते हैं कि उनकी हिंसा की जाये। तो उस पुरुष ने आंकड़ा बताया था कि पशु पालन, मुर्गी पालन मत्स्य पालन आदि के नाम पर भारत की जितनी जमीन घिरती है उतनी ही जमीन में अगर अनाज पैदा किया जाये तो उससे बहुत अधिक आय हो सकती है। अन्य की तो बात ही क्या? तो कितना अंधेर है, मांस भक्षियों का जोर है और चलता नहीं है अन्न खाये बिना, लेकिन मांस का शौक बनाये हुए हैं। मनुष्य का भोजन अन्न है। कोई भी मनुष्य अन्न खाये बिना जीवित रहता हो तो बताओ। बिस्कुट आदिक अनेक ढंगों से अन्न ही तो खाया करते हैं। तो तिर्यञ्चों के दुःखों को कौन कहे? कौन रक्षा करने वाला है? बैल, भैंसा आदि जब तक खूब काम करते हैं तब तक घास भूस आदि खाने को दे दिया जाता है, गाय, भैंस आदि पशु जब तक दूध देते हैं तब तक घास भूस आदि पा जाते हैं, जब वे पशु किसी काम के न रहे, शरीर शिथिल हो गया तो बस लोगों का एक ही निर्णय रहता है कि उन पशुओं को कसाई खाने में बेच देते हैं। वे बेचारे पशु छुरियों द्वारा निर्दय होकर मारे जाते हैं। बहुत से बैलों को अथवा झोंटों को गाड़ी में जुते हुए देखा होगा। उनके कंधे भी सड़े हुए हैं, खून भी कंधों से निकल रहा है, बोझा भी बहुत अधिक लादे हैं, इतने पर भी जब वे थक जाते हैं, चलने में कुछ गड़बड़ी करते हैं तो चाबुकों द्वारा मारे जाते हैं। और जब वे ही बैल झोंटा आदि किसी काम के नहीं रह जाते तो उन्हें कसाईयों को दे देते हैं। कसाई लोग निर्मम होकर उनकी हत्या कर देते हैं। तो ये दुःख है तिर्यञ्च गति के जीवों के। जीव को जो ये सब दुःख सहने पड़ते हैं वह सब हैं विषय कषायों का फल।

आत्मागम के उपाय से संकटों का वियोजन—कहो देखो! आत्मा की बात सुनने के लिए लोगों को रूचि नहीं है, समय नहीं है, सुविधा तथा साहस नहीं है और शरीर की सेवा में अथवा व्यर्थ के बाहा परिग्रह के विकल्पों में सारा समय लोग लगा देते हैं। तो आप सोचिये कि इस तरह की स्वच्छन्दता से हम आपका क्या हाल होगा? कुछ सोचिये, धर्म दृष्टि कीजिए। धर्म कहीं बाहर नहीं हैं, वह हम आपका स्वरूप है। केवल एक दृष्टि फेरने की आवश्यकता है। अपने आप में विश्वास करिये कि यह मैं स्वयं स्वतः सिद्ध एक चेतन पदार्थ हूं। मैं आकाशवत् निर्लेपज्ञानानन्द से भरा हूं। देह से भी निराला स्वतंत्र परिपूर्ण सत हूं। जो मेरा स्वरूप है वही परमात्मा का स्वरूप है। जो परमात्मा का स्वरूप है वही अपना स्वरूप है। पर परमात्मा में और हम आप में कषायों का बड़ा अन्तर हो रहा हैं। वे तो मुक्ति में विराजमान हैं, ज्ञानानन्द पूर्ण धनी हैं, दोष विकार का जिनके रंच मात्र भी नहीं और यहां हम आपकी हालत ऐसी है कि जन्म मरण कर रहे हैं, मोह रागद्वेष करते हैं, सम्मान अपमान समझते हैं, शरीर के सम्बन्ध से भूख-प्यास रोग आदिक अनेक संकट सहते हैं। यह इतना बड़ा भारी अन्तर हममें और प्रभु में हुआ क्यों मन से देह को माना यह मैं हूं बस यह इतनी बड़ी भारी

गलती है कि जिसके फल में ये संसार के जन्म मरण करने पड़ते है। यदि धर्मपालन कहना है तो यथार्थ ढंग से कीजिए। उसमें सर्वप्रथम यह प्रतीति करना होगा कि देह में नहीं हूं, देह निराला है, मैं आत्मा निराला हूं इसका खूब चिन्तन करिये। आखिर सुख ही तो चाहिए। आनन्द की प्राप्ति के लिए लोग बड़े-बड़े संकट सहते हैं, पर आनन्द पाने के वे उपाय हैं ही नहीं। आनन्द पाने का सच्चा उपाय है सच्चा ज्ञान बनाना। जो सच्चा उपाय है उस उपाय के लिए तो साहस न करें ओर जो अनर्थ हैं, दुःख के उपाय हैं जन्म मरण बढ़ाने के उपाय हैं, उनकी तरफ लगे रहें तो यह इस सहज परमात्मा भगवान के लिए कितनी लज्जा की बात है? तो दृष्टि अब बाहर से हटाकर कुछ अन्दर में दीजिए। मैं जीव हूं, देह से निराला हूं, मैं स्वयं अपने आप केवल ज्ञानस्वरूप हूं, पूर्ण आनन्दस्वभावी हूं, मुझमें कोई कमी नहीं है। मैं अपने आपकी श्रद्धा करूं और एक पूर्ण प्रयत्न से अपने आप में मग्न होने का यत्न रखूं तो मुझे कहीं संकट नहीं है।

अपने अपराध से संकटों की मेहमानी–संकट तो यह हमने अज्ञान से पैदा किया है। जो मैं नहीं हूं उसे मानूं कि मैं हूं, तो संकट तो होगा ही। जब लोक में भी यह बात देखी जाती कि जो घर आपका नही है उसे मान लीजिए कि यह मेरा घर है, उस पर आप अपना अधिकार जमाना चाहें तो संकट न आयेंगे क्या? अथवा जो स्त्री आपकी नहीं है उसे आप समझ बैठें कि यह मेरी है और उसके संग आप वैसा ही व्यवहार करें तो संकट न आयेगा क्या? जब लोक में भी इस व्यवस्था के अन्तर्गत जो चीज मेरी नहीं है उसे मेरी माने तो दुःख आता है तो फिर परमार्थ से जो चीज मेरी नहीं है उसे मानें कि यह मेरी है तो वहां सकट तो आयेगा ही। कर्मबन्धहोगा, बुरी तरह जन्म मरण करना होगा। इससे यह यत्न में रहे, इस ज्ञान में रहें, इस दृष्टि में रहें कि मेरा तो मात्र मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हूं इस ज्ञानानान्द स्वरूप के सिवाय मेरा जगत में कहां कुछ नहीं हैं। जिस जिसको मैं अपना मानता था वे सब पर हैं। ऐसी भूल को निकालें और अपने आपके स्वरूप की दृष्टि करें, अपने को पाये, अपने निकट रहें तो इससे संकट भी टलेंगे और तुरन्त भी बहुत बड़ा आनन्द होगा। इस आत्मानुभव की प्रशंसा करके हम उस आत्मानुभव का क्यों नहीं करते? आत्मानुभव होगा तो ये चतुर्गति के दुःख टल जायेंगे। निर्वाणपद प्राप्त होगा इसलिए आत्मा के जानने में, आत्मा के निकट बसने में अपना साहस बनायें और प्रयत्न करें।

अण्णोण्णंखज्जंता तिरिया पावंति दारूणं दुक्खं।
माया वि जत्थ भक्खदि अण्णो को तत्थ रक्खेदि।।४२।।

अपने सहज स्वरूप और वर्तमान दशा का चिन्तन–यह आत्मा जिसे कि हम आप सब अपने अपने में मैं हूं, मैं हूं इस ज्ञान द्वारा अनुभव करते हैं उस आत्मा की बात कह रहे हैं, यह आत्मा स्वभावतः स्वरूपपतः केवल ज्ञानमात्र है। ज्ञानभाव और आनन्दभाव इतना ही इस आत्मा का स्वरूप है। जो इसका स्वरूप है उसमें कोई खेद नहीं, आकुलता नहीं, यह स्वयं प्रभु है, किन्तु आज हम आपकी जो वर्तमान दशा है उसे जब देखते है तो बड़ा अन्तर मालूम होता हैं हूं तो मैं कैसा और बन क्या रहा हूं? जैसे यहा कोई बड़ा पुरुष जिसको कि अपनी सम्पदा पर, अपनी प्रतिष्ठा पर बड़ा गर्व था, उसकी कदाचित् दुर्दशा होने लगे तो वह सोचता है कि हाय मेरी कैसी तो पोजीशन थी और यह हो क्या रहा है? यह तो एक लौकिक बात है। वहां वास्तविक तथ्य नहीं है लेकिन यहां देखो–मैं हूं तो अपने स्वरूप में कैसा महान, ज्ञानानन्द स्वरूप हूं, आकुलता का काम नहीं, क्षाम का अवसर नहीं, किन्तु दशा क्या हो रही, विडम्बना क्या बस रही कि ये हम आप नाना देहों को धारण

करते हुए नाना क्लेश भोग रहे हैं। इन सारी विडम्बनाओं का मूल केवल इतना ही है कि हम अपने स्वरूप को तजकर, अपने स्वरूप की दृष्टि न रखकर बाह्य पर्याय में यह मैं हूं जो अनुभव किया, बस इस परानुभव के कारण इतनी बड़ा विडम्बना हो रही है।

संसार में सर्वत्र विडम्बना—भैया! पहले तो यहां खूब परख लें कि इस लोक में सुख भी है अथवा विडम्बना ही विडम्बना है। खूब परख लो इस संसार में सुख रंचमात्र भी नहीं है, सर्वत्र विडम्बना ही विडम्बना है। कदाचित् मान लो बहुत बढ़िया सुखसाता के साधन मिले, आजीविका अच्छी चल रही रही, सबकुछ ठीक मिलकर भी उसमें कितनी विडम्बनायें बन रही हैं। कोई धनिक, कोई भी बड़ा पुरुष क्या रात दिन दिन में एक घंटा भी आराम से रह पाता है? कभी किसी पर नाराज हो रहा, कभी नौकर को डाट रहा, कभी किसी हानिक का खेद पर रहा। यों कितनी ही विडम्बनायें उसके साथ लगी हैं, सुख उसे कहां? हां, एक मानने भर का सुख है। इन सांसारिक सुखों में वास्तविकता कुछ नहीं है। ये सांसारिक सुख भी स्वप्नवत् हैं और इन्हें सुख मानने वाले भी स्वप्न की तरह हैं। तथ्य यहां कुछ नहीं है, दुःख यहां सही हो रहे हैं, ये विडम्बनाएं बराबर ठीक बन नही है। जैसे कि सुख एक कल्पना से मान रहे हैं इस तरह से जन्म मरण, ये कल्पनायें नहीं हैं। ये बार-बार हो रहे हैं। हां यह कह सकते हैं कि हम जरा-जरा सी बातों में थोड़ी-सी प्रतिकूलता में दुःख का अनुभव करते हैं तो वह तो है कल्पना से किया गया दुःख जैसे कि विषयों के लोभ में हम कल्पना से सुख मानते हैं इसी तरह कल्पना से ही दुःख भी मानते हैं। इस सुख-दुःख को तो कल्पना बतायी जा सकती है लेकिन जो जन्म हो रहा, मरण हो रहा, देह मिल रहे हैं यह तो मात्र कल्पना की चीज नहीं है। यह बात तो इस जीव पर बीत ही रही है। हां इसका मूल कल्पना है। यह जीव पर्याय है यह मैं हूं, शरीर में यह मैं हूं, ऐसी बुद्धि यदि न रखता तो इसके ये जन्म मरण के दुःख टल जाते और फिर कभी न होते।

यथार्थ तत्व ज्ञान किये बिना संसार संकट मुक्ति के मार्ग के लाभ की अपात्रता—जिनको संसार संकटों से बचना है उनका सर्वप्रथम यह निर्णय होना चाहिए कि मैं केवल ज्ञानानन्द स्वरूप हूं, देह मैं नहीं हूं। यह निर्णय किए बिना धर्म के मार्ग में कदम नहीं बढ़ाया जा सकता। यदि तत्व ज्ञान न हो और भले ही भगवद् भक्ति करके कुछ पुण्य लूट लिया गया, कुछ पुण्य बंध हो गया, उसके फल में कुछ सांसारिक सुख मिल गया, लेकिन जन्म मरण के संकटों का तांता तो न निकल सका। प्रभु भक्ति करके तो अपने आपके स्वरूप की श्रद्धा की जाती है, जो प्रभु का स्वरूप है सो मेरा स्वरूप है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा बनाने के लिए ही प्रभुभक्ति की जाती है। प्रभु स्वरूप को निरखकर अपने आपमें जो ऐब हो रहे उन पर पश्चाताप करने से अपने में निर्मलता बढ़ती है, यह तो लाभ है प्रभु भक्ति का, लेकिन सब कुछ करना खुद को ही पड़ेगा। जरा उस राग में आकर, विषय प्रीति में आकर अपने आपको कायर बना देना और यह सोचना कि यह तो त्यागियों के करने का काम है। हम कहां ये काम कर सकते हैं, ऐसा सोचना एक अज्ञानता भरी बात है। अरे करने की बात क्या है? यदि कोई पुरुष लाखों का वैभव पाकर यह अनुभव करे कि मैंने लाखों रुपये कमाये अथवा कोई पुरुष लाखों वैभव छोड़कर साधु बन जाये, जंगलों में रहे और वह यह अनुभव करे कि मैंने तो लाखों का वैभव छोड़ा तो समझो कि सम्पदा का लगाव उन दोनों पुरुषों ने किया। एक ने सम्पदा के कमाने के विकल्प का लगाव किया और एक ने सम्पदा के छोड़ने के विकल्प का लगाव किया। तो जब तक मैं चैतन्य मात्र हूं, मैंने कहां धन कमाया,

कहां धन छोड़ा, ऐसी श्रद्धा न जगेगी तब तक उसके ही विकल्प बने रहेंगे और वह संकटों से घिरा रहेगा। मैं न तो धन तो कमाने वाला था, न धन को छोड़ने वाला था, मैं तो एक ज्ञानानन्द स्वरूप मात्र हूं, इस तरह जब तक अपने आप को ज्ञानभाव मात्र अनुभव न किया जाए तब तक निर्जरा और मोक्ष के मार्ग में हम जरा भी नहीं बढ़ सकते।

कितनी सी भूल और कितना दुष्परिणाम—भैया! केवल एक भूल किया कि देह को यह मैं हूं ऐसा मान भर लिया कि उसके फल में विडम्बना बहुत बड़ी बन रही है। कितनी बड़ी विडम्बना कि यह जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय, नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदि नाना तरह पर्यायों को धारण करता फिर रहा है व नाना तरह के क्लेश भोग रहा है। इन समस्त विपदाओं के पहाड़ टूटने कारण मूल इतना ही है कि देह को माना कि यह मैं हूं। अब सोचिये कि जो बात बहुत सरल लग रही हैं—सोच लिया, जरा-सी देर को मान लिया, किसी का कुछ चुराया तो नहीं, किसी को सताया तो नहीं, कोई और बाहर बाहर में पाप तो नहीं किया, केवल एक मान भर लिया इस देह की निरखकर कि यह मैं हूं, बस इतनी-सी गलती के फल में नाना कुयोनियों में देह धारण करने पड़ रहे हैं और घोर दुःख सहन करने पड़ रहे हैं। तो यह जीव मिथ्यात्व और कषाय के वशीभूत होकर नाना देहों को धारण करता है। यही तो संसार है।

तिर्यञ्च गति में परस्पर एक दूसरे के खाये जाने का क्लेश—विडम्बनामय संसार में संसारण करते हुए घूमता भटकता हुआ यह जीव तिर्यञ्च गति में आया। तिर्यञ्च गति में कैसे-कैसे क्लेश सहने पड़ते हैं इसका यह वर्णन चल रहा है। तिर्यञ्च गति में इस जीव ने जन्म लिया तो अनेक बार तो गर्भ में ही मारा गया। जैसे मांस लोभी पशु के गर्भ को ही विदारण करके उसका मांस भक्षण करते अथवा चमड़े के लोभी लोग गर्भ को ही विदारण करके उसके बच्चे का चमड़ा ग्रहण करते तो अनेक बार तो मनुष्यों के द्वारा यह तिर्यञ्च जीव गर्भ में ही मारा गया और फिर तिर्यञ्चों ने तिर्यञ्चों को परस्पर में खाया। सिंह अनेक पशुओं को खाते और वे अनेक पशुओं को खाते, उनमें से अनेक पशु अन्य जीवों को खाते, इस तरह एक दूसरे का भक्षण करके तिर्यञ्च अपनी जिन्दगी बिता रहे हैं। एक दूसरे का घात करके यह तिर्यञ्च दारूण दुःख को प्राप्त करता है। और की तो बात क्या कहें—जहां माता भी अपने बच्चे का भक्षण कर जाये, उस तिर्यञ्च गति में अन्य कौन रक्षा करने में समर्थ है? सर्पिणी के बच्चे होते हैं तो सुना है कि वह सर्पिणी अपनी कुण्डली बनाकर उन बच्चों को कुण्डली में रख लेती है और उनको खा जाती है। जो बच्चे कुण्डली से बाहर हो गए वे किसी तरह बचकर भाग जाते हैं अथवा ये कुतिया, बिल्ली आदि जानवर भी क्षुधा की तीव्र वेदना होने पर अपने बच्चों का भक्षण कर जाते हैं। तो जिस तिर्यञ्च गति में मां भी अपने बच्चों का भक्षण कर जाती हैं। तो जिस तिर्यञ्च गति में मां भी अपने बच्चों का भक्षण कर जाये वहां फिर रक्षा करने में अन्य कौन समर्थ हो सकता है?

तिर्यग्गति में जीवहि जीव आहारा की उक्ति की चरितार्थता—लोक में ऐसी कहावत है कि जीवहिं जीव आहारा अर्थात् जीव जीव का भक्षण है सो यह बात तिर्यञ्च गति में प्रत्यक्ष चरितार्थ होती है। पक्षीगण, कीड़ा, मकौड़ा, मक्खी मच्छर आदि को खा जाते हैं, बड़े-बड़े मगरमच्छ छोटी-छोटी मछलियों को खा जाते हैं। स्वयं भूरमण समुद्र में एक महामत्स्य रहता है, जिसकी बहुत बड़ी अवगाहना है जो अपना मुंह बाये रहता है, उस मुख के अन्दर हजारों मछलियां किलोल करती रहती हैं। बहुत समय बाद जब कभी वह महामत्स्य अपना

मुख बन्द कर लेता है तो वे हजारों मछलियां उसके पेट में चली जाती हैं। उस महामत्सय के कर्ण के पास बैठा हुआ एक तंदुल मत्स्य जिसकी अवगाहना अत्यन्त छोटी है वह सोचता रहता है कि देखो हजारों मच्छी इसके मुख में किलौल कर रही हैं पर यह खाता नहीं, इसकी जगह यदि मैं होता तो एक भी मछली बचने न देता। वह तंदुल मत्स्य इस प्रकार के खोटे भाव बनाने के कारण और अधिक नीचे नरक में जाता है। जब कि वह हजारों मछलियां खा जाने वाला महामत्स्य उससे ऊपर के नरक में जाता है। यानि तदंल मत्स्य महामत्स्य की अपेक्षा नीचे के नरक में जाता है। तो आप देखिये कि अपध्यान का कितना बुरा असर इस भगवान आत्मा पर होता है।

स्वतत्व की भावना के अतिरिक्त विकल्पों की अकर्तव्यता—जब तक अपने इस ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का आदर नहीं करते, ज्ञान स्वरूप अपने आपका अनुभव नहीं करते तब तक हमारा जीवन क्या जीवन है? पशु पक्षी हुए अथवा मनुष्य हुए सब समान हैं। यदि एक धर्म भाव हमारे चित्त में न बसा, अपने आपका सहज पवित्र स्वरूप अपने आप में न आये तो जीवन बेकार है। स्वप्नवत् निकल गया जीवन तो लाभ क्या पाया? जन्म मरण की परम्परा तो बनी ही हुई है। प्रश्नोत्तर रत्नमालिका में एक जगह पूछा कि—त्वरितं किं कर्त्तव्यं, अर्थात् बड़ी जल्दी से क्या काम कर लेना चाहिए? तो यहां तो लोग कहां करते हैं कि मुझे अमुक काम शीघ्र कर लेना चाहिए, मुझे अमुक, पर वहां उत्तर दिया गया कि विदुषा संसार—संततिच्छेदः अर्थात् विद्वान् पुरुषों को तुरन्त करने योग्य काम है संसार की संततिका छेदन कर देना। संसार की संतति है रागद्वेष मोह, जन्म मरण आदि उसका विनाश करना। तो इन रागद्वेषदि के विनष्ट करने का हमारे जीवन में मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। अपना यह विश्वास हो कि ये बाह्य समस्त पदार्थ भिन्न हैं, असार हैं, विनाशीक हैं, ये धन वैभव आखिर मुझसे बिल्कुल भिन्न हैं तो फिर इनके पीछे अनेक प्रकार के विकल्प करने से क्या लाभ? ये तो पुण्यानुसार आते हैं और ये मेरे कुछ काम नही आते। मैं हूं एक ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा। उसमें इन बाह्यपदार्थो का प्रवेश नहीं। जब तक जीवन है तब तक एक गुजारा भर किया जा रहा है, मरण के बाद यहां का क्या मेरा साथी है? ऐसा जानकर इस जग वैभव से क्या प्रीति रखना। और प्रीति करना, राजी होना यह तो एक आत्मा के लिए विपदा है। एक आत्मानुभव के अतिरिक्त अन्य जो विकल्प हैं वे मिथ्या हैं, विपत्तियों के कारण हैं कुटुम्बीजन हैं, स्त्री पुत्रादिक हैं सो उनके लिए जैसा जो कुछ हो रहा है सो ठीक है। आप धन वैभव कमाते हैं। बल्कि घर के जिन जीवों का पुण्य का उदय है उनके आप चाकर बने हुए हैं। उनके पुण्योदय के कारण आप उस धनार्जन में निमित् मात्र बने हुए हैं, आपकी अन्य में, बाहर में कुछ करतूत नहीं है।

पर की प्रीति सार का अभाव—इस क्षणिक वैभव की प्रति में क्या रखा? कितनी ही किसी से प्रीति की जाये, आखिर मरण के बाद कोई साथ नहीं जाता। कदाचित् कोई साथ भी जाये आगे-पीछे मरकर, उस एक ही गति में पहुंच जाये तो भी उस गति में पूर्वभव जैसी बात तो हो नहीं सकती, प्रीति हो नहीं सकती। नरकों में तो वे स्वजन, वे कुटुम्बीजन जहां एक जगह उत्पन्न हो गए, वे एक दूसरे को देखकर काटमार कर डालते हैं। तिर्यञ्चों में भी पहिले के स्वजन एक जगह उत्पन्न हो भी गए तो भी उन्हें क्या खबर? वहां तो नया समागम। सबकी अपनी-अपनी जुदी-जुदी कषायें अपनी अपनी कषाय के अनुसार वे अपना परिगमन करते हैं। वहां भी पूर्व भव के सम्बन्ध का कुछ उठता नहीं है। और फिर वहां भी जिसे माना है पुत्र, उस आत्मा में क्या यह सम्बन्ध जुड़ा हुआ है कि यह आत्मा पुत्र ही होगा? जगत के अनन्त जीवों में से अटपट कोई भी जीव

आकर जन्म ले ले उसी को ही ये मोही प्राणी कल्पना कर लेते कि यह मेरा है। सभी जीव और समस्त पदार्थ (चेतन अचेतन) मुझसे अत्यन्त निराले हैं। मैं केवल ज्ञान और आनन्द भाव वाला चिद्ब्रह्म हूं, इस तरह की प्रतीति बने तो इस जीव का मनुष्य जीवन का पाना सफल है अन्यथा तो जैसे पशु पक्षी आदिक अनेक जीव आते हैं और मरते हैं, बिछुड़ते हैं उन्हीं की तरह यह जीवन रहा। तो इस तिर्यञ्च भव में जहां कि एक दूसरे को परस्पर खा जाते हैं, जहां इस तिर्यञ्च को उत्पन्न करने वाली माता भी खा जाती है वहां अन्य कौन रक्षा करने वाला है? बड़ा कठिन दुःख है और भी क्या है तिर्यञ्चों में क्लेश? सो सुनिये।

तिव्व–तिसाए तिसिदो तिव्व-विभुक्खाई भुक्खिदो संतो।
तिव्वं पावदि दुक्खं उयर-हुयासेण डज्झंतो।।४३।।

तिर्यग्गति में तीव्र दुःखों की प्राप्ति–ये तिर्यञ्च जीव तीव्र प्यास से प्यासें होकर, तीव्र भूख से भूखे होकर, उदराग्नि से जल जलकर तीव्र दुःख को प्राप्त करते हैं। कितने ही कुत्ते-बिल्ली जिनका पेट भूख प्यास के मारे एकदम मिल गया हो उसके खाने का कोई उपाय नहीं है, वे भूखे और दुःखी रहते हैं और उस बुभुक्षा में पेट की अग्नि जलती है और उससे खून सूखता है, भूख के मारे व्याकुल होकर बड़े आर्त रौद्र आदि ध्यानों से मरकर खोटी गतियों में जन्म लेकर घोर दुःख सहन करते हैं। नरक गति में तो उपाय ही नहीं हैं भूख प्यास की बड़ी तीव्र वेदना नरकों में होती है, लेकिन वहां अन्न का एक दाना नहीं मिलता व पानी का एक बूंद भी नहीं मिलती। इस भूख प्यास आदि की तीव्र वेदनाओं का घोर दुःख वे नारकी जीवी सागरों पर्यन्त तक सहते रहते हैं। तिर्यञ्चों में भी अन्याय से, भक्ष्य अभक्ष्य आदि कुछ भी चीजें मिल भी जाती हैं, लेकिन उसका कोई निश्चय नहीं। बिरला ही कोई पशु धनिकों के यहां पला-पूसा हो और बड़ी अच्छी तरह रहा हो, नहीं तो प्रायः सभी पशु भूख प्यास आदि की वेदनाओं से पीड़ित रहा करते हैं। जिनको भोजन सामग्री व्यवस्थित ढंग से मिलती भी है वे पालतू पशु हैं, वे बन्धन में बंधे होते हैं। सो वे बन्धन में बंधने का दुःख भोगते हैं। तो इन तिर्यञ्चों को घोर दुःख है। कोई पुरुष किसी झोंटा आदि जानवर को बाहर बांध जाये और उसे खोलने का ध्यान न रहे तो वह बेचारा झोंटा सारे दिन भर भूख, प्यास से पीड़ित रहता है। अनेक पशु तो इस तरह से मरण भी कर जाते हैं। उनको कौन बचा सकता है? वे बेचारे पशु बोल सकते नहीं, भूख, प्यास लगे तो बता सकते नहीं, एक उनकी जैसी आवाज है उससे वे चिल्लाते रहेंगे, उन पर दया भी कोई नहीं करते। तो ये तिर्यञ्च भूख, प्यास के घोर दुःखों से व्याकुल रहा करते हैं। कभी कहीं खाना मिल गया, वहां मुंह मार दिया तो उस पर लोग डंडे बरसाने लगते हैं तो कितने कठिन दुःख तिर्यञ्च गति में इस जीव को सहन करने पड़ते हैं। उन दुःखों से बचाने में अन्य कौन समर्थ है?

एवं बहु-प्पयारं दुक्खं बिसहेदि तिरिय–जोणीसु।
तत्तो णीसरिदूणं लद्धि-अपुणों णरो होदि।।४४।।

तिर्यग्गति से निकलकर लब्धय पर्याप्त मनुष्य होने में निगोदवत् क्लेशों का उपयोग–इस तरह से तिर्यञ्च गति के नाना दुःखों को सहता हुआ यह जीव,जब कभी वहां से निकलता है और हो गया लब्ध्य पर्याप्तक मनुष्य तो भी क्या लाभ उठाया? मनुष्य दो प्रकार के हैं–लब्ध्य पर्याप्तक और पर्याप्तक। पर्याप्तक मनुष्य तो जैसे यहां पुरुष, स्त्री, बच्चा आदि मनुष्य हैं वे कहलाते हैं। भोग भूमिया के मनुष्य भी पर्याप्तक मनुष्य हैं, पर एक लब्ध्य पर्याप्तक मनुष्य भी होते हैं, जिनका नाम तो है मनुष्य लेकिन उनकी निगोद जैसी

दशा है। कर्मभूमिज स्त्रियों के कांख, पेट आदिक स्थानों से उनकी उत्पत्ति होती रहती है। जिनका शरीर दिखने लायक, फिरने लायक नहीं होता है। वे होते हैं और तुरन्त मर जाते हैं। उनकी निगोद जैसी दशा समझिये। वे एक मनुष्य हैं, पञ्चेन्द्रिय भी हैं और उनके मन भी है लेकिन उनकी निगोद जैसी दशा है। वे एक श्वास में आठ दस बार जन्म मरण करते हैं, उन्हें विवेक करने का अवसर नहीं मिलता है। वे जन्मते हैं, मरते हैं, यों कठिन क्लेश भोगते रहते हैं। तो बहुत प्रकार के तिर्यञ्च योनियों में दुःख भोग करके यह जीव मनुष्य हुआ तो लब्ध्य पर्याप्तक हुआ तो क्या लाभ? लब्ध्यपर्याप्तक का अर्थ है, जोश और पर्याप्तक अर्थात् पर्याप्तक , यानि जहां पर्याप्ति की लब्धि न हो, उपलब्धि न हो उसे कहते हैं लब्ध्यपर्याप्तक। मनुष्य उत्पन्न हुआ और शरीर पर्याप्ति की पूर्ति नहीं हो पाती कि मरण हो जाता है, वे हैं जब्ध्यपर्याप्तक। वे वहां जन्मते और वहां मरते हैं। तो ऐसे मनुष्य होने से भी इस आत्मा को लाभ क्या? यह जीव निगोद से, स्थावर से, विकलत्रय से निकलकर कभी मनुष्य नाम में भी आया और बन गया लब्ध्यपर्याप्तक तो वह लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य एक भव की गिनती कर गया, लाभ कुछ न हुआ।

सर्वत्र संसार में क्लेश—यह संसार का वारिस बताया जा रहा है कि संसार में सर्वत्र क्लेश ही क्लेश है। संसार वासना में सिद्ध भूवर का भावना में कहा है। 'दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णा वश धनवान। कहूं न सुख संसार में, सब जग देखहु छान।।' यह बात एक मोटी दृष्टि से बतायी गई है। केवल एक मनुष्य भव पर दृष्टि रखकर कहा गया है कि देखो—अनेक मनुष्य धन के बिना दुःखी है और अनेक मनुष्य धनी है तो तृष्णा के कारण दुःखी है। और इस संसार में खूब देखा-भाला खूब छाना, पर कहीं सुख नजर नहीं आता। यह दृष्टि एक मनुष्य भव पर डालकर कहा गया है यह भी संसार के दुःख का चित्रण है किन्तु कुछ और व्यापक दृष्टि बनाकर देखें, एकेन्द्रिय आदिक जीवों पर दृष्टि डालकर देखें तो विदित होगा कि इस जीव पर महान कष्ट हैं। आज हैं मनुष्य, मरकर हो गए कीड़ा-मकौड़ा, अब क्या तो घमण्ड चलेगा, क्या सुकुमालता की बात चलेगी? जो-जो बातें मनुष्य भव में करते थे उनका अब कुछ भी गौरव नहीं, बड़े दुःख सहने पड़ते हैं। तो संसार में सर्वत्र दृष्टि डालकर देख लो, यह सारा संसार दुःखमय है। यहां सुख का नाम नहीं। कभी थोड़ा भोग विषय मिले, सुख की कल्पनाएं करते तो वे सुख क्या हैं? जैसे कहते हैं कि सरसों के दाने बराबर तो सुख और पहाड़ बराबर दुःख। यह है जीवन का संग। इस जीवन में प्रीति न करके केवल एक आत्म स्वभाव के परिचय की प्रीति रुचि करनी चाहिए। यदि हम अपने सहज स्वभाव को जान सके तो संसार संकटों से पार हो जायेंगे, यह प्रभु भक्ति भी सफल हो जायेगी अन्यथा जन्म मरण करते रहेंगे और इस मनुष्यभव के पाने का कुछ भी लाभ न उठा सकेंगे।

अह गब्भे विय जायदि तत्थ वि णिवड़ी कयंग-पच्चंगो।
विसहदि तिव्वं दुक्खं णिग्गममाणों वि जोणीदो।।४५।।

पर्याप्त मनुष्य होने में गर्भस्थ रहने का क्लेश—तिर्यञ्च और नरक गति के दुःखों के भोगने के बाद कभी यह जीव मनुष्य भी हुआ और हुआ लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य तो उसने इस मनुष्य जीवन से लाभ क्या पाया? निगोदिया जीवों की भाँति दुःख सहकर जीवन बिताया। कदाचित् यह गर्भ में भी उत्पन्न हुआ है तो वहां तीव्र दुःख को सहता हैं। लोग प्रायः ऐसा कहते हैं कि जब गर्भ से निकला बालक तब उसका जन्म हुआ पर जन्म तो उसका तभी हो चुका था जब गर्भ में आया था। बल्कि उससे भी पहले पूर्व भव में जहां मरण

किया उस मरण समय ही जन्म है। उस स्थान को छोड़ने के बाद तीन समय जो विग्रह गति में भी लग सकते हैं, वहां भी नया जन्म है। तो यह जीव जब गर्भ में रहा तब बड़े संकुचित अंग होने से दुःखी रहा। जैसे किसी पुरुष को संकुचित करके बांध दिया जाये तो वह बड़ा दुःखी होता है, उससे भी अधिक दुःख गर्भ में संकुचित हालत में रहता हैं इस शरीर के अंग मनुष्य के गर्भ में आयुर्वेद शास्त्रों के अनुसार ५-६ महीने के बाद एक स्पष्ट रूप से बनना प्रारम्भ होते हैं। इससे पहले माह दो माह के गर्भ में या कुछ दिन के गर्भ में कैसी जीव की स्थिति होती हैं कि जिसमें अङ्गोपाङ्ग भी प्रकट नहीं हो पाते ऐसी स्थिति में यह जीव गर्भ में रहता है, और जहां अंङ्गोपाङ्ग प्रकट हुए वहां इसके अङ्ग संकुचित रहते हैं। इस कारण यह जीव अत्यन्त दुःखी रहता है। यह अपना मुख नहीं खोल सकता। नाभि में लगी हुई नालिका से ही वृक्षों की भांति उसका आहार होता रहता है। जिससे जीवन रहता है। ऐसी दुःखमयी अवस्था में यह जीव गर्भ में निवास करता है। इस देह में अंग ८ हैं–सिर, दो हाथ, छाती, पीठ, नितम्ब और दो पैर और इनमें जो अंगुली नाक आदिक हैं ये उपाङ्ग कहलाते हैं। ये अङ्गो पाङ्ग गर्भ में संकुचित रहते हैं। इस कारण वह जीव गर्भ में दुःखी रहा।

गर्भ से निकलने का क्लेश और धर्म बिना जीवन की व्यर्थता–जब गर्भ से निकला तो गर्भ से निकलते समय इस जीव को बड़ा कष्ट होता है। इस कष्ट का यों अंदाज करिये कि जैसे कोई सुनार तार को पतला करते समय कोई यंत्र के छिद्र से उस तार को खींचता है इसी प्रकार उस उत्पन्न होने वाले जीव का भी खींचना होता है। और उस समय उसे बड़ी ही वेदना होती है। ये वेदनायें हम आप सबने सही हैं पर अब ध्यान नहीं है, बतलाओ जब गर्भ के समय की भी वेदना का ध्यान नहीं है और जब गर्भ से निकल रहे तब की वेदना का ध्यान नहीं, और तो जाने दो, वर्ष दो वर्ष की उम्र की चेष्टाओं का भी ध्यान नहीं तो पूर्व भव का तो क्या ध्यान है? यही कारण है कि भोगे हुए दुःख का यथार्थ स्मरण नहीं कर पाते और विषय सुखों में लगने की आसक्ति और धुन बनी रहती है। ऐसे कठिन दुखों को यह मनुष्य गर्भ में और गर्भ से निकलते समय सहन करता है। अब समझिये कि हम इतने बड़े मुनष्य होकर, कुछ साधन पाकर किस बात पर अहंकार करें और मौज मानें? कितने दिन का का यह समय है? बुढ़ापा होगा, मरण होगा, फिर जन्म लेना होगा। तो तिर्यञ्च, नरक में जन्म लेने पर तो बड़ी बाधायें हैं, संकट हैं ही। कभी मनुष्य भी हो गया तो वहां फिर कैसे गर्भ के और ऐसे गर्भ से निकलने में संकट आयेंगे। तो यों समझिये कि बड़े बन गए, बड़े बनकर फिर एकदम लघु बनना है तो यहां मौज मानने का कोई अवसर न समझिये।

बालो वि पियर-चत्तो पर- उच्छिट्ठुण वड्ढदे दुहिदो।
एवं जायण-सीलो गमेदि कालं महादुक्खं।।४६।।

मानव जीवन में उच्छिष्ट भोजन की आशा रखने के क्लेशों का प्रसंग–यह जीव मनुष्य तो हो गया, पर मनुष्यों में भी कितने कठिन दुःख होते हैं। दुःख तो अनेक प्रकार के होते हैं, किन्तु उनमें से कुछ दुःखों की बात कह रहे हैं कि अनेक बालक तो ऐसे हुए कि जिनको बचपन में ही मां बाप छोड़कर चले गए। वह असहाय बालक दूसरों का जूठा भेजन खा-खा कर अपना जीवन बिताता है और दुःखी होता है। कितनी ही जगह तो यों देखा गया कि बहुत से अत्यन्त दरिद्र लोग भूख से व्याकुल होकर ग्लान पदार्थों में भी अन्न तलाशते हैं जैसे कि गाय भैंस आदि अन्न खाने वाले पशुओं का गोबर इकट्ठा किया और उसे धो-धोकर उससे अन्न निकालते हैं और उस अन्न को धोकर सुखाकर भोजन के काम में लेते हैं। बहुत से लोग तो गंदी

नालियों से अथवा कूड़ा करकट से खाने की चीजें उठाकर खा जाते हैं, तो कितने ही असहाय दरिद्र लोग जिनको बचपन में ही उनके माता-पिता छोड़कर कहीं बाहर चले गए अथवा मरण कर गए, वे दूसरों का जूठा भोजन खा-खाकर जीवन गुजारते हैं और दुःखी रहा करते हैं। ऐसे याचनाशील मांग-मांग कर पेट भरने वाले बालक प्रथम तो गर्भ में ही घोर दुःख पाते, दूसरे गर्भ से निकलते समय बड़ा दुःख पाते, और बाद में मां-बाप छोड़कर कहीं चले गए अथवा मर गए, अथवा उपेक्षा कर दी तो वे बालक दीन बनकर दूसरों का जूठा भोजन खा-खा कर अपना पेट भरते हैं और बहुत दुःखी रहकर अपने जीवन का समय व्यतीत करते हैं (ये दुःख की बातें हम दूसरे दरिद्र पुरुषों की नहीं कह रहे।) आत्मा वे भी हैं, आत्मा हम भी हैं। ऐसी स्थितियां हम आप पर भी अनेक बार आयी होंगी अथवा आ सकेंगी कि इस तरह से दुःख से भीख मांग-मांग कर अथवा जूठा खा-खा कर पेट भरते हे। और पेट नहीं भरता है तो भूखे ही रह-रह कर अपना जीवन बिताते हैं।

पावेण जणो एसो दुक्कम्म-वसेण जायदे सव्वो।
पुणरवि करेदि पावं ण य पुण्णं को वि अज्जेदि।।४७।।

पाप वश जीव का क्लेशमय स्थितियों में घिराव—यहां सभी प्रकार के दुःख पाप कर्मों से अर्जित होते है। तो खोटे परिणामों के करने से जिन पाप कर्मों का बन्ध होता है उनके उदय काल में ऐसे कठिन दुःख भोगने पड़ते हैं। हम ऐसे दुःख भोगते हुए जब उन दीन भिखारियों को निरखते हैं, असहायों को देखते हैं तो कभी कृपा का भी भाव जागता है। वह कृपा का भाव जगने का मूल भाव यह है कि उस भाव को निरखकर अपने ही समान समझकर यह अंदाज हो जाता है कि व्यक्त या अव्यक्त के रूप में कि ऐसी अवस्था कभी भी हो सकती है। और तब एक दुःख उत्पन्न होता है, कितना कठिन क्लेश है, इनकी जिन्दगी क्या जिन्दगी है? इन अंधों की भिखारियों की, पंगुओं की जिन्दगी क्या जिन्दगी है? इनका बेकार जीवन है, ठीक है उनके सम्बन्ध में तो ऐसा सोच लेते हैं लेकिन खुद के सम्बन्ध में भी तो बात सुनो। विषय कषायों में ही मस्त रहे, विकल्पों में संचय में ही धुन बनाये रहे और कल्पित सुखों में ही रहकर अपनी जिन्दगी गुजार दो तो क्या वह जिन्दगी बेकार जिन्दगी नहीं है? एक दीन मनुष्य ने इस १०-२०-५० वर्ष के जीवन को कष्ट भोग-भोग कर बिताया और एक सुखिया मनुष्य ने जो पुण्योदय पाकर अपने को बड़ा गौरवशील समझता है उसने कल्पित सुखों में ही रमकर अपने जीवन का समय बिता दिया तो आखिर मरण तो दोनों का ही होता है। सम्भव है कि वह दीन पुरुष प्रभु की याद रखकर, पाप कार्यों से बचकर सद् गति को पा ले और वह विषय सुखों में मस्त हुआ पुरुष कहो दुर्ध्यान में मरकर कुगति का पात्र बने। तो जैसे दरिद्र का जीवन लोग बेकार का समझते हैं ऐसे ही उससे भी अधिक बेकार जीवन विषय सुखों में मग्न रहने वाले पुरुष को समझना चाहिए। ये सभी खोटे फल बुरे कामों में उपार्जित किए गए पाप कर्म के उदय से होते हैं किन्तु फिर भी यह जीव पाप ही करता है। पुण्य को कभी उपार्जित नहीं करता।

मोहियों की चाह और प्रवृत्ति विषमता—देखो भैया! यह जीव चाहता तो है पुण्य का फल और करता है पाप का फल भोगने का काम। तो यो कैसे पुण्य फल की प्राप्ति होगी? सत्यता तो यह है कि संसार के यथार्थ स्वरूप को जानें, अपने आपके यथार्थ रहस्य को जानें और समस्त पर भावों से भिन्न अपने आत्मा के सहज ज्ञानानन्द स्वरूप का ध्यान रखें, इसकी उपासना करें। यह तो है संकटों से तिरने का उपाय ओर इसके अतिरिक्त जो भी पर पदार्थ का सम्बन्ध बनाकर उपयोग बनता है, परिणाम बनता है वह है संसार के कष्ट

पाने का उपाय। संसार के जीव रात दिन पाप के काम में ही लगे रहते हैं, किन्तु पुनः जन्म लेकर भी पाप के ही संचय करने में लगे रहते हैं उनका सारा जीवन खाने-पीने में, इन्द्रियों को दास बने रहने में व्यतीत होता है, इसी कारण उनका मन धार्मिक कार्यों में नहीं लगता है। ऐसे पाप परिणाम वाले जीव चाहे ऊपरी रूपक धर्मात्मा का भी बनायें तो भी भेष से बात नहीं बनती। बंध तो भीतर के परिणाम जैसे हों उसके अनुसार तत्काल ही हो जाता है। तो देखिये–आश्चर्य की बात कि पाप कर्म के उदय से ये जीव दुःखी हो रहे हैं, फिर भी पाप ही कमाते हैं।

विरलो अज्जदि पुण्णं सम्मादिट्ठी वएहि संजुत्तो।
उवसम-भावे सहिदो णिदण गरहाहि संजुतों।।४८।।

सम्यग्दर्शन की रक्षकता–बिरला ही कोई पुरुष है ऐसा तो पुण्य का अर्जन करता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष अथवा व्रतों से संयुक्त पुरुष जो मंद कषाय हैं, जो अपने अपराध की निन्दा और गरहा करते रहते हैं, ऐसे बिरले ही पुरुष पुण्य का उपार्जन करते हैं। इस जीव का रक्षक सम्यक्त्व परिणाम है। जगत में अन्य कोई इस जीव का रक्षक नहीं है। सम्यग्दर्शन क्या? इसका सीधा स्वरूप तो यह है कि परद्रव्यों से निराला, देह से भी निराला अपने आपके ज्ञान मात्र स्वरूप की प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन हैं। मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान भाव के सिवाय मुझमें अन्य कोई रूप, रस आदिक नहीं है, मैं केवल ज्ञानरूप हूं। अपने आपका केवल इतना ही मान करके रहना, ऐसा ही एक ध्यान जमाना कि मैं ज्ञान-ज्ञान हूं। ज्ञान भाव के अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं हूं। यों ज्ञान ज्ञानरूप से बराबर अपनी भावना करे, ज्ञान रूप में अपने आपको निरखने का यत्न करे तो बाहा समस्त विकल्प हटने से और एक ज्ञान मात्र स्वरूप में ही ज्ञानोपयोग रहने से इस जीव को अद्भुत विश्राम प्राप्त होता हैं। उस विश्राम में यह अपने आपके सहज स्वरूप का अनुभव करता है, यह अनुभव सम्यग्दर्शन है। उस अनुभव के होने के बाद जो निज की यथार्थ प्रतीति रहती है वह भी सम्यक्त्व वर्तना का प्रसाद है। उसका स्मरण और प्रतीति भी इस जीव को विलक्षण आनन्द प्रदान करती है। तो सम्यग्दर्शन ही हम आप सबका रक्षक है।

सम्वक् परिणाम से अतिरिकत अन्य अर्थों से आपकी रक्षा की असंभवता–अपने सम्यक परिणाम के अलावा और किसको बताओगे आप रक्षक? बड़े लम्बे चौड़े ढंग के महल भी बना लिये, वे महल सदा रहेंगे क्या? अथवा महलों को छोड़कर जाना न होगा क्या? ये महल मेरे रक्षक नहीं हैं। ये परिजन मित्रजन, सहयोगीगण भी सदा साथ न रहेंगे, ये भी इस जीव के मददगार न होंगे। लोक व्यवहार में जिस तरह कहा करते हैं उसकी बात कह रहे हैं। वस्तुतः तो कोई भी जीव किसी दूसरे की मदद नहीं करता। सबको अपना-अपना आनन्द प्रिय है। सभी अपना सुख पाने के लिए अपनी चेष्टा करते हैं। प्रत्येक संसारी प्राणी के कषाय उत्पन्न होती हैं, चाहे वह लोभ कषाय हो, माया हो, किसी पर वस्तु के प्रसंग में कोई इष्ट अनिष्ट की बात उत्पन्न होती है। उसकी सिद्धि के लिए यह जीव अपनी चेष्टा करता है, सो जब इसको यह विदित होता कि देखो भाई अमुक काम करने से या अमुक के अनुकूल चलने से मेरे को सुख होगा तो वह अपनी चेष्टा करता है, कोई किसी दूसरे का उपकार नहीं करता। तो प्रथम तो कोई किसी का कुछ करता ही नहीं और करता है तो यह जीव समझता है कि यह मेरा बहुत बड़ा प्रेमी है, किन्तु कर रहा है वह अपना ही कार्य। तो यह जीव अपने स्वार्थ के वश होकर कषाय से पीड़ित होकर यह सुख के लिए पाप कर्म का तो उपाय

समझता है, पर यह नहीं जान पाता है कि मैं अपने आपके स्वरूप की दृष्टि दूं और अनर्थ भिन्न इन परसंगों से अपनी दृष्टि हटाऊं तो मेरा भला होगा, यह बात उसके चित्त में नहीं आती। यही मिथ्या परिणाम है। तो मिथ्या परिणाम से ही जीव दुःखी है और सम्यक्त्व परिणाम जगे तो इस जीव को शान्ति का उपाय प्राप्त हो।

सम्यक्त्व के साधकों में ज्ञानी का व्यवहार और बाधकों से उपेक्षा–सम्यक्त्व क्या है? पर द्रव्य से, शरीर से, पर भावों से भिन्न आत्मा की श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है। अब इस प्रकार की आत्मप्रतीति के साधन गुण का यथार्थ श्रद्धा करना। इससे अपने आत्मा के साधक कौन कौन है, क्या उन उपायों को भी व्यवहारतः सम्यग्दर्शन कहते है जैसे देव शास्त्र, गुरु का यथार्थ श्रद्धान करना, इससे अपने आत्मा के सहज स्वरूप की प्रतीति में मदद मिलती है। सो अनुभव करके भी आप समझ रहे होंगे जो रागद्वेष रहित अपने गुणों में पूर्ण विकसित आत्मा है वह देव है, ऐसे देव की जब श्रद्धा होती है तो अपने आपके स्वरूप का भी परिचय होता है। मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान। यदि प्रभु परिचय के द्वारा अपने आपके स्वरूप का परिचय न हो तो वह प्रभु भक्ति हमारे लिए संसार से तिराने वाली नहीं बन सकती। हां, कुछ मंद कषाय हो, पुण्यबंध हो, संसार के सुख मिलें यह बात दूसरी है। लेकिन जैसे समझिये कि बकरे की मां कितने दिन तक बच्चे की जिन्दगी की खैर मनाये? मान लो कहीं इतवार को कसाई लोग धर्म का नाम लेकर बकरे की बलि चढ़ाते हों और किसी दिन एक इतवार गुजर गया और बकरी का वह बच्चा न पकड़ा गया, न मारा गया तो वह बकरे की मां बड़ा संतोष करती है कि हमारा यह इतवार अच्छा निकल गया। तो एक अहाने में कहते हैं कि बकरे की मां कितने इतवार की खैर बनाये? यों ही समझिये कि हम आपने यदि जीवन के ये कुछ वर्ष विषय भोगों में सुख सुविधाओं में गुजार लिये तो हम कितनी खैर मनावें, आखिर मरना होगा, भावनानुसार गतियों में जन्म लेना होगा। इसके कारण वर्तमान में पाये हुए समागमों में मस्त नहीं होना चाहिए।

जल में कमल की भांति संग से विरक्त रहने की शिक्षा–हम उपलब्ध संग समागम से विरक्त रहें। जल में रहने वाले कमल की तरह निर्लेप रहें। जैसे जल से भिन्न कमल हैं। जल में ही तो कमल उत्पन्न होता और जल में रहेगा तब तक वह खिला रहेगा, विकसित रहेगा, पुष्ट रहेगा, तो देखो कमल जल से ही उत्पन्न है, जल से ही पुष्ट है, फिर भी वह कमल जल से अलग रह रहा है। यदि वह फूला हुआ कमल–पुष्प जल में मिल जाय, मानो उसकी डंडी ढेढ़ी हो जाये और बढ़-चढ़कर वह फूल पानी में आ जाये तो वह फूल सड़ जाये, उसका जीवन नहीं रह सकता। तो यों ही समझिये कि मनुष्य घर में उत्पन्न हुआ और घर गृहस्थी से ही उसकी पुष्टि भी हो रही, फिर भी इस गृहस्थ मनुष्य को गृहस्थी से अलग रहना चाहिए अन्यथा गृहस्थी में लिपटकर, गृहस्थी में आसक्त होने पर कमल की भांति सड़ जायेगा। अर्थात् जीव दुःखी होगा, मलिन होगा। यही तो जीव का सड़ना है। तो जैसे जल में रहकर भी कमल जल से भिन्न रहता है इसी तरह इन समागमों में रहकर भी विवेकी मनुष्य इन समागमों से विरक्त रहता है। तो यथार्थ विवेक करना हमारा सहाय है। यदि हम विवेक से चिगे तो घबड़ायेंगे, दुःखी होंगे, अंधेरा छा जायेगा, पापकर्म का बन्ध होगा।

अपने स्वरूप की संभाल की यत्न की संभाल–भैया! अपने आपको बहुत संभालने की आवश्यकता है। तो यह साधन देव, शास्त्र, गुरू का श्रद्धान यह मुझे उन पापों से ही तो बचाता है और अपने आपके स्वरूप की स्मृति में सहयोग ही तो देता है। ऐसे मुक्ति के मार्ग में लगे हुए जो संत पुरुष हैं, साधुजन हैं वे गुरु कहलाते हैं। इन गुरुवों का भीतरी आत्मापयोग तकिये, उनको केवल एक अन्तः स्वरूप की ही धुन है, वे बाहर

शुद्ध सहज आनन्द का अनुभव करना, लेकिन क्या अपराध है, कैसी कमजोरी है, कैसा पाप है, कैसी दुष्परिणति है कि मैं अपने शुद्ध स्वरूप से वंचित रह रहा हूं, यो विवेकी अपने आप में अपनी निन्दा करता है। और गुरुवों के समक्ष जाकर अपने अपराध का निवेदन करता है। तो गुरु के समक्ष अपने आपके दोष को जाहिर करना, निन्दा करना यह तो है गर्हा और अपने आप में अपने दोषों की निन्दा करना यह है निन्दा। यों निन्दा और गर्हा का भाव रहता है। निन्दा गर्हा किया करता है सम्यग्दृष्टि पुरुष। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष व्रतों से संयुक्त मंद कषाय सहित होता हुआ निन्दा गर्हा से सम्पन्न होकर पुण्य का अर्जन करता है। सो पुण्य का अर्जन हो भी जाये, पर उससे होता क्या है? संसार से निकलने का रास्ता पुण्य नहीं है, किन्तु धर्म भाव है। अपने आपके सहज स्वरूप का श्रद्धान करना यह है संसार संकटों से निकलने का प्रारम्भिक उपाय। फिर भी उसी स्वरूप में मग्न होना यही है मोक्ष मार्ग में प्रगति।

पुण्ण-जुदरस वि दीसदि इट्ठ-विओयं अणिट्ठ-संजोय।
भरहो वि साहिमाणो परिजिज्जओ लहुय-भाएण।।४९।।

पुण्ययुक्त पुरुष के भी इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग के प्रसंग—इस संसार में कभी पुण्य का भी अर्जन जीव ने किया लेकिन उस पुण्य से आत्मा का पूरा नहीं पड़ा। देखो बड़े-बड़े पुण्यवान् पुरुषों में भी इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग देखे गए हैं क्या पुण्यवान् पुरुषों के स्वजन, धन सम्पदा का वियोग नहीं होता? कभी उस ही जीवन में पुण्य क्षीण हो जाये तो उसी जीवन में सम्पदा स्वजन का वियोग हो जाता है और जब आयु का अन्त आता है, उस समय सब छोड़कर जाना ही पड़ता है। कोई पुण्यवन्त उदाहरण में ऐसा न मिलेगा कि जिसको इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग न हुआ हो। श्री राम भगवान का चरित्र देख लीजिए बचपन से लेकर सारे जीवन में जब तक कि वह निर्ग्रन्थ मुनि नहीं हुए तब तक उन पर अनेक अनिष्ट संयोग इष्ट वियोग की बातें बीतती रहीं और भी अनेक उदाहरण ले लो कोई भी पुण्यवन्त ऐसा नहीं दिखता जिसको इष्ट का वियोग अनिष्ट का संयोग न हुआ हो। आदिनाथ भगवान भी तो पुण्यवान थे गृहस्थावस्था में उन्होंने भी बहुत-बहुत विकल्प किए। उनकी कथा जब सुनते है कि वे जब मुनि हुए तो ६ महीने का तो उपवास ठाना ही था ओर वे ६ माह तक रोज-रोज आहार चर्या को भी निकले, लेकिन जिनकी गृहस्थावस्था में इन्द्र भी सेवा करता था, स्वर्गों से भोगोपभोग की सामग्रियां आती थीं, और इन्द्र अब भी सेवा करता, लेकिन मुनि अवस्था में इन्द्र या देव के हाथ का आहार मुनिजन ग्रहण नहीं किया करते, सो ६ माह तक बराबर आहार-चर्या को निकले, पर विधिपूर्वक जल तक भी उन्हें न प्राप्त हो सका। बराबर अन्तराय आते रहे। अनेक उदाहरण मिलेंगे कि बड़े-बड़े पुण्यवन्तों को भी समय-समय पर इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग आदि उपस्थित हुए। यहां थोड़ा सा पुण्योदय से कुछ वैभव या खाने-पीने, पहनने, ओढ़ने, रहने आदि के साधन पाकर उनका क्या संतोष करना? यह सुख साधन भी सदा न रहेंगे, इनका भी वियोग होगा। तो यहां कुछ भी प्रसंग ऐसा नहीं है जो आत्मा के संतोष के लायक हो। केवल एक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चम्यक्चारित्र की आत्मा का रक्षक हैं बड़े-बड़े पुण्यवंतों के भी इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग देखे गए।

विशिष्ट पुण्ययुक्त के भी इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग की एक घटना—देखो तो सही साभिमान भरत चक्रवर्ती को भी अपने लघुभ्राता बाहुबलिके द्वारा पराजित होना पड़ा। ऋषभदेव के ये दो पुत्र थे भरत और बाहुबलि। भरत बड़े थे और बाहुबलि छोटे थे।, भरत का पुण्यवैभव बड़ा था। पुण्योदय से उन्होंने छः

खण्ड का राज्य पाया, चक्रवर्ती हुए। षट्खण्ड पर विजय पाकर जब अपनी राजधानी अयोध्या में घुसने लगे तो चक्ररत्न भीतर प्रविष्ट न हुआ। उसका कायदा है कि जब तक पूर्ण चक्रवर्तित्व न प्राप्त हो जाये तब तक वह चक्ररत्न भीतर नहीं प्रवेश हो सकता। अब भरत के सामने यह समस्या आयी कि छः खण्ड के राजा मेरे अधीन हो गए लेकिन अभी बाहुबलि ने यही उत्तर दिया कि हम तुम दोनों ऋषभनाथ के पुत्र हैं, आपको तो छः खण्ड का इतना बड़ा वैभव प्राप्त हो चुका है फिर भी आपको संतोष नहीं है। हम भी ऋषभदेव के पुत्र हैं, आपकी आधीनता हमें स्वीकार नहीं। हां बड़े भाई के नाते से हम आपको सत्कार करते हैं। पर चक्रवर्ती को कैसे सन्तोष हो? आखिर भरत बाहुबलि दोनों में युद्ध ठना। दोनों राज्य के सभी मंत्रियों ने विचार किया कि ये दोनों तो चरम शरीरी हैं। इनका तो युद्ध से कुछ बिगाड़ न होगा, व्यर्थ में लाखों की संख्या में लोग कट जायेंगे, इससे उन दोनों भाईयों में तीन युद्ध ठानने का निर्णय किया—जल युद्ध दृष्टि युद्ध और मल्लयुद्ध सो इन तीनों युद्धों में बाहुबलि विजयी हुए। मल्लयुद्ध में बाहुबलि ने भरत को अपने दोनों हाथों से ऊपर उठा लिया और वहां भी यह भाव रखा कि यह मेरा बड़ा भाई है, इसे जमीन पर क्यों पटकूं? तो यह भी एक भरत की पराजय है। आखिर बाहुबलि विजयी हुए। तो इस प्रसंग में यह बात देखिये कि बड़े-बड़े पुण्यवान पुरुषों को भी इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग होते रहते हैं।

पुण्य वैभव को त्यागकर धर्म में रत होने पर ही कल्याण लाभ—अब आगे की बात धर्म प्रसंग की विशेषतया है। बाहुबलि ने सोचा कि धिक्कार है इस वैभव को जिस वैभव के पीछे इतना युद्ध छिड़ा और इस चक्रवर्ती को अपने पाये हुए वैभव पर भी सन्तोष नहीं है। जब कोई उत्कृष्ट विजय होजाती है तब परिणाम अनुदार नहीं हुआ करते। बाहुबलि को वैराग्य जगा। और राजपाट छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि हो गए। मुनि होकर बराबर १ वर्ष तक एक ही स्थान पर ध्यानस्थ खड़े रहे। बरसात के समय में उनके शरीर पर बेलें भी लिपट गईं, आसपास सर्पों की वामियां भी बन गयीं, पर वे अपने स्थान से डिगे नहीं। इतना दुर्धर तप किया जिनकी स्मृति में, जिनकी भक्ति में। अब भी श्रवण बोल गोल में भक्तजन जाते हैं और बाहुबलि की मूर्ति के दर्शन करते हैं। तो बाहुबलि ने इतना कठिन तप किया फिर भी केवल ज्ञान न उत्पन्न हुआ। एक कवि के अभिप्राय से यह कथन आता है कि बाहुबलि को यह शल्य थी कि मैं भरत राजा की भूमि पर तपश्चरण कर रहा हूं और एक कवि के अभिप्राय से बाहुबलि को यह शल्य थी कि मेरे द्वारा मेरे बड़े भाई भरत का अपमान हो गया। खैर किसी भी प्रकार की शल्य रही हो, जब भरत चक्रवर्ती बाहुबलि के पास गए और नमस्कार करके विनती की कि महाराज यह सारा संसार असार है, यहां कोई सदा न रहेगा। बड़े-बड़े चक्रवर्ती इस धरती पर हो गए, पर यहां कोई टिक न सका। यहां किसी का कुछ नहीं है। यहां किसकी भूमि? आपके इस पवित्र हृदय को धन्य है जो ज्ञान और वैराग्य में अपनी लौ लगाये हुए हैं। मैं आपका दास हूं यों कहकर नमस्कार किया। उस समय बाहुबलि की शल्य छूटी और तुरन्त केवल ज्ञान हो गया। तो इस प्रसंग में यह देखिये कि बड़े-बड़े पुण्यवन्तों को भी इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग के प्रकरण आये और जब तक बाह्य तत्वों के सम्बन्ध में वे विकल्प बनाये रहे तब तक वे मुक्ति के पात्र नहीं हो सके। ऐसा जानकर कि इस संसार में पाप के फल में कुयोनियों में परिभ्रमण करना पड़ता है, पाप से हटें और पुण्य को भी हेय जानकर धर्म में लगे। देखो कभी पुण्य भी बंध जाय तो उसका उदय होने पर भी बड़े-बड़े पुण्यवानों के भी क्षण मात्र में बड़े से बड़े अनिष्ट होते हैं, यहां क्षणिक पुण्य क्षणमात्र में क्षीण हो जाता है।

सयलट्ठ-विसय-जोओ बहु-पुण्णस्स वि ण सव्वहा होदि।
तं पुण्णं पि ण कस्स वि सव्वं जेणिच्छिदं लहदि।।५०।।

बहुपुण्यवान के भी सर्वथा सकलार्थ विषय योग की असंभवता—बहुत बड़ा पुण्यशाली जीव हो तो भी उसको समस्त भोगोपभोग पदार्थ प्राप्त नहीं होते। जिसे प्रायः मनोवाञ्छित वस्तुएं बहुत बार प्राप्त हो जाती हैं। उसे लोग कहते है कि यह बड़ा पुण्यवान है, लेकिन ऐसा पुण्यवान यहां कोई नहीं है कि जिन जिन वस्तुओं की वह चाह करे वे समस्त वस्तुवें मिल ही जायें। यहां भी देख लो बड़े-बड़े ऊंचे धनिक लोग अधिकारी लोग जो जो चाहते हैं क्या वे सब ही हो जाते हैं? नहीं होते। नहीं होते तभी तोउनके यत्न में रहा करते हैं। ऐसा पुण्यवंत यहां कोई नहीं जिसकी पूर्णतया इच्छा पूरी हो जाये। यहां एक बात वस्तुस्वरूप के ढंग से समझिये। वस्तुतः ऐसी इच्छा कोई हो ही नहीं सकती कि जिसकी पूर्ति उसी समय हो जाये। यहां तो अभी यह कह रहे हैं कि सारी इच्छायें पूर्ण नहीं हो पातीं। कुछ न कुछ इच्छायें खाली रह जाती हैं, वस्तु स्वरूप की बात देखो कि कोई भी इच्छा पूर्ण उस काल में हो ही नहीं सकती। कैसी एक मोटी सी बात है कि देखो जिस समय इच्छा कर रहे हैं उस समय वह भोग या पदार्थ तो नहीं मिला हुआ है, अगर मिला हुआ होता तो इच्छा ही क्यों होती? जैसे किसी की इच्छा हुई कि आज तो इस काम में हजार रुपये का लाभ हो तो उस समय उसके हाथ में वे हजार रुपये हैं क्या, जिनकी वह इच्छा कर रहा? यदि वे रुपये उसके हाथों में हों तो वह उनकी इच्छा ही क्यों करे? उसकी इच्छा करने का भाव भी नहीं जागता यदि उसके हाथ में चीज रखी हो हां दूसरे के हाथ में चीज दिख जाये तो उसके बारे में वह सोच सकता कि यह चीज मुझे मिल जाये। यद्यपि उसे वह चीज अभी मिली नहीं, पर उसके मिलने के बारे में वह सोच सकता है। लेकिन कोई वस्तु अपने हाथ में हो, साथ ही अपने अधिकार में हो तो उसका भाव यह नहीं होता कि यह चीज मुझे मिल जाये। तो जिस चीज की इच्छा की जाती है उसका उस समय मिलना नहीं है, उसका मिलना कुछ क्षण बाद में होगा। लेकिन यह भी देखिये कि जिस क्षण में उस चीज का मिलना होगा उस क्षण में वह इच्छा न रहेगी।

इच्छा व उपभोग की एक काल में असंभवता—इच्छा वह उपभोग युगपत् नहीं हो सकते इस सम्बन्ध में एक मोटा दृष्टान्त लीजिए कि कोई दरिद्र जवान पुरुष इतना दरिद्र कि खाने को चने भी न जुड़ते थे। बचपन से लेकर अब तक दरिद्र रहा लेकिन खाने को चने भी न जुड़े। उसकी चाह बनी रही कि मुझे खाने को चने मिल जायें और जब सम्पन्नता आयी, घर में ढेरों चने रहने लगे उस समय वृद्धावस्था में दांत न रहने के कारण वह चने न चबा सका। यों उसके जब चने चबा सकने की सामर्थ्य थी तब चने न जुड़े और जब चने चबा सकने की सामर्थ्य न रही तब चने जुड़े, तो वह कभी चने न चबा सका। ऐसी ही बात इच्छा और उपभोग की है। जब इच्छा है तब उपभोग नहीं और जब उपभोग है तब इच्छा नहीं। यह बात मोटे रूप से समझ लीजिए। अब सूक्ष्म रूप से भी समझ लीजिए—इच्छा का जो क्षण है उस समय है वेद्यभव, मुझे यह चीज भोगना है ऐसा परिणाम और जिस समय चीज मिलती है, उपभोग है, उस समय होता है वेदक भाव। तो वेद्य वेदक भाव एक ही प्रसंग के कभी एक साथ नहीं होते। जब वेद्यभाव है तब वेदक भाव नहीं और जब वेदक भाव है तब वेद्यभाव नहीं। तो यों समझिये कि जब हम इच्छा करते हैं तो चीज नहीं हैं सो दुःखी होते हैं और जब चीज मिलती है तो उसकी इच्छा ही न रही, फिर उससे लाभ क्या लूटा? तो यों समझिये कि यह इच्छा अनर्थकारिणी है, व्यर्थ है। जिस काल में इच्छा होती है उसी काल में में उसकी पूर्ति हो जाये तब तो

भला है, संतोष की बात है, लेकिन ऐसा कभी न हुआ, न कभी हो सकेगा। इच्छा रहेगी तब दुःख ही है।

इच्छा के अभाव में ही सुख की निष्पत्ति—एक बात और भी समझिये कि हम जब जब सुखी होते हैं तब तब चीज के मिलने से सुखी नहीं होते हैं, किन्तु इच्छा के नष्ट होने से सुखी होते हैं। जैसे इच्छा हुई कि एक कोठी बनवा लें तो उस कोठी के बनवाने में बड़ा श्रम करना पड़ा, बड़ी-बड़ी आकुलतायें सहनी पड़ीं किन्तु जब वह कोठी बन चुकी तो वह बड़े सन्तोष की श्वास लेता है और बड़ा आनन्द मानता है। तो वह आनन्द कहीं उस कोठी के बनने से नहीं हुआ किन्तु कोठी बनाने की जो इच्छा चल रही थी अब वह इच्छा न रही। उस इच्छा के न रहने का उसे सुख हुआ है। यदि कोई ज्ञानी पुरुष कोठी बनवाने की इच्छा ही न करे, और विरक्त होकर उस इच्छा को शान्त कर दे तो क्या वह सुखी न होगा? चीजों को जोड़-जोड़ कर कोई सुखी नहीं हो सकता। जो भी सुखी होगा, शान्त होगा वह इच्छा के विनाश के उपाय से ही शान्त होगा। तभी तो बड़े-बड़े राजा-महाराजा चक्रवर्ती तीर्थंकरों को भी घर, राजपाट सब छोड़कर केवल अविकार ज्ञानस्वभाव मात्र निजस्वरूप का ध्यान किया और ज्ञान परिणति से, ज्ञानोपयोग से अपने आप को ज्ञानमात्र ही निरखते रहे। जब ज्ञानस्वभाव में ज्ञान की वर्तना एक रूप से बन जाती है, बस वही तो एक अध्यात्मयोग है। उस योग साधन में लगे हुए पुरुषों ने ही आनन्द पाया और उस आनन्द के बल पर बंधे हुए कर्मों की निर्जरा की और जब समस्त कर्म दूर हो गए तब उन्होंने मुक्ति लाभ प्राप्त किया। तो वास्तविक शान्ति इस जीव को प्राप्त होगी। इच्छाओं से शान्ति नहीं प्राप्त होती। इच्छा तो इच्छाओं का तांता बढ़ाते रहने का कारण बनती है। इच्छानुसार कुछ चीजें मिले तो उसकी इच्छा और आगे बढ़ गई। वह भी चीज मिल जाये तो इच्छा और भी बढ़ गई। इच्छा के बढ़ने की कोई सीमा नहीं रहती। तो इच्छाओं से न शान्ति मिलती, न सुख मिलता और न आत्मा का पूरा पड़ता। ऐसा जानकर इस लौकिक वैभव की इच्छा न करें और पुण्य पाप दोनों का फल संसार है ऐसा जानकर पाप से तो अत्यन्त विरक्त हों ही और इस पुण्य में भी आत्मीय रूप की श्रद्धा न करें तो अपने को मुक्ति का मार्ग प्राप्त होगा।

कस्स वि णत्थि कलत्तं अहव कलत्तं ण पुत्त संपत्ती।
अह तेसिं संपत्ती तह वि सरोओ हवे देहो।।५१।।

मनुष्य भव में इष्ट के अलग से और अनिष्ट के योग से क्लेशोपभोग—यह जीव संसार में अनेक कुयोनियों में भ्रमण करता हुआ कभी सुयोग से मनुष्य भव में भी आता है तो वहां भी इसे अनेक दुःख सहन करने पड़ते हैं। किसी मनुष्य के स्त्री नहीं है तो किसी मनुष्य के स्त्री है पर पुत्र नहीं हैं किसी के पुत्र भी हो तो शरीर रोगी रहता है। एक न एक अनिष्ट संयोग मनुष्य के हो रहा हैं लोक में पुण्य फल विषय साधनों के समागम को मानते हैं। किसी के वैभव हो, स्त्री, पुत्रादिक हों तो माना जाता है कि यह बड़ा पुण्यवान् है। इसका पुण्य बहुत फल रहा है किन्तु इस पुण्य फल में वास्तविकता देखो तो सार कुछ भी नहीं है। जीव जब केवल अपने ज्ञान स्वरूप का ही धनी है, ज्ञान के सिवाय जीव का अन्य कुछ कर्त्तव्य नहीं हो पाता। जितने भी जो कुछ सुख-दुःख विकल्प हैं, वे सब ज्ञान के ही तो परिणमन हैं। विरूद्ध परिणमन विभाव रूप परिणमन है। जैसी ज्ञान में कल्पना जगती है उस ही प्रकार से अनुभूति होती है। कहीं लाखों रुपयों का घाटा भी हुआ हो और खबर हो जाये कि इसमें दो लाख का फायदा हुआ है तो यह दुःखी नहीं रहता, क्योंकि ज्ञान में वैसा ही भाव समाया हुआ है और कहीं लाभ भी हो और खबर मिल जाये कि इसमें तो इतने का नुकसान हो गया है

तो वह दुःखी रहता है क्योंकि कल्पना का ही तो असर होता है जीव पर। बाहरी बातों का असर नहीं हुआ करता है अथवा कुछ भी हो, अब इसका मेल है, बाहरी नुकसान है तो उसने नुकसान की कल्पना की व इसी मेल से विषयों में उपचार किया जाता हैं कि इस हानि लाभ से इनको सुख-दुःख हुए हैं, पर सुख-दुःख तो जीव को उसकी कल्पना से ही हुआ करता है। तो यह संसारी प्राणी इष्ट वस्तु के समागम में अपने को सम्पन्न समझता है। सो ऐसा किसी का भी पुण्य नहीं है कि जो चाहे सो उसे प्राप्त हो ही जाये।

ऊपर से शान बनाने और अन्तः पीड़ित होने के द्वितीय क्लेश—अब भी जितने भी लोग देखे जाते हैं उन सब पुरुषों से पूछा जाये कि क्या कोई सभी प्रकार से सुखी है? तो भले ही कोई शान में आकर कह दे कि मैं सब प्रकार से सुखी हूं क्योंकि अगर ऐसा कहे कि मैं दुःखी हूं, तो इसमें पाप के फल की बात आती है। तो वह कह देता है कि मैं सब प्रकार से सुखी हूं, किन्तु उसके चित्त में तो अनेक क्लेश बसे हुए हैं। कुछ कल्पनायें करता है और क्लेश का अनुभव करता है। धन कम है, विशेष न हो, स्त्री आज्ञाकारिणी न हों, अथवा स्त्री ही न हो, अथवा पुत्र न हुए, कुपूत हुए, सपूत होकर भी पूर्ण रूप से अनुकूल नहीं हैं, कितने ही विकल्प बनाकर यह जीव दुःख अनुभव करता हैं सो इस गाथा में बता रहे हैं कि ऐसा पुण्य किसी के भी नहीं है कि जो चाहे सो मिले।

आत्मा का कलत्र और पुत्र—लोग स्त्री की प्रधान रूप से चाह करते हैं क्योंकि घर ही नाम स्त्री का है और स्त्री का नाम है कलत्र। कलत्र अर्थात् शरीर, उसकी जो रक्षा करे उसे कलत्र कहते हैं। यानि पुरुष की रक्षा, भोजन पान आदिक का विधान करने से स्त्री का नाम कलत्र है। न हो स्त्री तो वह भी स्त्री विहीन होकर कल्पनायें करके दुःखी होता है और कलत्र हुई तो पुत्र नहीं है। जो अपने वंश को पवित्र करे उसे पुत्र कहते हैं। पुत्र की चाह लोग इसीलिए करते हैं कि मेरा वंश चले। किन्तु बताओ कि यह जीव मरकर कहीं गया तो इसके नाम से अब लाभ क्या अथवा कितने दिनों का नाम? अथवा नाम लेने वाला भी कौन? किसी का यदि स्वार्थ सिद्ध होता है तो अपनी गरज से भले ही कोई कुछ नाम ले ले, लेकिन है कौन नाम लेने वाला? यह संसार सब असार है, यहां सार बात कुछ है ही नहीं, फिर ऐसे स्वप्न देखना कि मेरा वंश चलेगा, ये सब बेकार की बातें हैं और वस्तुतः देखो तो आत्मा का कलत्र कौन है? आत्मा ही स्वयं। आत्मा का कलत्र है ज्ञान। यह है ज्ञान शरीर। ज्ञान ही इसका शरीर है। मेरे आत्मा का शरीर क्या? सिर्फ ज्ञान उस ज्ञान की जो रक्षा करे वही मेरा कलत्र है। मेरे ज्ञान की रक्षा करने वाला मैं स्वयं हूं। ज्ञान यदि सही बना रहे तो सच समझिये कि यही वैभव है। बुद्धि में दोष आये बुद्धि मलिन हो जाये, बुद्धि पाप की ओर चले, बुद्धि में अधीरता हो, घबराहट हो तो उसे क्लेश है। बुद्धि यदि निर्मल है तो बाहर में कुछ भी व्यतीत हो उसका भी असर स्वच्छ बुद्धि वाले जीवों पर नहीं पड़ता तो बुद्धि की स्वच्छता, निर्दोषता होने की भावना करना चाहिए। हे प्रभो! मैं और कुछ नहीं चाहता, बस मेरी बुद्धि, मेरा ज्ञान निर्दोष रहे। तो आत्मा का कलत्र वस्तुतः आत्मा है और आत्मा का पुत्र भी आत्मा ही है। पुत्र उसे कहते हैं जो वंश को पवित्र करे, मेरा वंश चैतन्य वंश है, जो सहज ज्ञानस्वरूप है, जितना मैं सदा रहता हूं, मेरे साथ जिसका अन्वय है, ऐसा जो चैतन्य स्वरूप है यही मेरा वंश है। उस चैतन्य स्वरूप को पवित्र करने वाला कौन? यह मैं ही स्वयं। अपनी दृष्टि निर्मल बनायें, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की परिणति बनायें तो समझिये कि हम अपने चैतन्य वंश को पवित्र कर रहे हैं। तो वस्तुतः पुत्र भी मेरा मैं ही हूं। किन्तु इस मर्म को न जानकर मोही जीव कलत्र, पुत्र अथवा इन अविनाशी स्वपनों की चाह

करता है। कभी इनकी प्राप्ति भी हो गई तो देह सरोग है। श्वास, कुष्ट, उदर आदिक व्याधियां हैं तो उनके कारण दुःखी रहता है।

अह णीरोओ देहो तो धण-धण्णाण णेय संपत्ती।
अह धण-धण्णं होदि हु तो मरणं भक्ति दुक्केदि।।५२।।

देह नीरोग होने पर अन्य अलाभ के क्लेश—कदाचित् देह भी नीरोग रहा तो दरिद्रता, धन धान्य की प्राप्ति नहीं है सो भी यह जीव दुःखी रहा। अथवा धन-धान्य की खूब प्राप्ति भी है, शरीर भी निरोग है, वैभव भी खूब है, साधन सुविधायें भी मनोवांच्छित हैं लेकिन उसकी आयु विशेष नहीं है। वह शीघ्र ही मरण को प्राप्त हो जाता है। इस तरह यह जीव मनुष्य भव में आकर सुखी नहीं रह पाया। सुख का साधन तो विषय साधन है ही नहीं। यह जीव मानता है सुख साधन विषय उपभोग और वे मनोवांच्छित कभी हो ही नहीं सकते। पर वस्तु पर किसी का अधिकार ही क्या? मैं अपने स्वरूप से सत हूं और बाह्य पदार्थ ये सब विषय अपने स्वरूप से सत् हैं, मेरा उनसे क्या नाता? ये बाह्य पदार्थ जब आने हों आयें, जब बिछुड़ने हों बिछुड़े, उनमें जब जो परिणमन होता हो, उनके अधिकारी हम नहीं हैं। पुण्योदय के निमित्त से समागम प्राप्त हो जायें लेकिन उन समागमों की परिणति उनके ही आधीन हैं, मेरे आधीन नहीं हैं। भिन्न सारहीन, जिनमें मेरा कुछ स्वरूप ही नहीं हैं उनकी लालसा रखना यह व्यामोह है और इसी का क्लेश हैं। कभी यह जीव नीरोग देह वाला भी हुआ तो धन-धान्य न मिले, वैभव मिले तो शीघ्र ही मरण को प्राप्त हो गया। वस्तुतः किन्हीं भी प्रसंगों में इस आत्मा को कोई भी क्लेश नहीं है, क्लेश तो कल्पनाओं से होता है।

ज्ञानबली के रुग्णावस्था में भी प्रसन्नता—सबसे बड़ी भारी घटना तो शरीर के रुग्ण होने की हैं पर जिसका ज्ञान बल विशद है, सही है वह कैसे ही रुग्ण शरीर में भी अपने आपको प्रसन्न रख सकता है सनत कुमार चक्रवर्ती जो कि कामदेव थे। उनके समान सुन्दर रूप उस समय किसी का नहीं था, परन्तु जब वे निर्ग्रन्थ मुनि हुए तो कुछ ऐसा उदय आया कि उनके शरीर में कुष्ठ हो गया। कुष्ठ हो जाने के बाद फिर सुन्दरता की तो बात क्या, विड्रूप होने लगता है। लेकिन उस अवस्था में भी सनत कुमार चक्रवर्ती को मन में रंच भी खेद न था। वे तो अपने ज्ञानस्वरूप, आत्मतत्त्व को निरखकर प्रसन्न ही रहा करते थे। एक देव ने आकर उनकी परीक्षा की। वैद्य का रूप धारण कर अनेक बार कहा कि कैसे ही कठिन शारीरिक रोग हों मैं सब रोगों को मिटा देता हूं। मेरे पास समस्त शारीरिक रोगों की अमोघ दवा है तो बार-बार कहे जाने पर सनत कुमार चक्रवर्ती मुनिराज कहते हैं कि हे वैद्यराज, मुझे तो जन्म मरण का कठिन रोग लगा है उसे यदि दूर कर सकने की कोई दवा हो तो दे दीजिए। उस जन्म मरण के रोग से मैं बहुत परेशान हो रहा हूं। तो शरीर रूग्ण भी हो, यदि कोई अन्तः हिम्मत बनाता है अर्थात् अपने आप की प्रतीति करता है, 'मैं ज्ञानमात्र हूं' ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, वह ज्ञानभाव संभला हुआ रहे, मेरे स्वरूप को यथावत निरखाये हुए रहे तो मेरे को सब समृद्धियां हैं। इस तरह का संतोष जिनके हुआ है वे रुग्ण अवस्था में भी किसी प्रकार की घबराहट नहीं करते।

धन धान्य संपत्ति न्यूनता में भी खेद के अकर्त्तव्य की शिक्षा—धन-धान्य की प्राप्ति यदि कम है तो भी उसमें खेद करने की कोई बात नहीं। ये सब बाहरी बातें हैं। जो पुरुष बहुत बड़ा धनी भी है वह भी कर क्या लेता है धन का? वह अधिक से अधिक इतना ही तो कर पाता हैं व्यवहारतः कि भूख, प्यास मिटा ले, ठंड, गर्मी मिटा ले, इसके अतिरिक्त और कर ही क्या पाता है? अन्य जो कुछ करना लोग मानते हैं। वह तो

सब असार है। केवल कल्पना की बात है। वे लोग मेरे विषय में जान जायें कि यह भी धनी है। इस बुद्धि से धन संचय में जो आसक्ति रहती है उसकी गति तो बड़ी कठिन है। तो बड़े पुरुष भी इस धन धान्य से कोई अपना लाभ नहीं लूट पाते। न मिले धन वैभव तो कोई खेद की बात नहीं हे। किन्तु ये मोही प्राणी मानते यह हैं कि मुझे वैभव मिले तो मैं सुखी कहलाऊं।

सर्व वैभव प्राप्त होने पर भी मरण से क्लेश मानने का व्यर्थ व्यामोह–कदाचित् पुण्ययोग से धन-धान्य वैभव भी प्राप्त हो गया तो उसका मरण शीघ्र हो जाता है, आयु कम मिलती है। यदि मर गए, फिर इस भव में पाये हुए वैभव से क्या लाभ पाया? लोग ऐसा समझते हैं कि मरण एक बहुत बड़ी विपत्ति है, किन्तु विवेकी पुरुष विचार करें तो मरण नहीं किन्तु जन्म लेना बड़ी विपत्ति है। मरण के बाद तो मोक्ष भी मिलता लेकिन जन्म के बाद मोक्ष नहीं मिलता। अरहंत भगवान, जिनके चार अघातिया क्रर्म हैं जिनके वेदनीय, आयु नाम और गोत्र ये चार कर्म रहे तो आयु का जब क्षय होगा तो चार घातिया कर्म एक साथ खिरेंगे दूर होंगे, तो आयु के क्षय का ही नाम मरण हैं उस मरण का नाम है पंडित-पंडित मरण अथवा निर्वाण। लेकिन देखो–उस मरण के बाद सदा के लिए शान्ति प्राप्त होती है किन्तु जन्म के बाद तो नियम नहीं है कि वह शान्ति पा लेगा। तो मरण विपदा नहीं किन्तु जन्म विपदा है और फिर वस्तु स्वरूप की दृष्टि से देखो तो जीव का मरण क्या? जगत में जितने भी पदार्थ हैं वे सब उतने ही है, उनका कभी अभाव नहीं होता। मैं भी एक सत् हूं, हूं ना, मेरी भी सत्ता है। तो मेरा भी कभी अभाव न होगा। तो स्वरूप दृष्टि करके देखिये तो मैं अविनाशी हूं। मेरा मरण कहा? मेरा प्राण है चैतन्य, ज्ञानदर्शन। पदार्थ का प्राण वह कहलाता कि जिसके निकलने पर पदार्थ ही न रहे। जैसे अग्नि का प्राण गर्मी। गर्मी निकली तो अग्नि कुछ नहीं रहती इसी तरह आत्मा का प्राण क्या? चैतन्य चैतन्य स्वरूप अलग हो तो आत्मा रह ही नहीं सकता। यद्यपि ऐसा कभी न होता, न होगा कि आत्मा का चैतन्य प्राण निकला वह तो स्वरूप है। प्रयोजन यह है कि पदार्थ का स्वरूप ही पदार्थ का प्राण कहलाता है। तो मेरा प्राण चैतन्य स्वरूप है, उसका कभी वियोग नहीं होता। तो मेरा मरण क्या?

देह परिवर्तन रूप मरण में क्लेश की अननुभव्यता–जिसे मरण कहा जाता है वह तो एक ऐसी अवस्था है कि जैसे कोई पुरुष पुराने महल को छोड़कर नये महल में पहुंचे। किसी का घर पुराना हैं उसमें जगह-जगह अंधेरा सा रहता है, बड़ा अटपटा है तो वह अपने रहने के लिए एक नई कोठी बनवाता है। उस नई कोठी में जाने के लिए वह उद्घाटन करता है, उत्सव मनाता है, समारोह करता है, खुश होकर जाता है वह उस नई कोठी में। तो यह तो एक पर्याय की बात है। अब जीव की बात देखिये–जीव का यह शरीर पुराना घर हो गया, इन्द्रियां शिथिल हो गयीं, सुनाई ठीक नहीं देता, दिखाई भी ठीक नहीं देता, चलते भी नहीं बनता, भूख भी खत्म सी हो रही और अनेक प्रकार की अशक्तियां भी आ गयीं तो इस जीव को नया शरीर मिलने का प्रसंग चल रहा है। आयु बन चुकी, जहां जन्म लेगा, वहां सब भविष्य बन गया। अब यह इस पुराने महल को छोड़कर जब उस नये महल में प्रवेश करने को होता है तो उत्सव मनाने की बात तो दूर रही, यहां अन्य लोग भी रोते हैं और वह भी बड़ा विह्वल होता है। अरे जैसे लोग पुराने महल को छोड़कर नये महल में जाने के लिए कभी दुःखी नहीं होते, ज्ञानी पुरुष भी पुराने महल को छोड़कर कहीं नई जगह जाने के लिए वे दुःख नही मनाते। वे जानते हैं कि मैं तो पूरा का पूरा यहीं हूं। मेरे में जो कुछ है वह सब मैं अपने साथ लिए जा

रहा हूं। मेरा जो कुछ न था वह सब रह गया, रहने दो, वह तो मेरा था ही नहीं। मेरा मैं ज्ञानस्वरूप हूं, सो उसके साथ पूरा जा रहा हूं। यह देह मेरा न था, यह वैभव मेरा न था। स्वजन, मित्रजन मेरे न थे सो वे जहाँ के तहाँ रह गए। उसको किस प्रकार का क्लेश?

जीव के सत्य वैभव के गुणसम्पदा के वियोग की असंभवता—जैसे कोई बड़ा ऑफिसर जब उसका तबादला होता है तो उस समय उसे बड़े साधन मिलते हैं। सामान धरने के लिए एक मालगाड़ी का पूरा डिब्बा मिलता है। बैठने के लिए एक छोटा डिब्बा अलग मिलता है। और जहां जायेगा वहां पहले से खबर है, यारी भी हो गयी, लोग भी स्वागत के लिए तैयार हैं, वहां भी बड़ा प्रबन्ध बन गया है तो ऐसे उस तबादला करने वाले ऑफिसर को क्लेश का क्या प्रसंग है? तो यों ही समझिये कि हमारा तबादला हो रहा है, अभी भव में हैं, इसके बाद कहीं अन्यत्र जायेंगे। उस समय मेरी जितनी सुविधायें हैं, मेरे जितने गुण हैं, मेरा जितना स्वभाव सम्पदा है वह सबका सब मेरे साथ जा रहा है और जहां मैं जाऊंगा वहां के लोग अब से ही स्वागत के लिए तैयार हैं, मेरी चर्चायें हैं। ऐसे समय में एक पुराना घर छोड़कर जाने में कष्ट की क्या बात है? मानो आज जितनी सम्पदा है, यहां जीवन में भले भाव करके रहे हैं तो पुण्योदय मैं इससे भी कई गुणी सम्पदा वाली जगह में जा रहे हैं, फिर उसमें खेद क्या? सत्य तो यह है कि जिस पुरुष को अपने आत्मस्वरूप का भान है, अपने आपके उस सहज ज्ञानानन्द स्वरूप में आत्मारूप से प्रतीति है उसको तो कुछ क्लेश ही नहीं है। मोह हो तब क्लेश हो। जब मोह न रहा तो वहां क्लेश का क्या प्रसंग? बात तो ऐसी है लेकिन यह जीव अज्ञान से, मरण से, दरिद्रता से, शरीर के रुग्ण होने से अपने आप में विघ्न समझता है। तो यहां आचार्य बतलाते हैं कि इस जीव को सुयोग से कभी मनुष्य भव भी मिला तो उसको ये सारे क्लेश भोगने पड़ रहे हैं।

कस्स विदुट्ठ-कलत्तं कस्स वि दुव्वसण-वसणिओ पुत्तो।
कस्स वि अरि सम-बंधू कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया।। ५३।।

दुष्ट कलत्र प्राप्ति का क्लेश—किसी पुरुष की स्त्री दुष्टा है। किसी पुरुष का पुत्र खोटे व्यसन में पड़ा हुआ है, किसी का बन्धु शत्रु के समान बन रहा है, किसी की पुत्री दुश्चरित्र हो गयी है, ये भी दुःख इस मनुष्य को देखने पड़ते हैं। स्त्री का विपरीत होना, दुष्ट होना, कर्कशा होना, यह इस गृहस्थ के जीवन के लिए सदा खुला सा है, क्योंकि लोग स्त्री को अर्द्धांगनी कहते हैं, सहयोगिनी कहते हैं, पत्नी कहते हैं। जैसे पति का अर्थ मालिक है ऐसे ही पत्नी का अर्थ मालकिन है। तो जैसे किसी की पत्नी दुष्ट हो तो उसका लौकिक जीवन में फिर शान्ति का क्या आधार है? तो इस तरह इस मनुष्य को दुष्ट स्त्री का सहवास मिला उस मनुष्य की व्यथा देखो। जो मनुष्य दुकान पर व्यापार कार्य में अनेक लोगों से अनेक बातें सुनता रहता है, अनेक लोगों की गाली सुने, प्रतिकूल बातें सुनें, दुर्वचन सुनें और अनेकानेक कष्ट सहे, ऐसे बड़े कष्ट से व्यापार करके दुकान करके दिनभर अपने चित्त को क्षुब्ध करके घर में आता है भोजन करने के लिए, लेकिन वह स्त्री कर्कश कठोर वचन बोलती है, झुंझला देती है, वचन वाणों का प्रहार करती है तो उस मनुष्य की स्थिति देखो—बाहर में भी पिटा और घर में भी वह पिटा। तो ऐसी दुष्ट स्त्री का मिलन यह मनुष्य के लिए एक दुःख की बात है। यह पुण्य होकर ही कुछ पाप की ही बात है।

दुर्व्यसनी पुत्र के लाभ का क्लेश—किसी को दुर्व्यसनी पुत्र मिल जाता है। वह भी कल्पना करके देखिये अथवा कहीं साक्षात् देख लीजिए। किसी का पुत्र यदि खोटे व्यसन में लग गया, उल्टी चाल चलता है।

घर की ही जड़ काटता है तो उस पुत्र से घर बरबाद हो जाता है। वे माता-पिता भी हैरान हो जाते हैं। माता-पिता का भी उस पर प्रेम नहीं रहता, तभी तो जो कुछ विवेक वाले लोग हैं वे अपनी जिन्दगी में नाबालिग पोतों के नाम से सम्पदा लिख जाते हैं, पर पुत्र को नहीं देते। वे जानते हैं कि इसको दिया तो यह सम्पदा को समाप्त कर देगा, फिर ये छोटे-छोटे बच्चे किसके सहारे पलेंगे-पुसेंगे। तो किसी का पुत्र यदि दुर्व्यसनी हो गया तो यह भी उसके लिए बड़े खेद की बात रहती है।

वस्तुतः किसी भी समागम में अशान्ति की अनिवार्यता का अभाव—एक तरह से यदि देखो तो ये समागम भी इस जीव के लिए कोई खेद करने वाले नहीं है। यह भी चाह करके, कल्पना करके उनमें खेद मानना है। यदि स्त्री विपरीत है, दुष्ट है तो यह मनुष्य तो और भी अधिक शान्त रह सकता है। उपेक्षा कर देगा उसका राग न सतायेगा, उससे प्रीति छूट जायेगी तो यह तो उसके लिए लाभ की ही बात हैं मगर ऐसी बात ज्ञानी पुरुष ही तो कर सकेगा। अज्ञानी तो इसमें खेद मानता हैं किसी का पुत्र दुर्व्यसनी हो, खोटे मार्ग पर चलता है तो चलो छुट्टी मिली। अब उसका विकल्प तो ज्यादा न करेगा। लोगों में एक प्रकट ऐलान करा देगा कि मेरा अब इस पुत्र से कोई वास्ता नहीं है, इसे कोई कुछ दे-ले तो वही जाने। यदि पुत्र सपूत हुआ तो लोग बड़ा सुख मानते हैं किन्तु सपूत की भी बात देख लो। यदि पुत्र आज्ञाकारी है, सपूत है तो पिता उस कुपूत से भी अधिक सपूत के कारण दुःखी रहेगा, क्योंकि पुत्र सुहाता है, आज्ञाकारी है तो पिता के चित्त में यह बात समाती है कि मैं अधिक-से-अधिक धन जोड़कर इसे रख दूं, अधिक से अधिक सुख सुविधायें बना दूं। यों वह पिता उससे निवृत नहीं हो पाता, उसी में लीन रहा करता है। तो सपूत हो तो क्या, कूपूत हो तो क्या? इनके सम्बन्ध से इस जीव को शान्ति नहीं प्राप्त होती।

व्यामोह वश दुष्ट कलत्र, दुर्व्यसनी पुत्र व अरिसम बन्धु के संग का काल्पनिक क्लेश—दुष्ट स्त्री हो तो क्या, भली आज्ञाकारिणी हो तो क्या, किसी भी परजीव के मोह में लगाव में यह जीव संकटों से मुक्त होने का मार्ग नहीं पाता, लेकिन यह मोही प्राणी इन सुहावने समागमों में ही सुख पाता है। सुयोग से मनुष्य हुआ तो वहां भी इस जीव को ऐसे बड़े क्लेश मानने पड़ते हैं किसी का भाई शत्रु समान हो या यह महसूस कर रहा तो वह और किसी को तो देख ले पर भाई को नहीं देख सकता। यह द्वेष की ज्वाला, यह विरोध की ज्वाला कितना इस जीव को दुःखी करती है। किसी को पुत्री यदि दुश्चरित्रा हो गयी, खोटे मार्ग में लग गयी तो उसके मां-बाप को कितना बड़ा क्लेश रहता है? शर्मिन्दा रहें अथवा किसी कार्य में मन ही न लगे, बड़ा दुःख महसूस करते हैं। तो उस समय इस जीव को क्लेश ही पहुंचाता है, भ्रमण करते हुए यह जीव कभी सुयोग से मनुष्य भी बना तो मनुष्य होकर भी यह दुःखी रहा। संसार में कोई भी गति सुख के साधन भूत नहीं है। सारा संसार दुःखमय है, इस संसार-चरित्र को निरखकर संसार की असारता की भावना करना। सो संसार अनुप्रेक्षाओं के भानें, इस जीव को पर से निवृत्ति का अवसर होता है और अपने आपके शुद्ध स्वरूप में इसकी रुचि जागती है।

मरदि सुपत्तो कस्स वि कस्स वि महिला विणस्सदे इट्ठा।
कस्स वि अग्गि-पलित्तं गिहं कुडंबं च डज्झेई।।५४।।

मनुष्यभव में इष्ट विनाश की वेदना—यह जीव संसार में अनेक योनियों में भ्रमण करता-करता मनुष्यभव में भी आता है। और वहां प्रर्याप्त मनुष्य होता है तो भी सुख नहीं हैं मनुष्यों में सुख सांसारिक दृष्टि से यह भी माना जाता है कि स्त्री मिले, पुत्र मिले, वैभव मिले, लेकिन प्रथम तो ये इच्छानुसार मिल जायें यह

ही कठिन हैं कदाचित मिल भी जायें तो शरीर रोगी रहे तो इन चीजों के मिलने से उसे सुख न हो सका। शरीर भी निरोग रहा और शीघ्र ही मरण को प्राप्त हो गया तो उनसे लाभ क्या मिला? और न भी मरण हो पर ये समागम कहो सभी बिछुड़ जायें, स्त्री दुष्ट हो जाये, पुत्र दुर्व्यसन में लग जाये, बन्धु अरिसम बन जाये, पुत्री दुश्चरित्र हो जाये तो उसका महान् क्लेश भोगना पड़ता है। कभी स्त्री भी आज्ञाकारिणी हो, चतुर हो और पुत्र-सुपुत्र हो लेकिन किसी का सुपुत्र मर जाता है, किसी की इष्ट स्त्री गुजर जाती है तो वह इष्ट वियोग का कठिन दुःख पाता है।

वर्तमान जीवन में ही अतीत सुख-दुःख के थोड़े हिसाब की निरख—अपनी जिन्दगी में सुख-दुःख का हिसाब तो लगाओ। बचपन से ही तो आपको अब तक की जिन्दगी में सुख कुछ नहीं मालूम हुआ होगा। दुःख ही दुःख मालूम हुआ होगा। जब बच्चे थे तब जो चाहे धमका देता था, रह जाते थे। मनमाना खेल नहीं खेल पाते थे, स्वच्छन्द प्रवृत्तियों से रोकने वाले माता-पिता गुरुजन थे, उनका कष्ट भोगा। यद्यपि वे सब बातें हित के लिए थीं, लेकिन बालक तो नहीं मानते कि ये बातें मेरे हित के लिए हैं। तो बचपन में उसे यह कष्ट होगा। जब कुछ बड़े हुए तो शादी के सिलसिले में नाना विकल्प किए। कुछ लोग तो इन्हीं विकल्पों को बढ़ा-चढ़ाकर अपना दिमाग भी खराब कर लेते हैं। वे कष्ट सहें। शादी होने के बाद चूंकि उसने समझा कि मेरा तो इस पर अधिकार है, सो जरा-जरा सी बात प्रतिकूल मान-मान कर उसका मानसिक कष्ट सहना रहा। जब बच्चे हुए तो उनके पालन-पोषण की चिन्ता में व्यस्त रहा और सबसे कठिन दुःख तो मनुष्य को यह है कि इन मोही, पापी, रोगी मनुष्यों के बीच मेरी पोजीशन न गिर जाये—यह विकल्प बहुत कठिन विकल्प है। संसार क्या है? एक स्वप्न है। जो लोग दिखते हैं, जिनसे लोक व्यवहार चल रहा है ये सब क्या सदा रहने वाले हैं और जितनी देर को रहने वाले हैं उतनी देर को भी यह क्या है? रागी, द्वेषी, मोही, मूर्ख, अज्ञानी जिन्हें आत्मा की कुछ भी सुध नहीं है। अंधेरे से भरे हुए लोग जिनका स्वयं कुछ ठिकाना नहीं है ऐसे इन अशरण लोगों में चाहते हैं कि मेरी पोजीशन रहे अर्थात् ये लोग मुझे कुछ अच्छा समझ लें। यह विकल्प बहुत बड़ी विपदा हैं तो मनुष्य हुए तो यहां भी ये सब विकल्प विपदायें सताती हैं। यहां भी इसे चैन नहीं हैं इष्ट समागम भी हुआ तो उसके अनेक कष्ट हैं। किसी का पुत्र मर गया, किसी की इष्ट स्त्री मर गयी, और कभी घर में आग लग गयी तो कुटुम्ब घर सब जल गया, ऐसे नाना कष्ट इस मनुष्य को प्राप्त हो रहे हैं।

संसार के किसी भी पदार्थ में अपने लिये विश्वस्यता व संतोष्यता की लब्धि का अभाव—भैया! संसार में कुछ भी अवस्था आत्मा को विश्वास के योग्य नहीं है कि सन्तोष करे। अच्छा महल बन गया, अच्छा घर लिए कमरा है, ये नौकरों के लिए हैं। यों बहुत अच्छा मिलने का कमरा है, यह स्त्री का कमरा है, यह बच्चों के लिए कमरा है, ये नौकरों के लिए है। यो बहुत अच्छा महल बना लिया, लेकिन संतोष और विश्वास के लायक यह कुछ भी बात नहीं हुई। क्या हुआ? कल रोगी हो गए अथवा कोई घटना एक्सीडेन्ट की हो गई, मृत्यु हो गयी, या कुटुम्ब के लोग ही गुजर गए ये सब बातें अचानक होती ही रहती हैं। तब संतोष की आराम की कौन सी बात पा ली? बड़ा राजपाट भी पा लिया। सब जगह आज्ञा चल रही, प्रजाजन हुकुम में रहते हैं। कुछ बड़ी-बड़ी सभाओं में सत्कार होता है और तो क्या, प्रजा के लोग भगवान की तरह मानने लगते हैं, ऐसा राजा, महाराजा का पद भी मिला तो भी संतोष और विश्वास के लायक कोई बात नहीं है। कर्म सबके साथ हैं पूर्वभव में किए हुए कर्म का न जाने कब कैसा उदय आ जाये, न जाने कब किस ढंग की बात बन जाये, यह

सब सम्भव है। बड़े-बड़े महापुरुषों पर भी संकट आये। यदि उन पर संकट न आये होते तो हम आप लोग उनके विषय में कुछ जान ही न पाते। उनका इतिहास भी न बनता। महापुरुष वे ही तो हुए जिन पर विपदायें मंडरायीं लेकिन वे उन विपदाओं में धीर रहे, विवेकी रहे, इस कारण वे महापुरुष कहलाये। सारांश यह चल रहा कि सब इष्ट समागम भी प्राप्त हो जायें तो भी वह विश्वास के योग्य नहीं और न उसमें सन्तोष करने का अवसर है।

एवं मणुय-गदीए णाणा-दुक्खाइँ विसहमाणो वि।
ण वि धम्मे कुणदि मइं आरंभं णेय परिचयइ।।५५।।

नाना दुःखों को सहकर भी धर्म की बुद्धि भी न करने की बेहोशी—मनुष्य गति में तो बड़े-बड़े घोर क्लेश हैं, उन समस्त क्लेशों को यह जीव सहता भी जाता है फिर भी धर्म में अपनी बुद्धि नहीं लगाता। सर्व संकटों से छूटने का उपाय जो धर्म है, उस धर्म कार्य में यह मनुष्य चित्त नहीं देता। सुख चाहता है यह, मगर सुख पाने का जो उपाय है उसे करना पसंद नहीं करता। तो यह कितने व्यामोह की बात है? यह आत्मा अपने स्थायी ज्ञानस्वरूप से चिगकर अस्थायी अध्रुव विनाशीक पर पदार्थों में अपना लगाव रखता है, बस क्लेश सकल इतना ही है। इतना ही है इसका भाव यह नहीं समझे कि मामूली सा है, किन्तु भाव बिगाड़ने का सारा दुःख है, विडम्बना है यह समझना। देखिये इतने कठिन तो संसार के दुःख हैं फिर भी उन्हें ही सहता जाता है और उन्हीं में रमता जाता है। सकल विभावों से भिन्न मेरा यह ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्व ही शरण है, सर्वस्व है। ऐसी दृष्टि नहीं कर पाता है और न आत्मधर्म का पालन कर पाता है। विषय कषायों के वश होकर, दुःखों को सहकर भी व्यामोह से भ्रम से दुःख के उपायों को ही सुख का हेतु मानकर विषय साधनों के आरम्भ को नहीं छोड़ पाता है।

शान्ति और अशान्ति के मर्म से परिचित पुरुषों की चित्तवृत्ति—जिन जीवों को इस क्लेश और शान्ति के मर्म का परिचय हो जाता है उनका चित्त फिर इन आरम्भ परिग्रह समागमों में लग ही नहीं सकता। नेमिनाथ स्वामी के समय की घटना है कि जब यह ज्ञात हुआ कि द्वारिका पुरी बारह वर्ष में भस्म हो जायेगी तब जो कुछ विवेकी लोग थे वे मोह को छोड़कर निर्ग्रन्थ होते हुए आत्म साधना में लगे। जो कुछ भयभीत थे वे नगर छोड़कर अन्यत्र चले गए जिनके मन में जो आया सो किया। कुछ ज्ञानी पुरुष ऐसे थे कि तत्व स्वरूप का विचार करके और इस घटना की बात सुनकर संसार भावना में अधिक बढ़कर अर्थात् संसार असार है इसकी असारता के चिन्तन में आकर विवेकी बने और उन्हें अपने आत्मा के स्वरूप का दर्शन हुआ। जो आनन्द पाया उसके बाद उनका चित्त रंच समय को भी बाह्य पदार्थों में न लग सका। ऐसे ही जीवों में श्रीकृष्ण नारायण के पुत्र प्रद्युम्न को जब सभा में कुछ धार्मिक उपदेश चल रहा था, नारायण बलभद्र उनके पिता और सभी बुजुर्ग लोग बैठे हुए धर्मोपदेश का व्याख्यान सुन रहे थे, प्रद्युम्न को सातिशय वैराग्य हुआ और उठकर प्रद्युम्न कुमार बोला, महाराज--अब मेरा चित्त यहां रहने का नहीं रहा। मैं वन में जाऊंगा, निर्ग्रन्थ होऊंगा। वह सम्पन्न होने के कारण सबका बड़ा प्रिय था। सबने समझाया और किसी ने यह भी कहा कि देखो तुम्हारे पिता श्रीकृष्ण नारायण यहां बैठे हैं, तुम्हारे दादा, चाचा आदि भी बैठे हैं। इनके सामने तू तो एक छोटा बालक ही है। तू क्या यह बात करता है? तो प्रद्युम्न कहता है कि मेरे पिता, चाचा, बाबा आदि अगर संसार के खम्भा बनकर रहते हों तो रहें, मेरा तो किसी बाह्य पदार्थ के लगाव में चित्त लग ही नहीं रहा और उठकर चल दिया।

अब वह प्रद्युम्न घर जाकर स्त्री से कहता है कि यदि तुमको वैराग्य हुआ ही था तो वैराग्य का काम वहीं से करते। यहां मुझको बताने या मिलने की क्या आवश्यकता थी? इतना वैराग्य भी उस स्त्री में कि वह कुछ न कहकर छोड़कर बनने को चल पड़ी। तो जिन जीवों को इस बात का विश्वास हो जाता है कि मेरे आत्मा को केवल मेरा धर्म ही शरण है, धर्म के सिवाय मेरा कोई रक्षक नहीं है, वे पुरुष फिर संसार में नहीं रमते। धर्म क्या? जो दुःख से छुटाकर उत्तम सुख में पहुंचा दे उसे धर्म कहते हैं।

संसार में दुःखों का घिराव—दुःख क्या है? संसार के विकल्प, बाह्य पदार्थों में उपयोग लगाने का विकल्प, अपने स्वरूप से अपने आपको हटाकर बाह्य विषयों में उपयोग को फंसाना यही है दुःख। लोग तो इसी में दुःख अनुभव करते हैं कि मेरी स्त्री गुजर गई, पुत्र गुजर गया अथवा रोजगार कम हो गया आदि। वे इस बात को ख्याल में नहीं लाते कि हम ज्ञानानन्द स्वरूप, परमात्मा स्वरूप अपने आप के स्वभाव से दृष्टि हटाकर बाह्य पदार्थों में व्यर्थ मोह भरी दृष्टि कर रहे हैं, पर में ऐसा लगाव कर रहे हैं कि हम अपने आपके स्वरूप की सुध भी नहीं कर पाते। इसको वे आपत्ति नहीं समझते। जिन कुटुम्बीजनों के लिए बड़े-बड़े आरम्भ किए जाते हैं, बड़ी-बड़ी चिन्तायें की जाती हैं वे कोई इस जीव की मदद कर सकने वाले नहीं हैं यदि पाप का उदय आ जाय तो स्वयं को ही दुःख भोगना पड़ेगा। रंच भी कोई अन्य लोग मददगार न होंगे। मनुष्य गति में नाना दुःखों को सहता हुआ भी यह जीव धर्म नहीं करता।

परिग्रह की प्रियता में विपदा—प्रकृत्या इस मोही प्राणी की मति विषयों की ओर लगी हुई है। पाप में मन चाहता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये सभी पाप इसे प्रिय लग रहे हैं। परिग्रह बड़ा प्रिय लग रहा है सो जमाना बता रहा है। मनुष्य भव पाया है तो इसलिए कि रत्नत्रय धर्म का पालन कर लेवें और संसार संकटों से सदा के लिए छूटने का उपाय बना लेवें। मनुष्य भव केवल इसी प्रयोजन के लिए है। यह बात अन्य भव में नहीं हो पाती। तो यह मनुष्य भव इसीलिए ही है ऐसा समझना चाहिए, लेकिन इसकी तो किसी को सुध भी नहीं है, आत्म हित की वांछा ही नहीं बन पाती ऐसा तीव्र मिथ्यात्व पाप का उदय है। लोगों को वैभव को बढ़ाना बड़ा भला लग रहा है, पर यह तो बताओ कि इस वैभव को जोड़-जोड़ कर लाभ क्या लूट लिया जायेगा? यह आत्मा तो भाव स्वरूप है, ज्ञानानन्द मात्र है। इसके साथ तो एक धेला भी न जायेगा। यह मनुष्य सोचता है कि मैं धन जोड़कर अपने बच्चों के लिए रख दूं, पर जरा सोचो तो सही कि कौन किसका बच्चा? मरण हो जाने के बाद तो सारा फैसला हो जाता हैं यहां से मर कर चले गए तो कहां रहे उसके बच्चे? दूसरी बात यह है कि जिसका जैसा उदय है उसका वैसा वैभव मिलेगा। आज के समय में लाखों का वैभव हो तो भी कल का पता नहीं कि यह रहेगा। यह तो मर गये तो धन गया और फिर वैसे ही आज के कानून में आज की स्वच्छन्दता में आजादी में यह भी विश्वास नहीं है कि मेरा यह वैभव कल तक रह सकेगा या नहीं। ऐसे कठिन समय में ऐसी विषय परिस्थितियों में यह मनुष्य फिर भी परिग्रह से इतना अधिक मोह रख रहा है।

कुशील झूठ आदि पापों में मोही का रमण—कुशील, पाप, परस्त्री, परपुरुष, रुच जायें और उनके प्रति विकार भाव जगें तो यह कुशील पाप है। यह आत्मा तो केवल भाव मात्र है, इसने यदि विकार भाव किया तो लाभ क्या पाया? भोगोपभोग में इस आत्मा को मिल क्या जाता है? कुछ भी नहीं और विपत्तियां, विडम्बनायें ये इस जीव को कितनी ही भोगनी पड़ती हैं? तो इस जीव का प्रकृत्या कुशील पाप में चित्त जाता है। यह जीव चाहता तो है सुख, मगर कर रहा हैं दुःख के उपाय। तो जैसे खून का दाग कभी खून से धुल नहीं सकता इसी प्रकार दुःख का उपाय करने से कभी दुःख मिट नहीं सकता। झूठ और चोरी भी इस जीव को बड़े इष्ट

जंच रहे हैं। इन संसारी मोही मलिन लोगों को झूठ बोलने की तो आदत सी बन गई है। झूठ बोलना, अधिक बोलना, चुगली करना आदि बातों को करके लोग आनन्द मान रहे हैं। यह सब क्या है? यह रौद्र ध्यान है। आर्तध्यान में तो होता है रंज का परिणाम और रौद्र ध्यान में मानता है यह जीव मौज। आर्तध्यान के फल में उतनी कठिन दुर्गति नहीं होती जितनी कठिन दुर्गति रौद्र ध्यान में होती है। यह रौद्र ध्यान का ही तो फल है कि हिंसा कर भी नहीं पाते लेकिन हिंसा करने वाले को देखकर हिंसा की घटना निरखकर खुश होते हैं। इसी फल में तो वह तंदुल मत्स्य महामत्स्य से भी अधिक नीची दुर्गति प्राप्त करता है। तो ये ऊपध्यान खोटे ध्यान करने से ही इस जीव पर विपदा छा जाती है। हिंसा भी यह जीव करता हुआ आनन्द मानता है। किसी का दिल दुःखे, किसी के प्राण जायें, इसका विचार करने वाले कितने मनुष्य हैं। तो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापों को करता हुआ यह जीव आनन्द मानता है। सो दुःख का उपाय तो करता है और चाहता हे कि बातों का संयोग असार है, हानिकर है, एक बड़े भारी लाभ को पाने से वंचित कर देता है तो इन समस्त संयोगों की उपेक्षा करके धर्म में बुद्धि करें, आरम्भ परिग्रहों से विरक्त रहकर उन्हें त्याग दें। किन्तु मित्यात्व का ऐसा उदय है कि ये जीव दुःखी होते जाते पर धर्म बुद्धि नहीं कर पाते हैं।

सधणो वि होदि णिवणो धण-हीणो तह य ईसरो होदि।
राया वि होदि मिच्चो मिच्चो वि य होदि णर-णाहो।।५६।।

लौकिक पुरुषों की आशा तज कर प्रभु ज्ञान में महत्व पाने की बुद्धि की समीचीनता—इस संसार में देखो अनेक घटा-बढ़ी की बातें हैं, जिसे यह विदित होता है कि विश्वास के लायक यहां कुछ भी स्थिति नहीं है कोई धनी पुरुष है वह भी थोड़े समय में निर्धन हो जाता है, ऐसा व्यक्ति जो पहले बहुत धनिक था और धनी होने के कारण बड़ी इज्जत प्रतिष्ठा थी, कदाचित् निर्धन हो गया तो वह अपने आप में कितना दुःखी होता है? उसको बाहर से अपनी इज्जत पोजीशन बनाने की भी फिक्र रहती है और वह भीतर में निर्बलता से खोखला होता जाता है। यह भी कष्ट अज्ञान से उठाया है। धनी थे, निर्धन हो गए तो उसमें क्या बिगाड़? यदि धर्म में बुद्धि है, आत्महित की लगन है तो सब मार्ग स्पष्ट है। मैं देह से भी निराला अकिञ्चन केवल ज्ञानमात्र हूं। इस ज्ञानमात्र निज तत्व को कष्ट कहां? नहीं जानते। जो मुझको जानते नहीं उनकी शरम क्या, उनका संकोच क्या? उनमें पोजीशन रखने का विकल्प ही क्यों? शरम करो तो अपने आपके विभावों की करो, शरम करो तो अपने प्रभु की करो। प्रभु के ज्ञान में मैं अच्छा हूं ऐसा झलकूं ऐसा भाव करो। इन मोही मलिन अशरण जीवों से कुछ चाहना यह तो मूढ़ता हैं कि ये लोग मुझे हल्का न मान लें। अरे इस विकल्प में क्या तत्व है? करो तो यह भाव कि अरहंत सिद्ध मुझे हल्का न जान लें। मेरे विषय में यह पापी है ऐसा प्रभु के ज्ञान में न आने पाये, करो तो यह भाव। यहां पर तो कोई मनुष्य पापी भी रहे तो भी छुपा सकता है और लोगों में अपनी सज्जनता का रूप बता सकता है लेकिन प्रभु के ज्ञान में तो कोई बात छुपी नहीं रह सकती। जो कर्त्तव्य हो रहा है, जो भी परिणति है। वह परिणति उनके ज्ञान में आ गयी। तो भाव करो तो यों करो कि प्रभु मेरे विषय में न जानें कि यह पापी है मिथ्यात्वी है। तो अपने आपके भाव की संभाल में, धर्म की संभाल में इस जीव का लाभ है। धनिक थे और निर्धन हो गए, तो इसमें कुछ बिगाड़ नहीं।

संसार की विषम घटनाओं का अनुप्रेक्षण—इस संसार अनुप्रेक्षा में इसलिए कुछ अचम्भे और खेद की बात दिखाई जा रही कि लोग इस घटनाओं को बुरा मानते हैं और हैं ये यथार्थ बातें सो इस व्यामोह की छोड़

दें। सो देखो जो धनी हैं वे भी क्षण मात्र में निर्धन हो जाते हैं। और जो आज धनहीन हैं वे कुछ ही समय में सम्पन्न हो जाते हैं। इसके बताने वाली अनेक घटनायें हैं। इस देश में आपको अनेक उदाहरण मिलेंगे कि कुछ तो न था और एकदम सम्पन्न और प्रतिष्ठित बन गए। तो इस जगत में किस स्थिति का विश्वास किया जाये? राजा भी कहो दास बन जाये और दास भी कहो राजा बन जाये। यहीं देख लो ना। कुछ वर्ष पहले सैकड़ों राजा था, देश में उनकी हुकूमत थीं, वे ऐश्वर्य सम्पन्न रहते थे। लेकिन आज उनकी क्या स्थिति है? जैसे किसी एक गरीब भाई की स्थिति है हुकूमत आज्ञा के बारे में वही स्थिति उन राजाओं की हो गई। तो राजा भी भृत्य हो जाता है और भृत्य भी राजा हो जाता है।

मालिक से दास और दास से मालिक होने की घटना का संसार स्वभाव–एक घटना है कि किसी बड़ी कम्पनी का एक कोई अंग्रेज मैनेजर था। उसका एक चपरासी पढ़ा-लिखा बिल्कुल न था, पर बड़ा आज्ञाकारी था। शेष सभी सेवक पढ़े-लिखे थे। उस अंग्रेज ने बहुत बार लॉटरी में रुपये डालने का काम किया पर उसके नाम से कभी लॉटरी न खुली थी। एक दिन उसने यों ही विनोद में सोचा कि भला अपने चपरासी के नाम से १० रुपये लॉटरी में डाल दे। सो भाग्य की बात कि–उस चपरासी के नाम से ४–५ लाख के इनाम की लॉटरी खुली। अब उस अंग्रेज मालिक ने सोचा कि यदि यह चपरासी यह बात सुन पायेगा कि हमारे नाम से ४–५ लाख की लॉटरी खुली है तो मारे खुशी के कहीं उसका हार्ट ही फेल हो जाये, सो उसने भली बुरी बातें कहकर व कुछ मार-पीट कर चपरासी को दुःखी कर दिया तब बताया कि तेरे नाम से ४–५ लाख रुपये की लॉटरी खुली है, सो उसका उपयोग बदला हुआ होने से उसको कुछ न हुआ। अब क्या था, जिस कम्पनी का वह मैनेजर था वह कम्पनी ही लॉटरी में मिली थी, सो उसने अपने चपरासी के नाम कम्पनी करा दी और खुद उसमें दास बनकर काम करने लगा। अब देखिये कि वह दास तो बन गया मालिक और मालिक बन गया दास। तो इस जगत में किस स्थिति का विश्वास किया जाय। एक कथानक है कि सत्यन्धर राजा ने अपनी रानी के प्रेम के कारण अपना राज्य काष्ठांगार को दे दिया। काष्ठांगार ने चढ़ाई कर दी उस ही राजा पर। उसने राजमहल घेर लिया। रानी उस समय गर्भवती थी। उसे एक यंत्र में बैठा कर आकाश मार्ग से उड़ा ले गया, राजा मारा गया। उस यन्त्र ने रानी को किसी मरघट में डाला। वहीं पर रानी ने पुत्र को जन्म दिया। तो देखिये संसार की स्थितियां कि क्षण मात्र में ही तुच्छ व्यक्ति बड़ा बन जाता है और बड़ा व्यक्ति तुच्छ बन जाता है। ऐसा जानकर संसार के समागमों में रूचि न करना, मौज न मानना। अपने धर्म की बुद्धि करें, आत्मा को परखे, प्रभु को जानें, भक्ति करें, धर्म में लगें, इससे अब भी सुख होगा और भविष्य में भी सुख शान्ति प्राप्त होगी।

सत्तू विहोदि मित्तो मित्तो विय जायदे तहा सत्तू।
कम्म-विवाग-वसादो एसो संसार-सब्भावो।।५७।।

शत्रु का मित्र और मित्र का शत्रु हो जाने का संसार स्वभाव–कर्मोदय के वश से शत्रु भी मित्र हो जाता है और मित्र भी शत्रु हो जाता हैं, यही तो संसार का स्वभाव है। इस जगत में जितने भी जीव हैं वे सब स्वरूपतः समान हैं, किसी भी जीव का स्वरूप किसी अन्य जीव से कोई खास अधिक नहीं है, जो ज्ञानानन्द स्वरूप एक का है वही ज्ञानानन्द स्वरूप सबका है, तब इस दृष्टि से कोई जीव न किसी का शत्रु है और न कोई किसी का मित्र है। वे जीव हैं सद्भूत हैं, अपने स्वरूप को लिए हुए हैं, अपना परिणमन करते हैं, लेकिन

कर्म सबके साथ लगे हैं, उनके उदय में कषाय परिणाम होते हैं, इन कषाय परिणामों के कारण अपने विषयों की वाञ्छा रूप जिनका परिणमन जंचा उन्हें शत्रु मान लिया जाता है। बस इस शत्रुता मित्रता की बुनियाद पर जब चाहे इनमें परिवर्तन भी देखा जाता है; जो शत्रु था वही मित्र बन जाता है और जो मित्र था वही शत्रु बन जाता है।

शत्रु से मित्र और मित्र से शत्रु बन जाने की एक प्रसिद्ध घटना–देखिये विभीषण राम के घराने का कितना बड़ा भारी दुश्मन था जब यह बात विदित हुई कि मेरे भाई रावण की मृत्यु दशरथ के पुत्र और जनक राजा की पुत्री के कारण होगी तो विभीषण ने सोचा कि मैं दशरथ और जनक इन दोनों का सिर ही उड़ा दूं तो न दशरथ के पुत्र होगा, न जनक के पुत्री। फिर मेरे भाई रावण का वध कैसे हो जायेगा? इस आशय से विभीषण चला दशरथ और जनक का सिर उतारने के लिए। इस बात का पता उन दोनों राजाओं को भी हो गया तो उनके मंत्रियों ने मिलकर यह घटना रची कि दशरथ और जनक इन दोनों को गुप्त कर दिया और उनके नाम का उनके ही समान पुतले बनवाकर महलों में रखवा दिया, जो बिल्कुल जनक और दशरथ जैसे लगें और प्रजा में यह कहलवा दिया कि राजा अस्वस्थ हैं इससे वे दरबार में न आयेंगे। विभीषण खोजता-खोजता महलों में पहुंचा और दशरथ तथा जनक के सिर जो कि पुतले के रूप में थे उनको काटकर खुश होकर समुद्र में फैंक दिया। तो रावण से कितना घनिष्ट प्यार था विभीषण को और वह विभीषण राम सीता के घराने का कितना जबदस्त दुश्मन था। उदय बलवान है। बहुत दिनों के बाद जब रावण ने सीता का हरण किया, विभीषण और रावण में विवाद छिड़ गया। विवाद छिड़ते-छिड़ते इतनी नौबत आयी कि विभीषण रावण का साथ छोड़कर चल दिया, राम से जा मिला और राम का बड़ा प्यारा भक्त बन गया। तो विभीषण रावण का बड़ा स्नेही था, लेकिन कर्म वश रावण के वध का ही कारण बना और राम के घराने का कितना बड़ा दुश्मन था, किन्तु कर्मोदय वश राम का बड़ा भक्त बन गया। यह तो संसार का स्वभाव है। ऐसा जानकर अपना क्या कर्त्तव्य है कि किसी से हम विरोध न करें। जिससे आज हमारा विरोध है समझें कि वह हमारा शत्रु है।

शत्रु मित्रता के विकल्पों से हटने में कल्याण लाभ–शत्रु मित्र होने की बात बन जाना तो एक घटना है। हम जो चाहते हैं उसके अनुकूल बात नही बनती है, तो हम मान लेते हैं बैरी, लेकिन वस्तुतः कोई मेरा शत्रु नहीं है। जो आज प्रतिकूल है, वह कभी मेरे अधिक अनुकूल भी हो सकता है अथवा संसार में भटकते हुए अनेक जीव मेरे कुटुम्बी हुए, मित्र हुए तो जिनसे भी आज कुछ विरोध रखा जा रहा है वे भी हमारे पहले स्वजन ही थे। शत्रुता और मित्रता की यहां कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है। जीवन में भी अनेक ऐसी घटनायें घटित होती हैं कि अपना ही पड़ौसी, रिश्तेदार, देशवासी कोई बहुत समय तक मित्र रहा और किसी समय किसी घटना पर उससे शत्रुता बन गयी अथवा बहुत समय तक शत्रुता रही और किसी घटना के कारण अभिन्न मित्रता हो गयी। इस प्रसंग में यह निश्चय रखिये कि मैं यदि किसी के प्रति विरोध भाव रखता हूं तो बाहर में तो जो भवितव्य है सो होगा, लेकिन हम अपने परिणामों को बिगाड़कर तुरन्त पाप बंध करते हैं और ऐसी स्थिति में पाप का फल हमें भोगना पड़ेगा। जगत में कोई भी जीव विरोधी नहीं है, मैं किसी का विरोधी नहीं हूं, सभी जीव हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, अपनी-अपनी पात्रता से अपना परिणमन करते है। शान्ति ज्ञातादृष्टा रहने में है। शत्रु और मित्र के विकल्प में शान्ति नहीं है। यह तो कर्मोदय का एक स्वभाव हैं यही

संसार का स्वरूप है। भैया! अब निरख लीजिए कि भटकते-भटकते कभी मनुष्य भी हुए जो कि बड़ी दुर्लभ बात है, ऐसे दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर भी सांसारिक विषय, सुख, क्लेश, शत्रुता-मित्रता, मौज-विपदा, ऐसे ही अनुभव करते रहते हैं यदि जिन्दगी गुजार दी तो फिर जिन्दगी की सफलता कब होगी? जिनकी प्रीति में, जिनके मोह में अपने आपको झुलसाया जा रहा है वे कभी भी इसके साथी हो ही नहीं सकते। वस्तु का स्वरूप ही नहीं है ऐसा कि किसी पर पदार्थ से किसी पर पदार्थ को कुछ मिल जाये। तब देखिये निरखिये सब जीव सत् हैं, सत् होने के नाते वे अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्य में रहा करते हैं। वे सत् के कारण भले ही हैं, यहां हम किसे विरोधी मानें?

अपना ही परिणमन कर सकने का वस्तु स्वभाव--एक शल्य यह रहती है मनुष्यों के, यदि कुछ चतुर भी हों तो भी वे सोचते हैं कि देखो जमाना खुदगर्ज है। सब अपनी-अपनी गरज के साथी हैं अरे इस बात का क्या बुरा मानना? वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक वस्तु अपने आप में ही अपना परिणमन कर पाता है। तो खुदगर्ज कहो अथवा सम्प्रदान कारक का अभेद कहो, यह तो वस्तु स्वरूप में ही पड़ा है। पदार्थ है, किसके लिए है? वह अपने लिए है। किसी पदार्थ के सत्त्व का लाभ कोई दूसरा पदार्थ नहीं उठाता। और लाभ की बात क्या है? स्वरूप बना रहना यही सत्त्व का लाभ है। ये पदार्थ हैं, किस लिए हैं? ये पदार्थ परिणमते रहते हैं, किसके लिए परिणमते रहते हैं? अपने लिए ही परिणमतें हैं। कोई दुष्ट कषायवश क्रोध बसाये रहता है, गाली बकता है अपने भाव बनाता है, अपना परिणमन करता है तो वह किसके लिए करता है? अपने लिए करता है। जो कषायभाव कर रहा है उसका फल कौन पायेगा? जो कर रहा है वही पायेगा। तो सम्प्रदान कारक का अभेद होना यह तो वस्तु के स्वरूप में ही है। उसका क्या बुरा मानना? खुदगर्ज है तो वस्तु स्वरूप की तारीफ ही तो की गई। इसमें दोष क्या बताया गया? तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को निहारकर इष्ट अनिष्ट की कल्पनाएं त्यागकर देने में ही हम आप लोगों की भलाई हैं ऐसे दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाया तो इसका लाभ ले लेना चाहिये। यह रहेगा नहीं। कुछ समय का विश्वास नहीं कि कितने समय तक हम आप लोगों को यहां ठिकाना है। अब यत्न यही करना है कि सच्चा ज्ञान बनायें, अपने स्वरूप की दृष्टि करें, इससे ही हम आप लाभ पायेंगे और अन्य प्रकार लाभ नहीं हैं।

अह कह वि हवदि देवो तस्स वि जाएदि माणसं दुक्खं।
दट्ठुण महड्ढीणं देवाणं रिद्धि-संपत्ती।।५८।।

देव होने पर भी मानसिक दुःखों का क्लेश--यह जीव संसार में अनेक कुयोनियों में भ्रमण करता हुआ कभी देव भी हुआ तो भी उस देव भव से इसने लाभ क्या पाया? देवों के शारीरिक सुविधा तो बहुत है, शारीरिक क्लेश नहीं हैं उनका शरीर वैक्रियक है। क्षुधा तृषा का भी उनके क्लेश नहीं है। रोजगार व्यापार करने की भी आवश्कता नहीं है। रोग, पसीना, मल, मूत्र आदिक भी उस देह में नहीं होते। तो शारीरिक दृष्टि से तो उनका कितना अच्छा स्थान है किन्तु दुःखी वे भी बहुत हैं। उनके मानसिक दुःख ज्यादा हैं। देवगति में लोभ कषाय की प्रधानता है। लोग तो यों समझते कि मनुष्य में लोभ कषाय की मुख्यता है लेकिन मनुष्यों से भी तीव्र लोभ देवगति में रहता है। वे एक दूसरे की ऋद्धि वैभव को नहीं देख सकते। कोई बड़ा ऋद्धि सम्पन्न देव है तो उसकी प्रभुता को दूसरा देव नहीं देख सकता। वह उस विशेष ऋद्धिधारी देव से लोभ होने के कारण ईर्ष्या करता है।

मनुष्य भव में बरबादी के उपायभूत मान कषाय की मुख्यता—मनुष्य में तो मान कषाय की प्रधानता है। जो कुछ यह मनुष्य करता है यह अपना मान-सम्मान बढ़ाने के लिए करता है। आज मनुष्य इतने चिन्तित हो रहे हैं, पर चिन्ता की बात है कुछ भी नहीं। अरे जिनका जैसा उदय है उसके अनुसार सारी बातें बनेंगी, मगर यह मनुष्य अपनी मान-कषाय को पुष्ट करने के लिए रात-दिन चिन्तित रहा करता है, सारे प्रयत्न करता है पर उसे चैन नहीं मिल पाती। एक कथानक है कि बुन्देलखण्ड में किसी गांव में एक सुनारिन रहती थी। उसे एक बार शौक हुआ कि मेरे को २५ तोले सोने के बखौरे बनवाकर पहनना चाहिए। बखौरा भुजाओं में पहने जाते हैं। उन्हें बाजूबन्द भी कहते हैं तो उस सुनारिन ने अपने पति सुनार से कई बार बखौरे बनवाने को कहा। स्थिति उसकी गरीबी की थी, पर वह सुनारिन रोज-रोज बखौरे बनवाने के लिए अपने पति से लड़ा करती थी। खैर, किसी तरह से अपना कुछ सामान बेचकर, कुछ कर्ज लेकर उसने बखौरे बनवा दिए। अब उस देश में रिवाज था मोटी-धोती पहिनने का और सब अंग ढंककर रहने का। वह सुनारिन काफी दिनों तक वे बखौरे पहने रही, मगर किसी के मुख से कुछ प्रशंसा के शब्द न सुन सकी। प्रशंसा के शब्द सुने कैसे? वे बखौरे किसी को दिखे ही न थे। सो वह रोज-रोज गुस्सा-सी रहा करती थी। एक दिन ऐसा तेज गुस्सा आया कि उसने अपनी झौंपड़ी में आग लगा दी। जब झौंपड़ी जलने लगी तो कुछ होश ठिकाने हुआ। लोगों से हाथ फैला-फैलाकर कहने लगी, अरे बुझाओं आग, वह बाल्टी है, वह रस्सी है, इधर बुझाओ उधर बुझाओ आदि। इसी प्रसंग में उसके बखौरे एक स्त्री को दिख गए। तो उस समय स्त्री कहती है—अरी जीजी! ये बखैरे तुमने कब बनवाये? ये तो बड़े सलोने लगते हैं? तो वह सुनारिन झुंझलाकर कहती है—अरी राँड! यही बात यदि पहले से ही कह देती तो मेरी झौंपड़ी क्यों जलती? मनुष्यों में मान कषाय की प्रधानता है। घर में ही स्त्री को अभिमान है और उसके मन माफिक सम्मान नहीं हो पाता? वह भी अनेक बार बहुत नुकसान करती रहती है। पुरुष को अभिमान है और उसके अनुकूल स्त्री चलती नहीं तो वह भी अनेक प्रकार के नुकसान करता रहता है। मान कषाय इतनी प्रबल है कि अपना सबकुछ खो देने पर मान रहना चाहिए उस ही मान कषाय के पोषण के लिए इतना बड़ा भारी वैभव जोड़ा जा रहा है और रात दिन बेचैनी बढ़ती जा रही है। तो मनुष्यों में तो मान कषाय की प्रबलता है, सो कषायवश बर्बाद होते हैं तो देवों में लोभ कषय की प्रबलता है। सो वे लोभ कषाय वश मानसिक दुःख सहते हैं।

बड़े-बड़े देवों में भी लोभ कषाय वश दुःख का भार—यद्यपि क्रोध मान, माया, लोभ—ये चारों कषायें देवों में भी हैं और मनुष्यों में भी हैं पर मुख्यता की बात कही जा रही है। उन देवों में जो सदा मानसिक दुःख रहता है। वह इस बात का रहता है कि जो बड़ी ऋद्धि वाले हैं उनकी ऋद्धि सम्पदा को जब निरखते हैं तो हाय मन में आती है। मेरे ऐसा वैभव न हुआ, मैं छोटा ही देव रह गया, मैं इतना ऊंचा देव न हुआ, इस तरह दूसरे देवों की ऋद्धि सम्पदा को निरखकर ये देव निरन्तर मन में दुःखी रहा करते हैं। उन देवों में १० प्रकार के भेद हैं—इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक इन्द्र और सामानिक। ये तो ऋद्धि वैभव में पूरे समान हैं, किन्तु इन्द्र की तो आज्ञा चलती है और सामानिक देवों की आज्ञा नहीं चलती। जैसे घर में कोई प्रधान पुरुष है, उसके घर में बच्चे, स्त्री, माता आदिक दसों पुरुष हैं, उन दसों पुरुषों का खाना-पीना, पहनना, ओढ़ना आदि सभी आराम के साधन एक समान हैं लेकिन हुकुम एक उस प्रधान पुरुष का ही चलता है अथवा जैसे किसी राजा के राजघराने में आराम तो

सबका बराबर है किन्तु हुकुम सिर्फ एक राजा का चलता है, तो इसी तरह इन्द्र और सामानिक देवों का वैभव आराम सब एक समान है पर इन्द्र की हुकुमत है। इन्द्र सामानिक ये हुकुम के सद्भाव व अभाव में ही दुःखी रहते हैं। त्रायस्त्रिंश एक मंत्रियों जैसे सलाहकार जैसे देव होते हैं। त्रायस्त्रिंश का अर्थ है ३३ उसके के आधे हुए १६।। तो १६।। देव तो कुछ नहीं कहलाते, या तो १७ होंगे या १६ होंगे। विसमता आयी ना। उस समय इन्द्र की जो राय होगी, जैसी व्यवस्था यहां सभापति की है कि सभासदों की समान राय हो तो सभापति की डबल राय से निर्णय होताहै। वह व्यवस्था वहाँ बराबर बनी है। अब कोरम में भी देखो तो उसका एक तिहाई ११ बैठता है। तो त्रायस्त्रिंश भी बुद्धिमान देव हैं वे किसी भी विषय में अपनी एक महत्वपूर्ण सलाह देते हैं। उनका भी बहुत बड़ा आदर है किन्तु ये भी दूसरों के ऐश्वर्य को देखकर दुःखी रहते हैं।

पारिषद् आत्मरक्ष लोक पाल जैसे देवों में भी लोभकषाय वश मानसिक क्लेश—पारिषद् देव कहते हैं परिषद् में रहने वाले देवों को। वहाँ तीन प्रकार की परिषद हैं। एक भीतरी परिषद्, उसके बाद मध्य परिषद् उससे बाद सामान्य परिषद्। जैसे कि यहाँ जनरल कमेटी, मैनेजिङ्ग कमेटी और वर्किङ्ग कमेटी, इस प्रकार की तीन कमेटी होती है। इसी प्रकार भीतरी, मध्य और सामान्य ये तीन परिषद देवों के होते हैं। उन्हें तीन सभायें भी कहते हैं। उन सभाओं में रहने का जिन्हें अधिकार है, जो रहते हैं वे पारिषद कहलाते हैं। वहां आत्मरक्ष देव भी होते हैं। जैसे यहां किसी बड़े राजा या सेठ के साथ में कुछ सिपाही लोग चलते हैं। इसी प्रकार इन्द्र के साथ भी आत्मरक्षदेव देव रहा करते है। जिन्हें बॉडीगार्ड समझिये। यद्यपि इन्द्र को कुछ आवश्यकता नहीं है, उनका वैक्रियक शरीर है, उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती, लेकिन उनके पुण्य का ऐसा ठाठ है सो वे साधन होते ही हैं। वहां लोकपाल देव भी होते हैं, जैसे कि यहां कोतवाल होता है। वैसे ही वे लोकपाल देव होते हैं। लोक पाल का बहुत ऊंचा दर्जा है। इन्द्रों के एक भवावतारी होने का नियम है। जो दक्षिण दिशा के इन्द्र हैं। और लोक पाल के भी एक भवावतारी होने का एक नियम है, वे भी एक मनुष्य का भव पाकर मोक्ष जाते हैं। तो समझिये लोक पाल का कितना महत्वपूर्ण स्थान हैं लोकपाल क्या, कोतवाल क्या? नगर और प्रजा का पिता। सबकुछ रक्षा की बात उसके आधीन है? यद्यपि आजकल इस कलयुग में कोतवाल की स्थिति बड़ी खराब हो गयी है, प्रजा को भय और आपत्ति उत्पन्न करा देने की कारणता उनमें आ गई है, क्योंकि उन्होंने जिस चाहे पर कोई दोष लगा दिया, या जरा-सा भी कोई दोष पाया तो उसको बढ़ा दिया, उलझा दिया, ऐसा करने से उनका काम बनता है, उनको आय होती है, तो यह सब एक खोटे समय की बात है, किन्तु कोतवाल अथवा लोकपाल इतने विशेष पुण्यवान प्रतापी जीव हैं कि प्रजा इतने ऊंचे देव होकर भी उस भव में तो लोभ कषायवश मानसिक दुःख वे पाते हैं।

अनीकादिक देवों में भी लोभकषायवश मानसिक दुःख का सद्भाव—देवभव में सेनायें भी हैं। वे सेनायें किस लिए हैं? सेनाओं का वहाँ कुछ प्रयोजन नहीं है लेकिन इन्द्र के पुण्य का ठाठ है कि ७ प्रकार की सेना होती है। और उस ७ प्रकार की सेना में एक नर्तकी सेना भी मानी गयी है। नाचने-गाने वाली ऐसी जो देवांगनायें हैं उन्हें भी एक सेना में शामिल किया है। तो यह पुण्य वैभव वाली सेना है। प्रकीर्णक-प्रजाजन, ऐसे देवों का नाम है प्रकीर्णक। ये तो कुछ थोड़ा ठीक-ठीक रहे, पर इनके जो भेद हैं अभियोग्य और किल्विषक। उन देवों की वहां दुर्गति-सी है। आभियोग्य के देव बड़े देवों की सवारी के काम आते हैं। उन्हें कुछ जरूरत नहीं है मगर बड़े समर्थ लोगों के मन दौड़ा करते हैं—वे हुक्म देते हैं हाथी बन जावो, हम फलाने द्वीप में

विहार करेंगे, लो उसे हाथी बनना पड़ा और दूसरा देव बैठा है ऊपर, ये आभियोग्य देव बड़ा मानसिक दुःख पा रहे हैं। इनके चिन्ता रहती है कि मैं न हुआ ऐसी ऋद्धि वाला। तो ऐसे मानसिक दुःख उनको बहुत हैं। किल्विषक जाति के देव जो यहां के आदिवासियों के समान हैं। जैसे बहुत छोटे बिरादरी के लोग गांव के बाहर ही रहा करते हैं। इसी प्रकार वे भी उन स्वर्गवासियों के वातावरण से बाहर ही रहा करते हैं। कितना कष्ट पाते हैं वे देव और यह भी समझ लीजिए कि जिन पर हुक्म चलाया जाता है वे कष्ट पाते हैं, सो तो सही है पर उनसे अधिक कष्ट उनको है जो कि हुक्म चलाया करते हैं तो हुक्म देने वाले भी दुःखी और हुक्म मानने वाले भी दुःखी। वहां एक दूसरे महर्द्धिक देव की सम्पदा निरखकर वे देव मानसिक दुःख से व्याकुल रहा करते हैं।

इट्ठ विओगं-दुक्खं होदि महड्ढीण विसय-तण्हादो।
विसय-वसादो सुक्खं जेसिं तेसिं कुदो तित्ती।।५९।।

विषय सुख के लोभी देवों के असंतोष व इष्टवियोगादिक क्लेशों की बाधायें–उन बड़े ऋद्धि वाले देवों को बड़ी तृष्णा रहती है। खाने-कमाने का कोई साधन जुटाना नहीं, बड़ा आराम है, कभी रोग आता नहीं। ऐसे मौज के समागम में रहने वाले देवों को सूझता क्या है, सिवाय भोगोपभोग के। तो उन देवों के विषयों में तृष्णा रहती है। और उन्हें भी अपने प्रिय देव देवाङ्गनाओं के वियोग का दुःख सहना पड़ता है। सो बात सही है, जिनके विषयाधीन सुख हैं उनको तृप्ति कहां से हो सकती है? तृप्ति का सही साधन तो आत्मस्वरूप का दर्शन ज्ञानानन्दमयी आत्मा का ज्ञान और उस ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा में अपने आपको जुटा देने का पुरुषार्थ, यही शान्ति का साधन है। विषयों की तृष्णा करके कोई चाहे कि शान्ति मिल जाये सो नहीं मिल सकती। धन वैभव सम्पदा के संचय की भी बात देखो–अब से २५–५० वर्ष पहले जो स्थिति थी उसे आज हजार गुना अधिक स्थिति है, लेकिन उस स्थिति को देखकर सन्तोष करने की आदत तो नहीं है किन्तु तत्काल यदि कुछ हानि है तो वह चित्त पर बड़ा घर जमाये रहती है। तृष्णा में यही तो होता है। जिन्हें विषयों की अथवा किसी भी प्रकार की तृष्णा है उनको तृप्ति कहां से हो सकती है? उन देवों में भी किसी देवी का देव मर गया तो यद्यपि वहां ऐसा नियोग है कि कुछ ही समय बाद उस स्थान की पूर्ति हो जाती है, नये देव का जन्म हो जाता है लेकिन वियोग तो हुआ ही। उतने समय तो दुःख भोगना ही पड़ा। यही हाल देवियों का है। तो वहां भी इस तरह के इष्ट वियोग के दुःख भोगने पड़ते हैं। सो बड़ी ऋद्धि वाले भी देव हों लेकिन पंचेन्द्रिय के विषय सुखों की वाञ्छा होने से उन जीवों को भी क्लेश है। जिनका सुख विषयों के अधीन है उनको किसी भी प्रकार की तृप्ति हो ही नहीं सकती। सो वे देवगति के जीव भी मानसिक दुःख सहते रहते हैं।

सारीरिय-दुक्खादो माणस-दुक्खं हवेई अइ-पउरं।
माणस-दुक्ख जुदस्स हि विसया वि दुहावहा हुंति।।६०।।

शारीरिक दुःख मानसिक दुःख की अति प्रचुरता–शारीरिक दुःख से मानसिक दुःख अत्यन्त कठिन होते हैं, तभी तो यह देखा जाता है कि जिस जीव को मानसिक दुःख लग गए उसको विषय भी दुःखकारी होते हैं। देवों का शरीर वैक्रियक होता है वहां भूख, प्यास, ठंड, गर्मी आदिक का कोई दुःख नहीं। तो ऐसा जानकर कोई यह न मान ले कि देवगति तो बड़े सुख की अवस्था है, उसके प्राप्त कर लेने पर सभी काम बन

जाते हैं। देवगति में यद्यपि शारीरिक दुःख नहीं हैं किन्तु मानसिक दुःख विशेष हैं। मानसिक दुःख तो शारीरिक दुःखों से भी अधिक पीड़ाकारी होते हैं। यह बात प्रायः करके यहां भी धनिक वर्ग में अथवा कुछ प्रतिष्ठित लोगों में अधिकतर देखी जाती है। उनकी बीमारी प्रायः हार्ट की रहा करती है। डॉक्टरों पर अनाप-शनाप खर्च भी है। सब तरह के लौकिक दृष्टि से आराम भी हैं पर कोई गहरा नुकसान हो जाने से, अथवा किसी इष्ट का वियोग हो जाने से अथवा परिजनों के अनुकूल न चलने से उन धनिक लोगों का मानसिक दुःख बहुत अधिक रहा करता है। जब मानसिक दुःख अधिक होते हैं तब उन्हें वे विषय भी दुःखकारी लगते हैं। जैसे किन्हीं-किन्हीं पौराणिक कथानकों में सुना होगा कि किसी राजपुत्र को यदि कोई चित्रपट देखकर मोह हो गया तो उसकी धुन में उसे खाना-पीना तक नहीं सुहाता। तो ऐसी हालत हो जाने का कारण था मानसिक दुःख। लोग प्रायः इस बात के लिए रात-दिन विकल रहते हैं कि हमारा अपमान न हो। इसी धुन में वे सुख से खा पी नहीं सकते हैं। तो मानसिक दुःख में बड़ी तीव्र वेदना रहती है। जिसके कोई इष्ट वियोग हो जाता उसे दो-चार दिन कुछ भी नहीं सुहाता। उसे रिश्तेदार लोग व अन्य लोग भी बहुत-बहुत समझाते हैं, उसका वियोग मिटाने के लिए अनेक प्रकार के साधन जुटाते हैं, फिर भी उसकी मानसिक वेदना को मेटने में कोई भी समर्थ नहीं हो पाता।

मानसिक दुःख का दुष्परिणाम–कभी-कभी तो यह मानसिक दुःख, संक्लेश सहित मरण का भी कारण बनता है। जब सुकौशल महाराज बचपन में ही विरक्त हो गए तो उनकी माता को कितना मानसिक दुःख था कि पति भी विरक्त हुआ और मेरे विश्राम का साधन मेरा पुत्र भी विरक्त हो रहा, यह दृश्य देखकर उसके मानसिक दुःख का ठिकाना न रहा। परिणामस्वरूप वह राजमाता मरकर शेरनी हुई। इस मानसिक दुःख के कारण देव भी मरकर एकेन्द्रिय तक हो जाते हैं। देवगति के जीव मरकर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय तो होते नहीं, नारकी और देव भी नहीं बन पाते, वे या तो एकेन्द्रिय बनेंगे या पञ्चेन्द्रिय में तिर्यञ्च अथवा मुनष्य तो सीधी स्पष्ट बात यह है कि देवों में जो पुण्य बसा था वह खलास हो गया, तभी तो देव मरकर देव नहीं बन सकते, भोगभूमिया भी नहीं बन सकते। अर्थात् जहां इष्ट भोगों का मौज हो ऐसी गति देवों को नहीं मिलती। तो पुण्य फल भोगे जा रहे हैं देवगति में, पर साथ ही जो मानसिक दुःख लगा है उसके कारण उनको असह्य वेदना भी बनी रहती है और पाप कर्म के उदय से फिर मरकर एकेन्द्रिय तक में भी उत्पन्न हो जाते हैं। तो शारीरिक दुःख से कठिन दुःख है मन में विकल्प किये जाने का।

मानसिक दुःखों का निर्मूल जानकर आत्मलाभ के लिये यत्न का शिक्षण–अच्छा यही बतलाओ। प्रायः हम आप लोग जैन शासन, श्रावककुल, सत्समागम, सब साधन पाये हुए हैं, लेकिन व्यर्थ की ऐसी चिंतायें बसाये हैं कि जैन शासन पाकर के उसका जो लाभ जल्दी लूट लेना चाहिए था, अपने आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करके समाधिभाव का परमलाभ ले लेना चाहिए था सो व्यर्थ ही अज्ञान से पर में दृष्टि करके, पर में अपनायत करके दुःख मचाया जा रहा है। वस्तुतः देखो तो इस समय हम आपको कोई क्लेश नहीं है, पर क्लेश मानने के अनेक बहाने हैं। जहां वीतराग सर्वज्ञ देव का स्मरण, भक्ति करने अथवा अपने स्वरूप की सुध करने का मौका मिला हुआ है वहां यदि इन शान्ति के साधनों में अपनी दृष्टि बनाये रहें तो कितना अलौकिक लाभ होगा? किसी के हाथ पैर, दिमाग ये धनार्जन नहीं किया करते किन्तु शुद्ध भाव के रहते हुए जब कभी पुण्यबंध, हुआ था, उसके फल में धनार्जन हुआ करता है। कोई बालक किसी करोड़पति के घर

उत्पन्न हुआ तो बचपन से ही वह धनिक कहलाने लगा। बताओ कहां से उसने धन कमाया, पर वह धनिक कहलाने लगा। तो उसके धनिक कहलाने का कारण है उसका पूर्वकृत पुण्यकर्म। अच्छा यह बताओ कि घर में जिस बच्चे की सेवा घर के सभी लोग करते हैं, उसे गोद में लिए फिरते हैं, उसके पीछे बड़ा श्रम करते हैं तो इसमें भाग्य किसका बड़ा है? इस बच्चे का या घर के अन्य सभी लोगों का? अरे जो लोग उस बच्चे के पीछे रात-दिन चिन्ता किया करते हैं, उनका भाग्य बड़ा नहीं है। भाग्य तो उस बच्चे का ही बड़ा माना जायेगा। घर के सभी लोग तो उस बच्चे के नौकर बने हुए हैं, वे घर वाले खुद तो पुण्यहीन हैं, वे खुद की तो कुछ चिन्ता नहीं करते कि मेरा भविष्य ठीक हो, मेरा कुछ सुधार हो, पर जिस बच्चे का पुण्य प्रबल है उसके पीछे रात-दिन चिन्तायें किया करते हैं।

पुण्यफल का दिग्दर्शन–एक ऐसी ही किम्वदन्ती है कि एक बार महादेव-पार्वती दोनों घूमने जा रहे थे, उन्हें रास्ते में एक लकड़हारा मिला। वह एक लकड़ी का बड़ा भारी बोझ लादे हुए था, उसके तन पर एक फटा सा वस्त्र था। उसे यों ही देखा। फिर आगे बढ़ने पर मिला एक घुड़सवार, वह था कोई धनिक सेठ। उसका दुपट्टा नीचे गिर गया, तो महादेव ने पार्वती से कहा कि इसका दुपट्टा उठाओ और इसे दे दो, तो पार्वती पूछती है कि यह तो बताओ कि लकड़हारा मिला, उस पर तो आपने दया नहीं की, वह बेचारा उतना बड़ा बोझ लिए हुए था, उसकी तो आपने कुछ मदद नहीं की और आप इस धनिक व्यक्ति की मदद कर रहे हैं तो यह क्या बात है? तो महादेव कहते हैं कि देखो वह लकड़हारा तो अपने पैरों पर खड़ा है, उसको खुद अपनी चिन्ता लगी है और इस धनिक को कोई चिन्ता नहीं है। तो उस किम्वदन्ती में यह बताया है कि पुण्यवन्तों के दास तो महादेव तक भी हैं, फिर अन्य की तो बात क्या? इन पुण्यवन्तों के दास ये मां-बाप भी बन रहे हैं, उनके प्रति चिन्तायें करने से लाभ क्या? अरे जो स्वयं पुण्यवान हैं उनके पीछे चिन्तायें करना व्यर्थ है। अपना जीवन निश्चिंत रहकर बिताओ। न्याय का जीवन बनाओ, ममता को हटाओ। यदि ऐसी सद्भावना होगी तो अपना उद्धार है अन्यथा मानसिक दुःखों में रहकर कुछ भी लाभ न लूटा जा सकेगा।

देवगति में राग विडम्बना की एक घटना–आदिनाथ भगवान के पूर्वजन्म से सम्बन्धित एक कथा है कि एक राजा और रानी मरण करके स्वर्ग में देव और देवी हुए और वहां से मरण करके देवी तो किसी राजा की कन्या हुई और देव किसी राजा का पुत्र बना। एक दिन वह राजकन्या अपनी छत पर बैठी हुई थी। किसी कबूतर-कबूतरी के जोड़े को देखकर उसे अपने पूर्वभव का कुछ स्मरण हुआ। उसने प्रतिज्ञा की कि मैं अपना सम्बन्ध उसी व्यक्ति के साथ स्थापित करूंगी जो पूर्वभव में मेरा पति रहा है। उसने अपने मन की बात अपनी धाय को बताई। तो धाय ने क्या किया कि बहुत से चित्रपट बनाये। उनमें से एक ऐसा भी चित्रपट था कि एक पुरुष के सिर पर कोई दाग लगा था और उसके पास ही कोई स्त्री खड़ी थी। उस चित्रपट को वह धाय उस मंदिर के पास ले गई जहां सभी लोग दर्शन करने आया करते थे। उस चित्रपट को वहां रखकर धाय बैठ गयी। परीक्षा करने के लिए तो वहां बहुत से राजपुत्र आये, उनमें से एक राजपुत्र ऐसा भी आया जो उस चित्रपट को देखकर मूर्छित हो गया। उस राजपुत्र को भी जाति स्मरण हो गया था। जब धाय ने पूछा–कि तुमने इस चित्रपट में क्या देखा तो वह राजपुत्र कहता है कि मैं पूर्वजन्म में ललिताङ्गदेव था। उस भव में मेरी अङ्गना जो देवी थी उसे मैंने इस चित्रपट में देखा। तो उस समय उस देवी ने उसके सिर में लात मारी थी, क्रोध से नहीं, बल्कि प्रेमवश रूठकर, आसक्तिवश अथवा अनेक प्रकार की प्रवृत्तियोंवश। उस लात का ही निशान उसके

सिर पर बना हुआ था। जब उस धाय ने समझा कि यह वही व्यक्ति है जो इस राजकन्या का पूर्वभव में पति था। आखिर उन दोनों का सम्बन्ध बना। तो इस कथा में बात यह बता रहे कि देवों में भी ऐसी अटपट-खटपट हुआ करती है जैसी कि मनुष्यों में। देवों में अटपट-खटपट कम नहीं हैं कि कोई यह जाने कि देवगति में तो बड़ा सुख है। देव रूठे तो उसको देवी मनाये और देवी रूठे तो उसे देव बनाये। आखिर वे भी तो जीव हैं। कषायें उन देव-देवियों में भी हैं, वे एक-दूसरे के अनुकूल प्रतिकूल होते रहते हैं। वहां भी ये मानसिक दुःख लगे हुए हैं।

संसार में मानसिक दुःखों की व्याप्ति–शारीरिक दुःख से भी कठिन दुःख मानसिक दुःख होता है। जैसे यहां बड़े मनुष्यों में शारीरिक दुःख तो कुछ नहीं है, सब प्रकार के साधन हैं, पर मानसिक दुःख बहुत लगे हुए हैं। मानसिक दुःख वाले जीवों को ये विषय भी दुःखकारी मालूम होते हैं। जब कोई बच्चा किसी बात पर रूठ जाता है तो उस रूठे हुए बच्चे को उसके मां-बाप कितना ही मनाते हैं, उसे खाने के लिए मिठाइयां अथवा खेलने के लिए खिलौने आदि देते हैं, पर वह बच्चा उन मिठाइयों को, उन खिलौनों को धूल में फेंक देता है। तो वह ऐसा क्यों करता है? उसने किसी बात का अपमान महसूस किया। यों ही जब बच्चा गोद में चढ़ा हुआ होता है तो खुश रहता है और जब उसको नीचे बिठा दिया जाता है तो वह रोने लगता है। वह क्यों रोता है? इसलिए कि वह जानता है कि अभी तो गोद में बैठा हुआ मैं राजाबाबू बना था, अब मुझे नीचे फेंककर मेरा अपमान कर दिया गया। यों अपमान महसूस कर वह बच्चा रोने लगता है। तो शारीरिक दुःख से भी कठिन दुःख मानसिक दुःख होता है। यह मानसिक दुःख सबमें पाया जाता है। पशु-पक्षियों में भी रूठने का यह मानसिक दुःख होता है। यह मानसिक दुःख इतना प्रबल है कि प्राणों के वियोग तक का भी कारण बन जाता है। तो देवगतित में सुख न समझना। देव भी हुआ यह जीव तो भी दुःखों से अतीव दुःखी ही रहा।

देवाणां पिय सुक्खं मणहर-विसएहिं कीरदे जदि हि।
विसय–वसं जं सुक्खं दुक्खस्स वि कारणं तं पि।।६१।।

विषय सुखों की दुःख कारणता–देवों का सुख मनहारी विषयों से उत्पन्न होता है। सो जो सुख विषयाधीन है वह सुख भी क्या सुख है, वह तो दुःख का ही कारण है। अभी यहीं निरख लो; हम आप विषय साधन सामग्री जोड़ते हैं और उनके द्वारा सुख का अनुभव करते हैं, तो ऐसी विषय-सामग्री से जो सुख पाया जाता है वह सुख नहीं है बल्कि दुःख का ही हेतुभूत है। कोई चीज रसीली खाने की मन में आये तो उसके लिए उसने आग जलाया, धुंआ होने से आंखों से खूब आंसू भी गिरे, बड़ा कष्ट करके हलुवा बनाया, पर स्वाद कितनी देर का? जब तक कि वह जीभ पर रखा है और यदि तृष्णावश हलुवा अधिक खा गए तो कहो पेट दर्द आदि के दुःख भी सहने पड़ें। अतः जो सुख अनेक सामग्रियों के अधीन है उससे फायदा क्या? वह तो विडम्बनारूप है। शान्ति तो असली वह है कि जब चाहा तभी दृष्टि दी अपने स्वरूप पर और उससे खूब शान्ति भोगी। यह सुख स्वाधीन है और यही सुख वास्तविक सुख है। जो सुख पराधीन है वह सुख नहीं है बल्कि दुःखरूप है। पराधीन सुख जो बड़े धन सम्पन्न राजा-महाराजाओं का है वह भी एक विडम्बनारूप है और समस्त परिग्रहों का त्याग करने वाले मुनिजनों का जो आत्मध्यान का सुख बन रहा है, वह वास्तविक सुख है। इन सांसारिक सुखों के पाने के लिए कितने ही लोगों की पराधीनतायें स्वीकार करनी पड़ती हैं। मान लो

कोई लौकिक दृष्टि में पराधीन नहीं है तो भी किसी को खुश रखने का भाव तो रख ही रहा है। वही पराधीनता है। तो देवों के भी जो मन को बहुत प्रिय लगने वाला सुख हो रहा है वह सुख भी दुःख है क्योंकि विषयाधीन है। उन देवों को न तो रोजगार करना होता है, न कुछ आजीविका की चिन्ता होती है, बाहरी सामग्रियों के नष्ट हो जाने का उनको कोई भय नहीं है। उनको भी जो सुख होता है वह उनके दुःख का कारण है तो अन्य पुरुषों का जो सुख है वह क्या सुख का कारण बनेगा? वह भी दुःखरूप है।

सांसारिक सुख के साधन की दुःखहेतुता—देखिये—धन का सुख है तो उसके हाथ डाकू न चुरा लें, कोई लोग मुझे न सतायें अथवा कोई कानून ऐसा न बने कि जिससे सम्पदा नष्ट हो जाये। यों कितने ही प्रकार के क्लेश लगा रखे हैं। ज्ञानी पुरुष में इतना साहस होता है कि हमारा जैसा उदय होगा उसके अनुसार सब साधन स्वतः ही बनेंगे। उनका क्या विकल्प करना? गृहस्थी के नाते थोड़ा प्रयत्न कर लें बस यही अपना कर्त्तव्य है, अब जो बात बीतेगी उसी में मुझे आनन्द है। राणा प्रताप जो कि बहुत बड़े राजा थे वह भी जब समय आया तो जंगलों में रहे, घास, फूस की रोटियां, सब्जियां अथवा फल, फूल आदि खाकर अपना समय गुजारा, उस हालत में भी वे प्रसन्न रहे। रहे प्रसन्न मगर दुःख तो था। वहां पर भी आधीनता उन बच्चों की व स्त्री आदि की थी। तो इस सुख के लोभ में बड़े-बड़े दुःख सहने पड़ते हैं। जितने भी सुख हैं वे आज हैं, मगर कोई ऐसा मौका आता है कि उसी के कारण दुःख हो जाता है।

एवं सुट्ठु असारे संसारे दुक्ख-सायरे घोरे।
किं कत्थ वि अत्थि सुहं वियारमाणं सुणिच्छयदो।।६२।।

दुःखमय असार संसार में वास्तविक सुख का अभाव—इस तरह परमार्थ विचार करने पर सर्वथा जो सारहीन हैं, दुःखरूप हैं ऐसे भयानक इन भवों में क्या किसी को सुख है, खूब विचार कर लो। इस संसार में किसी भी पर्याय में क्या वास्तव में सुख है? सर्वत्र दुःख ही दुःख दिख रहा है। कदाचित् पुण्य का उदय है, वैभव सामग्री खूब है तो उसमें मस्त मत हो, उसके सदुपयोग का ध्यान रखो। आता है तो क्या वह आप के लिए आता है? आप उसका क्या कर लेंगे, कितना खायेंगे, कितना उपभोग करेंगे? रही यह बात कि यदि आप ऐसा मानेंगे कि लोक में हम कुछ ठाठ से तो रह लेंगे तो यह लोक भी क्या? यहां दिखने वाली समस्त पर्यायें मायारूप हैं, आखिर इन सबका वियोग होगा। तो अपने शुद्ध भाव बनायें, विषयों से रहित, परिणाम रखने की बात अब भी निभाते रहें तो आगे भी कुछ प्राप्ति होगी, अन्यथा जैसे किसी राजा ने कहा कि हे मंत्री! एक आदमी ऐसा लाओ जो यहां का हो, एक आदमी ऐसा लाओ जो वहां का हो, एक ऐसा लाओ जो यहां का भी हो वहां का भी हो, एक आदमी ऐसा लाओ जो न यहां का हो, न वहां को हो। यहां के मायने इस जीवन में काम का हो, वहां के मायने जो परलोक में काम का हो। तो लाये साहब। एक योगी पुरुष को दिखाया और बताया कि देखो यह यहां के तो नहीं, पर वहां के हैं। एक दरिद्र, कोढ़ी भिखारी को दिखाया कि देखो— यह न यहां के हैं, न वहां के हैं। एक धनी कृपण सेठ को दिखाया और बताया कि देखो यह यहां के हैं, वहां के नहीं। क्योंकि तृष्णा है, यथा तथा प्रवृत्ति है और एक परोपकारी सेठ को दिखाया और बताया कि देखो—यह यहां के भी हैं और वहां के भी हैं। अर्थात् यह सेठजी यहां भी सुख पा रहे और आगे भी सुख पायेंगे।

संतोष व उदारता जीवन की सफलता—प्रयोजन यह है कि जो वर्तमान में वैभव पाया है उसको यह समझें कि यह हमें जरूरत से ज्यादा मिला हुआ है, सन्तुष्ट रहें। असन्तोष में लाभ न मिलेगा और न असन्तोष

कभी मिट सकेगा। हर स्थिति में यह अनुभव करें कि हमने वैभव जरूरत से ज्यादा पाया है और बात भी सत्य है, जरूरत से ज्यादा है, लेकिन मन को जो स्वच्छंद रखा है। एकदम बाहरी पदार्थों की तृष्णा में जो मन को लगा रखा है उससे यह ख्याल आ जाता है कि अरे हमारे पास तो कुछ भी वैभव नहीं है। ज़ब हमने अरहंत देव का शासन पाया है, वीतराग ऋषि संतों की वाणी सुनने का, पढ़ने का अवसर मिला है, स्व पर का विवेक करने का ज्ञान हासिल हुआ है तो हम किस बात में कम हैं? क्या असंतोष की बात है? यदि अपने असली वैभव को पहचानें तो उसके मुकाबले यह बाहरी वैभव तो कुछ भी चीज नहीं है। बुन्देलखण्ड में एक राजरानी राजा के न रहने पर राज्य चलाती थी। उसके पास एक बालक था। वह बालक बड़ा उदार प्रकृति का था। उस बालक को जो कुछ भी खर्च करने को मिलता था उसे वह दान में दे देता था, परोपकार के कार्यों में लगा देता था। उसकी उदारता की प्रकृति पर राजमाता बहुत प्रसन्न थी। राजमाता भी समझदार थी, वह जानती थी कि यह वैभव कमाने से नहीं बल्कि पुण्यानुसार आता है। एक बार वह राजमाता अपने बालक सहित महल की छत पर बैठी हुई थी। अपने बालक से बोली—बेटा देखो सामने जो पहाड़ दिख रहा है उतना बड़ा सोना, चांदी, हीरा जवाहरात आदि वैभवों का ढेर यदि तुम्हारे पास रख दिया जाये तो तुम उसे कितने दिनों में दान कर दोगे? तो वह बालक बोला—मैं उतने बड़े वैभव को एक मिनट में दान कर दूंगा, पर उठाने वाले उसे कितने ही दिनों में उठायें। ये मैं नहीं जानता तो बुद्धि देखिये ये सब चीजें विनाशीक हैं। इन पाये हुए समागमों को जरूरत से ज्यादा जाने और धर्मनिष्ठ होकर धर्मलाभ लेने का उद्यम करें।

दुक्किय-कम्मवसादो राया विय असुइ-कीडओ होदि।
तत्थेव य कुणइ रई पेक्खह मोहस्स माहप्पं।।६३।।

पापकर्म के उदय की विडम्बना और मोह का माहात्म्य—पापकर्म के वश से राजा भी विष्टा का कीड़ा हो जाता है और देखो पाप का उदय कि अशुचि जगह में उत्पन्न हो गया तो वह वहां ही प्रेम करने लगता है। एक ऐसी घटना हुई कि विदेह देश में मिथिला नगरी में एक सुभोग नाम का राजा रहता था। उसकी पत्नी का नाम मनोरमा था। उसके एक देवरति नाम का युवा पुत्र था। उसी नगर में एक तपस्वी आचार्य संघसहित आये। तो सभी लोग वंदना के लिए गए। राजा भी मुनि की वंदना के लिए गया। तो मुनि की वंदना करके आचार्य से राजा ने पूछा कि हे मुनिराज! मैं यहां से मरकर कहां जन्म लूंगा? मुनिराज अवधिज्ञानी थे। राजा का प्रश्न सुनकर मुनिराज बोले कि आज से ७ वें दिन बिजली गिरने से तुम्हारी मृत्यु होगी और मरकर तुम अपने घर की संडास में विष्टा का कीड़ा बनोगे। इस बात को सत्य समझने के लिए प्रमाण यह है कि अब तुम यहां से जब जाओगे, नगर में प्रवेश करोगे तो रास्ते में भंवरे की तरह अत्यन्त काला एक कुत्ता देखोगे। यह भी भविष्य की बात और वह भी भविष्य की बात। इस आज के निकट भविष्य की बात देखकर राजा को विश्वास हो जायेगा। अब मुनिराज की बात सुनकर राजा चल पड़ा, तो रास्ते में एक भंवरे की तरह अत्यन्त काला कुत्ता दिखा। राजा ने समझ लिया कि मुनिराज की कही हुई बात बिल्कुल सत्य है। आखिर राजा जब अपने घर पहुंचा तो अपने लड़के को बुलाकर कहा—बेटा देखो, आज के ७ दिन बाद हम मर जायेंगे और मरकर अपने घर की संडास में विष्टा का कीड़ा बनेंगे, सो तुम वहां जाकर हमें मार डालना, कारण कि कहां तो मैं राजा और कहां मैं बनूं विष्टा का कीड़ा। यों पुत्र से कहकर अपना सारा राजपाट छोड़ दिया और बिजली गिरने के भय से वह जल के भीतर बने हुए महल में छिपकर बैठ गया। सोचा था कि यहां कहां

बिजली गिरेगी। आखिर ७वें दिन बिजली गिरने से राजा की मृत्यु हो गयी और मरकर विष्टा का कीड़ा बना। जब उस राजा के पुत्र ने उस कीड़े को लकड़ी से मारना चाहा तो वह कीड़ा उस विष्टा में घुस गया। तो उस पुत्र को बड़ा अचरज हुआ कि देखो हमसे तो कहा था कि हमें मार डालना, पर जब मैं मारने गया तब उसी विष्टा में घुस गया। ऐसी हालत है इस जीव की जिस पर्याय में यह जीव जन्म ले लेता है उसी में मिथ्यावश राजी रहता है।

क्रोध और मान के परिहार करने का अनुरोध–भैया! यहां लोग जरा-जरा सी बातों में अपना बड़प्पन चाहते हैं, पर यहां बड़प्पन चाहने से लाभ क्या? बड़प्पन मानो धर्म से। यहां गर्व करने लायक कोई बात ही नहीं है और न किसी दूसरे पर अन्याय करना, क्रोध करना यह युक्त है। यहां तो राजा भी मरकर विष्टा का कीड़ा बन जाता है। हम आपको चाहिए कि अपने चित्त में उदारता रखें और कषायें भी मंद करें। हमारी कषायें मंद होंगी तो उसका लाभ हमें होगा। गुस्सा करने की आदत कम बने। बहुत सी गुस्सायें पी जायें, गुस्से में किसी से बोलना नहीं। गुस्सा न करके क्षमा प्रकृति बनाने से बड़ा संतोष होता है। इसके लिए कुछ थोड़ा पुरुषार्थ करना चाहिए। यदि कषायों को मंद करने का कुछ पुरुषार्थ न किया तो यहां के कुछ पाये हुए बड़प्पन से लाभ कुछ न मिलेगा। देखो यहां राजा भी मरकर कीड़ा बन गया। देव भी एकेन्द्रिय बन जाते, राजा ओर कीड़ा की तो बात जाने दो। ये कषायें इस जीव को बरबाद ही करने वाली हैं। गुस्सा करने से लाभ क्या मिल जाता है? बल्कि बुद्धि खराब हो जाती है। और उस खोटी बुद्धि में जो विचार करें वह सही विचार भी न बन पायेगा। दूसरे से कुछ कटुक वचन बोल दिया तो दूसरा भी उससे बदला लेने का भाव रखेगा और तत्काल भी सब गुण फुंक जाते हैं। ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिए कि जिससे गुस्से पर कुछ विजय प्राप्त की जा सके। अभिमान करने से तत्काल ही अपमान होता है। कभी कुछ लोग लौकिक बड़प्पन के कारण उसे सीधा कुछ न कह सकें लेकिन मन में तो कह ही लेते हैं कि यह कैसा अभिमानी है? उसके प्रति लोगों को घृणा प्रकृत्या होती है। और फिर अभिमानी को भी समय समय पर बहुत नीचा देखना पड़ता है। तो अभिमान से भी अपने को इस भव में भी और अगले भव में भी दुःख है।

माया और लोभ के परिहार का अनुरोध–माया, छल, कपट–इससे भी इस आत्मा को लाभ की बात नहीं है। अगर छल कपट करके कुछ वैभव जोड़ लिया तो उससे क्या लाभ? बल्कि छल कपट किया इससे तो हानि में रहे, इसको कई गुना मिलना था तो वह कम मिल सका। लोभ कषाय से भी जीव को हानि ही हानि है, लोभयत्न से तो वैभव कम मिल सका, तथ्य की बात तो उसमें यह है, क्योंकि शुद्ध भाव रहने से पुण्य रस बढ़ता है और जितना जो कुछ माहात्म्य है संसार के सुख साधनों के पाने का वह सब पुण्य पर निर्भर है। यदि अपने भावों में पवित्रता हो तो वैभव स्वयं प्राप्त होता है। एक निर्णय कर लेना चाहिए कि हम अनादि काल से बहुत कुयोनियों में भटकते-भटकते आज सुयोग से मनुष्य हुए हैं तो जीवन तो यह रहेगा नहीं और जो कुछ समागम हैं वे भी भिन्न हैं, वे भी रहेंगे नहीं। कर्त्तव्य तो हमारा केवल एक यही है कि अपने आत्मा के स्वरूप को पहचाने और उसका अधिक समय तक उपयोग बनायें। उसी में रत होकर तुष्ट रहने का यत्न करें। कर्त्तव्य तो हमारा यह ही है। हां, कुछ परिस्थितियोंवश घर गृहस्थी के बीच रहना पड़ रहा है लेकिन यह सब मेरा कुछ है नहीं, ऐसा अन्तरङ्ग चिन्तन चलना चाहिये। ऐसा अन्तरङ्ग चिन्तन चलता रहता है ज्ञानी गृहस्थ का।

वह जानता है कि यह सब जो कुछ दिखता है यह पुद्गलों का ढेर है, प्रयोजनवश इसके सम्पर्क में रहकर इसकी व्यवस्था बनानी पड़ती है, मगर ये सभी चीजें हमसे छूट जानी हैं ऐसा चिन्तन विवेकी गृहस्थ करता है।

सभी मनुष्यों का धर्मशालाओं में निवास–एक बार किसी नगर में एक साधु आया। उसने एक हवेली के पास खड़े होकर पहरेदार से पूछा कि यह धर्मशाला किसकी है? पहरेदार बोला–महाराज यह धर्मशाला नहीं है, धर्मशाला तो आगे है। वहां ठहरिये। साधु ने कहा–नहीं, हम यह नहीं पूछते, हम तो पूछ रहे हैं कि यह धर्मशाला किसकी है? पहरेदार ने फिर वही उत्तर दिया। वह चर्चा सुन ली ऊपर से सेठ ने। सेठ ने साधु को अपने पास बुलाकर कहा–महाराज धर्मशाला तो आगे है, यह तो आपकी हवेली है। तब संन्यासी ने पूछा कि अच्छा यह बताओ कि इस हवेली को किसने बनवाया था? सेठ बोला–इसको हमारे बाबा ने बनवाया था।.....अच्छा–आपके बाबा जी इसमें कितनो दिनों तक ठहरे थे? करीब २–३ वर्ष। और आप इसमें कितने दिनों तक ठहरेंगे? साधु की इतनी बात सुनकर सेठ की आंखें खुलीं और सेठ समझ गया कि महाराज ठीक ही कह रहे हैं। यह धर्मशाला है, हवेली नहीं है। इसमें थोड़े समय तक ठहरकर चलें जायेंगे। सो बात ऐसी है कि यदि सच्चा ज्ञान बना रहेगा तो भीतर में आकुलता न रहेगी।

सुख दुःख की ज्ञान की विशेष परिणतियों पर निर्भरता–सुख दुःख का सम्बन्ध ज्ञान और अज्ञान से है। जैसा हम ज्ञान बनायें उसी के अनुसार हम पर सुख-दुःख की बातें बीतती हैं। हर जगह परख लो–कोई बहुत बड़ा संकट भी आये, पर ज्ञान यदि सही बना है तो फिर वह आकुलित न होगा और यदि कोई साधारण सी भी घटना हो और उसे बहुत बड़ा महसूस करे तो बड़ा विह्वल हो जायेगा। हमारा ज्ञान यदि सत्य है तो हम इन दुःखों से घबरायेंगे नहीं, आकुलित न होंगे और यदि हमारा ज्ञान विपरीत है, कमजोर है, मोह भरा है तो हमको पग-पग पर आकुलतायें होंगी। कोई दूसरा आकुलता नहीं देता। कोई मियां-बीवी थे। मियां का तो नाम था बेवकूफ और बीवी का नाम था फजीहत। वे दोनों खूब लड़ते थे और शाम को सुलह भी हो जाती थी। एक दिन उनमें ऐसी विकट लड़ाई हुई कि फजीहत घर छोड़कर कहीं भाग गयी। वह बेवकूफ मियां अपनी फजीहत को इधर-उधर ढूंढ़ता फिरे और लोगों से पूछता फिरे–भैया! तुमने कहीं मेरी फजीहत देखी? लोगों ने यही कहा कि हमने तो नहीं देखी। एक बार किसी परदेशी पुरुष से भी पूछ बैठा कि भैया! क्या तुमने हमारी फजीहत देखी? तो वह कुछ न समझ सका। उस परदेशी ने पूछा कि आपका क्या नाम है? वह मियां बोला–मेरा नाम बेवकूफ। अरे बेवकूफ होकर भी तुम फजीहत यहां-वहा ढूंढते फिरते हो? जहां ही किसी को बुरी बात बोल दी वहां ही तुम्हारी लात-घूंसा आदि सब फजीहत हाजिर हैं सो बात यह है कि हमारा ज्ञान अगर सही नहीं है, विपरीत ज्ञान है तो उस अज्ञान से जगह-जगह विपदायें हैं। सुख-दुःख का सम्बन्ध ज्ञान की परिणतियों से विशेष है, अनेक मनुष्य करोड़पति होकर भी व्यग्र रहते हैं, तृप्त ही नहीं होते हैं। अपने से अधिक धनिकों को देखकर उनसे ईर्ष्या करते हैं और दुःखी रहते हैं। अपना ज्ञान इस तरह का बनायें कि जितना जो कुछ मिला है वह जरूरत से ज्यादा है। जीवन तो धर्म पालन के लिए है। इसमें ज्यादा क्या विकल्प करना? तो देखिये ऐसा विवेकी व्यक्ति थोड़ी सी सम्पदा में भी प्रसन्न है, सुखी है। तो हमारे भविष्य का सम्बन्ध ज्ञान से है। यदि ज्ञान हमारा स्वच्छ है तो हमें आकुलतायें न होंगी, और यदि ज्ञान ही विपरीत है तो सर्वत्र आकुलतायें हैं। किसी भी बात को कुछ विचार लिया और अपने को दुःखी कर डाला।

लौकिक बड़प्पन की अविश्वास्यता–भैया! यहां यह बतला रहे हैं कि संसार में यदि कुछ लौकिक बड़प्पन भी पाया है तो उसका विश्वास न करें। इस लौकिक बड़प्पन से फायदा क्या मिल जायेगा? यहां जब राजा भी मरकर भिष्ठा का कीड़ा बन जाता है अथवा देव भी मरकर पृथ्वी, पेड़ आदिक एकेन्द्रिय जीव बन जाता है तो फिर इस लौकिक बड़प्पन से फायदा क्या है? भीतर में ऐसा बड़प्पन बनायें, ऐसा ज्ञान सम्यग्दर्शन श्रद्धान अपने आपके स्वरूप की सुध करें, जिससे संसार के संकट टलेंगे और जब तक संसार में रहेंगे तब तक भी ठाठ के साथ, वैभव के साथ जीवन बीतेगा, और यह बात स्वाधीन है, करना ही है, निज की ही तो ज्ञान की बात है। हम अपनी दृष्टि अपनी ओर ले जायें तो क्या हम अपने को जान नहीं सकते? हम जब बाहर की ओर ज्ञानदृष्टि करके देखते हैं तो ये चौकी, तख्त आदिक सब जानते हैं, बड़े-बड़े हिसाब करते हैं और यह खुद जाननहार है, ज्ञानस्वरूप है, अपने ज्ञानस्वरूप को जानने के लिए चलें तो क्या जान न सकेंगे? अवश्य जानेंगे। तो मुख्य कर्त्तव्य यह है कि हम अपने आत्मा के ज्ञान में बढ़ें, अपने आपका सही पता लें कि मैं क्या हूं? इससे बढ़कर और कोई वैभव नहीं।

पुत्तो वि भाउ जाओ सो चिय भाओ कि देवरो होदि।
माया होदि सवत्ती जणणो वि य होदि भत्तारो।।६४।।
एयम्मि भवे एदे संबंधा होंति एय–जीवस्स।
अण्ण-भवे किं भण्णइ जीवाणं धम्म-रहिदाणं।।६५।।

संसरण सम्बन्ध की विचित्रता–इस संसार में एक-दूसरे से रिश्तेदारी सम्बन्ध मानना यह सब एक यों ही बन जाता है, वहां कोई वास्तविक आत्मा का आत्मा के नाते से सम्बन्ध नहीं है। जैसे आज जो आपके बच्चे हैं वे जीव हैं, उन जीवों में और आप में कोई भीतर न लिखा है, न कोई ऐसा विलक्षण चिन्ह है, न शक्ल-सूरत है जिससे कि यह निर्णय हो कि यह ही जीव आपका पुत्र कहला सकता है। जो आया, घर में पैदा हुआ और आपको है मोह की आदत, सो उस ही जीव से अपना रिश्ता मान लेते हैं और तो जाने दो एक ही भव में एक ही जीव के साथ अनेक रिश्ते बन जाते हैं। संसार की ये विचित्र स्थितियां हैं, एक ही भव में जो पुत्र है वह भाई बन जाता है, जो भाई है वह देवर बन जाता है, जो माता है वही सौत बन जाती है। जो पिता है वही पति बन जाता है। एक ही भव की बात कर रहे हैं कि एक ही भव में जब इतने जीव के सम्बन्ध बन जाते हैं तो अन्य भवों में इस धर्मरहित जीवों का क्या होता है? वह तो बड़ी विचित्र ही कहानी है।

एक भव में अठारह नाते की भूमिका–अठारह नाते की कथा पुराण में बहुत प्रसिद्ध है। उसमें यह बताया गया कि एक जीव का दूसरे जीव के साथ एक ही भव के ६ नाते बन गए। कथा संक्षिप्त में यों है कि बहुत पहले उज्जैन नगरी में एक सुदत्त नाम का सेठ रहता था और उसी नगरी में एक बसंततिलका नाम की वेश्या थी। सेठ ने उस वेश्या को अपने घर में रख लिया। जब कभी कुमति होती है और द्रव्य अधिक होता है तो कुछ से भी कुछ अनर्थ कर लेता है यह जीव। नीति शास्त्र में बताया है कि जवानी, धन-सम्पदा, प्रभुता यानि चला और अज्ञान–इन चार में से अगर एक भी हो तो भी अनर्थ के लिए होता है किन्तु ये चारों बातें आ जायें जिस व्यक्ति में, उसके अनर्थ का तो कहना ही क्या? तो सेठ ने उस बसंततिलका को अपने घर रख लिया। बसंततिलका के गर्भ रहा और वह रुग्ण भी बहुत हो गयी। सेठ ने उसे घर से निकाल दिया। वह अपने घर रहने लगी और उसके एक साथ एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुए। उसने बड़े खेद में आकर उन दोनों

को अलग-अलग रत्नकम्बल में लपेटकर पुत्री को तो दक्षिण की गली में और पुत्र को उत्तर की गली में डाल दिया। अब वे दोनों अलग-अलग पले-पुसे। एक कोई इलाहाबाद का व्यापारी सुकेत आया, उसको वह पुत्री मिली। उसका नाम कमला रखा गया। और कोई अयोध्यावासी सुभद्र आया तो उसे वह पुत्र मिला। उसका नाम धनदेव रखा गया। अब वे दोनों बड़े हुए और ऐसा योग हुआ कि इन दोनों का परस्पर विवाह हुआ। अब व्यापार निमित्त यह धनदेव अनेक दिशाओं में जाता ही था, सो वह उज्जैन पहुंचा और उसे वहां बसंततिलका से प्रेम हुआ और उसके यहां रहने लगा और सम्बन्ध होने से वहां भी एक पुत्र हुआ। उसका नाम वरुण रखा। तो अब यह देखिये कि चार जीव हुए—धनदेव, कमला, बसंततिलका और वरुण। अब यह कमला और अपने घर अकेली थी, धनदेव तो बसंततिलका के यहां रहने लगा। एक बार मुनिराज से इस कमला ने अपना पूर्वभव पूछा और मुनिराज ने सब बताया और कहा कि देखो अब तुम्हारे भव में उन्हीं जीवों से जिनका पूर्व भव में तुम्हारा सम्बन्ध था, कैसे विचित्र नाते हो गए? तो वह कमला विरक्त हुई, कुछ व्रत धारण किया और वह यही देखने के लिए उज्जैन में बसंततिलका के घर पहुंची।

वरुण के साथ कमला के छः नाते—जब कमला बसंततिलका के घर पहुंची, उस समय वरुण पालने में झूल रहा था तो कमला बैठकर वरुण को झुलाती जाये और कहती जाये कि देख तेरे साथ मेरे छः नाते हैं। मेरे पति का तू पुत्र है, इस कारण से तू मेरा पुत्र हुआ। कमला का पति धनदेव और उसका पुत्र हो गया। बसंततिलका के यहां वरुण, उसी को कमला झूला रही थी। और देखो—धनदेव मेरा भाई है। भाई तो था ही। पीछे विवाह हो गया तो मेरे भाई का पुत्र होने से तू मेरा भतीजा हुआ और देख वरुण—हमारी भी माता बंसततिलका और तेरी भी माता बसंततिलका, तो जब दोनों की माता एक है तो तू मेरा भाई हुआ और देख—धनदेव मेरा पति है और तू है धनदेव का छोटा भाई क्योंकि धनदेव की मां भी बसंततिलका और वरुण की मां थी बसंततिलका, तो तू मेरा देवर हुआ और देख—धनदेव मेरी माता का पति है, मेरी माता हैं बसंततिलका, तो धनदेव मेरा पिता है और पिता का तू है भाई, तो तू मेरा काका कहलाया और धनदेव की स्त्री मैं और धनदेव की स्त्री बंसततिलका तो वह बसंततिलका मेरी सौत हुई ना और उसका तू पुत्र है अतः धनदेव मेरा भी पुत्र हुआ और धनदेव का तू है पुत्र, तू मेरा पोता हुआ क्योंकि धनदेव मेरा पति है और उसका तू पुत्र है यों वह कमला अपने नाते वरुण से कह रही थी। अब इसके साथ छः नाते धनदेव के साथ और छः नाते बसंततिलका के साथ के कहने लगी।

धनदेव और बसंततिलका के साथ कमला के छः-छः नाते—अब कमला धनदेव के साथ के छः नाते कहने लगी। धनदेव मेरा पिता है, क्योंकि मेरी मां बसंततिलका और बसंततिलका का पति धनदेव है। धनदेव मेरा दादा है, क्योंकि वरुण मेरा काका है और वरुण का धनदेव पिता है। धनदेव मेरा पति तो स्पष्ट ही है। धनदेव मेरा भाई है, क्योंकि धनदेव की और मेरी माता एक बसंततिलका ही है। धनदेव मेरा पुत्र है, क्योंकि मैं (कमला) बसंततिलका की सौत हूं और बसंततिलका सौत का पुत्र धनदेव है। धनदेव मेरा ससुर है, क्योंकि धनदेव पति की मां होने से बसंततिलका मेरी सास है और धनदेव बसंततिलका का सास का पति है।

अब कमला बसंततिलका के साथ के छः नाते कहने लगी। बसंततिलका मेरी भान्रज है, क्योंकि बसंततिलका मेरे भाई धनदेव की पत्नी है। बसंततिलका मेरी दादी है, क्योंकि धनदेव मेरे और वरुण के पिता हैं। बसंततिलका धनदेव की मां है यानि पिता की माता है। बसंततिलका मेरी माता तो स्पष्ट ही है।

बसंततिलका मेरी सौत है, क्योंकि बसंततिलका मेरे पति धनदेव की भार्या है। बसंततिलका मेरी पुत्र वधू है, क्योंकि मेरी सौत का पुत्र होने से धनदेव मेरा भी पुत्र है और बसंततिलका मेरे पुत्र धनदेव की पत्नी है। बसंततिलका मेरी सास है, क्योंकि मेरे पति धनदेव की बसंततिलका माता है। इस प्रकार कमला ने ३ व्यक्तियों के प्रति अपने छः-छः नाते बताये।

इस अनादि संसरण में इन जीवों का अनेक भवों में परस्पर नाता–तो यहां बात केवल यह देखनी है कि देखो जीवों के संयोग कि एक भव में कैसे विचित्र एक जीव के साथ ६ नाते बन गए? तो यहां सम्बन्ध क्या सत्य मानते? कुछ से भी कुछ हो जाता है। जिसको हम आज शत्रु समझ रहे हैं, गैर समझ रहे हैं, कहो वही जीव मरकर कुटुम्बी बन जाये। हम आप लोग कब से भ्रमण कर रहे जिसकी कोई आदि ही नहीं है। अगर कल्पना में लायें कि हम इस दिन से हैं तो यह बताओ कि उसके पहले क्या हम थे ही नहीं? तो जो वस्तु असत् है, जिसकी सत्ता ही नहीं है उसका कभी निर्माण ही नहीं होता। जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता, जो असत् है उसका कभी उत्पाद नहीं होता। तो प्रत्येक पदार्थ अनादिकाल से है, अनादिकाल की कोई हद ही नहीं। काल की अगर हद मानी जायें कि जिस दिन से समय चला तो क्या उससे पहले समय था ही नहीं? तो हम अब अनादि से हैं और आज का यह जीवन, यह देह यह साबित करता कि इसी तरह से हम पूर्वभवों में देह धारण करते चले आये। तो अनन्त भव छोड़े। वहां इन सभी जीवों के साथ कोई न कोई कुटुम्ब का सम्बन्ध बना। आज हम यहां मोह में आकर इन दो-चार जीवों को मानते हैं कि ये मेरे हैं, बाकी को समझते हैं कि ये गैर हैं। गैर हैं सो सभी गैर हैं और स्वरूप दृष्टि से देखिये तो सभी जीव समान हैं। आत्मा के स्वरूप का यथार्थ परिचय हो तो इस मनुष्य को कोई घबराहट नहीं हो सकती। कितनी ही विपत्तियां आयें उनको विपत्तियां नहीं मानेगा। क्या विपत्ति? प्रत्येक पदार्थ का कुछ से कुछ परिणमन है। उससे मेरे पर क्या विपत्ति? मैं उसे अपनाऊं तभी तो मेरे लिए विपत्ति है। इस ज्ञानी में क्यों साहस बन जाता कि उसको यथार्थ ज्ञान हो गया।

ज्ञान को ही रक्षक जानकर ज्ञान की उपासना का अनुरोध–ज्ञान ही हम आपको मदद कर सकने वाला है और कोई दूसरा नहीं। जब तक आपका ज्ञान सही है, भला व्यवहार है, ज्ञान भरी बात बोलते रहते हैं तब तक आपके अनेक साथी बने हुए हैं। जिस दिन ज्ञान किसी का बिगड़ जाये, जिसे कहते हैं दिमाग खराब हो गया, तो उस दिन लोग किनारा कर जाते हैं। कोई साथी नहीं होता। तो जो भी लोग आज आपके साथी हो रहे हैं वे आपके ही भले होने के कारण आपके साथी हो रहे हैं। अथवा इसलिए भी नहीं, सबको अपने-अपने प्रयोजन हैं और उसकी सिद्धी परस्पर इसी तरह होती है तो सब भलापन बन रहा है, वस्तुतः जीव की रक्षा करने वाला उसका ही सम्यग्ज्ञान है और कोई दूसरा इसका रक्षक नहीं है, ऐसा समझकर और यह जानकर कि अनेक कुयोनियों में भटक-भटककर आज मनुष्य बने हैं, जैन शासन मिला है तो इसमें जितना लाभ लिया जा सके आत्मा का बहुत जल्दी लेना चाहिए और वह लाभ है रत्नत्रय का। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र बस यही रत्नत्रय धर्म हैं। यही हम आपको संकटों से बचा सकने वाला है। धर्म को छोड़कर किसी भी भाव में, किसी भी संयोग में, किसी भी समागम में हमारा हित करने का सामर्थ्य नहीं है। जब हम बाह्य पदार्थों को, भिन्न जानकर कि इनसे मुझे कुछ लाभ ही नहीं, एकदम दिल से निकाल दें और बड़े विश्राम से बैठ जायें, किसी भी पर पदार्थ का लगाव न रखें, ऐसे आराम से बैठें तो सहज ही अपने आप अपने में उस ज्ञानस्वरूप

के दर्शन होंगे और आनन्द का अनुभव होगा और उससे समझ जायेंगे कि सत्यता यह है। उसी के मायने सम्यग्दर्शन है।

संसारो पंच-विहो दव्वे खेसे तहेव काले य।
भव-भमणो य चउत्थो पंचमओ भाव-संसारो।।६६।।

संसार का अर्थ व उसके भेद–संसार नाम जगह का नहीं है। जैसे कि लोग कहते हैं कि इस संसार में बड़ा दुःख है, इस दुनिया में इस जगह में बड़ा दुःख है। सो संसार का अर्थ जगह नहीं है किन्तु संसार का अर्थ परिभ्रमण है। चर्तुगति में घूमना, रागद्वेष मोह भावों में भटकना, इसका नाम है संसार। जब कहा जाये कि संसार बड़ा दुःखमय है तो उसका अर्थ यह लेना चाहिए कि मेरा जो रागद्वेष मोह परिणाम में भटकना है वह है दुःखपूर्ण। जगह को ही संसार जानकर जगह में दृष्टि न रखना चाहिये। यदि इस जगह को ही संसार कहते हैं तो देखिये–अरहंत भगवान कहां रहते हैं? इस दुनिया में। क्षेत्र को अगर संसार माना जाये तो इस ही संसार में इस ही क्षेत्र में लोक में अरहंत रहते हैं, वे तो दुःखी नहीं हैं। सिद्ध भगवान भी कहां रहते हैं? लोक में। लोक से बाहर तो आकाश के सिवाय और कुछ द्रव्य ही नहीं, पर सिद्ध भगवान कहां दुःखी हैं? और भी संसरण का महात्म देखिये कि जिस स्थान पर सिद्ध भगवान अवस्थित हैं उस ही स्थान पर संसारी निगोदिया जीव भी रह रहे, पर वे निगोदिया जीव यहां के निगोदिया की तरह एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण करते हुए दुःख भोग रहे हैं। तो संसार नाम क्षेत्र का नहीं, जगह का नहीं किन्तु चर्तुगतियों में भ्रमण करने का नाम संसार है। और भावतः अपने विभाव परिणामों में, कषाय भावों में भटकते रहने का नाम संसार है। संसार बड़ा दुःखी है। इसका अर्थ क्या लेना चाहिये कि जीवों का जो राग द्वेष मोह परिणाम है उसमें जो उलझा हुआ है, यही भटकना दुःखपूर्ण है। हम जब-जब भी दुःखी हों तब-तब यह दृष्टि न करना कि मैं इस घर में बड़ा दुःखी हूं, मैं इस गांव में बड़ा दुःखी हूं, मैं इस कुटुम्ब के कारण दुःखी हूं, किन्तु यह अनुभव करना कि मैं जो अज्ञानवश मिथ्यात्व कषाय के लगाव से जो अपने भावों में, विभावों में रागद्वेष मोह भावों में रह रहा हूं, यह स्थिति मेरे लिए दुःखपूर्ण है। तो संसरण का नाम ही संसार है। वह संसार ५ प्रकार का है–द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार। इन ५ प्रकार के संसारो में मुख्यतया हमें यह समझना है कि हम अनादिकाल से भटकते आये हैं और ऐसे-ऐसे अनन्त पंच संसार हमने व्यतीत कर डाले। उन पांच प्रकार के संसारों में से पहले द्रव्यसंसार का वर्णन करते हैं। द्रव्यसंसार कहो अथवा द्रव्य परिवर्तन कहो, एक ही भाव है।

बंधदि मुंचदि जीवो पडिसमय कम्म-पुग्गला विविहा।
णोकम्म-पुग्गला विय मिच्छत-कसाय-संजुत्तो।।६७।।

मिथ्यात्व कषायवश कर्म और नोकर्म पुद्गलों का बंधन मोचन–मिथ्यात्व और कषाय से युक्त होता हुआ यह संसारी जीव प्रति समय अनेक प्रकार के कर्म पुद्गलों और नोकर्म पुद्गलों को भी ग्रहण करता है और छोड़ता है। द्रव्य परिवर्तन में यह बात बता रहे हैं कि यह जीव कब से, किस ढंग से कर्मों को ग्रहण करता और छोड़ता चला आ रहा है और नोकर्म परमाणुओं को, शरीर के परमाणुओं को कैसा ग्रहण करता और छोड़ता चला आया है? कर्मग्रहण के मायने कर्मबंधना और कर्म छोड़ने के मायने कर्म का उदय आये, कर्म का फल पाये और इस तरह फल देकर झड़ना। इस छोड़ने से भलाई कुछ नहीं होती, बल्कि बंधे हुए कर्म मेरे आत्मा से कभी न निकलें तो इसमें भलाई है। कर्म कभी निकलें नहीं तो क्लेश हो नहीं सकता। ये कर्म जब

निकलते हैं, जब समय पाकर उदय में आते हैं उस समय इस जीव को क्लेश होता है। और वे कर्म आत्मा में बंधे रहें, सत्ता में पड़े रहें तो उस सत्ता से इस जीव को क्लेश नहीं है। जब उदय आता है अर्थात् जब उनके निकलने का समय होता है उस समय इसको क्लेश होता है तो इस झड़ने के मायने कर्म उदय में आये और दुःखी हुए। इस तरह के छूटने में तो और नवीन कर्म बांध लिए जाते हैं। तो यह जीव पुद्गल कर्म को बांधता आया है और जो कर्म उदय में आयें सो उन्हें भोगता चला आया है। किस तरह से हम यह जानें कि अस अनादि काल से संसार में भटकते आये हैं। उसका उपाय है यह पंचपरिवर्तन के स्वरूप का परिज्ञान।

आत्मा में कर्म बंधते हैं उसके कारण पांच हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। जीव में जो मिथ्या परिणाम रहता है, वस्तु का स्वरूप है और भाँति, मान रहे हैं और भाँति तो इस प्रकार का जो मिथ्या श्रद्धान चल रहा है, उससे बड़े विकट कर्म बंधते हैं। मिथ्यात्व परिणाम के कारण जीव को उस समय भी दुःखी होना पड़ता और भविष्य में भी दुःखी होना पड़ेगा। जैसे संसार में जन्म लेने वाले ये जीव मनुष्य तिर्यञ्च आदिक ये कोई भी जीव मेरे नहीं हैं, क्योंकि सभी पदार्थ स्वतंत्र हैं। वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूप से परिणमता है, दूसरे का मददगार नहीं है। लोग मानते हैं ना कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, ये सब मेरे ही, तो हैं—इसको कहते हैं मिथ्यात्व परिणाम। व्यवहार करना और बात है और भीतर में मिथ्या श्रद्धा रखना और बात है। जिनको पता ही नहीं है कि समस्त पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में स्वतंत्र हैं, किसी पदार्थ का किसी भी अन्य पदार्थ में प्रवेश नहीं है, कोई किसी का कुछ कर सकने वाला नहीं है, ऐसा जिन्हें बोध नहीं है वे अज्ञानी पुरुष भीतर में पूर्ण श्रद्धा से यह मानते हैं कि ये ही तो मेरे सबकुछ हैं और इन ही से तो मुझे सुख है, इन ही से इन जीवों के अनेक विडम्बनायें हैं, इनसे ही मेरा बड़प्पन है, इस प्रकार की श्रद्धा रखना यह मिथ्या श्रद्धा है। यह देह मैं नहीं हूं—यह बात बिल्कुल प्रामाणिक है। देह अचेतन, मैं चेतन देह में रूप रस आदिक हैं, मैं आत्मा तो ज्ञान और आनन्द का धाम हूं, अमूर्त हूं, मेरा यह देह नहीं है। तब ही तो मैं देह छोड़कर चला जाऊंगा। मैं और देह ये न्यारे-न्यारे हैं। अहो, देह और आत्मा के विभक्तपने की ऐसी श्रद्धा करने वाले कितने जीव हैं? कितने ही जीव तो यह चर्चा तक भी नहीं कर सकते, श्रद्धा करना तो दूर रहा। तो देह मैं नहीं हूं और मानें कि मैं देह हूं तो मिथ्या श्रद्धान् है।

अनित्य भावना के विपरीत अयथार्थ श्रद्धा होने का क्लेश—मिथ्यात्वविषयक और भी मोटी बात देखिये ये संसार के समस्त समागम धन वैभव कुटुम्ब आदिक ये सब विनाशीक हैं, इनका वियोग नियम से होगा। ये सब समागम अनित्य हैं तो इन्हें अनित्य ही जानना चाहिए तब तो सही बात है, किन्तु अनित्य पदार्थों को यह मनुष्य समझ रहा है कि ये नित्य हैं। कोई मरेगा या धन नष्ट होगा तो दूसरे का मरेगा, मेरा कोई नहीं मरने का, ऐसा विश्वास लिए हुए लोग बैठे हैं, कभी जीभ से बोलना पड़ता है तो बोला जाता है, पर भीतर में यह बात श्रद्धापूर्वक नहीं बैठती। तो समस्त समागम अनित्य हैं लेकिन यह मानना कि ये सब नित्य है बस यही तो दुःख का कारण है।

जरा सोचिये कि घर में कोई बड़ा प्यारा कुटुम्ब का कठिन बीमार है, उसको उस बीमारी से ग्रस्त हुए दो-तीन वर्ष हो गए, खाट से भी नहीं उठा जाता, लोगों का यह विश्वास हो गया कि अब यह बचेगा नहीं, सो एक तो ऐसे व्यक्ति का मरण हो जाये और एक ऐसे व्यक्ति का मरण हो जाये कि जो बड़ा हृष्ट-पुष्ट रहा हो

और अचानक ही मरण कर गया हो। सो यह बताओ कि इन दोनों में से किसके मरण पर अधिक दुःख लोगों को होगा? दुःख तो ऐसे व्यक्ति के प्रति अधिक होगा जो हट्टा-कट्टा हो और अचानक ही मर जाये। उसका कारण यह है कि एक पुरुष के प्रति तो पहले से ही जानकारी बना रखी थी कि यह अब बचेगा नहीं और एक पुरुष के प्रति पहले से कोई जानकारी न बनायी थी कि अब इसका मरण हो जायेगा, इस कारण जिस व्यक्ति के बारे में बहुत पहले से मरण की बात जान रहे थे उस व्यक्ति के प्रति तो लोगों को दुःख नहीं होता और दूसरे व्यक्ति के प्रति दुःख होता है। जिस व्यक्ति के बारे में पहले से ही जान रहे थे कि अब यह बच न सकेगा उसका मरण हो जाने पर उसका सम्बन्धी ऐसा ख्याल करता है कि देखो जो मैं पहले जान रहा था ना कि यह बचेगा नहीं, सो वैसा ही हुआ। इस कारण उसके प्रति दुःख नहीं होता और जिसके बारे में पहले से जानकारी ही नहीं बनायी हो और उल्टी ही श्रद्धा हो कि यह तो सदा ही रहेगा उसके वियोग में दुःख होता है। तो ये बारह भावनाओं में जो अनित्य भावना भायी जाती है कि समस्त पदार्थ विनाशीक हैं, जो समागम मिले हैं वे नियम से मिटेंगे, इस भावना का फल यह है कि जब वियोग होता है तब उसको क्लेश नहीं होता। उस समय यह जान रहा है कि यह तो मैं पहले से ही जान रहा था। जैसे किसी चीज का एक आविष्कार किया जा रहा हो और उसके विषय में दूसरा जानकारी रख रहा हो और कई बार वह बना चुका हो तो उस पदार्थ के बनने पर वह ज्यादा खुश नहीं होता क्योंकि वह समझ रहा है कि इस तरह से इसका निर्माण होता है, यह तो हम पहले से ही जानते थे। इसी तरह मरण की बात है। जिस वियोग को हम पहले से ही समझ रहे हों उस वियोग में अधिक क्लेश नहीं होता। अनित्य भावना भाने से गृहस्थों को भी कितना अधिक फायदा है?

धर्म परिणाम के अतिरिक्त अन्य किसी को शरण मानने में भलाई का अभाव—सभी भावनाओं में शिक्षा मिलती है। जगत का कोई भी जीव, कोई भी पदार्थ मेरा शरण नहीं है। यह बात तथ्य की है, लेकिन किसी को माना कि यह मेरा शरण है, यह ही मेरा सर्वस्व है। इसके बिना मेरी जिन्दगी ही नहीं है। तो उसके वियोग में या जब कभी वह प्रतिकूल बन जाये, दुश्मन सा बन जाये उस समय कितना खेद मानता है और यदि यह जाना होता कि मेरा शरण तो केवल मेरा शुद्ध परिणाम है। कषायें न करूं, मिथ्या श्रद्धान न करूं, शुद्ध निर्मल सहज ज्ञानानन्दस्वरूप को मैं आत्मा समझूं तो ऐसी प्रतीति व वृत्ति में मेरे को मैं ही स्वयं शरण हूं, जब मैं अपना ज्ञान उलट देता हूं तो मैं ही मेरे लिए बरबादी का कारण बन जाता हूं। दूसरा कोई मेरा रक्षक नहीं, शरण नहीं। यह बात कोई पहले से ही श्रद्धापूर्वक जान रहा हो और समागम चेतन अचेतन पदार्थ का हो जाये। वियोग तो वह अपने को असहाय नहीं मानता, अथवा हो जाये प्रतिकूल तो अपने को असहाय नहीं समझता। संसार है दुःखमय। यहां कुछ भी स्थिति ऐसी नहीं जो शान्तिपूर्ण हो। घर अच्छा है, धन वैभव ठीक है, रोजगार अच्छा चलता है, समाज में भी लोग मानते हैं, ये सब होते हुए भी वह जो कुछ थोड़ा सुखी नजर आ रहा है ढंग से तो धर्म के सम्बन्ध में सुखी नजर आ रहा है। कोई पुरुष राग-राग ही करता रहे, चौबीस घन्टे घर में ही घुसा रहे, स्त्री और पुत्र को ही लगाये रहे और न मंदिर आये, न सत्संग में आये, न धर्म करे तो उसे वहां फिर सुख न नजर आयेगा, चित्त ऊब जायेगा। वहां उसका दिल नहीं रह सकता। तो उन सुखों को भोगते-भोगते जो थकान आती है, उसके मेटने का साधन है यह मंदिर स्थान, शास्त्र स्वाध्याय, धर्म साधना, इनको अगर अच्छे

ढंग से भोगें तो उन विषय सुखों के लगाव से मुक्ति भी हो जाये, पर थोड़ा अटपट ढंग से धर्म करते हैं तो जरा-सी थकान मिटते ही फिर विषय सुखों को भोगने लगते हैं। जब मंदिर में सुबह हम देखते हैं कि बहुत सी महिलायें पूजा-पाठ करती हैं तो वे महिलायें बहुत सवेरे उठकर नहाती धोती हैं और फिर मंदिर में बैठकर घंटों बड़े राग से गा-गा कर पूजा-पाठ करती हैं तो उनको देखकर हमारे चित्त में यह ख्याल होता है कि ऐसा तो इन्हें करना ही पड़ेगा क्योंकि ऐसा न करें और घर में ही चौबीसों घंटे रागराग में ही रहें तो ये तो ऊब जाती हैं। इसलिए धर्म बिना कहीं भी भली गति नहीं है। धर्म करने से, मंदिर में जाकर प्रभु दर्शन करने से बहुत सारे झंझट दूर हो जाते हैं। तो संसार दुःखमय है, यह बात बिल्कुल निश्चित है।

दुःखमय संसार को सुखधाम समझ लेने में क्लेशोपभोग—लोग कहते हैं कि इस संसार में सुख तो है सरसों के दाने बराबर और दुःख है पहाड़ बराबर, लेकिन बात सत्य यह है कि इस संसार में सुख का नाम भी नहीं है, सारा संसार दुःखमय है। जैसे कि मान लो सुख के साधन अच्छे हैं—खूब वैभव है, आज्ञाकारिणी सुन्दर स्त्री है। पुत्र भी बहुत सुहावने हैं आदि, लेकिन इन समस्त साधनों में रहकर वह पुरुष कर क्या रहा है अन्दर में, यह भी तो निरख लीजिये। भीतर में परदृष्टि कर करके आकुलतायें मचा रहा है, क्षोभ कर रहा है। क्षोभ केवल प्रकट क्लेश भोगने में ही नहीं होता, किन्तु किसी बात में सुख और मौज माने उसमें भी क्षोभ होता है। अनेक पुरुष बड़ा कष्ट भोगकर मरते हैं तो अनेक पुरुष बहुत बड़ा सुख देखकर मर जाते हैं, उनका भी दिल संभाल में नहीं रहता। जैसे कि क्लेश भोगकर मरने वाले का दिल संभाल में नहीं रहता। जैसे यहां मरने वालों की संख्या जो कुछ भी है उनमें बहुतों की तो ऐसी संख्या है कि खाने से मरते हैं और बहुत से लोग ऐसे हैं कि खाने को न मिलने से मरते हैं। खाना न मिलना भी मृत्यु का कारण है और खूब खाना मिलना भी मृत्यु का कारण है। तो ऐसे ही संसार के ये प्रकट दुःख मिलना भी क्षोभ का कारण है और संसार के सुख विशेष मिलना भी क्षोभ का कारण है। यह जीव शान्तिधाम निज ज्ञानस्वरूप में तो न लग सका। जैसे मछली अपने जलस्थान को छोड़कर बाहर रहकर तड़फती ही तो है ऐसे ही यह उपयोग अपने स्थान ज्ञानस्वरूप को छोड़कर कहीं भी बाहर रहा तो वह तड़फता ही रहता है, उसे शान्ति नहीं मिलती। चाहे पुत्र स्त्री में बड़ा मन लग रहा हो और आप अपने को बड़ा सुखी मान रहे हों, लेकिन यह उपयोग रूपी मछली ज्ञान जल से बाहर निकली हुई है, जो लोगों से मोह करते हैं, वार्तालाप करते हैं वहां मछली की तरह ही वे तड़फ रहे हैं, सुखी नहीं हैं।

दुःखमय संसार का यथावत् स्वरूप जानने से भी दुःख में कमी—संसार में सुख रंचमात्र नहीं है सो ऐसा तो दुःखमय संसार है और कोई माने कि मैं यहां बड़ा सुखी हूं तो यह उसका मिथ्या श्रद्धान है। और इसी कारण उसे दुःख भोगना पड़ता है। कोई जान जाये कि संसार दुःख से पूरा भरा हुआ है तो ऐसा जानने वाले पर यदि कोई संकट आये तो उसे घबराहट नहीं होती। वह जानता है कि संसार का स्वरूप ही यह है। यहां दुःख होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। एक सेठ किसी अपराध में गिरफ्तार हो गया, सी क्लास की कैद हुई, अब वहां क्या होता कि सभी कैदियों को चक्की पीसनी पड़ती है, बहुत से अन्य काम भी करने पड़ते हैं, सिपाहियों के डंडे भी सहने पड़ते हैं, तो सेठ वहां बड़ा दुःखी रहता था। बहुत दिनों के बाद कैदियों में मित्रता हो ही जाती है तो एक चतुर कैदी ने सेठजी से पूछा कि आप आजकल कहां रह रहे हैं?....जेल में? जेल में

क्या होता है? दुःख। तो तुम घर की वे सब बातें भूल जाओ कि हम बड़े सुख में रहते थे, ऐसे-ऐसे आराम के साधन थे। यहां तो यह ख्याल करो कि हम तो इस समय कैद में हैं, कैद में यही करना पड़ता है, यही दुःख सहना पड़ता है, ऐसा ख्याल करने से दुःख कम हो जायेंगे। केवल एक दृष्टि फिरने भर की बात थी। सेठ वहां यह सोच रहा था कि मैं सेठ हूं, इतना धनिक हूं और मुझे करना यह पड़ रहा है, ऐसा सोचने के कारण उसे दुःख था और जब उसने सोचा कि मैं तो इस समय कैद में हूं, यहाँ तो यही करना पड़ता है, यहां हममें और गुण्डे-बदमाशों में कोई अन्तर नहीं है। सभी को यहाँ बराबर सब काम करने ही पड़ेंगे, बस ऐसा सोचने से उसका दुःख कम हो गया। यों सारा संसार दुःखमय है। यदि अपना ज्ञान सच्चा बना रहेगा तो चाहे कितने ही संकट आयें, सबमें कष्ट सहिष्णुता बनी रहेगी। जो भी मनुष्य उन्नतिशील हुए वे कष्टों के आने पर घबराये नहीं, उनको समता से सहन किया तब उन्नतिशील बने।

कष्ट सहिष्णुता की भावना का लाभ—लोग तो भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हे भगवान! हमारा दुःख मेट देना, हमको सुख देना, दुःख मुझे न मिलें आदि, किन्तु यह प्रार्थना नहीं करते कि हे प्रभो! मुझमें ऐसा बल भर दीजिए कि कष्टों के आने पर उन्हें समता से सहन कर लें, घबरायें नहीं। अच्छा यह बताओ कि प्रभु से सुख की भीख मांगने से अपना भला होगा या दुःख में सहनशील बनने से अपना भला होगा? अपना भला तो इसी में होगा कि हम कष्ट सहिष्णु बनें, कारण कि भगवान से सुख की भीख मांगने से सुख नहीं मिला करता। सुख तो प्रभुभक्ति करके और स्वरूपदृष्टि करके जो पुण्य का अर्जन किया है उससे मिलता है। लेकिन वह सुख भी वस्तुतः मिला ज्ञान से। प्रभु से भीख मांगने से कुछ मिलता नहीं, इसलिए प्रभु से सुख की भीख न मांगकर यह प्रार्थना करें कि हे प्रभो! मुझे ऐसी शक्ति दीजिए कि मैं कष्टों के आने पर घबराऊं नहीं, उन्हें समतापूर्वक सहन करूं। यह बात तो हम इसी समय से कर सकते हैं, यह तो हमारे ज्ञान और भावों की बात है। और प्रभुभक्ति करके अगर यह बात मांगें कि हे प्रभो! मुझे ऐसी स्त्री मिले, ऐसे पुत्र मिलें, ऐसा वैभव मिले तो कहीं भगवान ये सभी चीजें देने नहीं आते, वे सब चीजें मिलती हैं आपके योग से, पुण्य के उदय से। तो प्रभो से हम वह चीज मांगें, प्रार्थना करें, दृष्टि करें कि जिसको हम उसी समय ग्रहण कर सकते हैं। हे प्रभो! मुझमें ऐसी सहन शक्ति प्रकट हो कि चाहे कितने ही कष्ट आयें, सबमें हम सहनशील बने रहें। तो प्रभु की भक्ति से यह बात मिल जाना कभी कुछ कठिन अवश्य है, पर असम्भव नहीं है। प्रभु की भक्ति करके हम ऐसा बल प्राप्त कर सकते हैं कि चाहे कितने ही कष्ट आयें सबमें सहनशील रह सकते हैं। थोड़ी देर को मान लिया कि कोई शारीरिक विपत्ति आयी वह तो एक कठिन सी बात हो गयी उसके लिए, लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य कौन सी विपत्ति आती है सो तो बताओ? और विपत्ति मानने के लिए तो घर में किसी भींत की कोई ईंट जरा सा खिसक गई तो उसमें भी लोग बड़ा कष्ट मानते हैं। पर वहां देखो स्वरूपतः तो बाह्य पदार्थों में चाहे कुछ भी परिणमन हो तिस पर भी उससे मेरा कोई अनर्थ नहीं।

आत्मा के नाते अपनी सुध रखने वाले के क्षोभ का अभाव—यदि आत्मा का नाता लगाकर अपने आप में परख करेंगे तो यह बात समझ में आ जायेगी। घर गिर गया तो गिरा क्या? कुछ भी अनर्थ हो गया बाह्य में परिणमन हो गया तो क्या हुआ? एक मुनीम ने एक सेठ के यहां सर्विस की। मुनीम भी बड़ा धर्मात्मा था और सेठ तो धर्ममूर्ति ही था। भेदविज्ञान, सम्यग्दर्शन और अपने आप में निराकुल रहना, गम्भीर रहना सब

ज्ञान था। मुनीम सेठ की उस बड़ी विभूति को देखकर सोचता था कि यह सेठ तो बहुत फंसा हुआ है। इसको तो बड़ा जाल लगा है, यों सोचता रहा, पर एक-दो बार ऐसी घटनायें देखीं कि मुनीम का भ्रम दूर हुआ। एक बार खबर आयी कि अमुक कम्पनी में आग लग जाने से १० लाख का नुकसान हो गया, तो मुनीम ने सेठ को खबर दी कि आपकी कम्पनी में दस लाख का नुकसान हो गया, तो सेठ कहता है—होने दो। सेठ के चेहरे पर रंच भी विषाद की रेखा न आने पायी। कुछ दिन के बाद कहीं से खबर आयी कि अमुक कम्पनी में बीस लाख रुपये का लाभ हुआ। मुनीम ने सेठ को खबर दी तो सेठ कहता है कि होने दो। उस बात को सुनकर सेठ के चेहरे पर रंच भी हर्ष की रेखा न खिंची। अब तो मुनीम समझ गया कि यह सेठ भले ही घर-गृहस्थी के बड़े आडम्बरों के बीच है फिर भी यह निर्लेप है, जल में कमल की भाँति है तो जिस जीव ने वस्तु का सत्य स्वरूप समझ लिया कि यह मैं आत्मा अपने स्वरूप से सत हूं, मेरा सब कुछ मेरे में ही चलता है, मेरा दूसरा कोई जीव परमाणुमात्र भी मेरा साथी नहीं है, यह मेरा यहां भी सबकुछ करता है, ऐसा जिसका निर्णय है उसको बाह्य पदार्थों के अनुकूल-प्रतिकूल, संयोग-वियोग, लाभ-हानि आदि में कुछ भी हर्ष विषाद नहीं होता। वही तो शिक्षा दी गई ग्रन्थों में कि पुण्य और पाप के फल में हर्ष और विषाद मत करें क्योंकि ये सब समागम पुद्गल द्रव्य का परिणमन हैं। ये उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, फिर उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। यही इनमें क्रम लगा हुआ है। तुम तो उनसे निराले हो। अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को देखकर विश्वास करके अपने आपमें शान्त रहो और मोक्षमार्ग में अपनी प्रगति करो।

मिथ्यात्ववश अनन्तों किये गये द्रव्य परिवर्तन का स्वरूप—यह जीव अपने सहज स्वरूप की प्रतीति न करके संसार में संसरण कर रहा है। ये संसरण पंच प्रकार के बताये गये हैं जिन्में यहां द्रव्यसंसरण वर्णन चल रहा है। द्रव्य संसरण दो प्रकार से जानिये—कर्म द्रव्यसंसरण व नोकर्मद्रव्यसंसरण। लोक में सर्वत्र कार्माण वर्गणायें भरी हुई हैं, इस संसारी जीव के साथ भी अनन्त विस्रसोपचयरूप कार्माणवर्गणायें हैं जो जीव के मिथ्यात्व कषाय भाव का निमित्त पाकर तत्काल कर्मरूप परिणत हो जाती हैं, फिर आबाधाकाल पूरा होने पर वे कर्म उदय में आकर बिखर जाते हैं और उस विपाक समय में फिर नवीन कर्म बंध जाते हैं। कर्म आठ प्रकार के होते हैं जिनमें से आयुकर्म का बंध सदा नहीं होता, उसका बंध आयुबंध योग्य अपकर्ष के समय ही होता है। शेष ज्ञानावरणादि ज्ञानकर्मों का बंध सदा होता रहता है। यह जीव अनादिकाल से संसार में भटककर अनन्त द्रव्यपरिवर्तन कर चुका है। यहां एक कर्मद्रव्यपरिवर्तन का स्वरूप समझिये—किसी विवक्षित समय में एक जीव ने ज्ञानावरणादि सात कर्मों के योग्य कार्माण पुद्गलस्कन्धों को ग्रहण किया (बांधा)। देखो लोक में सर्वत्र कार्माणवर्गणायें हैं उनमें से अपने योग्य को ही ग्रहण करते हैं। फिर ये कर्म आबाधाकाल को छोड़कर यथाक्रम से इनके निषेक उदय में आते रहते हैं, सो उदय में आने पर इनके फल में क्षोभ सहना पड़ता हैं हां तो ये कर्म स्कन्ध इस क्रम से बंधे किसी विवक्षित काल को सोचकर कि इस विवक्षित समय में एक जीव ने ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के योग्य पुद्गलस्कन्ध ग्रहण किये और सो आबाधाकाल बीत जाने पर उन्हें भोगकर छोड़ दिये। उसके बाद अनन्त बार अगृहीत कार्माणवर्गणाओं को ग्रहण करे, तदनन्तर अनन्तबार मिश्र (अगृहीत व गृहीत) वर्गणाओं को ग्रहण करे, तदनन्तर अनन्तबार गृहीत का ग्रहण करके भोगकर छोड़ दिया। फिर अनन्तबार उक्त क्रम से मिश्र अगृहीत व गृहीत का ग्रहण करे। फिर अनन्तबार उक्त क्रम से मिश्र गृहीत

व अगृहीत कार्माणस्कन्धों को ग्रहण करे। पश्चात पूर्वविवक्षित समय में जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि भावों को लेकर ग्रहण किया था, वैसे ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि भाव परिणत कार्माणस्कन्ध उसी जीव के उसी परिणाम द्वारा बंधे। इसमें जितना काल व्यतीत हो सकता है, उसे एक कर्मद्रव्य संसार कहा है।

नोकर्मद्रव्य परिवर्तन का स्वरूप–अब नोकर्मद्रव्य संसार का स्वरूप देखिये–किसी विवक्षित समय में एक जीव ने औदारिक वैक्रियक आहारक तीनों शरीरों की छः पर्याप्ति के योग्य नोकर्मपुद्गल ग्रहण किये और भोगकर छोड़ दिये। फिर कर्मद्रव्य परिवर्तन में कहे गये प्रकार से अगृहीत मिश्रगृहीत, मिश्र अगृहीत गृहीत, मिश्र गृहीत व अगृहीत नोकर्मपुद्गलों को ग्रहण कर भोगकर छोड़कर फिर कभी वैसे रूपरसादि परिणत नोकर्म पुद्गलों को ग्रहण करके छोड़े जैसे कि कर्मपुद्गल पूर्वविवक्षित समय में बांधे थे। इसमें जितना काल व्यतीत हो उसे एक नोकर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं। अब परखिये एक द्रव्यपरिवर्तन में कितना काल गुजर जाता है? इस जीव ने मिथ्यात्व परिणाम के कारण ऐसे-ऐसे अनन्त द्रव्य परिवर्तन किये। इसमें यह भी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं कि लोक में ऐसा कोई नोकर्म पुद्गल नहीं बचा जिसे अनन्त बार ग्रहण करके न छोड़ा हो। इस कारण सभी विषय उच्छिष्ट हैं, इनकी रुचि से संसार के संकटों की ही वृद्धि होती है।

सो को वि णत्थि देसो लोयायासस्स णिरवसेसस्स।
जत्थ ण सव्वो जीवो जातो मरिदो य बहुवारं।।६८।।

आत्मतत्त्व का वह प्रभु का ज्ञान पाये बिना लोक में सर्वत्र संसरण–यह जीव मिथ्या श्रद्धान के कारण इस संसार में नाना खोटी-खोटी योनियों में जन्म लेता और मरता है। अनादि से लेकर इस जीव ने अब तक इतने जन्म-मरण किये कि इस सारी दुनिया में कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं बचा जिस जगह यह जीव अनन्त बाद पैदा न हुआ हो। इस भ्रमण का कारण मुख्यतया मिथ्यात्व हैं मैं खुद क्या हूं? इसका जिन्होंने सही निर्णय नहीं किया उनके लिए तो सब अंधेरा है, कहीं प्रकाश नहीं है। जब भीतर में प्रकाश नहीं है तो बाहर में कहां प्रकाश है? अपने आपका सही निर्णय न करने पर ही तो जगह-जगह इसे भटकना होता है और बाहर में भी सत्य-असत्य का कुछ निर्णय नहीं हो सकता। देव कौन हो सकता है? यदि देव का यानि प्रभु का सप्रमाण ज्ञान करना हो तो अपने आपको अनुभव करके अपनी तुलना से हम प्रभु का स्वरूप अनुमान में ला सकते हैं। प्रभु हम आप जैसे यहां वहां आरम्भ परिग्रह लादने वाले नहीं होते। प्रभु का स्वरूप सत्य ज्ञान और आनन्द है, जहां ऐसा स्वच्छ ज्ञान है कि तीन लोक अलोक की समस्त भूत, भविष्य, वर्तमान पर्यायें एक साथ झलकती हों, ऐसा विशिष्ट ज्ञानशाली महान् आत्मा प्रभु होता है। प्रभु का आनन्द इतना विशिष्ट है कि जिस आनन्द में कभी भी अन्तर नहीं आ सकता। यह बात हम कब अनुभव से प्रमाणरूप जान सकेंगे कि जब अपने आपका सहजस्वरूप भी विदित हो जाये, मैं अपने आप अपनी ओर से अपने सत्त्व के कारण कैसा हूं, इसका स्पष्ट अनुभव हो तो वह प्रभु के स्वरूप का भी सत्य ज्ञान कर सकता है।

प्रभु स्वरूप की दृष्टि से ही प्रभुता का परिचय–अनेक महापुरुष हुए हैं जिन्होंने अपने जीवन में जब तक गृहस्थावस्था में रहे तब तक उन्होंने लोक के बहुत परोपकार के काम किए और जब वे यथार्थ ज्ञान के अनुभव में गहरे उतरे, सर्व का विकल्प तोड़कर एक आत्मा से, ब्रह्म से उन्होंने रुचि की, उसी में लीन हुए, उसके प्रताप से उसही भव में कर्मों को नष्ट करके वे प्रभु बने। अब हम प्रभु नाम पर गृहस्थी में जो कुछ उन्होंने किया उसकी महत्ता दें, और वही प्रभु का स्वरूप मानें तो उससे अपने ध्येय में अड़चन आ जाती है। वे

प्रभु जब हुये और प्रभु के समय में उनका जैसा स्वरूप है उस पर दृष्टि दें तो अपना मार्ग भी शान्ति के लिए शुद्ध मिल जाता है, जैसे इस चतुर्थकाल में चौबीस तीर्थंकर हुए तो वे पैदा तो घर में ही हुए ना। उनके भी माता-पिता थे ना। घर में रहे, राजपाट संभाला। किन्हीं की शादी भी हुई, किन्हीं ने दिग्विजय भी की, चक्रवर्ती भी हुए और वे ही महापुरुष कारण पाकर विरक्त हुए, सबकुछ त्याग दिया और अपने आत्मस्वरूप में मग्न रहने का ही जिनका मुख्य काम रहा, ऐसी स्थिति में अध्यात्मयोग के प्रताप से उन्होंने कर्मों का नाश करके प्रभुपद पाया। अब हम प्रभुस्वरूप की तो महिमा न गायें और जो गृहस्थी में रहकर लोकोपकार किया वहीं दृष्टि रखकर तावन्मात्र प्रभुस्वरूप मानें तो उसमें हमें कुछ नहीं मिलता, शान्ति नहीं मिलती, शान्तिपथ नजर नहीं आता। उन्होंने पूर्व अवस्था में लोकोपकार किया लेकिन जब सर्वविकल्प त्यागकर अपने स्वरूप में लीन हुए तब उन्होंने कर्मों का नाश कर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्द प्राप्त किया। वे प्रभु वंदनीय हैं।

श्रीराम भगवान ने अपने जीवन में जब तक गृहस्थी से सम्बन्ध रखा तब तक उन्होंने कितने ही कष्ट पाये, पर उन कष्टों को कष्ट नही माना। वे ज्ञानी थे, पुरुषोत्तम थे, चरमशरीरी थे। उसी भव से उनका निर्वाण हुआ था, फिर भी गृहस्थावस्था में जो कुछ भी कार्य किये गए, लोकोपकार का अथवा राग भाव तो था ही। जब कारण पाकर वे पूर्णत: विरक्त हुए और अपने आत्मस्वरूप में रत हुए तो उन्होंने निर्वाण पद पाया, श्रीराम भगवान ने तुङ्गीगिरि से मोक्ष पद प्राप्त किया, वे प्रभु हुए। अब हम श्रीराम की भक्ति में राम का स्वरूप प्रभु समय का निहारें कि कैसा स्वच्छ ज्ञान, कैसी निर्विकल्प समाधि, कैसा वे ब्रह्मस्वरूप जिसमें रत हुए, कैसा उनका ज्ञानानन्द विकसित हुआ तो हम प्रभुस्वरूप को पा भी लेंगे, भक्ति करेंगे सही और हम अपना निर्वाण मार्ग भी बना लेंगे। हनुमान जी भी महान्, सुन्दर, रूपवान, कामदेव थे, जिनकी सानी का रूप उस समय किसी का भी न था। इतने सुन्दर अवतार में हनुमान जी ने भी बहुत लोकोपकार किया। श्रीराम का तो निष्कपट उपकार किया पर कारण पाकर वे भी जब विरक्त हुए और जब ब्रह्म समाधि में लीन हुए तो कर्मों का नाश कर उन्होंने अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द प्राप्त किया। वे हनुमान भगवान हुए, उन्होंने निर्वाण पद पाया। तो ऐसे महापुरुष अपनी गृहस्थावस्था में जो कि लोक का उपकार कर गए, प्राय: लोक उनके इस उपकार की महिमा गाकर उनके स्वरूप की इतिश्री करते हैं, प्रभु भक्त लोगों को समझना होगा कि उन्होंने इस अवस्था के बाद जो एक योग अवस्थाधारण की, ब्रह्मसमाधि में रत हुए, वह क्या तत्त्व था? उसका ही प्रसाद था जो उन्होंने उत्कृष्ट निर्वाण पद प्राप्त किया।

निज ब्रह्मतत्त्व के बोध बिना जीव का विशाल लोक में सर्वत्र जन्म-मरण—निज ब्रह्मतत्त्व को जाने बिना हम आप सब इस संसार में भटक रहे हैं, यहां एक भी प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहां हम आप जीव अनन्त बार जन्म न ले चुके हों। इतना भटके यह दुनिया कितनी बड़ी है, इसके बारे में जिसकी जितनी बुद्धि है उतना बताते हैं, किन्तु परम्परा से आगम में जो उल्लिखित है वृत्तान्त उसकी दृष्टि से देखो तो लोक इतना विशाल है कि जिसका कोई माप नहीं कर सकता। सभी लोग मानते हैं कि यह द्वीप जम्बूद्वीप है, जहां हम आप लोग रहते हैं। वैज्ञानिक लोग नहीं मानते, लेकिन जिन्हें धर्म में श्रद्धा है, ऐसे सम्प्रदाय के सभी लोग मानते हैं कि जम्बूद्वीप है, सुमेरू पर्वत है, शास्त्रों में लिखा है। तो यह जम्बूद्वीप जिसके एक खण्ड में अयोध्या नगरी बसी है और अयोध्या नगरी महापुरुषों के जन्म के कारण बड़ी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। तो इस जम्बूद्वीप में जो

एक भरत क्षेत्र है आर्य खण्ड उसके भीतर थोड़ा-सा यह हिस्सा इतनी जगह को आजकल के वैज्ञानिक सम्पूर्ण पृथ्वी समझकर इतिश्री कर देते हैं, लेकिन यह सारा संसार कितना बड़ा है? यह जम्बूद्वीप एक लाख योजन का लम्बा, चौड़ा है। दो हजार कोस का एक योजन होता है। यों एक लाख योजन का बड़ा है। उसको घेरकर लवण समुद्र है जिसके किनारे रावण ने अपनी लंका सुदृढ़ की थी और वह सीताजी को हरकर अपनी उस सुरक्षित लंका में ले गया था। लंका पर विजय प्राप्त करना बहुत टेढ़ा काम था। कारण यह है कि वह लवण समुद्र के किनारे बसा हुआ था और जो बहुत से कोट खाई आदिक से घिरा हुआ था। प्रथम तो वहां पहुंचना बहुत कठिन काम था। यह तो हनुमान जी का एक सामर्थ्य था कि विद्या बल से (वे विद्याधर थे) वहां पहुंचकर सबकुछ देख आये, सीता का पता लगा लिया, श्रीराम से बताया और श्रीराम ने लंका पर विजय प्राप्त की। सीता राम की इतनी भक्त थी कि उसने लंका में पहुंचने पर यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं जब तक राम का संवाद न सुन लूंगी तब तक अन्न पान न ग्रहण करूंगी। आखिर जब वहां हनुमान जी पहुंचे, सीता को राम का सन्देश सुनाया तब सीता ने अपना अनशन छोड़ा। तो इस जम्बूद्वीप को घेरकर इसके एक तरफ दूने विस्तार का लवण समुद्र है, उसके बाद फिर द्वीप, फिर समुद्र, ऐसे दूने-दूने विस्तार वाले अनगिनत द्वीप और समुद्र हैं, यह सब जितना वर्णन हुआ केवल एक राजू से भी कम कहलाया। ऐसा जो एक राजू लम्बा, एक राजू चौड़ा हो उसे कहते हैं एक घन राजू। यों ३४३ घन राजू प्रमाण सारा विश्व है। इतने बड़े विश्व में हम आप सब स्थानों पर सब प्रदेशों पर अनन्त बार उत्पन्न हुए हैं।

आत्मा के नाते से कल्याण लाभ का ध्येय होने पर हेयहीन व आदेयोपादान–संसरण में यह आवगमन हमारा अनादि काल से चला आ रहा है। इस परम्परा के बीच हम आप लोगों ने आज मनुष्यभव प्राप्त किया। यह मनुष्यभव कितना महत्त्वपूर्ण है जिसमें प्रभुभक्ति करें, ब्रह्मसमाधि करें, ज्ञानवर्द्धन करें और लौकिक हिसाब से बड़ी-बड़ी योजनायें बना लें, तो यह मनुष्यभव अति दुर्लभ है। इसको पाकर केवल यह ध्येय नहीं रखना है कि हम अच्छे साधन बनायें, खूब धन कमायें, खूब धन संचय करें, लोगों से तारीफ सुनें। कुछ धर्म भी करें अपने बड़प्पन का या विषयों के भोग का उद्देश्य रखकर तो इससे जीवन की कोई सफलता नहीं है। जगत के ये समस्त समागम असार हैं, भिन्न हैं, इनसे प्रीति करना अयोग्य है। जो प्रभुस्वरूप है, जो ज्ञानानन्द स्वरूप है, एक ज्योतिविकास है उसका दर्शन करें, उसकी दृष्टि करें, उसका आश्रय लें तो संसार से तिर सकते हैं। ऐसा भाव रखकर शुद्ध हृदय से निष्पाप हों, प्रभु की उपासना में लगें। हिंसा, झूठ चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच प्रकार के पापों से आत्मा की भलाई नहीं है। प्रायः करके जगत के ये सारे प्राणी इन्हीं पापकार्यों में लगे हुए हैं क्योंकि उन्हें अपने अन्दर के प्रकाश की कुछ खबर ही नहीं है। मैं क्या हूं? इसका सही निर्णय किए बिना न तो हम भगवान का स्वरूप समझ सकते हैं, न धर्ममार्ग को जान सकते हैं और न धर्म में रंच भी कदम बढ़ा सकते हैं। जंगलों में रहकर ऋषिसंतजन किया क्या करते थे? बस वे अपने आत्मस्वरूप में (ब्रह्मस्वरूप में) लीन रहा करते थे। जब हम इस बाहर की वेशभूषा की इस शरीर आकार-प्रकार की देश, वातावरण, जाति कुल आदिक की दृष्टि हटाकर केवल अपने को आत्मा ही आत्मा निरखकर केवल आत्मा की ही जानकारी में रहते हैं तो वहां क्या चमत्कार होते हैं? वहां अतुल वैभव मिलता है, ब्रह्मस्वरूप के साक्षात् दर्शन होते रहते हैं और जो आनन्द वहां प्राप्त कर लिया जाता है, बस उस आनन्द के लाभ के प्रताप से यह जीव संकटों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। उस तत्त्व को पाये बिना यह जीव संसार में अब तक

भटकता ही रहा है।

स्वक्षेत्र परिवर्तन का स्वरूप–इस श्लोक में क्षेत्र परिवर्तन की बात कही जा रही है। क्षेत्र परिवर्तन दो प्रकार का है—स्वक्षेत्र परिवर्तन, परक्षेत्र परिवर्तन। स्वक्षेत्र परिवर्तन का स्वरूप यह है कि कोई जीव सर्वजघन्य अवगाहना धारण करके जन्मा, जैसो सूक्ष्मनिगोद लब्ध्यपर्याप्त जीव अङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण देहावगाहना को लेकर उत्पन्न हुआ। वह देह जितने प्रदेशों में हैं उतनी बार इसी जघन्य अवगाहना को लेकर उत्पन्न हो, फिर एक-एक प्रदेश अधिक अवगाहना को लेकर जन्मता रहे, यों जब सर्वोत्कृष्ट देहावगाहना प्राप्त कर ले उसमें जितना काल लगे उतने काल परिभ्रमण को स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं। देखिये किसी भी अवगाहना को लेकर जन्मने के बाद एक प्रदेश अधिक अवगाहना में ही जन्म ले ऐसा नियम तो नहीं है। यदि अन्य अवगाहना को लेकर जन्मा तो वह इस गिनती में नहीं आयेगा। अन्य-अन्य अवगाहनाओं में जन्म लेकर जब इस क्रम वाली अवगाहना में जन्मे तो वह गिनती में आयेगा। तब समझिये कि कितना बड़ा है यह स्वक्षेत्र परिवर्तन। ऐसे-ऐसे अनन्त स्वक्षेत्र परिवर्तन इस जीव ने किये।

परक्षेत्र परिवर्तन का स्वरूप–अब परक्षेत्र परिवर्तन का स्वरूप सुनिये। कोई जीव जघन्य अवगाहना को लेकर सर्वलोक के अत्यन्त मध्यक्षेत्र में ऐसा जन्मे कि देहावगाहना के मध्य के प्रदेश लोकमध्य के आठ प्रदेशों पर हों। लोक के मध्य सुदर्शन मेरु के मूल में आठ प्रदेश हैं। लोक के प्रदेश हैं तो असंख्यात, किन्तु सब ओर समसंख्यक हैं अर्थात् उनमें दो का भाग दें तो पूरा भाग जायेगा शेष में एक नहीं बचेगा। अतएव मध्य में ८ प्रदेश ही होते है। उन प्रदेशों पर अवगाहना के मध्य प्रदेश हों यों जन्म लेकर फिर जितनी अवगाहना में प्रदेश हैं उतनी बार वहीं उसी प्रकार जन्म लें, फिर किसी एक ओर लोकक्षेत्र के एक-एक प्रदेश को ही व्याप कर जन्म लें। यों सर्व ओर के लोक प्रदेशों में जन्म ले चुके। इसमें जितना काल लगता है उतने काल को एक परक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं। देखिये किसी प्रदेश तक जन्में कोई जीव, फिर उससे एक ही प्रदेश बढ़कर जन्में यह कोई नियम तो नहीं और बड़ा कठिन है अन्य लोक प्रदेशों पर जन्म लेता फिरे, वह इस गिनती में नहीं है। तो यों यह जीव ऐसे-ऐसे अनन्त परक्षेत्र परिवर्तन कर चुका। इस क्रम में जन्मकर भी इस लोक में ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा, जहां यह जीव अनन्त बार उत्पन्न न हो गया हो। यों जन्म-मरण की परम्परा जानकर उसे असार समझकर जन्म में, भव में मोह न करना चाहिये।

उवसप्पिणि अवसप्पिणि पढम-समयादि चरम-समयंतं।
जीवो कमेण जम्मदि मरदि य सव्वेसु कालेसु।।६९।।

अनन्त कल्पकालों के सब समयों में संसारी का अनन्तों बार जन्म-मरण–जैसे कि उक्त श्लोक में यह बताया गया है कि इस लोक में कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जिस पर यह जीव अनन्तबार जन्म-मरण न कर चुका हो। इसी तरह यह भी जानो कि इस काल परिवर्तन में इससें कल्पकालों में कोई समय ऐसा नहीं बचा जिस समय यह जीव अनन्त बार पैदा न हो चुका हो। एक कल्पकाल कहते हैं अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के होने को। एक कल्पकाल में दो तरह के समय आते हैं—एक तो बढ़ने का समय और एक घटने का समय। जिस समय में मनुष्य की आयु, बुद्धि, धन, देह की लम्बाई, चौड़ाई आदि बढ़ती जाये, ऐसे समय को कहते हैं उत्सर्पिणी काल और जिस काल के प्रवाह में हर बातें घटती चली जायें उसे कहते हैं अवसर्पिणी काल। जैसे आजकल का समय अवसर्पिणी का है। हमारे पूर्वज महावीर स्वामी के समय के पुरुष, उनसे पहले पार्श्वनाथ

भगवान के समय के पुरुष, उनसे पहले नेमिनाथ, श्रीकृष्ण बलभद्र, वसुदेव आदिक पुरुष और उनसे पहले हुए हैं श्रीराम, हनुमान भगवान, इनके समय के पुरुष और इन सबसे भी पहले के पुरुष ये उत्तरोत्तर बहुत लम्बे शरीर के, लम्बी आयु के, बहुत बड़ी बुद्धि के, बहुत बड़े धन बल के पुरुष हुआ करते थे। लेकिन ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा है त्यो-त्यों मनुष्य की ये सब चीजें घटती जा रही हैं। आप यहीं देख लो करीब १०० वर्ष पहले जो व्यक्ति होते थे वे कितने धीर, गम्भीर, लम्बे-चौड़े बलवान व लम्बी उम्र के होते थे, लेकिन अब वैसे लोग नहीं पाये जाते। तो यह घटती का समय है। अब से कई लाख वर्ष पहले श्री मुनिसुव्रतनाथ हुए, उस समय रघुकुल भी बड़ा प्रसिद्ध रहा, श्रीराम भगवान उस ही समय में हुए हैं। उस समय लोगों की आयु लाखों वर्ष की होती थी। अब घटती का (अवसर्पिणी का) समय है सो सौ वर्ष की आयु भी मुश्किल से होती है। अब देखिये पुरुषों में धर्म का ही ह्रास होता जा रहा है, सदाचार का भी ह्रास है, धन का भी ह्रास है। आजकल तो लोग थोड़ा सा वैभव पाकर समझते हैं कि हम बहुत धनी हैं, लेकिन पहले के लोग बहुत धनी होते थे, चक्री नारायण मंडलेश्वर आदि होते थे। तो हर बात में आज पुरुषों में घटती चल रही है। कुछ ही समय बाद तो धर्म का नाम भी न रहेगा। सभी लोग मांसभक्षी हो जायेंगे, यहां तक कि रसोई पकाने का भी साधन न रहेगा, अग्नि ठंडी हो जायेगी, एक जीव दूसरे जीव को यों ही भक्षण कर जायेगा। करीब ४० हजार वर्ष बाद तो घटती का अन्तिम नमूना है। इस घटती के बाद प्रलय होगी, फिर नवीन सृजन होगा। फिर वह उत्सर्पिणी यानि बढ़ती का समय होगा तो इस तरह एक उत्सर्पिणी और एक अवसर्पिणी काल आता है।

कल्पकाल के विभाजित अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी काल के विभाजन—आजकल अवसर्पिणी काल है और इस समय पंचम काल है। इसके पहले चतुर्थ काल था, जिस काल में ये सब महापुरुष हुए। २४ तीर्थंकर भी चतुर्थ काल में हुए और उसी समय में चक्रवर्ती बलभद्र आदि महापुरुष होते आये। उससे पहले तीसरा काल था। वह तीसरा काल भोगभूमिका था। उस समय किसी को आजीविका के कार्य न करने पड़ते थे। मनचाहे भोग साधन कल्प वृक्षों से प्राप्त हो जाया करते थे। इससे भी उत्कृष्ट भोग भूमि दूसरे काल में थी। तो अब समझिये कि पहला काल बहुत लम्बे समय का होता है, ४ कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। दूसरा काल—तीन कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। तीसरा काल, दो कोड़ाकोड़ी सागर का होता है व चौथा काल और पंचम और छठा काल ये सब मिलकर एक कोड़ाकोड़ी सागर के होते है। यों दस कोड़ाकोड़ी सागर काल होता है उत्सर्पिणी काल में और दस ही कोड़ाकोड़ी सागर काल होता हैं अवसर्पिणी काल में, इस तरह बीस कोड़ाकोड़ी सागर काल एक कल्पकाल में होता हैं ऐसे कल्पकालों में प्रत्येक समय में इस जीवन ने अनन्त बार जन्म लिया और मरा।

अपने आधार से चिगने पर तड़पन की और अपने आधार में समाने पर शान्ति की अवश्यंभाविता—इस प्रसंग का प्रयोजन यह है कि अनादिकाल से यह जीव यों ही रुलता चला आया है। उसका कारण क्या है? बस उसका मूल कारण यही है कि इस जीव को अपने आपकी पहचान नहीं हुई। यही जीव बाह्य में दृष्टि करके बाह्य में ही अपना उपयोग लगाकर यत्र तत्र भटकता रहा, दुःखी होता रहा और अपने आपके स्वरूप को न पहचान सका। तो जैसे मछली जल से बाहर निकलकर तड़पती है, दुःखी होती है, इसी तरह यह जीव अपने ज्ञानजल से चिगकर बाह्य पदार्थों में अपने उपयोग को लगाता है तो दुःखी होता है। जीवों

की यह व्याकुलता आत्म ज्ञान के बिना मिट नहीं सकती। यह जीव दुःखी तो होता है आत्मा की भूल से और उस दुःख को मिटाने का उपाय समझता है विषय कषायों में लगना, तो इस जीव के दुःख मिटें कैसे? इस जीव के दुःख मिटने का मुख्य उपाय है आत्म ज्ञान करना, अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं है। जब कभी आप अपने अन्तःस्वरूप की प्रतीति करें कि मैं देह से भी निराला हूं, बस उसी समय संकल्प-विकल्प के सारे दुःख खत्म हो जाते हैं। जब कभी किसी को इष्ट वियोग अथवा अनिष्ट संयोग का दुःख होता है तो उस समय कितने ही लोग समझाते हैं पर उसकी समझ में नहीं आता, उसका यह वियोग का दुःख शान्त नहीं हो पाता। बल्कि जो लोग समझाने आते हैं वे उसके दुःख को और भी बढ़ा देने में कारण बनते हैं। लोग प्रायः यही तो कहते हैं कि भाई वह बड़ा अच्छा था, घर के सभी लोगों का बड़ा ख्याल रखता था, सब घर वालों की बड़ी सेवा करता था। बेचारा कैसे मर गया? यों उस मरे हुए के गुण गा-गा कर उस वियोगी व्यक्ति को और भी दुःखी बना देते हैं। कदाचित कोई ऐसा समझाये कि अरे तुम तो इस देह से भी निराले, अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा हो, तुम्हारा इस जगत में रंच मात्र भी कुछ नहीं है, तुम किसे यहां अपना समझकर उसके पीछे दुःखी हो रहे हो? तो उसकी समझ में आ जाता है। जब वह वियोगी पुरुष बाह्य से अपनी दृष्टि हटाकर अपने स्वरूप में दृष्टि देता है तो सारे संयोग वियोग के दुःख समाप्त हो जाते है। जैसे यमुना नदी में रहने वाला कोई कछुवा जब अपनी चोंच पानी से बाहर निकालकर घूमता है तो सैकड़ों पक्षी उसकी चोंच को पकड़ने के लिए ऊपर मंडराते रहते हैं। वह कछुवा दुःखी होकर यत्र तत्र भागता फिरता है। पर रे कछुवे, तेरे में तो एक ऐसी कला है कि वे सारे दुःख क्षण भर में ही मेट दे। वह कला यही है कि जल के भीतर जरा दो-चार अंगुल अपनी चोंच डुबो ले, फिर वे सारे पक्षी तेरा क्या कर सकेंगे? यों ही समझिये कि यह जीव अपने उपयोग की चोंच को बाह्य पदार्थों में लगा रहा है। इसी कारण इस जीव पर अनेक विपत्तियां मंडरा रही हैं। पर हे आत्मन्! तेरे पास तो एक ऐसी कला है कि जिस कला के खेले जाने पर ये कोई भी विपत्तियां तेरा कुछ भी बिगाड़ न कर सकेंगी। वह कला यही है कि अपने ज्ञान सागर में तू जरा डुबकी लगा ले। बस तेरे संकट एक साथ समाप्त हो जायेंगे।

आत्मज्ञान बिना संसार संकटमुक्ति की अशक्यता का दृढ़ निर्णय–भैया! अपना एक निर्णय बना लें कि जब तक मैं अपने आत्मा का सही परिचय न कर लूंगा अर्थात् अपने ज्ञान को अपने ज्ञान सागर में नहीं डुबा दूंगा, तब तक संकट मिट न सकेंगे। ग्रन्थों का पढ़ना, उपदेशों का सुनना, प्रभुभक्ति करना आदिक उपाय हैं अपने आत्म स्वरूप के जानने के। ये सब उपाय इसीलिए हैं कि हम अपने स्वरूप को जानें और उस सत्य स्वरूप को ही सार समझकर पर से हटें और उस ज्ञान ज्योतिस्वरूप में ही मग्न होवें। ऐसा काम करने के लिए कितने बलिदान की आवश्यकता है। बलिदान का अर्थ है धन वैभव, कुटुम्बीजन मित्रजन आदिक सभी मोह त्यागकर अपने आपकी सही जानकारी करना, जिससे हमारा पूरा पड़ेगा। जब तक हम अपने आपका सही ज्ञान नहीं कर पाते तब तक संकटों के मेटने का कोई उपाय नहीं है। ऐसा जानकर आत्मा के नाते से धर्म का परिज्ञान करें, प्रभु का स्वरूप जानें, अपने लिए जो हितकारी बात हो उस पर अमल करें। सबकुछ करें केवल आत्मा के नाते से। मैं आत्मा हूं और मैं संसार में रूल रहा हूं। मुझे यह सब भ्रम मिटाना है और अपने आपका सत्य निर्णय प्राप्त करना है। इस नाते से धर्म पालन में बढ़ें तो हम लोगों का मनुष्य जन्म पाना सफल है।

काल परिवर्तन का स्वरूप–इस श्लोक में काल परिवर्तन का स्वरूप कहा गया है–कोई जीव किसी विवक्षित उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ, फिर यह जीव किसी उत्सर्पिणी काल के द्वितीय समय में जन्म ले, फिर आगे होने वाली किसी उत्सर्पिणी काल के तृतीय समय में जन्म ले। यों विभिन्न उत्सर्पिणी कालों में क्रमशः एक-एक अधिक समय में जन्म लेता जाये। इस तरह क्रम से जन्म ले लेकर उत्सर्पिणियों के सब समयों में जन्म ले चुके। फिर अवसर्पिणी काल के प्रथम, द्वितीय आदि समयों में क्रमशः जन्म ले चुके, यों कल्पकालों के सब समयों में जन्म लेने में जितना काल व्यतीत हो उतने को एक काल परिवर्तन कहते हैं। यहां यह बात कितनी कठिन जंचती है कि कोई जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में जन्म ले और फिर आगे किसी उत्सर्पिणी काल में दूसरे समय में जन्म ले। अनगिनती भी उत्सर्पिणियां व्यतीत हो सकती हैं ऐसी कि जिनके द्वितीय समय में जन्म न ले। ऐसे समस्त समयों की बात है। ऐसे-ऐसे अनन्त काल परिवर्तन यह जीव कर चुका है। इतना लम्बा, लम्बा भी क्या, अनादिकाल से यह संसरण चला आया है, ऐसा जानकर किसी समय से यानि किसी समय होने वाली अपनी किसी घटना पर विवाद नहीं करना चाहिए। एक अपने निरपेक्ष स्वकाल को परखकर अन्य समस्त परिणमनों से उपेक्षा भाव रखे और सहज आनन्द पाये।

णेरइयादि-गदीणं अवर-ट्ठिदो वर-ट्ठिदी जाव।
सव्व-ट्ठिदिसु वि जम्मदि जीवो गेवज्ज पज्जंतं।।७०।।

भव परिवर्तन में नरक भव परिवर्तन के स्वरूप में वर्णन का उपक्रम–इस श्लोक में भव परिवर्तन के प्रदर्शन के द्वारा जीव का भ्रमण बता रहे है। इस जीव ने अब तक इतने जन्म-मरण किये जिनका अन्त नहीं। उन जन्म-मरणों का अंदाज करने के लिये इन परिवर्तनों का स्वरूप कहा जा रहा है। यह भव परिवर्तन है। भव चार होते हैं– नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। तो भव परिवर्तन चार हुए–नरक भव परिवर्तन, तिर्यञ्च भव परिवर्तन, मनुष्य भव परिवर्तन और देव भव परिवर्तन। इन भव परिवर्तनों में यह बताया जा रहा है कि जीव अपने भव में जघन्य आयु से लेकर जन्मे, ऐसा कोई एक विवक्षित समय बनाये और उतनी ही बार जितना कि उस आयु में समय है उतनी आयु लेकर जन्म-मरण करे, फिर एक-एक समय बढ़ाकर जन्म-मरण करे, इस तरह करते-करते जब उत्कृष्ट आयु भी पुर जाती है तब वहां एक भव परिवर्तन होता है। नरक भव में सबसे कम आयु होती है दस हजार वर्ष। नारकियों की उम्र कम से कम दस हजार वर्ष की होगी। उससे एक समय भी कम नहीं हो सकती और उत्कृष्ट से उत्कृष्ट आयु होगी तो होती ३३ सागर की। इन समस्त समयों की आयु क्रम से पा करके नरक में यह जीव जन्मा और मरा। इसमें जो समय व्यतीत होता है वह है एक नरक भव परिवर्तन।

उपमा प्रमाण से सागर के परिमाण का परिज्ञान–३३ सागर का समय कितना होता है? इस बात को जानने का और कोई उपाय नहीं है, सिर्फ उपमा प्रमाण से जान सकते हैं। एक कल्पना करो कि दो हजार कोश का लम्बा, चौड़ा, गहरा गड्ढा है, उसमें उत्तम भोग भूमि में उत्पन्न हुए जीव के देही के रोम भर दिये जायें, ऐसे रोम भरे जायें कि कतरनी से उसके इतने छोटे-छोटे खण्ड हों कि जिनका कतरनी से दूसरा हिस्सा न हो सके। इतने छोटे अंश उस गड्ढे में भर दिये जायें और इतने ठसाठस भरे जायें कि मानो उस पर हाथी भी खूब फिराये गये हों, ऐसे उन रोमों से भरे हुए गड्ढे में से सौ वर्ष में एक टुकड़ा निकाला जाये। जितने वर्षों में वह गड्ढा खाली हो जाये उतने वर्षों का नाम है एक व्यवहार पल्य। अब आप अंदाज करें कि इतने बड़े गहरे

गड्ढे में रोम के छोटे-छोटे टुकड़े कितने होंगे? उत्तम भोग भूमिया के प्राणियों के वे रोम बहुत पतले होते हैं। जितने पतले रोम यहां हम आपके होते हैं उनसे आठवें भाग पतले वाले जघन्य भोग भूमिया के प्राणियों के हैं और उनसे भी आठवें हिस्से पतले उत्तम भोग भूमिया के पशुओं के हैं। अब आप समझिये कि कितने रोम उस गड्ढे में समाये? और सौ-सौ वर्ष बाद एक-एक टुकड़ा निकलना। जितने वर्षों में वह गड्ढा खाली हो सके उतने समय का नाम है व्यवहार पल्य और उससे अनन्त गुना काल है उद्धार पल्य में, उससे भी अनन्त गुना काल है अद्धापल्य में। एक करोड़ अद्धा पल्य में एक करोड़ अद्धा पल्य का गुणा किया जाय जितना समय आये उसे कहते है कोड़ाकोड़ी। अद्धापल्य, ऐसे दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य का होता है एक सागर, ऐसी ३३ सागर तक की आयु नारकी जीवों की होती है। अब १० हजार वर्ष से लेकर ३३ सागर तक की आयु में अनगिनते भेद हैं, जैसे मान लो कि मनुष्य की आयु कम से कम हो एक दिन और ज्यादा से ज्यादा सौ वर्ष, तो एक दिन से लेकर सौ वर्ष तक के बीच में कितने भेद हो गये? वह तो घंटों में आ जाता है। बहुत थोड़ा समय है, लेकिन नरकों में दस हजार वर्ष से ऊपर और ३३ सागर के नीचे असंख्याते वर्ष हैं

नरक भव परिवर्तन का स्वरूप–अब नरक भव परिवर्तन देखिये–किसी जीव ने दस हजार वर्ष की आयु बांधी, नरक भव में जन्म लिया तो दस हजार वर्ष तो उसके व्यतीत होने ही पड़ेंगे और नारकी मरकर **नरक से निकलकर नारकी तुरन्त कभी नहीं होता। वह मनुष्य बने या पशु, फिर चाहे नरक चला जाये। तो दस** हजार वर्ष की आयु भोगकर नारकी जीव मनुष्य या तिर्यञ्च हुआ। अब बार-बार दस हजार वर्ष की आयु ले लेकर कई बार नरक भव में जन्म लेवे, जितना उस दस हजार वर्ष में समय है। दस हजार वर्ष में कितने दिन होते हैं, फिर दस हजार वर्ष में कितने घंटे, कितने मिनट तथा कितने सेकेण्ड होते? उन दस हजार वर्षों में जितने सेकेण्ड होते, उन दस हजार वर्षों में जितने सेकेण्ड आये उनके समय बनाइये। असंख्याते समयों का एक सेकेण्ड होता है। तो १० हजार वर्ष में जितने समय हुए उतनी बार दस हजार वर्ष की आयु लेकर नरक भव में जन्म ले। फिर दस हजार वर्ष व एक समय की आयु पाये, फिर दस हजार वर्ष दो समय की आयु पाये। इस क्रम से न पाकर भिन्न-भिन्न आयु पाये, उससे उसकी गिनती न लेना तो १० हजार वर्ष के समय प्रमाण १० हजार वर्ष की आयु लेकर नरकगति में जन्म लेवे, फिर १० हजार वर्ष में एक समय की आयु लेकर नरक गति में जन्म ले। फिर १० हजार वर्ष दो समय की आयु लेकर जन्म ले। इसके बाद यह भी नियम नहीं कि कितनी आयु मिले? तो यों एक-एक समय अधिक आयु पाकर ३३ सागर पर्यन्त सारी आयु इस क्रम से भोग ले, उसमें जितना समय लगता है उतने को कहते हैं एक नरक भव परिवर्तन। इसमें तो कितने ही कल्पकाल गुजर जाते हैं। यह हुआ एक नरक भव परिवर्तन।

तिर्यञ्चभवपरिवर्तन का स्वरूप–अब तिर्यञ्च भव का परिवर्तन लें। तिर्यञ्च में कम से कम आयु होती है अन्तमुहूर्त की। एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण होता है तो वह श्वास है। एक स्वस्थ पुरुष की नाड़ी एक बार उचकने में जितना समय लगता है उतने को कहते हैं एक श्वास तो ऐसे एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण होता है किसी जीव का और वह एक जन्म का समय कितना कहलाया? एक बटा तेइस सेकेण्ड। एक सेकेण्ड में तेइस बार जन्म-मरण होता है तो सेकेण्ड के तेइसवें हिस्से को भी अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। तो यों अन्तर्मुहूर्त की आयु है तिर्यञ्च गति में जघन्य और उत्कृष्ट आयु है तीन पल्य की। इसमें भी उसी प्रकार से

भ्रमण की बात देखें कि कोई जीव अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर तिर्यञ्च में उत्पन्न हुआ। अब अन्तर्मुहूर्त में जितने समय होते हैं उतनी बार अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर तिर्यञ्च भव में उत्पन्न हो, फिर अन्तर्मुहूर्त एक समय की आयु लेकर तिर्यञ्च बने, इस तरह एक समय बढ़ाकर तीन पल्य तक की आयु पा ले, उसमें जितने समय लगते हैं उतने समय का नाम है तिर्यञ्चभव परिवर्तन। तो एक तिर्यग्भव परिवर्तन में भी बहुत बड़ा समय लगा।

मनुष्य भव परिवर्तन का स्वरूप–तीसरा सुनो मनुष्य भव परिवर्तन। मनुष्य की आयु जघन्य है अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट है ३ पल्य की। सबसे जघन्य आयु लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य की होती है। उसी प्रकार यहां भी निरखें कि अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर कोई जीव मनुष्यगति में जन्म ले और अन्तर्मुहूर्त में जितने समय हैं उतनी बार आयु अन्तर्मुहूर्त की लेकर मनुष्य बने, यों कमशः एक-एक समय बढ़कर आयु ले-ले कर जन्म-मरण करते हुए तीन पल्य की आयु तक का मनुष्य बन जाये तो उसे कहते हैं एक मनुष्य भव परिवर्तन। यों ही अंदाज लगा लीजिए कि यह जीव संसार में कब से भ्रमण करता आया, ऐसे-ऐसे इस जीव ने अनन्त परिवर्तन किए हैं।

देव भव परिवर्तन का स्वरूप–अब देव भव का भी परिवर्तन लगा लें। देवों की आयु जघन्य दस हजार वर्ष की होती है, इससे कम आयु किसी भी देव की नहीं होती है। कोई जीव दस हजार वर्ष की आयु लेकर देवगति में जन्मा, फिर कभी दस हजार वर्ष की आयु लेकर देवगति में जन्मा, यों दस हजार वर्ष के जितने समय होते हैं उतनी बार दस हजार वर्ष की आयु लेकर देवगति में जन्म एक ले। फिर दस हजार वर्ष व एक समय की आयु लेकर देवगति में जन्मे, फिर एक-एक समय अधिक की आयु लेकर जन्म कर ले। इस तरह ३१ सागर पर्यन्त की आयु धारण कर देवगति में जन्म ले चुके। इसमें जितना काल व्यतीत हो उतने काल को एक देव भव परिवर्तन कहते हैं। यहां तीन बातें विचारणीय हैं–(१) यह नियम है कि देव मरकर फिर देव नहीं बनता, (२) ऐसा होना भी कितना कठिन है कि कोई दस हजार वर्ष की आयु पाकर फिर कभी देव होवे तो १० हजार वर्ष एक समय की ही आयु पाये। पता नहीं जितनी बार देव होवे सो कैसी-कैसी भिन्न आयु पावे? जब कभी ऐसा योग हो कि दस हजार वर्ष व एक समय की आयु पावे तो वह गिनती में लेना। ऐसी ही सब किस्म की आयु के आगे की समय की बात समझना। अब सोच लीजिये कितना काल व्यतीत हो जाता है भव परिवर्तन में? चारों भव के परिवर्तन होने का नाम एक भव परिवर्तन है। (३) देव भव परिवर्तन में जो आयु को ३१ सागर तक ही ले गये, देवों में तो उत्कृष्ट आयु के तैंतीस सागर हैं, मगर ले गये ३१ सागर तक, सो इसका भाव यह है कि परिवर्तन का अधिकारी मिथ्यादृष्टि जीव है और मिथ्या दृष्टि जीव नव ग्रैवेयक से ऊपर उत्पन्न नहीं होता यानि अनुदिश अनुत्तर विमानों में मिथ्यादृष्टि जन्म नहीं लेता। नवग्रैवेयक में उत्कृष्ट आयु ३१ सागर की है। अतः देवभव परिवर्तन में ३१ सागर तक का कथन किया है। चारों भवों के परिवर्तन में जितना समय व्यतीत होता है उतना काल एक भव परिवर्तन कहलाता है। ऐसे-ऐसे अनन्त भव परिवर्तन जीव ने मिथ्यात्ववश किये हैं। यहां यह विशेष जानने योग्य है कि देखो नित्यनिगोद जीव ने जो कि अब तक निगोद से नहीं निकला है उसने नरक भव परिवर्तन, मनुष्य भव परिवर्तन, देव भव परिवर्तन तो नहीं किये हैं और तिर्यञ्च में भी अनेक अवगाहना व अनेक आयु आदि से भी परिवर्तन नहीं किये हैं, फिर वहां परिवर्तन कैसे घटे? अथवा जो कुछ ही समय पहले निगोद से निकला, उसमें भी सब कैसे घटे? इस समस्या की संभाल में

यह समझना चाहिए कि परिवर्तनों के स्वरूप के कथन का उद्देश्य अनन्त काल परिभ्रमण में बीता, यह समझा देना है। सो वहां भी यह समझ लेना है कि अनन्त पञ्च परिवर्तनों में जितना काल गया है, उतना काल इसका भी गया है।

परिणमदि सण्णि जीवो विविह-कसाएहि ठिदि-णिमितेहि।
अणुभाग-णिमित्ते हि य वड्ढं तो भाव संसारे।।७१।।

जीव को विविध कषाय स्थानों के निमित्त से होने वाले भाव संसार का वर्णन–यह संज्ञी जीव जघन्य आदिक उत्कृष्ट स्थिति बंध के कारणभूत तथा अनुभाग बंध के कारणभूत नाना कषायों से और योग स्थानों से वर्द्धमान होता हुआ भाव संसार में परिवर्तन करता है। भाव संसार में यह बताया जा रहा है कि यह जीव जो संसार में जन्म-मरण कर रहा है उसका कारण कषाय ही तो है। अब उन कषायों में से किस भव में किस डिग्री के कितने जघन्य हो सकते हैं, किस डिग्री के उत्कृष्ट हो सकते हैं, किस कषाय के भाव से कैसी स्थिति मिलती है, कैसा भव मिलता है? यों कषायों के भेद नाना हैं और इसके साथ ही साथ जीव में जो प्रदेश हैं उन प्रदेशों में जो हलन-चलन होती है, वह कहलाता है योग। योग स्थान और कषाय स्थान हैं इनके निमित्त से भाव परिवर्तन होता है। उसके सम्बन्ध में अनुभाग बंध, अध्यवसाय स्थान और स्थिति स्थान इनसे भाव संसार की बात ली जाती है। तो इस जीव ने इन भावों के निमित्त से नाना प्रकार के भवों में जन्म-मरण किया।

भाव परिवर्तन का स्वरूप–इस छन्द में भाव परिवर्तन का स्वरूप कहा गया है। भाव परिवर्तन योग स्थान, अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थान, कषायध्यवसाय स्थान व स्थितिवन्धाध्यवसाय स्थान। योग स्थान–प्रकृतिवन्ध व प्रदेश बन्ध के कारण आत्मा के प्रदेश परिस्पन्द रूप योग के तारतम्य लिये हुए स्थानों को योगस्थान कहते हैं। अनुभाग बन्ध के कारण कषाय के तारतम स्थानों को अनुराग बन्धाध्यवसाय स्थान कहते हैं। स्थितिवन्धाध्यवसाय स्थान स्थिति बन्ध के कारण कषायों के तरतम स्थानों को कषायध्यवसाय स्थान कहते हैं बंधने वाले कर्मों की स्थिति के भेदों को स्थितिवन्धाध्यवसाय स्थान कहते हैं। अब इन निमित्तों से भाव परिवर्तन कैसे होता है, सो कहते हैं–पञ्चेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्त मिथ्यादृष्टि कोई जीव ज्ञानावरण कर्म की अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण जघन्य स्थिति को बांधता है, उस जीव के उस स्थिति के योग्य जघन्य कषाय स्थान, जघन्य अनुभाबंधाध्यवसाय स्थान और जघन्य ही योग स्थान है। फिर उसी स्थिति, उसी कषाय स्थान, और अनुभाग बंध स्थान को प्राप्त जीव के दूसरा योगस्थान होता है। इस तरह जब सब योगस्थानों को समाप्त कर लेता है तब उसी स्थिति और उसी कषाय स्थान को प्राप्त जीव के दूसरा अनुभाग वन्धाध्यवसाय स्थान होता है। उसके योग स्थान भी पूर्वोक्त प्रकार से जानना, सो प्रत्येक अनुभाग वन्धाध्यवसाय स्थानों के सब योग स्थानों को समाप्त करता है। यों अनुभागबंधाध्यवसाय स्थानों के समाप्त होने पर उसी स्थिति को प्राप्त जीव के दूसरा कषाय स्थान प्राप्त होता है। इस कषाय स्थान के अनुभाग बंधध्यवसाय स्थान यथा योग स्थान पूर्ववत् होकर द्वितीय तृतीय आदि कषायस्थान बढ़-चढ़कर सब कषायस्थानों की समाप्ति हो जाती है तब अर्थात् कषायस्थानों के भी समाप्त हो जाने पर वही जीव उसी कर्म की एक समय अधिक अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति बांधता है। उसके भी कषायस्थान अनुभागबंधाध्यवसायस्थान तथा योगस्थान पूर्वाक्त प्रकार जानना। इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते ज्ञानावरण की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर पर्यन्त प्रत्येक स्थिति के कषायध्यावसाय स्थान, अनुभागबंधध्यवसाय स्थानों तथा योग स्थानों का क्रम जानना। इसी प्रकार प्रत्येक मूलप्रकृति और उत्तर

प्रकृति को जघन्यस्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त प्रत्येक स्थिति के साथ पूर्वोक्त सब कषायध्यावसाय स्थानों, अनुभागबंधाध्यवसायस्थों और योगस्थानों को पूर्वोक्त प्रकार लगा लेना चाहिए। यों सर्वकर्मों की स्थितियों को भोगने को भाव परिवर्तन कहते हैं। इसको पूर्ण करने में जितना काल लगता है उसे एक भाव परिवर्तन कहते हैं। यह भाव परिवर्तन सबसे अधिक काल वाला है। यों इस जीव ने अनन्तों बार द्रव्य क्षेत्र काल भाव भवपरिवर्तन किये।

एवं अणाइ-काले पंच-पयारे भमेइ संसारे।
णाणा-दुक्ख-णिहाणो जीवो मिच्छत्त-दोसेण।।७२।।

मिथ्यात्व दोष से जीव का संसार भ्रमण–यह इसके पंच परिवर्तन का स्वरूप कहा गया है। यों यह जीव अनादि काल से पांच प्रकार के संसारों में परिभ्रमण कर रहा है। ये नाना परिभ्रमण क्यों कर रहा है यह जीव एक मिथ्यात्व के दोष से। हम आप पर जो विपत्तियां नहीं हैं उन्हें तो समझते हैं विपत्ति और जो वास्तव में विपत्तियां मंडरा रही है उन्हें विपत्ति मानते ही नहीं। अज्ञान में यह हालत होती है। धन कम हो गया, परिजन कोई गुजर गए अथवा कोई रोग आ गया, खुद का भी मरण हो गया या कोई संसार में संकट आ गया, इनको तो विपत्ति मानते हैं जो कि कुछ भी विपत्ति नहीं। अगर यह सचमुच विपत्ति होती तो सबको विपत्ति होवे। किसी का वैभव कम हो गया तो ऐसे वैभव तो सैकड़ों लोगों के कम हो जाते हैं, पर कोई दुःखी होता है, कोई नहीं भी दुःखी होता है। कोई मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहता है। वह तो जानता है कि मेरा कुछ भी नहीं गया, यह तो संसार का स्वरूप ही है। अनेक लोग घर में पुत्रादिक के मरण होने पर बड़े दुःखी होते हैं और कोई ऐसे भी देखे गए कि जिनका कोई एक ही जवान लड़का था, वह गुजर गया, फिर भी उन्हें विषाद नहीं होता। उनमें ज्ञानबल है अथवा ऐसी ही पात्रता है। तो ये बाहरी बातें यदि विपत्ति होतीं तो ये बातें जिन-जिन लोगों पर आती हैं उन सबको दुःखी हो जाना चाहिए था, लेकिन दुःखी नहीं होते। निर्ग्रन्थ मुनियों के पास तो धन जरा सा भी नहीं होता, उनके तन पर वस्त्र भी नहीं होते फिर भी वे दुःखी नहीं होते जिन बाहरी बातों को लोग विपत्ति समझते हैं वे कुछ भी विपत्ति नहीं हैं।

जीव पर मिथ्यात्व की महाविपदा–विपत्ति तो है जीव पर मिथ्यात्व भाव, अज्ञान भाव की। जिस-जिस जीव के मिथ्यात्व लगा है उस-उस जीव को नियम से संसार में जन्म-मरण करना होगा। वहां मनमानी नहीं चल सकती। यहां बाहरी पदार्थों में तो मनमानी भी चल सकती है। निर्धन होने पर कोई दुःखी नहीं है, कोई दुःखी होता है। तो ये तो सब आश्रयभूत हैं जिनको लोगों ने विपत्ति समझ लिया है, विपत्ति तो है जीव पर मिथ्यात्व भाव। अज्ञान लगा है, अपनी सुध नहीं है, बाहरी वैभवों को, देह को, सम्पदा को मानते हैं, अपनाते हैं, दृष्टि बाहर में भ्रमण कर रही है, अपने आपकी ओर दृष्टि नहीं है। जैसे जल में कोई पत्थर डाल दिया जाये तो जल में लहर उठ जाती है ऐसे ही जीव के ज्ञान जल में जब कषायों के डले पड़ रहे हैं तो इस ज्ञानजल में तरंगें उठतीं, क्षोभ होता। इसको नहीं देखता यह जीव। कोई सुध नहीं करता कि मैं अकेला ही हूं और अकेला ही रहूंगा, मेरा कोई साथी नहीं। मैं जैसी परिणति करूंगा उसके अनुसार मेरा भविष्य होगा। मेरे भविष्य को बदलने में कोई दूसरा समर्थ नहीं। मैं ही अपना जैसा चाहे भविष्य बना लूं। इसको नहीं देखता यह जीव। किसी पर से सम्बन्ध है कुछ नहीं, मिलता कुछ नहीं और लग रहा है पर वस्तुओं के व्यामोह में। जो मनुष्य आज दिख रहे हैं, जिनका कुछ संकोच करते हैं, जिनमें लोग अपनी पोजीशन समझते हैं वे सब मनुष्य हैं क्या?

संसार में भटकते हुए आये हैं, कहीं आकर इकट्ठे हो गए, ये जो जीव दिख रहे हैं वे सब कोई मेरे साथी नहीं हैं, न मेरा न्याय करने वाले हैं, न मुझे कुछ सहयोग दे सकने वाले हैं। संसार का स्वरूप ही ऐसा है कि सभी जीव अपने किए हुए करतब के अनुसार ही फल पाया करते हैं, तो यों दुःखमय अशरण असार भिन्न परवस्तुओं में दृष्टि लगाकर हम अपने आपको बिल्कुल भूल रहे हैं, दुःखी हो रहे हैं। यह सब एक मिथ्यात्व का दोष है, उस विपत्ति को तो देखता नहीं यह जीव और संसार की जरा-जरा सी प्रतिकूलताओं को विपदा समझता है, जो कि कुछ भी बात नहीं है। कितना बोझ लगा रखा है? यह जीवन तिरने के लिए था। शुद्ध आचरण करके, शुद्ध ज्ञान रखकर, सत्य श्रद्धा करके अपने आत्मब्रह्म से लौ लगाकर संसार संकट से तिर जाने के लिए यह मनुष्य जन्म था, जिसका मोही प्राणी विषयों में उपयोग देकर लोक में यशकीर्ति की चाहकर बाहरी नाम की बात लपेटकर व्यर्थ खो रहे हैं। यह सब दोष किसका है? मिथ्यात्व का, अज्ञान का।

स्वयं के परिणमन का उत्तरदायित्व स्वयं पर होने से स्वयं के परिणाम के संभाल की शिक्षा—एक बाल्मीकि ऋषि हुए हैं। वे पहले बहुत बड़े डाकू थे, जंगलों में जगह-जगह रहते थे और लोगों से धन लूटकर अपने घर पर धन भेजते थे। एक बार कोई संन्यासी उसी जंगल मार्ग से निकला, तो उसके पास भी सोंटा, कमण्डल, कम्बल, लोटा आदि जो कुछ था सो छीन लिया और कहा कि तुमको पता है—हम बाल्मीकि डाकू हैं। हमसे छूटकर कोई जा नहीं सकता है। तो संन्यासी बोला कि आप बहुत ठीक कह रहे हो, पर एक काम करो, हम यहीं पर इस सारे सामान को रखे रहेंगे, कहीं जायेंगे नहीं और आप अपने घर जाकर अपने घर वालों से हमारे एक प्रश्न का उत्तर पूछ आओ। बाल्मीकि बोले—महाराज क्या पूछ आयें? तो संन्यासी ने कहा कि देखो घर जाकर सबसे अपने विषय में यह पूछना कि हम जो इतना-इतना अन्याय करके, दूसरों को मार-पीटकर, सताकर धन लूटकर लाते हैं, तो इसमें जो पाप लगता है उस पाप को कौन-कौन बांट लेगा? बाल्मीकि ने जाकर घर वालों से पूछा तो घर वाले कोई भी उस पाप को बांटने के लिए तैयार न हुए। बाल्मीकि को ज्ञान जगा और जंगल में उस संन्यासी के पास जाकर निवेदन किया, महाराज हम जितना जो कुछ अन्याय करके दूसरों का धन लूटते थे और महान पाप करते थे उस पाप को घर का कोई भी व्यक्ति बांटना स्वीकार नहीं करता। तो महाराज आज से हम इस निंद्य कार्य को नहीं करेंगे और आप तो हमें भी अपना ही जैसा बना लीजिए। आखिर बाल्मीकि संन्यासी हो गए। तो यही उत्तर सबका है। कोई मोहवश झूठमूठ कह भी दे कि हां हम तुम्हारे पाप में सहयोगी होंगे, पर इतना सा कह देने से होगा क्या? जो जीव जैसा करता है उसको वैसा ही फल भोगना होता है। यह तो है स्थिति लेकिन यह जीव संसार में अति दुर्लभ मनुष्य जन्म, श्रावक कुल, संत समागम, जैन शासन जैसे वैभव को पाकर भी इसकी उपेक्षा कर रहा है और अपनी चिन्ता में, शल्य में, विषयों में रम रहा है तो इसका फल कौन भोगेगा और उसका फल क्या है? उसका फल यही है कि जैसे इस संसार में यह जीव रुलता आया है उसी तरह से रुलता चला जायेगा। इस जीव को यदि दुःख मिटाना है तो पहले मिथ्यात्व को मिटाये। इस मिथ्यात्व को दूर किए बिना संसार के संकट मिट नहीं सकते।

इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊणं।
तं झायह स—सरूवं संसरणं जेण णासेइ।।७३।।

संसारानुप्रेक्षण से लाभ लेने का अनुरोध—यह संसार-अनुप्रेक्षा चल रही है। इस प्रकरण का यह

अन्तिम श्लोक है। इसमें आचार्य सम्बोधित करते हैं कि हे भव्य जीवों! ऐसे संसार को असार जानकर सब प्रकार से मोह को त्यागिये और अपने आपका जो स्वरूप है, सहजभाव है उसका ध्यान कीजिए, जिससे कि संसार का संसरण नष्ट हो जाये। इस छंद में चार बातों पर ध्यान दिलाया है। पहली बात तो यह है कि इस संसार के यथार्थ स्वरूप को जान लें, जैसा कि इसमें वर्णन किया गया है। यह यथार्थ है, सत्य है कि यह संसार दुःखमय है और असार है। इसके लगाव में आत्मा का पतन है, ऐसा जानें और फिर पूरे प्रयत्न के साथ मोह को त्याग दें, रंच भी पर से लगाव न रखें। छोड़ना है तो पूरा छोड़ें। तीसरी बात कह रहे हैं कि अपने आत्मा के स्वरूप को ध्यान करें, मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हूं, इसकी बार-बार भावना करें। इस उपाय से संसार का यह परिभ्रमण मिट सकेगा। इसमें पूर्व-पूर्व वचन उत्तर वचन के लिए उपाय भूत है। यह संसरण कैसे मिटेगा? आत्मा का ज्ञानस्वरूप का ध्यान करने से यह संसरण मिटेगा। आत्मा के सहज ज्ञान स्वरूप का ध्यान कब बन सकेगा? सर्वप्रथम सम्यक्त्व, व्रत, ध्यान आदिक सर्व उद्यमों से मोह का त्याग करें और इस मोह के त्यागने के उपाय में संसार की असारता परखें। इस तरह इसमें उपदेश दिया गया कि इस संसार को असार जानकर सर्व प्रयत्नों से मोह का त्याग करो, अपने आत्मस्वरूप का ध्यान करो।

●●●

अनुप्रेक्षा प्रवचन द्वितीय भाग

एकत्वानुप्रेक्षा

इक्को जीवो जायदि एक्को गब्भम्हि गिण्हदे देहं।
इक्को बाल-जुवाणो इक्को बुड्ढो जरा-गहिओ।।७४।।

अपने एकत्व स्वरूप को जानने में जीव का श्रेयो लाभ–यह जीव अपने स्वरूप में अपने आप अकेला ही है। विश्व में समस्त पदार्थ अपने-अपने अकेले का ही स्वरूप रखते हैं। निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का ही नहीं लेश निदान। अपने आपके वास्तविक स्वरूप को 'यह मैं हूं' इस प्रकार की प्रतीति बने, इससे भिन्न सब कुछ पर है, ऐसा विश्वास बने तब ही दुःख का कारण नहीं रह सकता है और जीव शान्त रह सकता है। यह जीव विकल्पों से क्यों घिरा हुआ है, उसका कारण यह है कि अपने आपकी यथार्थ पहचान में इसकी दृष्टि नहीं और पर को पर जान पाता नहीं। अब ज्ञानानन्द स्वभावी तो यह है ही, तो अपने ज्ञान और आनन्द की बात तो चाहेगा ही, पर यह न जानने से कि मैं स्वयं ज्ञानानन्द स्वरूप हूं, चाह लेता है पर से कि इससे मेरा ज्ञान बढ़े और इससे मेरा आनन्द हो। अब जीव की ऐसी इच्छा बनी और यह उपयोग अपने ज्ञानसमुद्र से निकलकर बाहर को गया व उपयोग ने अपने आधार का शरण छोड़ दिया, तो वह उपयोग बाहर निराधार रहता हुआ डोला करता है, उसका कहीं दूसरी जगह ठिकाना नहीं बैठ सकता। इस उपयोग का ठिकाना खुद का आधार ही है, वहां यह जाय, वहां एक रस होकर रहे तो वहां ही इस जीव का उपयोग निस्तरंग रह सकता है, इसको विश्राम मिल सकता है। ऐसा किए बिना बाहरी पदार्थों के सम्पर्क में चाहे कितना ही बाह्य वैभव मिले वहां अशान्त ही रहेगा। इससे अपने एकत्व स्वरूप का जानना अति आवश्यक है।

अपने एकत्व स्वरूप के दर्शन से ही जीव का वास्तविक बड़प्पन–जीव का बड़प्पन ही इसी में है कि वह अपने एकत्व को जान ले और प्रकार से बड़े हुए तो क्या हुआ? कोई सरकारी व्यक्ति बड़े ओहदे को प्राप्त कर ले तो क्या हुआ, धन वैभव में भी कोई बड़ा हो गया तो क्या हुआ? किसी प्रकार से बहुत सी विद्यायें सीख लीं, बहुत प्रकार के एम० ए० पी० एच० डी० आदि हो गए तो उससे भी क्या हुआ? और और किस्म से भी बड़े हो गए तो क्या हुआ? एक अपने आपके एकत्व स्वरूप का परिचय न पाया जा सका तो वह तो रंच नीव जहां नहीं ऐसा महल है, उसका टिकाव कैसे हो सकता है? अपना बड़प्पन है तो एकत्व स्वरूप का परिचय होने के कारण है अन्यथा हम कुछ भी बड़े नहीं हैं। इन बाहरी बातों का क्या विश्वास? राजा भी मरकर कीड़ा बन जाता, कुत्ता भी मरकर देव बन जाता और इस ही भव में कोई बहुत बड़े ओहदे पर पहुंच गया और कहां एकदम गिर जाये। कोई बड़ा अधिक हो और कहो थोड़े ही दिनों में गरीब हो जायें? तो इन बाहरी बातों में बड़प्पन कुछ नहीं है, बड़प्पन तो है अपने आपके स्वरूप का परिचय पाने का। कितना स्वाधीन अलौकिक अटूट भण्डार है स्वरूप परिचय नाम का कि जब भी अशान्त हुए, आंखें मिचीं, इन्द्रियों का व्यापार बन्द किया, भीतर अपने आप में ज्ञानमात्र निहारा, लो सारे संकट टल गए तत्काल ही और कर्म निर्जरा

हुई, भविष्य में भी शान्ति का मार्ग मिला। तब यह निश्चय करिये अपने आपके सहज स्वरूप का परिचय पा लेना ही एकमात्र वैभव है, अन्य कुछ नहीं है।

मोहनिद्रा के स्वप्न की दशा में समागम की सारता का भ्रम—यों तो स्वप्न में भी बड़प्पन का दृश्य देख लिया जाता है। जैसे कोई घसियारा घास का गट्ठा लिए हुए जा रहा था। थक जाने से रास्ते में किसी पेड़ के नीचे कंकरीली जमीन में सिर के नीचे कोई ईंट रखकर सो गया। सोते हुए में वह स्वप्न देखता है कि मैं बहुत बड़ा राजा बन गया हूं, बड़े-बड़े राजा लोग हमें नमस्कार कर रहे हैं। यों वह स्वप्न में बड़ा खुश हो रहा था। इतने में किसी ने जगा दिया और कहा—अरे उठो, शाम हो गयी, घास कब बेचोगे? वह घसियारा जगने पर देखता है कि वहां तो कहीं कुछ भी नहीं है। तो वह घसियारा उस जगाने वाले व्यक्ति से लड़ने लगा कि तूने तो मेरा सब राजपाट छीन लिया।....अरे तेरा राजपाट था ही कहां? वह तो केवल एक स्वप्न की बात थी। तो ऐसे ही मोह की नींद में यहां ये स्वप्न देखे जा रहे हैं। भले ही आपके मकान की रजिस्ट्री नगरपालिका में है, उसे कोई दूसरा पा नहीं सकता, आपका जो धन बैंक में जमा है वह भले ही आपके सिवाय और कोई निकाल नहीं सकता, उस पर आप अपना अधिकार समझते हैं। पर यह सब तो एक मोह की नींद के स्वप्न में यह व्यवस्था बनी हुई है। सबने व्यवस्था बना ली है लेकिन स्वरूप देखो तो यह ज्ञानमात्र आत्मा जो आकाशवत् निर्लेप है उस आत्मा में इस धन वैभव का सम्बन्ध क्या? यहां तो केवल बाहर में कल्पनायें ही की जा रही हैं। यह तो मोही-मोही लोगों के समूह के बीच एक व्यवस्था नहीं बनायी। मोहियों की व्यवस्था है यह कि यह मकान इनका है, इस पर दूसरे का कब्जा नहीं हो सकता। यह व्यवस्था तो इस मोही जगत की है, उसकी व्यवस्था नहीं है। वस्तुस्वरूप को देखो तो मैं आत्मा मात्र आकाशवत् अमूर्त, जिसका कोई जाननहार नहीं, जिसको कोई पहचानने वाला नहीं उसका यहां क्या रखा है? वह मैं एक हूं।

एकत्व की भावना में समय की सफलता—जो एकत्व की भावना में आयेगा वह अपना समय सफल कर लेगा, और जो पर की दृष्टि करके मानेंगे कि मैं इतने बच्चों वाला हूं, ऐसी पार्टी वाला हूं, ऐसे मित्रों वाला हूं, इन बाहरी बातों से अपने आपको कुछ दुहरा संयुक्त कुछ मोटा सा मानेंगे कि मैं अब इकहरा कहां रहा, अकेला कहां रहा? मेरे साथ तो बड़ा वैभव है, बहुत लोग हैं। जो इस तरह की बुद्धि रखेगा, वह अपना जीवन व्यर्थ खो रहा है। समय तो यों निकल रहा है जैसे किसी पर्वत से निकलने वाली नदी का वेग चलता ही जा रहा है नीचे को, उसके ऊपर उठने का काम नहीं, इसी प्रकार जो उम्र गुजर रही है, वह तो गुजरे ही रही है, उस उम्र का वापिस होने का काम नहीं है। थोड़े समय को यह मनुष्य जीवन मिला है। इस जीवन की सफलता इसी में है कि अपने आपके उस सही स्वरूप को जानें, जो मेरे में मेरे सत्व के कारण स्वयं अपने आप है। वह है एक ज्ञानज्योति मात्र। ऐसा मैं एक अकेला हूं। अब इस एक अकेले में जो भ्रम लगा हुआ है उस भ्रम के कारण इस जीव के ये नाना रूप हो रहे हैं। इस जीव की नाना पर्यायें बन रही हैं, इसके विकल्पों के भी नाना रूप बन रहे हैं।

बहुविधि रचनाओं का मूल हेतु—ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि यह संसार की रचना बनी कैसे? इसको ब्रह्मा ने बनाया जो कि एक है, नित्य हैं, सर्वव्यापक है। जब उसको यह विकल्प हुआ कि एकोऽहं बहुस्याम् अर्थात् मैं एक हूं बहुत हो जाऊं, तो वह बहुत हो गया, सो नाना जीव बने, ये सब भौतिक पदार्थ बने। यह सब और हैं क्या, एक ब्रह्म ही तो है, यह उन ब्रह्म द्वैतवासियों का कथन है, लेकिन हम किसी अन्य दार्शनिकों के

कथन को सुनकर एकदम नाक भौं सिकोड़कर घृणा करें, इसके बजाये यह जानने की कोशिश करें कि इसने कौन सा तत्व मूल में ग्रहण किया होगा कि जिसके बाद भ्रम में आकर वह यहां तक पहुंच गया। इस दृष्टि को निहारें तो हमारे तत्व की दृढ़ता भी होती है और समता परिणाम भी बनता है। जैसे बहुत मजहब वाले, धर्म वाले, दर्शन वाले पुरुष होते हैं और उनको निरखकर एकदम घृणा करने की प्रकृति बना लेते हैं, अपने को न जानकर धर्म को साबित करने वाले पुरुष, तो उसका फल उन्हें क्या मिलता है? तब बजाय इस पद्धति के हम यह पद्धति बनायें कि इस दार्शनिक ने, इस मजहब वाले ने जो आज ऐसी प्रवृत्ति बनायी है और ऐसा सिद्धान्त रचा है, आखिर सबसे प्रारम्भ में वह कौन सी तत्त्व की बात थी कि जहां पर कुछ थोड़ी-सी भूल होने पर आज इस भूल में आ गए, उसकी खोज के लिए जाना चाहिए।

विविध विचित्र रचनाओं के आधार का रहस्य–अब आप देखिये-ब्रह्माद्वैतवादी ने जो यह बात समझी कि इस जगत की रचना यों हुई कि इसने यह भाव किया कि एकोऽहं बहु स्याम् अर्थात् मैं एक हूं बहुत हो जाऊं, अब इसका आधार तकिये। प्रथम तो यहां यह निरखिये कि यह सर्वाद्वैतवाद है इनका, इसको यदि विशिष्टाद्वैतवाद में ढाल दें तो इसका मर्म निकल आयेगा। सर्वाद्वैत का अर्थ यह है कि सारा जगत समस्त चेतन अचेतन पदार्थों का समूह पूरा एक है। यों विशिष्टाद्वैत का यह अर्थ है कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें अद्वैतमात्र है, एक है, तो अब विशिष्टाद्वैत की दृष्टि से निहारिये, प्रत्येक आत्मा ब्रह्म है। ब्रह्म उसे कहते हैं जो अपने गुणों से बढ़ने का स्वभाव रखता है। जीव का गुणविकास इस प्रकार की पद्धति को लिए हुए है कि जैसे कोई स्प्रिंग वाली कुर्सी है, उस पर कोई बैठ जाये तब वह दबी रहेगी लेकिन दबी रहने की हालत में भी उस स्प्रिंग का स्वभाव तो उठने का ही है। वह दबाव हटे तो वह उठ जाती है। जीव में ऐसा स्वभाव है कि विषय कषाय कर्म आदिक के कारण यह दबा है, इसका विकास नहीं है, लेकिन यह हर हालत में विकसित होने का ही स्वभाव रख रहा है, बढ़ेगा ही। आवरण जब दूर हो जाता है, तो पूर्ण विकसित रहता है, फिर उस पूर्ण विकसित होने के बाद त्रिकाल में भी यह अवसर नहीं आता कि वह फिर से घट जाये। इसी कारण इस आत्मा का नाम ब्रह्म है। किन्तु यह ब्रह्म अपने को एक देखता ही कहां है? इस मिथ्यात्व और अज्ञान अवस्था में यह अपने को एक अकेला स्वरूप मात्र निरख ही कहां रहा? यह तो मैं मनुष्य हूं, तिर्यञ्च हूं, अमुक ढंग का हूं आदि नाना रूपों में अपने आपको तक रहा है। जब नाना रूप तकने की आदत पड़ी है तो सारी रचना हो रही है, यही सारे जगत की रचना जो आंखों दिख रही है इसमें जीव का सम्बन्ध है। जो देहधारी जीव हैं उनमें तो यह प्रकट मालूम हो रहा कि जीव है, तब यह शरीर बढ़ा, शरीर बिना आदिक बातें हो रही है किन्तु ये खम्भा, चौकी, पत्थर वगैरह ये भी तो जीव के ही शरीर है। जीव निकल गया, शरीर मात्र रह गया तो इसका भी यह आकार मूलतः बना कैसे? जब यह सजीव था तब की महिमा है कि इसका आकार बना हुआ हैं। जीव निकलने के बाद भी इसका वही आकार है। जैसे कोई मुर्दा पुरुष पड़ा है कहीं तो उस मुर्दे का ऐसा आकार जो बना, वह कैसे बन गया? जीव आया था, उनमें शरीर परमाणुओं का संयोग बना, फिर अंगोपाङ्ग बने तो वह सब जीव के सम्बन्ध से ही तो बना, इस कारण से यह सारा जगत इस ब्रह्म में विवर्त है। यह एक ब्रह्माद्वैत से अपने आपके मेल वाली दृष्टि से बात कर रहे हैं और इसमें इस जीव ने यह भाव किया कि यह मैं बड़ा हूं, यह भी हूं, यह भी हूं, सो इसकी सारी रचना चल रही है। इस रचना से इसका बिगाड़ है, इससे सारे संकट ही आ रहे हैं, तो इन सब संकटों से मुक्त होना है तो मूल में अपने आपके एकत्व स्वरूप का परिचय

पा लेना चाहिए। मैं एक हूं, अपने स्वरूप मात्र हूं।

वस्तुस्वरूप ही नहीं कि पर से कुछ मिले—जगत में अनन्तानन्त पदार्थ हैं, अनन्तानन्त जीव और उससे भी अनन्त गुने अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य, असंख्यात कालद्रव्य, ये समस्त पदार्थ अपने आपमें अद्वैत अपने ही स्वरूप को लिए हुए हैं। घर के किसी बालक ने बात न मानी। कोई बड़ा मित्र है, जिस पर बड़ा भरोसा रखते थे, आज प्रतिकूल हो गया तो इसमें कोई खेद करने की बात नहीं है। क्योंकि वस्तु स्वरूप की ही बात हो रही। यह न सोचना कि गजब हो गया। अरे गजब कुछ नहीं हो गया, वस्तुस्वरूप ही यह गवाही देता है, प्रत्येक जीव अपना-अपना स्वरूप रख रहे हैं, वे मिलते भी हों तो अकेले ही तो हैं। वे कुछ भी व्यवहार करें, उन्होंने अपने आपमें अपने ही प्रयोजन के लिए अपने आपका ही तो कुछ किया। गजब कुछ नहीं हुआ है। उसके ज्ञाता द्रष्टा रहो—जाननहार रहो, बात ऐसी ही है। कोई परिवार में, मित्र-मण्डली में किसी का मरण हो गया, यह मनुष्य विश्वास नहीं रख रहा था कि ऐसी हालत बनेगी, यह गुजर जायेगा, मैं अकेला रह जाऊंगा, इसे ऐसा विश्वास न था और हो गया अचानक तो कहता है कि अनहोनी हो गयी। अरे अनहोनी नहीं हुई, वस्तुस्वरूप को सोचिये, यह घबराता है। क्यों घबराता है? इसने पहले से यह नहीं तय कर रखा था कि मैं तो अपने स्वरूप मात्र हूं। जगत में अनन्त जीव हैं, आते हैं, जाते हैं उनमें से ये कुछ जीव भी यहां आये और गए। इनका वही स्थान है, जो उन समस्त अनन्तानन्त जीवों का स्थान है जैसे कि वे गैर माने जाने वाले अनन्त जीव मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, रंच सम्बन्ध नहीं है इसी प्रकार मेरे प्रसंग में आये हुए, बहुत प्रिय लगने वाले ये जीव उतने ही जुदे हैं और निमित्त आश्रय की बात पूछो तो जो गैर जीव हैं, जिन्हें गैर मान रखा है उनके कारण तो मेरा बिगाड़ हो नहीं रहा और जिन्हें अपना मान रखा है कुटुम्बी या मित्रजन उनके कारण, उनके विकल्पों से मेरा बिगाड़ हो रहा है। अपने आपके एकत्व स्वरूप का यथार्थ बोध किए बिना शांति नहीं मिल सकती है। सर्व पुरुषार्थों से इसी निर्णय में लगिए, प्रयत्न में लगिए कि मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हूं।

समता की परीक्षा के लिये अनुकूल घटनाओं का आगमन—ये अनुकूल-प्रतिकूल घटनायें परीक्षायें हैं, मैं ज्ञानमात्र हूं, ऐसी मेरी श्रद्धा सही है या नहीं, इसकी ये परीक्षायें हैं। कोई मित्र प्रतिकूल हो गया, यह दुःखी हो रहा तो सोचो कि ये हमारी परीक्षायें हो रही हैं, हम अपने आपके एकत्वस्वरूप की श्रद्धा लिए हुए हैं या नहीं। जैसे कोई पुरुष किसी चाकू की धार निकाल रहा है तो कुछ धार निकालने के बाद अपनी अंगुली या पेन्सिल, लकड़ी आदिक पर उसको रखता है तो वह परीक्षा कर रहा है कि हमारी चाकू की धार पूरी पैनी हुई या नहीं। कम पैनी नजर आयी तो फिर धार बना ली, फिर वह धार की परीक्षा करता है. इसी तरह ये सब परीक्षायें हैं। अपने आपके एकत्व स्वरूप की सही श्रद्धान करने की। ये प्रतिकूल वातावरण, ये बुद्धियां, ये अनिष्ट समागम, ये इष्टवियोग ये मेरे अनर्थ की चीजें नहीं हैं। ये सब निराले पदार्थ हैं। इनका उत्पाद, व्यय ध्रौव्य इनमें चल रहा है, इनसे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है। ये सब परीक्षायें हैं। मैं अपने श्रद्धान में पूरा सही उतरा कि नहीं उतरा। इन इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग आदिक में यदि हमें खेद होता है तो समझिये कि अभी हम इन परीक्षाओं में खरे नहीं उतरे अर्थात् अभी हम अपने आप को सही नहीं बना सके। अभी स्वरूपानुसारी बनने की और कोशिश करें। कुछ समय बाद हमने विजय प्राप्त की अपने आप पर कि जैसे पहले इष्टवियोग अनिष्ट संयोग होते थे और उनमें बेचैनी बनती थी अब वह बेचैनी नहीं रही, अब हमने जरूर अपने में कुछ

पाया है, हमको अभी थोड़ी धार और पैनी करनी है। तो इन बाहरी प्रसंगों को अपनी परीक्षा का रूप दीजिए। ये सब विरोधी हो रहे हैं। अरे कुछ नहीं हो रहा। तो इन सब समागमों के बीच हम अपने आपको इनमें मिला-जुला न समझें, किन्तु निराला अपने ज्ञानमात्र समझें। ऐसे इस एकत्व स्वरूप वाले जीव को ज्ञानानन्दमय स्वरूप का परिचय न होने के कारण इसकी विडम्बना बन रही है।

जीव का अन्तः बाह्य सर्वत्र अकेलापन—यह संसारी जीव बिगड़ रहा है, विकृत हो रहा है। कभी मनुष्य, कभी तिर्यञ्च, कभी देव, कभी नारकी इस तरह यह जीव बन रहा है। इसी के मायने हैं जन्म-मरण। सो बिगड़ भी गया, तब भी देखो यह जीव अकेला ही तो जन्म लेता है, अकेला ही सुख-दुःख मरण पाता है, वस्तुस्वरूप अब भी नहीं मिटा। वस्तुस्वरूप यही है कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें केवल अपना स्वरूप लिए हुए है, परिणमन खुद में होगा, दूसरे में न होगा। दूसरा न परिणमा देगा। वस्तुस्वरूप का मूल नियम तो सर्वत्र अकाट्य है, सो यह मलिन हुआ, संसार में भव धारण कर रहा लेकिन यह अब भी अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही गर्भ में देह को धारण करता है। इसका कोई साथी नहीं है। अकेला ही तो यह बालक बनता है, अकेला ही जवान बनता है और अकेला ही यह बुढ़ापा सहित होता है। यह व्यवहार एकत्व का वर्णन चल रहा है। इसकी भी बुनियाद निश्चय एकत्व है। यदि उस बुनियाद में ही खोखलापन हो, मूल में ही पदार्थ किसी से मिल-जुल जाये तो यह व्यवहार का भी अकेलापन नहीं रह सकता है। फिर तो दो चार जने मिलकर जन्म लें और दो-चार जने मिलकर मरण करें ऐसा प्रसंग आ जायेगा। किसी मित्र का बहुत घनिष्ठ प्रेम हो और वह एक मरण देखकर विह्वल होकर तुरन्त मर जाये, उसी मिनट में दोनों मरें तो बताओ कि वे दोनों एक साथ मरे कि अकेले-अकेले? अकेले-अकेले ही मरे। एक मनुष्य दुःखी है, उसका मित्र, कुटुम्बी, रिश्तेदार उससे मिलने आया, मानो इष्ट वियोग से दुःखी है तो आते ही उससे मिलते ही यह भी बड़ा दुःखी हो गया और दोनों हृदय से लगकर रोने लगे तो बताओ कि वे दोनों मिलकर एक साथ दुःखी हो रहे या अकेले-अकेले? अरे वे तो अकेले-अकेले ही दुःखी हो रहे। वे दोनों अपने-अपने में अपना-अपना परिणाम बना रहे हैं। तो सर्वत्र यह जीव अकेला ही है, अकेला ही जन्म लेता और अकेला ही मरण करता है।

जन्मसंकट से मुक्ति पाने का लक्ष्य बनाने का अनुरोध—जन्म इस जीव के लिए बहुत बुरी बाधा है। मरण से भी विकट बाधा जन्म की है। मरण बुरा नहीं, जन्म बुरा है। मरकर फिर जन्म न हो यह बात कितनी भली है, और कदाचित् ऐसा हो जाये कि संसार में जन्म लेकर मरण न हो तो क्या होता? (होता तो नहीं ऐसा पर कल्पना करके मान लो) सारे जीवन भर दुःखी रहता। इस जीवन में धरा ही क्या है? अब दूसरी बात देखिये—मरण के बाद मुक्ति है, जन्म के बाद मुक्ति नहीं है। मरण हो गया, अब जन्म नहीं होता है, इसी के मायने है निर्वाण। मरण के बाद पवित्रता आती है। जन्म के बाद पवित्रता नहीं आ सकती। जो जीव जन्म रहा है वह बड़ी विडम्बना में फंस रहा है और देखिये तो सही कि गर्भ से निकलते समय बच्चे को कितनी वेदना होती है? वह तो हो रहा है उत्पन्न होते समय दुःखी और यहां बज रहे हैं ढोल। सब लोग खुशी मना रहे है। अरे जिसके लिए खुशी मना रहे हैं उसकी तो बड़ी बुरी दशा है। वह इतना कोमल है कि एक कंकड़ भी अगर उसके शरीर पर आये तो शरीर में घुस जाये, ऐसा अशक्त है। वह उसके लिए खुशी कोई नहीं मना रहा, खुशी मनाते हैं लोग अपने विकल्प में, अपने मोह में। यह जीव तो अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरण करता है। बचपन, जवानी, बुढ़ापा आदि सभी अवस्थाओं में यह जीव अकेला ही है। ऐसा जानकर बाह्य से

मोह रागद्वेष छोड़कर कुछ अपने आपकी भी दया करनी चाहिए। मेरा ज्ञानप्रकाश मुझमें बने, जिससे ये संसार संकट जन्म-मरण की परम्परा सदा के लिए नष्ट हो।

इक्को रोई सोई इक्को तप्पेई माणसे दुक्खे।
इक्को मरदि वराओ णरय–दुहं सहदि इक्को वि।।७५।।

सहज एकत्व स्वभाव की साधना के शासन का महोपकार–यह जीव अपने आपके सहज स्वरूप में ही है, इस प्रकार का ज्ञान विकास देने वाले इस जैन शासन का कितना हम पर उपकार है कि जिसके एवज में हम कुछ भी आभार प्रदर्शन करने में समर्थ नहीं हो सकते। संसार है, मायाजाल है, फंसाव है। कैसा श्रेष्ठ मन पाया, कैसी प्रतिभा बुद्धि ज्ञान पाया, ये सब कुछ पाकर भी यदि इन भिन्न अहित असार बाह्य पदार्थों के लगाव में उपयोग बनाया तो यहां तो कुछ लाभ है ही नहीं, कुछ सिद्धि है नहीं और आत्म की बात, सिद्धि सब दूर हो जाती है। फिर वही जन्म-मरण का चक्र चलता रहेगा और यह जीव दु:ख भोगता रहेगा। तो ऐसे उपयुक्त समय में बुद्धिमानी यह होगी कि हम अपने आपमें बल लगाकर, अपने आपमें दृष्टि देकर गुप्त ही गुप्त अपने आपकी साधना बनाये रहें। हमारी दृष्टि में हमारा वह सहज ज्ञानस्वरूप अधिकाधिक आता रहे, यह साधना यदि बन सकी तो समझ लीजिए कि हमारा यही शरण है। यही हमें संसार के समस्त संकटों से छुड़ा देने का मूल उपाय है। संसार में दृश्यमान जो भी लोक समूह है ये सब पुरुष, ये सब लोग मेरे कुछ नहीं हैं, ये संसार में भटकते हुए कर्मों के प्रेरे जीव आज यहां भेले हो गए, इनसे कुछ सम्मान चाहें तो यह कितनी बेहूदी बात है? जैसे स्वप्न में जो कुछ भी बातें घटित होती हैं वे सब बेहूदी बातें हैं, उनसे कुछ इस आत्मा को मिलता नहीं है। इसी तरह इस मोह में कल्पना में जो बात बन रही है, बनायी जा रही है इस आत्मा के लिए बेहूदी और बेतुकी बात है। तो ऐसे अज्ञान अंधकार से हटकर ज्ञानप्रकाश में ले जाने वाले ये वचन, ये शास्त्र, यह जिन-शासन, ये ही मेरे माता-पिता हैं, मेरे गुरु हैं, मेरे रक्षक हैं, मेरे शरण हैं, सर्वस्व हैं।

आत्मैकत्व स्वभाव के निरखने पर विकल्प विपदाओं का विनाश–यहां यह बताया जा रहा है कि आत्मा अकेला है इसका स्वरूप भी एकत्व रूप है और इसका परिणमन भी एक में ही है। जीव में जो भी अवस्था बनती है उसमें अकेले में ही बनती है, दूसरा कोई पदार्थ इसमें साधक नहीं। कल्पना करो कि हम इस देह को छोड़कर अन्य किसी कुटुम्ब में जाकर पैदा हो गए तो फिर यहां के कुटुम्बियों से हमारा मोह रहेगा क्या? कुछ भी तो इन परिजनों से फिर लगाव न रहेगा। जैसे यहां से मरकर जीव किसी जगह पहुंचे तो इसमें पिछले भव के कुटुम्बियों से इस जीव का कुछ बिगाड़ तो नहीं, कुछ सम्बन्ध तो नहीं, ऐसे ही समझ लो कि इस भव से पूर्व भव में जिन-जिनके भी समागम में हम थे उनसे भी हमारा कुछ बिगाड़ न था, कुछ सम्बन्ध न था। यहां भी आज जिन समागमों के बीच हैं उनसे हमारा कुछ बिगाड़ नहीं, कुछ सम्बन्ध नहीं, उनसे हमें कोई अड़चन नहीं आती, उन्हें जो हैं सो बने रहने दो, एक केवल शुद्ध दृष्टि बनाने भर की बात है, बस सारे संकट दूर हो जाते हैं। लोग सबसे बड़ी विपदा यह मान लेते हैं कि जब हम इन लोगों के बीच में रह रहे हैं तो इनमें हमारी शान क्यों न रही, इनके बीच हमारी पोजीशन क्यों न अच्छी बन सकी? अरे इन संसारी प्राणियों से क्या अपने बड़प्पन की चाह करना? मान लो सारा जहान भी आप की निन्दा कर रहा हो तो आप अपने स्वरूप के दृढ़ किले में बैठ जाइये, फिर वहां कोई प्रहार कर सकता है क्या? उस अंतस्तत्व पर तो किसी का प्रहार नहीं चलता। वह तो स्वतन्त्र है, अपने स्वरूप में निश्चल है। यह स्वभावत: अविकार है, इस अविकार ज्ञान स्वरूप

की ओर लगाव बने तो फिर इस जीव का कुछ भी बिगाड़ नहीं हो सकता। यह जीव यदि पर से अपना कुछ लगाव न रखकर अपने अन्तः स्वरूप की रक्षा करे तो घाटे में न रहेगा, लाभ में ही रहेगा। लोग तो सांसारिक चीजों में हानि लाभ का हिसाब लगाते हैं पर इस हानि लाभ के हिसाब से जीव का कुछ भी पूरा न पड़ेगा।

रोग शोक आदि में सर्वत्र जीव का अकेलापन–जीव सर्वत्र अकेला है, अकेला ही रोगी होता है, अकेला ही शोकी होता है, अकेला ही मानसिक दुःखों से दुःखी होता है, अकेला ही मरता है और बेचारा अकेला ही रहकर नरक दुःख को सहता है। ये बातें जीवन में रोज-रोज प्रयोग में आ रही हैं। यदि किसी का सिर भी दुःखने लगे तो उस दुःख को वह अकेला ही सहन करता है, घर का कोई भी व्यक्ति उस दुःख को बांट नहीं सकता। एक राजा था, वह जंगल में किसी प्रयोजन से गया तो वहां पर एक नई उम्र के मुनिराज प्रसन्न मुद्रा में बैठे हुए दिखे। राजा ने मुनिराज के पास जाकर नमस्कार किया। राजा को मुनिराज के अकेलेपन की दशा को देखकर दया आयी कि देखो न इनके साथ कोई साथी है, न इनके पास कोई खाने-पीने का साधन है। राजा ने कहा महाराज आप यहां अकेले क्यों बैठे हैं? आपका नाम क्या है? तो मुनिराज बोले कि मेरा नाम अनाथी मुनि। राजा बोला–हे मुनिराज! आज से आप अपने को अनाथी न कहना। आज से मैं आपका नाथ हुआ। तो मुनिराज बोले–आप कौन हैं? तो राजा बोला--महाराज आप शंका न करें, मैं राजा हूं। सैकड़ों गांवों में मेरा राज्य है, सेना है, बड़ा वैभव है, आप सन्देह न करिये कि यह मेरी रक्षा कर सकेंगे या नहीं। आज से आपका नाथ बन रहा हूं, तो अनाथी मुनि बोले–कि ऐसा तो पहले मैं भी था, राजपाट वैभव सामग्री तो मेरे भी थीं। तो राजा की आंखें खुलती हैं और कहता है कि आप इतने बड़े वैभव वाले होकर भी यहां जंगलों में अकेले कैसे रह रहे? आपको वहां क्या तकलीफ थी? जो सबकुछ छोड़-छाड़कर आप यहां आये हैं। तो मुनि बोलते हैं कि एक बार मेरे सिर में बड़ा विकट दर्द हुआ, सबने मीठा बोला, अन्य यत्न किये, किन्तु मेरे दर्द को कोई बांट न सका। उस समय मैंने सोचा कि ये पुत्र मित्र स्त्री आदिक कोई भी मेरे दर्द में सहायक नहीं हो रहे, मेरे सिर दर्द को नहीं बांट सक रहे, मुझे अकेला ही सहना पड़ रहा है। उस समय के विचार से मुझे वैराग्य जगा सो सब कुछ छोड़-छाड़कर मैं यहां रह रहा हूं।

संताप मरण आदि में किसी की सहयोगिता का अभाव–भैया! आप भी अनेक बार प्रयोग कर चुके होंगे कि जब भी व्याधिजन्य वेदना होती है तब अकेले को ही तो भोगनी पड़ती है। दूसरा कोई भी इसमें मददगार नहीं बन सकता। जब शोक होता है तो यह अकेला ही शोक में पड़ता है। घर के लोग तो खुश हैं जिनके लिए यह शोक कर रहा है, चिन्ता कर रहा है, वे तो जरा भी चिन्तित नहीं हैं। यह तो उन घरवालों के लिए चिन्ता कर रहा और वे घर वाले मौज कर रहे, हंस रहे, उन्हें कुछ परवाह ही नहीं। तो यह जीव शोकी होता है तो अकेला ही तो होता है। जब-जब भी कोई मानसिक व्यथा जगती है तो यह अकेला ही तो संतप्त रहता है। कोई दूसरा तो उसके साथ संताप नहीं करता। यह लोक व्यवहार की दृष्टि से जीव का अकेलापन बताया जा रहा है। यहां व्यवहार में भी देख लो–सब बात जीव पर अकेले ही पड़ रही है। मरता है तो भी अकेला कोई साथ नहीं निभाता। भले ही कोई मोहवश अपने प्रिय के मरने पर शोकातुर होकर मर जाये तो मर जाये, वह भी अकेला, यह भी अकेला ही मरा। मिलजुलकर तो कोई नहीं मरता। निगोद जीव ऐसे होते हैं जो अनन्त जीव एक साथ मरते हैं, एक साथ उत्पन्न होते हैं। उनका एक शरीर रहता है औदारिक शरीर और जीव हैं अनन्त। तो अनन्त जीवों का एक शरीर है। एक साथ मरते हैं, एक साथ जन्म लेते हैं। तो कोई यह कहे कि

हम लोग तो मिल-जुलकर नहीं रह सकते, हम लोगों का तो सबका अकेला ही अकेला परिणमन है, निभाव है, मगर निगोद जीवों को देख लो—एक साथ मरते और एक साथ पैदा होते हैं और शरीर भी देखो तो एक तो यह कैसे कहा जा सकता है कि जीव का कोई साथी नहीं है। देखो निगोद में एक जीव के अनन्त जीव साथी हो रहे हैं। भैया! वहां भी साथी किसी का कोई नहीं है। वे एक साथ मरने वाले भी अनन्त जीव अकेले-अकेले ही मरण कर रहे हैं। औदारिक शरीर भले ही एक है। लेकिन तैजस शरीर, कार्माण शरीर सब जीवों के न्यारे-न्यारे हैं। सभी जीव अपने-अपने आयुकर्म के क्षय से ही मरण कर रहे हैं और अपनी ही अपनी आयु के उदय से जीवित होते हैं। वहां भी यह नियम नहीं कि वहीं मरे, वहीं पैदा हो, कहीं चला जाये? यह जीव अकेला ही मरण करता है।

कषाय के अनुरूप कषाय मिलने तक ही प्रेम का रूपक—एक देवरति राजा था, उसे अपनी रक्ता रानी पर बहुत प्रेम था। रक्ता रानी के प्रेम में उसने मंत्रियों के कहने पर सारा राजपाट छोड़कर जंगल में रहना स्वीकार किया। सो वे राजा और रानी किसी जंगल में जाकर एक रात को बस गए, तो राजा तो गया कुछ भोजन सामग्री लेने और यहां खेत पर चरस हांकने वाले किसी लंगड़े कुबड़े किसान का सुरीला गाना सुनकर रक्ता रानी उस पर आसक्त हो गयी और उसके पास जाकर बोली कि आप पर हमारा बड़ा अनुराग हुआ है। आप हमारे संग अब जीवन निर्वाह कीजिए। तो वह किसान बोला—अरे कहां तो तुम रानी और कहां मैं किसान, यदि राजा इस बात को सुनेगा तो वह हमें मरवा देगा। तो रक्ता रानी यह कहकर वहां से लौट आयी कि आप इसकी चिंता न करना। आखिर रक्ता रानी अपनी झोंपड़ी में आयी और उदास होकर बैठ गयी। जब राजा देवरति आया और उसके उदास होने का कारण पूछा तो रक्ता रानी ने बताया कि आज आपका जन्मदिवस है। यदि आप इस अवसर पर महलों में होते तो मैं बड़ा ही अच्छा उत्सव मनाती। तो राजा बोला—तुम यहां ही जैसा चाहे उत्सव मनाओ। आखिर रक्ता रानी जंगलों से बहुत से फूल तोड़कर लायी, एक बड़े मजबूत धागे में बड़ी लम्बी माला बनायी और एक ऊंची पहाड़ी चोटी पर राजा को ले जाकर बैठाया। वहीं राजा को पहले धागे से कसकर बांध दिया, बाद में एक तेजी का धक्का मारा तो राजा लुढ़कता-लुढ़कता नदी में जा गिरा। तो यहां अकेलेपन की बात निहारो कि कोई किसी का साथी नहीं है, जब तक कषाय से कषाय मिलजुल रही है तब तक तो दुनिया का साथ है। जब एक के कषाय से विपरीत कषाय बनी तो वह उसका साथ छोड़ देता है।

अकेले स्वयं को ही दुःखभागी जानकर दुःख साधनों से हटने का विवेक—यह जीव अकेला ही मानसिक दुःख सहता है, अकेला ही मरण करता है, अकेला ही नारकी दुःख सहता है। नरक में जन्म लेने के बाद वह नारकी विचारता है कि जिस कुटुम्ब के कारण जिन जिनके लिए मैंने पाप किया था अब उनमें से कोई भी यहां साथी नहीं नजर आता। सारा दुःख अकेले वह सहन करता है। क्षण मात्र को भी चैन नहीं, ऐसे नरक दुःखों को भी यह जीव अकेला ही सहता है। ऐसा है यह अपने आपका स्वरूप, ऐसा समझकर धर्म की ओर कुछ विशेष उपयोग करना चाहिए और यह बात तब ही बन सकती है जब कि हमारा व्यवहार भी सुलझा हुआ हो। जहां कुछ अन्याय हो, बेइमानी हो, छल-कपट पूर्ण व्यवहार हो तो ऐसी वृत्ति से संसार के बंधनों में कमी नहीं हो पाती। अपनी वृत्ति सरल रहे, सामान्य रहे, उदयानुसार जो कुछ होता है उसी में तृप्त रहें। भक्ष्य अभक्ष्य का विवेक रखें। जिन चीजों के खाने से त्रस जीवों का घात होता है और अनन्त स्थावरों का

घात होता है उन चीजों के खाये बिना जीवन न चलेगा क्या? अरे भक्ष्य पदार्थों के खाने से ही जीवन चलता है, बल्कि उन अभक्ष्य पदार्थों के सेवन से स्वास्थ्य भी बिगड़ता है। सामान्य बातों में भी जो धर्म के लिए व्यावहारिक है। प्रमाद करते हों तो हम आत्कल्याण में क्या गति कर सकते हैं? रात्रि भोजन एक अभक्ष्य भोजन है और मांस भक्षण के समान दोष वाला भोजन है। लेकिन इतनी कमजोरी रखे कोई कि अजी मेरी नहीं चलती। क्यों नहीं चलती? दिन में एक बार भी क्या उन्हें खाना नहीं मिलता। कभी ऐसा भी हो कि दिन में एक बार ही खाना मिल पाता है, शाम को खाने का मौका नहीं मिलता है तो एक बार का भी भोजन जीवन में बहुत उत्तम रहता है। उसे बीमारी के प्रसंग भी बहुत कम हो सकेंगे। कुछ इसका भी साहस रखना चाहिये, अरे दिन में दो-तीन बार भोजन का योग सबके लगा हुआ है, एक आदत की ऐसी बात है कि लोग रात्रि को खाते हैं। यह एक कितने दोष वाली बात है। तो हम आप जो कोई सामान्य नियम भी नहीं पाल सकते। प्रभु का जो उपदेश है उस पर रंच भी चलना नहीं चाहते और प्रभु का गुणगान खूब करें तो यह तो वैसी ही बात है जैसे एक कहावत है कि आपकी बात तो सिर माथे मगर पनाला यहीं से निकलेगा। प्रभु से तो हम आप खूब कहते हैं कि हे प्रभो! तुम धन्य हो मुझे तार देना और प्रभु का जो उपदेश है कि अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करो, नियम संयम से रहो, तत्त्व चिन्तन करो, ज्ञानार्जन करो, तो हे प्रभु यह कुछ न होगा, पनाला तो यहीं से निकलेगा। रति तो विषय कषायों से ही रहेगी। यदि ऐसी बात है तो बतलाओ प्रभु की भक्ति कहां की? अरे धर्म कर्त्तव्य जो कर सकें सो करें, जो नहीं कर सकते उसका खेद मानें। प्रभु की आज्ञा नहीं पाल सक रहे हों तो उसका खेद मानें। अनेक पुरुष तो इन बातों का मखोल उड़ाते हैं, अजी हम तो ढोंगी नहीं हैं, हमारा तो रात का भी खाना-पीना चलता है। और एक शान सी समझते हैं तो बतलाओ कि उनकी क्या गति होगी जिनको प्रभु शासन श्रद्धा नहीं है। इस प्रभु शासन का कोई बदला नहीं चुका सकता। जिस भव्य जीव को अपने आपके स्वरूप की झलक हुई है अनुशासन में रहकर वही पुरुष समझ सकता है कि मेरा सर्वस्व तो यही है अन्य कुछ नहीं है।

स्वाधीन स्ववैभव की परख करने व अनधिकृत वस्तु पर अधिकार न जमाने में भलाई–अपने आपके एकत्व स्वरूप को निहारें और आनन्दमय हो। आनन्द अन्यत्र न मिलेगा। कितनी ही उपाधियां आयी हों, कितनी ही उलझनें आयी हों, उनको एक ज्ञान प्रकाश से तुरन्त सुलझा देंगे और सुलझाना भी क्या, यथार्थ समझ जाना है सही, ऐसा होता है होने दो, हम तो उसके ज्ञातादृष्टा हैं। मेरा काम एक जाननहार, देखनहार रह सकने से तो हो सकता है। ब्रह्मपर्याय में, किन्तु कुछ सुधार-बिगाड़ अनुकूल प्रतिकूल बना देने का नहीं हो सकता। अनाधिकृत बात पर अधिकार जमाना यही क्लेश है, जो अनाधिकृत बात है, हमारे आधीन नहीं है उस पर अपना अधिकार रखना यह अपनी अशान्ति के लिए है, यहां दूसरे के घर पर कोई अधिकार जमाने चले तो क्या उस पर डंडे न लगेंगे? वह अपना अधिकार नहीं जमा सकता। ऐसे ही समझिये कि यहां घर पर अधिकार जमाना चाहते हैं। जिस घर में रहते हैं वह पर घर है, जिस कुटुम्ब में रहते वह पर है, जिस ढंग में रहते वह पर है, उसमें हम जब विकल्प लगाते, अधिकार जमाना चाहते, कुछ परिणमन कराना चाहते तो यह अनधिकृत बात पर अधिकार जमाने की बात नहीं है क्या? इसमें शान्ति का मार्ग न मिलेगा। ज्ञातादृष्टा रहने में ही शान्ति का लाभ हो सकता है।

लौकिक जनों में परिचय इज्जत आदि का भ्रम–अहो, यहां मेरा पहचानने वाला कोई है भी तो नहीं।

मैं हूं भीतर एक ज्ञान स्वरूप ज्ञानमात्र, सब सोचिये अपने-अपने में। मैं ज्ञानस्वरूप ज्ञानमात्र आकाशवत् अमूर्त निर्लेप बन्धन में न आ सकने वाला हूं। जब मैं देह को छोड़कर जाता हूं तो चाहे बड़ा कितना हो, खूब बन्द मकान हो, सारा कुटुम्ब खूब घेर लेवे कि हम तो न जाने देंगे तो भी किसी का वश चलता है क्या? ऐसा यह मैं एक अमूर्त आत्मा हूं। उसे निरखकर मेरे से कौन व्यवहार करता है? यहां तो माया की माया से पहचान हो रही है। माया ही माया से बोलचाल कर रही है, ये सब मूर्तियां भव मूर्तियां हैं, ये संसार की मूर्तियां है। वे भवमूर्ति भवमूर्ति से व्यवहार कर रही हैं। मेरा न कोई सम्मान कर सकता, न कोई अपमान कर सकता, न कोई मुझे सुख दे सकता, न दुःख दे सकता। यहां तो मैं सबसे निराला अकेला ही हूं, यहां जिस शरीर को देख-देख कर लोग रीझ जाते हैं वह शरीर मायारूप है, अपने शरीर को देखकर रीझते हैं, दर्पण में मुख देखे बिना रहा नहीं जाता, जब चाहे देख लिया और जब चाहे तेल लगाकर कंघी ओंछकर मुख पर खूब हाथ घसीटकर अपने को देखते हैं कि मैं कैसा ठीक बन गया हूं, देखकर खुश हो जाते है, मुस्कान भी आ जाती। अरे ये सब कितनी बेहूदी बातें की जा रही हैं। कौन तो यह और किसको देखकर रीझ रहे। दूसरे के शरीर को देखकर रीझते हैं तब का बेहूदापन देखो—कितना अपने आपको कायर बना डालते, आधीन बना देते। यह कितनी बेहूदी बात है कि यह सहज परमात्मतत्व, जिसका स्वरूप सिद्ध समान है, प्रभुवत् है और वह कैसा विडम्बना में पड़ जाता है? तो यहां तो सब माया की माया से पहचान हो रही है। जिसका लोग सम्मान करते हैं वह मैं नहीं हूं। जिसको लोग समझते हैं वह मैं नहीं हूं, ऐसे अपने अलौकिक स्वरूप में अपनी दृष्टि जाये बस समझिये वह तो संसार संकटों से पार हो गया।

संकटमोचक ज्ञान स्वभाव की दृष्टि में आत्मलाभ—संकटमोचक ज्ञानस्वभाव की दृष्टि पानी है कितनी कीमत चुकाकर? अरे तन, मन, धन, वचन सबकुछ न्यौछावर करके भी अपने आत्मा के ही स्वरूप दर्शन की बात पानी है। कुछ न रहो, केवल एक स्वरूप दर्शन हो तो समझिये कि मुझे सबकुछ वैभव मिल गया। मैं स्वरूप में एक हूं, मेरा स्वरूप किला बहुत दृढ़ है। इसमें किसी दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता। यह मैं हूं, दूसरी चीजों को दिल में बसा-बसा कर बोझ वाला बन रहा हूं। यह स्वयं निर्भर है, वह एक ज्ञान ज्योतिस्वरूप है। उसमें बोझ नहीं है। विकल्पों का बोझ हमने अज्ञान से स्वयं लादा है। जब कभी प्रेमवश किसी की इसके अनुसार हम उलझन में आ जाते हैं, चिन्ता में आ जाते हैं तो उस चिन्ता के मेटने का जरा सा ही तो उपाय है। उस मोह को छोड़ दिया जाये बस सारी चिन्तायें दूर हो जायेंगी। मोह छोड़ने के मायने है। सत्य ज्ञानप्रकाश कर लें। सच्ची बात जानने में कसूर है क्या? सच्ची बात जानने में कुछ मेहनत हो रही है क्या? कोई अड़चन है क्या? सच्ची बात जानने की तो भीतर में प्रकृति पड़ी हुई है। असत्य को देखकर हम राजी होते हैं सत्य समझकर। जो यथार्थतः सत्य का निर्णय करना है यही मोह का त्याग है। मैं, मैं हूं, पर पर है, मेरा किसी पर से कोई लगाव नहीं है। मैं अपने में उत्पाद व्यय किये चला जा रहा हूं। ऐसा यह मैं एक हूं, ऐसे अपने एकत्व स्वरूप को निरखना यही है आत्मकल्याण का विफल न हो सकने वाला एकमात्र साधन। उस एकपने को मैं निहारूं और सर्वसंकटों से मुक्त होऊं।

इक्को संचदि पुण्णं एक्को भुंजेदि विविह-सुर सोक्खं।
इक्को खवेदि कम्मं इक्को वि य पावए मोक्खं।।७६।।

पुण्य संचय व सुखोपभोग में भी अन्य सहयोगिता का अभाव—यह जीव सर्वत्र अकेला है, ऐसे

निरीक्षण से ही एक जीव को शान्ति मिल सकती है। अज्ञानी जीव तो मैं अकेला रह गया ऐसा सोचकर दुःखी रहता हैं। और ज्ञानी जीव जब एकत्व स्वरूप को निहारता है कि यह मैं अमूर्त ज्ञानमात्र इतना ही हूं, मेरा सत्व मेरे में ही है, मेरा उत्पाद व्यय ध्रौव्य मेरे में ही है, मुझसे बाहर मेरा कहीं कुछ नहीं है। इस विचार से ममता का नाश है। इस कारण ज्ञानी को बड़ी तृप्ति और शान्ति मिलती है। अज्ञानी जीव तो अकेला रह जाने पर समझता है कि अब तो मेरा कोई सहयोगी न रहा, मैं अब कैसे सुखी हो सकूंगा, सभी काम जीव में अकेले में ही चल रहे हैं। जब यह जीव शुभ परिणामों से परिणमता है तब भी अकेला ही परिणमता है, कितने ही मित्रजन हों, यह जीव दूसरे का शुभ परिणाम बना नहीं सकता। दूसरे की भलाई करने का भाव हो तो यह भलाई नहीं कर सकता। भलाई होती है शुद्ध परिणामों से व कोई किसी को शुद्ध परिणामों के देने में समर्थ नहीं है। सबको अपने आपके बल पर खड़ा होना होगा। किसी की आशा करना व्यर्थ है। शान्तिकाल में कोई दूसरा सहायक नहीं होता। यह जीव जब शुभ परिणाम करके पुण्य का संचय करता है तो अकेला ही करता है। घर में अनेक कुटुम्बीजन हैं किन्तु सभी के परिणाम सभी के पुण्य पाप कर्म भिन्न-भिन्न हैं, कोई एक जीव किसी दूसरे जीव में पुण्य कर्म अथवा पाप कर्म उत्पन्न नहीं कर सकता। यह जीव अकेला ही उनका बंध करता है।

अन्याय के फलोपभोग में अन्य सहयोगिता का अभाव–परिवार का कोई व्यक्ति अन्याय से धन संचय करे और उससे अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण करे तो लोग तो कहते हैं कि यह अन्याय से धन कमाता है पर इसको घर के सभी लोग खाने-पीने पहनने-ओढ़ने आदि के काम में लेंगे इस कारण घर के सभी लोग पाप के अधिकारी होंगे। लेकिन सिद्धान्त यह कहता है कि घर के वे सभी व्यक्ति जिन्हें यही नहीं पता कि किस तरह से कमाई की जाती है न्याय से अथवा अन्याय से तो उनको पाप का बंध नहीं है। हां, उन्हें यदि विदित हो जाये कि यह अन्याय से धन कमाकर लाता है और हम लोग उसका भोग करते हैं तो फिर उन्हें भी पाप का बंध होगा। लेकिन जो अन्याय से धन कमाता है उसके तो हर हालत में पाप का बंध होगा। उसके बंध को कोई दूसरा बांट नहीं सकता। यह जीव अकेला ही शुभ परिणाम करता है और अकेला ही अशुभ परिणाम करता है। उन परिणामों के फल में, (पुण्य अथवा पाप परिणाम के फल में) यह जीव नाना प्रकार के देहों को धारण करता है अथवा दुःख भोगता है।

सुर सुख में भी शान्ति का अभाव–देव गति के सुखों को अज्ञानी जीव बड़ा उत्तम मानते हैं। भले ही उनका वैक्रियक शरीर है, उनके शरीर में हाड़, मांस, खून आदि का काम नहीं, हजारों वर्षों में भूख लगती अनेक पखवारों में श्वास लेते, उनका सुन्दर सुडौल शरीर, आयु से पहले उनका मरण भी नहीं होता, किसी प्रकार का कोई बाहरी दुःख नहीं है, कभी कोई रोग नहीं होता, शरीर सदा चंगा रहता है। बचपन का भी दुःख देवों को नहीं भोगना पड़ता, क्योंकि अन्तमुहूर्त के बाद ही उनका शरीर जवान हो जाता है तो कितने सुख हैं देवगति में? उनमें अज्ञानी जीव खुश होते हैं, लेकिन अन्तः तो देखो, इन सुखों के लोभ में रहने वाले को–देव अपने आत्म के स्वरूप की सुध नहीं रख रहे हैं। बाह्य सामग्रियां भले ही उन्हें प्राप्त हैं, पर उन्हें सन्तोष नहीं होता। यहां भी तो अनेक मनुष्य ऐसे नजर आते हैं कि जो शरीर से भी स्वस्थ हैं, वैभव सम्पदा भी मनमानी आ रही है, बड़े-बड़े मित्रजन भी बड़ी प्रशंसा करते हैं, सब प्रकार की सेवायें करने के लिये हाजिर रहते हैं, स्त्री पुत्रादिक भी बड़े आज्ञाकारी हैं, फिर भी उनको शान्ति का लाभ नहीं है। सुख के साथ शान्ति का सम्बन्ध नहीं

है, शान्ति का सम्बन्ध तो निर्मोहता के साथ है। सांसारिक सुख बड़े मिल रहे हों तो उससे शान्ति का नियम नहीं बनता, किन्तु निर्मोहता है, वीतरागता है, तो वहां शान्ति अवश्य है, नियम से है। तो देवों का वह सुख जिस सुख को सुनकर अज्ञानी जीव ललचाते हैं वह सुख भी वास्तव में दुःख है। अज्ञानी जीव अपनी बुद्धि माफिक धर्म करेंगे। तो इस भाव से करेंगे कि मुझे अच्छी गति मिले, अच्छे सुख साधन मिलें। पर ज्ञानी पुरुष तो इस भाव से धर्म करते कि मैं ऐसी चीज पाऊं, ऐसा कोई उपाय पाऊं कि भवरहित हो जाऊं। मुझे जन्म-मरण से छुटकारा प्राप्त हो। केवल सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप जैसा हूं तैसा ही रह जाऊं तो अपने को यह निर्णय करना होगा कि यह जीव सुखी हो अथवा दुःखी हो अथवा संसार में भटके अथवा मुक्त हो, सबकुछ उसको अकेले को ही होगा।

अकेले ही कर्मक्षय की साधना की शक्यता—कर्मों का क्षय भी यह जीव अकेला ही करता है। अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव—ये पांचों भाई जब कौरवों पर विजय प्राप्त कर चुके और संसार को असार जानकर विरक्त होकर निर्ग्रन्थ मुनि बने तब कौरव वंश में जो उनके कुछ रिश्तेदार लोग बचे थे उन्होंने उन पांचों पांडवों पर उपसर्ग ढाने का निर्णय किया। आखिर अग्नि से खूब तप्त किए हुए लोहे के आभूषण उन पांचों पाण्डवों को पहनाये। गले में खूब तप्त लोहे का आभूषण डाल दिया और कहा—लो यह हार है। हाथों में संतप्त लोहे का कड़ा डाल दिया गया और कहा—लो ये तुम्हारे कड़े हैं। इस तरह से शरीर के सारे अंगों में अग्नि से खूब तप्त आभूषण कौरवों ने पहनाये, पर धन्य है उन आत्माओं को जिन्हें अपने सहज स्वभाव का दर्शन हुआ। वे पांचों पांडव अपने ज्ञानभाव में मग्न थे, अपने सहज स्वभाव के आनन्द में विभोर थे। ऐसे परम आत्मा किसके वंदनीय नहीं होते? लेकिन उन कौरवों ने उन पर उपद्रव जारी ही रखा। वे सभी पांडव तो सम्यग्दृष्टि थे, अपने ध्यान में रत थे। उस प्रसंग में नकुल और सहदेव को अपनी तो कुछ परवाह न थी, अपने लिए तो कुछ दुःख न माना, लेकिन अपने तीन बड़े भाइयों पर उस तरह का उपसर्ग आता हुआ देखकर खेद करने लगे कि देखो कैसा मेरा निरपराध भाइयों पर उपसर्ग ढाया जा रहा है। लो थोड़ा सा इतना ध्यान भर हो जाने से उन दोनों भाइयों का (नकुल और सहदेव का) मोक्ष रुक गया, वे सर्वार्थसिद्धि में गए और वे तीनों पांडव (अर्जुन, भीम और युधिष्ठिर) मोक्ष सिधारें। तो यहां देखिये—परिणाम सबके अलग-अलग होते हैं। जिसका जैसा परिणाम है उसको वैसी दशा प्राप्त होती है।

अपनी परख करके विश्राम पाने का अनुरोध—यहां कोई किसी का सहायक नहीं है, यहां सभी जीव अकेले-अकेले हैं, फिर भी लोग एक-दूसरे के पीछे अनेक प्रकार की चिन्तायें करके अनेक प्रकार के विकल्प करके इस दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ ही खो रहे हैं। कुछ तो अपना निर्णय करना चाहिए, कुछ अपनी अन्तः परख तो करनी चाहिए। जैसे किसी ने किसी बच्चे को बहका दिया कि देख तेरा कान तो कौवा ले गया, वह बच्चा उड़ते हुए कौवे के पीछे रोता हुआ दौड़ लगाता है। किसी ने पूछा—भाई क्यों रोता है, तो वह कहता है—अरे बोलो मत, मेरा कान कौवा ले गया। अरे जरा टटोलकर देख तो सही कहां तेरा कान कौवा ले गया? उसे कुछ विश्वास हुआ, टटोलकर देखा तो उसका कान उसके पास ही था तो इसी तरह से लोगों ने एक-दूसरे को बहका रखा है कि तुम्हें सुख इन बाह्य पदार्थों से मिलेगा, इस कारण ये जीव बाह्य पदार्थों के पीछे सुख की आशा लेकर दौड़ लगा रहे हैं। ज्ञानी पुरुष समझते हैं कि अरे भाई देख तो सही, तू तो स्वयं ज्ञानानन्द मात्र है? कहां तेरा सुख इन बाह्य पदार्थों में गया? ज्ञानी पुरुषों की बात का विश्वास करके कोई जीव देखता है तो

उसे पता लगता है ओह! सचमुच मेरा सुख तो मेरे में ही विद्यमान है। इन बाह्य पदार्थों में मेरा सुख नहीं गया। तो जरा सोचो तो सही इन पर पदार्थों से तुम्हारा कुछ भी सम्बन्ध है क्या? तुम तो ज्ञान मात्र एक अमूर्त आत्मा हो, जिन परिजनों को अपना समझकर उनके प्रति बड़ा लगाव किया जा रहा है वे भी उतने ही जुदे हैं जितने कि अन्य लोग, जिन्हें कि आप गैर समझते हैं। सभी जीव जुदे-जुदे हैं ऐसा समझकर अब कुछ तो विराम लेना चाहिए। जिन-जिन चीजों से यहां अपना लगाव रखा है उन सभी को छोड़ना होगा।

अध्रुव संग के परिहार में ही सत्य विश्राम का लाभ–कोई यह मत समझे कि मैंने बहुत दिनों में यह चीज बनाई, घर बनाया, यह सम्पदा बनाया, अथवा गांव में, बाहर में सब जगह ऐसी इज्जत बनायी, ये सब कैसे छोड़े जा सकते हैं। पर भाई कितना ही श्रम करके ये सब कुछ बनाया हो, पर ये सब चीजें छोड़नी होंगी। जो चीज मिथ्या है उसको तो क्षण मात्र में ही छोड़ देना चाहिए। यों तो कोई सोचने लगे कि अनादि काल से मैंने मिथ्यात्व को बसाया, बढ़ाया, अब इसे कैसे छोड़ें, तो क्या यह कोई विवेक है? अरे अनादिकाल से मिथ्यात्व बसाये हुए हैं तो वह तो हमारे अहित के लिए ही है। ऐसा समझकर इस मिथ्यात्व भाव को छोड़ देना चाहिए। मैं सर्वत्र एक हूं, अकेला हूं। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय इच्छाओं में हम रमते हैं, उनमें हम विश्वास बनाये हुए हैं, वे भी हमारे साथ रहने वाले नहीं हैं। वे उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। उनको हम अपनाते हैं, वे विदा हो जाते है, और उन्हीं के समान और और रागभाव आते हैं, हम उन्हें अपनाते हैं, भ्रम करते हैं। यही तो हमारा प्रेम है जो पहले था। अरे समस्त राग पर्यायें, समस्त विभाव भाव दूसरे क्षण नहीं ठहरते पर अज्ञानी जन विश्वास करते हैं उन विभावों में कि ये मेरे साथी हैं, ये वे ही तो हैं जो पहले थे। कैसा भ्रम है? लो तब विभाव भी हमारे साथ नहीं रह पाते, आपत्ति यह है कि विभावों की परम्परा उन विभावों के लगाव से ही बन रही है। तो जब रागादिक भी हमारे बनकर नहीं रह सकते, उदय में आये दूसरे क्षण निकल गए। मेरे में होने वाले मेरे ही परिणमन जब मेरे बनकर नहीं रह सकते तो अन्य का विश्वास क्या कि वे मेरे कुछ बन सकेंगे। अपने आपके एकत्व स्वरूप का भान हो तो जीव को शान्ति का मार्ग मिल सकता है।

निर्विकल्प निःसंकट आत्म स्वभाव के अवलम्बन से विकल्प संकटों का अभाव–इस जीव पर साक्षात् विपदा है तो विभाव विकल्पों के मंडराने की है। जीव है ज्ञान स्वभाव, उसमें क्लेश का नाम नहीं। स्वरूप को देखो तो वहां क्लेश विकार कुछ नहीं पड़ा हुआ है, पर योग है, बन रहा है निमित्तनैमित्तिक भाव अपने आप में उस प्रकार का परिणमन ये सारी चीजें चल रही हैं। तो स्थिति आज कुछ विचित्र है, क्लेशमय है, लेकिन इन सब क्लेश के कारणों का क्षय करने में समर्थ शुद्ध दृष्टि है। हमको संकटों से छूटना है, पर संकट मेरे स्वभाव में नहीं है।–इस तरह का निर्णय न हो तो संकट छूटने का उपाय क्या बनेगा? जैसे चौकी पर कूड़ा पड़ा है या चिड़िया की बीट पड़ी है या चूना पालिश आदिक की छींट भी पड़ी है, अब जो चाहता है कि मैं इस चौकी को शुद्ध कर दूं, साफ कर दूं तो पहले उसके चित्त में यह श्रद्धा बैठी है ना कि चौकी को अपने में अकेली वैसी ही है जैसी कि मैं बना दूंगा। इस समय जो छींट पड़ी है, बीट, कूड़ा आदि पड़े हैं उनसे अलग है यह चौकी। तभी तो वह पानी से घसीटकर उसे साफ करता है और साफ पा लेता है। तो मुझे होना है संकटों से न्यारा। संकट क्या है? यह शरीर मिलता है, इसमें राग द्वेष विषय कषाय भाव उत्पन्न होते हैं, यही संकट है। इन समस्त संकटों से छूटना है तो पहले यह श्रद्धा करना आवश्यक होगा कि इन संकटों से रहित

रहना तो मेरा स्वभाव ही है तभी ये दूर हो सकते हैं। राग-द्वेष का यदि मुझमें स्वभाव पड़ा हो तो किसी भी उपाय से दूर नहीं किये जा सकते। अविकार विभक्त शुद्ध सहज स्वरूप की दृष्टि करनी होगी। तब जाकर शान्ति मिल सकती है, तभी समस्त कर्म टल सकते हैं।

मोक्षमार्ग व मोक्ष की एक में उसी एक के द्वारा साधना–जिस जीव ने सम्यकत्व का लाभ लिया, यथार्थ स्वरूप का बोध किया उस ही सहज स्वच्छ ज्ञानानन्द स्वरूप में मग्न होने का ही जिसका पुरुषार्थ बना, वह कर्मों का क्षय करता है। वह अकेला ही कर्मों का क्षय करता है। दूसरे के साथ नहीं, दूसरों का कर्म क्षय कराता हुआ नहीं। जैसे यहां जिससे प्रीति है वे साथ-साथ खाते हैं, सुख साथ-साथ भोगें, हम सुखी होंगे तो तुमको सुखी करते हुए होंगे, हमारा तुमसे अधिक प्रेम है। हम अकेले सुखी हो लें, तुम दुःखी रहो ऐसा हम न करेंगे, हम तुमको सुख दिलायेंगे, हम भी सुखी होगे, सब इस तरह एक साथ हिल-मिलकर रहेंगे और ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, हर बात में साथ रहते हैं और कुछ करते हैं ऐसा कि हां इनको भी खिला रहा, सुखी कर रहा, मन माफिक काम बना रहा। यह भी कल्पनाभर की बात है, परिस्थितियां देखो तो इस व्यवहार प्रसंग में भी सब अकेले ही अपने आपमें अपने भावों से केवल अपने सुख से सुखी हो रहे हैं ये सब, न अपना सुख किसी दूसरे को दे पाते हैं, न दूसरे का सुख स्वयं ले पाते हैं, सो यहां भी यह बर्ताव चल रहा है। तो यह जीव अकेला ही कर्मबन्ध करता, कर्मक्षय करता और अकेला ही मोक्ष को प्राप्त करता है। सीता जी का जीव (सोलहवें स्वर्ग का प्रतीन्द्र) उसने अवधि ज्ञान से जाना कि मेरे पूर्व भव के पति श्री रामचन्द्र जी इस समय निर्ग्रन्थ अवस्था में अध्यात्म साधना में लगे हुए हैं। बड़ी प्रीति थी उस जीव से। जिस जीव को किसी भव में अत्यन्त अधिक प्रीति होती है प्रायः दूसरे भव में भी उसका लगाव रहता है। तो उस जीव ने सोचा कि यह तो बड़ा गजब हो जायेगा। ये तो मुक्त हो जायेंगे, फिर कभी इनसे मिलना न बन सकेगा। सो उस सीता के जीव ने अपना ऐसा परिणाम बनाया कि ऐसी बाधा डालें कि अभी श्री राम जी को निर्वाण न हो, अभी कुछ दिन संसार में रहें और बाद में हम दोनों एक साथ निर्वाण प्राप्त करेंगे। साथ कैसे निर्वाण प्राप्त हो, किस ढंग में हो, यह किसी के हाथ की बात नहीं, किन्तु आया वह जीव, राम की साधना में विघ्न डालने का यत्न किया, बड़े हाव-भाव दिखाये, अपना सुन्दर रूप बनाकर मोहित करने का प्रयत्न किया और यह भी दृश्य दिखाया कि रावण सीता के केश खींच रहा है और सीता हा राम हा राम कहकर पुकार रही है, इसलिए कि श्रीराम जी अपनी साधना से डिग जायें, हमारी रक्षा करने आयें, सभी संसार में ही बने रहें, बाद में हम दोनों एक साथ मोक्ष जायेंगे। यह सब एक कल्पना की बात थी। श्री राम उस उपसर्ग के काल में और भी दृढ़ हुए, निर्वाण को प्राप्त हुए। तो सबका मोक्ष अपने अकेले से ही होता है, दूसरा उसमें कुछ नहीं कर सकता।

वस्तु स्वरूप की निश्चलता–भैया! वस्तुस्वरूप के सामने बड़े-बड़े बलवन्तों ने, पुण्यवंतों ने भी अपने घुटने टेक दिये। सभी जीव अपने आपके स्वरूप में अकेले हैं और अकेले ही वे अपना निर्माण करते चले जाते हैं। हमें अपने बारे में इस ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा के बारे में बहुत अधिक चिन्तन करना चाहिए। जिस चिन्तन में लग रहे हैं मोही, स्वप्नवत् असार है। बाहरी बातें, लोगों का समुदाय, लोगों के वातावरण का प्रभाव आदिक जो कुछ भी बन रहे हैं, ये ख्याल चल रहे हैं, वे सब एकदम पूर्ण असार हैं। रह गया यह कि अवस्था है गृहस्थी की, वे सब करने होते हैं तो ठीक है, लगें पर में करने के साथ किन्तु आत्मा की सुध भी तो निरन्तर रहे, तब तो उसका ठीक एक मेल सा बन जायेगा कि हानि न होगी। लोक व्यवहार के कामों में यदि हम ऐसा

मान लें कि ऐसा किए बिना तो हमारा गुजारा ही नहीं, ये तो हमें करने ही पड़ेंगे, वहां हम यह हठ बनायें और अपने आपकी ओर से आंखें मींच रहे तो उसमें तो भलाई नहीं है। चाहिए तो यह कि जितना चिन्तन बाहरी बातों का चलता है इतना ही सही यदि अपने आपका चिन्तन चले तो उससे इस आत्मा का हित होगा। यदि अपने आत्मा की सुध को छोड़ दें, उसे एक मनोविनोद का ही काम समझें और बाहरी प्रसंगों को अपना मुख्य काम समझें तो यह तो इस जीव के लिये अहित बात है। अपने आपको एकत्व स्वरूप जानकर अपने आपके सहज स्वरूप में मग्न होना यह अपना कर्त्तव्य है। मैं पर से विभक्त हूं, अपने स्वरूप में स्वरूप मात्र हूं, यह अनुभूति चाहिए। मैं देह से भी निराला केवल ज्ञानमात्र हूं। इन दो दृष्टियों में अपना इष्ट सबकुछ आ गया। मैं देह से भी निराला हूं, ऐसा बोलने के साथ ही अन्तरङ्ग में भावों का ऐसा पुरुषार्थ करिये कि मैं तो इस देह से भी निराला केवल ज्ञानमात्र हूं, मैं यह शरीर नहीं हूं, ज्ञान ही मेरा शरीर है, ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, ज्ञान के अतिरिक्त मेरे में अन्य कुछ स्वभाव नहीं नजर आये तो यों एक प्रकाशमात्र ज्ञान में एक रस हो जाये।

एकत्व भावना का फल–जब ज्ञान, ज्ञान के स्वरूप को जानने में रहता है तब ज्ञान में और कुछ तो नहीं बसा, केवल ज्ञान स्वरूप बसा है उस समय ज्ञान ज्ञाता बन रहा है और ज्ञान ही ज्ञेय बन रहा है वहां विकल्प नहीं रहता, वहां सहज आनन्द प्रकट होता है। यही स्थिति पानी है। तत्व जानकर धर्म के लिए बड़े-बड़े पुरुषार्थ करके यह समझना है कि मैं ज्ञानमात्र हूं। जिसको इसकी ओर दृढ़ता से निर्णय है वह लोगों की दृष्टि में भले ही पागल जंचे लेकिन यह तो अपने में परमात्मास्वरूप को बढ़ा रहा है। अपनी भलाई मात्र अपने में ही है। अपने आपमें निर्विकल्प होकर मग्न हो रहा, यह बात तत्वाभ्यास से ही बन सकती है। इसलिए ज्ञानार्जन के लिए हमारा जितना अधिक प्रयत्न हो समझिये कि हम अपने जीवन को सफल करने का साधन बनाये हुए हैं। अपना भी अनुभव करना, देह से भी निराला ज्ञान मात्र हूं, जब बाहर में प्रत्येक अणु अपने आपमें ही परिणमता है, अपने में ही विलीन होता है, समझ रहे हैं कि कभी भी कोई भी अणु किसी दूसरे के साथ नहीं परिणमता, दूसरे को नहीं परिणमाता, यही बात तो प्रत्येक पदार्थ में है। अनुभव भी कर रहा हूं, मैं सर्वत्र अकेला ही सुखी दुःखी होता हूं। तो जब कोई मेरा सहाय नहीं, कोई मेरा सम्बन्ध नहीं तो फिर मैं अपने आपके ही द्वारा अपना कल्याण करूं। एकत्व भावना भाने का यही फल है कि हम अपने इस एक ज्ञान स्वरूप में प्रसन्न रहें, तृप्त रहें और स्वाधीन आनन्द का ही भाव बनाये रहें। मुझे पराधीन सुख न चाहिए। मैं स्वयं आनन्दमय हूं, तो मैं अपने आप में आनन्दमय बना रहूं, ऐसा बनने का जो पुरुषार्थ है वह धर्म है। वह मिलता है अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करने पर। जैसे कि लोग सोचते हैं कि मैं अमुक जाति कुल का, अमुक परिवार वाला हूं, तो ये सब बाहरी बातें हैं। ऐसी बातों को सोचने वाले व्यक्ति कभी यह नहीं निहार सकते कि मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, यही था, यही हूं, यही रहूंगा। पर जो मेरा है मेरे साथ जाता है व जो मेरा नहीं वह यहीं छूट जाता है। मेरे साथ जो सदा शाश्वत रहता है वह मेरा है और जो औपाधिक बातें हैं वे मेरी नहीं हैं, ऐसे समस्त पर से विभक्त अपने आपके स्वरूप को निहारने में ही शान्ति प्राप्त हो सकती है।

सुयणो पिच्छंतो वि हु ण दुक्ख-लेस पि सक्कदे गहिदुं।
एवं जाणंतो वि हु तो वि ममत्तं ण छंडेई।।७७।।

किसी भी स्वजन में अपने दुःख के लेश को भी ग्रहण करने की समर्थता का अभाव–जब कोई क्लेश होता है तो अपने स्वजन कुटुम्बी पुरुष भी देख रहे हैं तब भी रंच मात्र दुःख को ग्रहण करने के लिए

कोई समर्थ नहीं है। किन्तु ऐसा जानकर भी यह जीव ममत्व को नहीं त्यागता। जिनके लिए सर्व यत्न करते हैं अहर्निश जिनके पीछे विकल्प ही बनाये रहते हैं, जिनके खिलाफ कुछ भी बात सुनने को भी तैयार नहीं हैं, वे चाहे कितना ही स्त्री पुत्रादिक प्रतिकूल हों, फिर भी यह जीव ममता को नहीं छोड़ता और उनके पीछे निरन्तर दुःखी होता रहता है। प्रथम तो यह बात है कि इस जीव ने क्लेश लगाया है अपने मन में, बाहर में कहीं कुछ क्लेश नहीं है। किसी पर के बारे में विकल्प करना और दुःखी होना सिवाय इस रोजगार के भीतर में और कुछ व्यापार नहीं चल रहा। सोचना, दुःखी होना भाव के द्वारा भाव का ही व्यापार चल रहा है, इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं रहा। बाह्य में दुःख है ही नहीं, लेकिन जिन बाह्य पुरुषों के सम्बन्ध में विकल्प बनाकर ये गृहस्थ दुःखी होते हैं, शल्य बनाते हैं वे लोग देखते रहे जायेंगे, पर न दुःख से बचाने में समर्थ हैं न मृत्यु को रोकने में समर्थ हैं चाहे माता, पिता, भाई, पुत्र आदि कोई भी अपने परिजन अथवा मित्रजन हों।

खुद में खुद के लिये परिणमन का वस्तुस्वरूप–वस्तुस्वरूप ही यह है कि पर से पर का कुछ होता नहीं है। किसी को खुदगर्ज भी क्यों कहें? लोग खुदगर्ज कहकर दूसरे पर झुंझला जाते हैं, सब गर्ज के साथी हैं। अरे यह तो वस्तु का स्वरूप है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही प्रयोजन के लिए अपना परिणमन करते हैं, ये पुद्गल भी परिणमन करते हैं तो बताओ किसलिए परिणमन करते हैं? जैसे यह घड़ी चलती है तो क्या लोगों को सम्बोधने के लिए चलती है? यह तो कवि लोग अलंकार में कहते हैं। इसमें ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि यों परिणमन होता है पर प्रत्येक पुर्जे में, प्रत्येक पदार्थ में जो भी परिणमन होता है उसका प्रयोजन है यह कि उसकी सत्ता कायम रहे। चूंकि परिणम बिना पदार्थ की सत्ता नहीं रह सकती। तो परिणमन का प्रयोजन है उसमें अस्तित्व बना रहता है। कुछ भी पदार्थ कैसे ही परिण में, उनका प्रयोजन यही है कि उनकी सत्ता बनी रहे। इसके आगे उनका और कोई प्रयोजन नहीं। मेरे लिए कोई पदार्थ कैसा ही बन रहा हो तो वह बन रहा है अपना स्वरूप अस्तित्व कायम रखने के लिए। यह जीव तो मोह वाले पदार्थों को निरखकर कल्पनायें करके इष्ट और अनिष्ट की बात मन में गुनता है। तो यों देखने पर किसी भी प्राणी को मत निरखिये कि यह खुदगर्ज है। अरे वस्तु का स्वभाव ही यह है कि वह वस्तु अपने लिए ही अपनी सारी चेष्टायें करता है। अब उन चेष्टाओं का विभिन्न रूप है। यदि कोई सज्जन पुरुष दुनिया का उपकार करने के लिए श्रम करता है तो उस सज्जन पुरुष ने भी किया क्या? जो स्वयं में कषाय भाव जगा, करुणा बुद्धि जगी उससे प्रेरित होकर जैसे करुणा बुद्धि से उत्पन्न हुई वेदना, मिटे, वही तो किया। तो कोई पापी पुरुष भी करते ही क्या हैं कि उनका जो अज्ञान और कषाय भाव हुआ उससे वेदना हुई, उसकी शान्ति के लिए जो उन्हें सूझता है सो किया करते हैं। यह वस्तु का ही स्वरूप है।

वास्तविकता के परिचय में शान्ति और अवास्तविकता के लगाव में विपदा–मूल दृष्टि से निरखने पर यों ही समझा जाता है कि प्रत्येक जीव जो कुछ करता है वह अपने लिए करता है, इसकी मुझे कोई बुराई नहीं है, स्वरूप ही है ऐसा। खुदगर्ज भी किसको कहें, सब अपनी सत्ता के लिए अपना परिणमन करते हैं, लेकिन खेद तो इस बात का है कि यह जीव समझ रहा है कि कोई मेरा साथी नहीं, कोई दुःख में, मरणादिक में हिस्सा लेने वाला नहीं, फिर भी ममत्व नहीं छोड़ता। ममता बहुत बड़ी विपदा है। विपदा ही केवल ममता है, अन्य कुछ विपदा है ही नहीं, स्वरूप दृष्टि को देखो, न कुछ लेना न कुछ देना, न कुछ सम्बन्ध, प्रत्येक जीव अपने आपमें परिपूर्ण है, अपने चतुष्टय से सहित है, किसी भी अन्य पदार्थ के साथ कुछ भी मेरा सम्बन्ध

नहीं है। स्थिति कुछ रहो, लेकिन वास्तविकता यह है कि जो भी पर द्रव्यों में मोह का भाव जगता है वह ममता का परिणाम इस जीव पर बड़ी कठिन विपदा है।

जीवस्स णिच्छयादो धम्मो दह-लक्खणो हवे सुमणो।
सो णेइ देव-लोए सो चिय दुक्ख-क्खयं कुणई।।७८।।

दशलक्षण धर्म की स्वजनता व शरणरूपता—यथार्थ में जीवन का आत्मीय स्वजन तो उत्तम क्षमा आदिक रूप दशलक्षण धर्म ही हैं। तब वास्तविक स्वजन कौन? जो अपनी रक्षा करें, अपने हित की बात करें ऐसे स्वजन केवल क्षमा, मार्दव आदिक दशलक्षण धर्म रूप परिणमन हैं। कषायें इस जीव को बरबाद कर देती हैं। क्रोध कषाय न जगे, क्षमा परिणाम बने तो शान्ति है। क्रोध कषाय से नुकसान ही सारे हैं, पर लाभ की बात कुछ नहीं होती। प्रथम तो क्रोध में बुद्धि खराब हो जाती है। क्रोध में धीरता, गम्भीरता, विवेक, उदारता आदिक सब गुण जल जाते हैं। स्वयं दुःखी होते हैं। जिस पर क्रोध करते हैं उससे सम्बन्ध क्या? उसका बिगाड़कर देने से इस जीव को मिलता क्या? अरे वह जीव भी तो अनेक भवों में कुटुम्बी हुआ है, मित्र हुआ है। आज अपनी कषाय के आवेश में आकर उसको शत्रु माना जा रहा है। तो क्रोध में जीव को हानि ही तो है पर लाभ कुछ नहीं। क्रोध के अभाव होने से जो क्षमाभाव प्रकट होता है वही शरण है। घमंड के परिणाम में फल क्या होता है? लोग मुंह सामने नहीं कहते तो परोक्ष में तो कहते ही हैं कि वह बड़ा घमंडी है, बड़ा अज्ञानी है। यहां किस बात का घमंड करना? घमंड के योग्य यहां है भी कुछ नहीं। बड़ी-बड़ी सम्पदाओं के धनी, बड़े राजपाट के अधिकारी राजा महाराजा भी बड़ी दुर्दशा को प्राप्त हो जाते हैं। गर्व करने लायक तो यहां कोई बात ही नहीं है। और गर्व करता भी कौन है? गर्व वही करता है जिसे अपने आत्मा के ज्ञान स्वभाव का विश्वास नहीं है। वही बाह्य दृष्टि करके गर्व करता है कि देखो मैं कितना बड़ा हूं, कितना उच्च हूं? अरे जीव जाति को देखो तो प्रत्येक जीव समान हैं, स्वरूप सबका एक सा है, रही लौकिक स्थिति की बात सो आज जो बड़ा धनिक है वह कल तुच्छ बन सकता है और आज जो तुच्छ है वह कल महान बन सकता है। एक सदाचार, विवेक, सत्य श्रद्धा के बल पर आज एक तुच्छ व्यक्ति भी महान् बन सकता है और मिथ्या श्रद्धान्, मिथ्या ज्ञान, मिथ्या आचरण दुराचार आदिक परिणामों के कारण आज कोई बड़ा है तो वह भी तुच्छ बन जायेगा। पुराणों में वर्णन आता है कि रावण नरक गया और रावण के भाई पुत्रादि निर्वाण गए, तो सबका भिन्न-भिन्न परिणाम है। सभी अपने-अपने भले-बुरे परिणाम से भली-बुरी गतियां प्राप्त करते हैं। यहां मोह करने का, गर्व करने का अवसर क्या? गर्व में केवल हैरानी ही है। मद के अभाव होने से जो मार्दव धर्म प्रकट होता है वही वास्तविक शरण है। छल-कपट तो ऐसी बुरी परिणति है कि यह जीव अन्य में उलझा ही रहता है, यह अपने आपमें ही कुछ समझ नहीं कर पाता। मायावी पुरुष सब जगह शंकित रहता है, कहीं मेरा मायाचार खुल न जाये, ये दोनों व्यक्ति परस्पर बातचीत कर रहे हैं, कहीं मेरे मायाचार का भेद न खुल जाय इत्यादि रूप से वह मायाचारी पुरुष शंकित रहता है। ऐसा मायाचारी पुरुष धर्म का पात्र नहीं माना गया। माया कषाय को शल्य में गिना गया है। लोभ कषाय की बात देखो—बाह्य वस्तुओं में उपादेय बुद्धि होना, उसे आसक्तिपूर्वक ग्रहण किए रहना ये सब लोभ के परिणाम हैं। इस लोभ कषाय से भी जीव दुःखी है, ये चारों कषायें शान्त हों, आत्मा सत्य रूप में प्रकट हो, अपने आपके स्वरूप में यह संयत रह सके तो इस चैतन्य सूर्य का ऐसा प्रताप प्रकट होता है कि जो मोह है, अंधकार है वह नष्ट होता है। और यह केवल रह जाता है, तब

इस ही केवल ज्ञान स्वरूप में यह रमण करता है, मग्न होता है ऐसा जो दशलक्षणमय आत्मा का परिणमन है वही मेरा स्वजन है, अन्य कोई मेरा स्वजन नहीं है।

मोहविपदा से छटने के लिये पञ्चगुरु स्मरण व धर्म पालन का निर्णय–यह दशलक्षणमय आत्मा का परिणमन ही देवलोक में ले जाता है व हमारे समस्त दुःखों का क्षय कर देता है। जब धर्मोपासना के साथ ही शुभ परिणाम चलते हैं तो वहां महान् पुण्य बंधता है। उस पुण्य के फल में जो स्वर्गादि वैभव प्राप्त होता है, वस्तुतः तो वे भी विपदा हैं। इस मोह को विपदा जानकर उस मोह विपदा से बचने के लिए अधिकाधिक समय पंच नमस्कार मंत्र के स्मरण की प्रवृत्ति बने। नमस्कार मंत्र में जो पंच परमेष्ठियों की आराधना की गई है वह आराधना इस ढंग से करें कि हमारा मोह परिणाम दूर हो। हे अरहंत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय, साधुओं, तुम्हें नमस्कार हो, हम इस मोह विपदा से छूटें। तुम तो इस मोह के जाल से परे हो गए हो, सदा के लिए समस्त मोहमय संकटों से छूट गए हो। हे प्रभो! हमारा भी ये मोह भाव छूटे ताकि हम भी इन मोहजन्य संकटों से छुटकारा प्राप्त करें। इस प्रकार के भावों सहित पंच नमस्कार मंत्र का जाप करें। बाह्य वस्तुओं की बातें सोच-सोचकर आराधना में सफलता मिले, या न मिले किन्तु निर्मोह होने के लिए जो नमस्कार मंत्र में निर्मोह आत्माओं की आराधना की जाती है तो थोड़ा बहुत फल तो तुरन्त ही मिलता है और आगे भी उसका फल मिलता है। तो मेरा मोह दूर हो, इस भाव से ही पंच नमस्कार मंत्र का स्मरण करना चाहिए। इस उद्देश्य से जब स्मरण में लाते हैं तो बीच-बीच में ज्ञान प्रकाश उत्पन्न होता है और जीव को तृप्ति उत्पन्न होती है। मेरा मोह दूर हो, इसी का नाम है मुक्ति की प्राप्ति।

कर्त्तव्य पालन और मुक्ति के प्रोग्राम का निर्णय–हमारा एक मुक्ति पाने का ही प्रोग्राम बने, बाहरी बातों की संभाल में उपयोग लगाना व्यर्थ है। कारण कि मेरे उपयोग लगाने से कहीं बाह्य में संभाल हो नहीं जाती। जिसका जैसा उदय होता है उसके अनुसार उसकी बात चलती है। हां, घर-गृहस्थी में रहते हुए अपना कर्त्तव्य है करने का सो कुछ पुरुषार्थ करें। जैसे कि चार प्रकार के पुरुषार्थ कहे गए हैं–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। तो मोक्ष पुरुषार्थ का साक्षात् तो यहां काम हो नहीं पाता सो आजकल उसकी जगह में चौथा पुरुषार्थ समझलो निद्रा लेना (सोना) अब जीवन में करने के चार पुरुषार्थ रह गए–धर्म, अर्थ, काम और निद्रा लेना और रात-दिन में कुल २४ घंटे हैं। तो हर पुरुषार्थ के करने के लिए छः-छः घंटे का अवकाश मिलता है। सो आप जान ही रहे हैं कि करीब छः घण्टे का हो समय अर्थ का (व्यापारादि का) काम करने के लिए उपयुक्त होता है, करीब छः ही घंटे का समय निद्रा लेने व करीब छः ही घंटे का समय काम यानि पालन-पोषण, भोगोपभोग आदि के कामों के लिए उपयुक्त होता है। अब उस ही हिसाब से करीब छः घंटे का समय धर्मपालन में लगाना चाहिए। यदि इससे अधिक समय धर्म पालन में लगे तो और भी अच्छा है। छः घंटे का धर्म साधन का समय इस ढंग से ठीक हो सकता है कि सुबह चार बजे से नौ बजे तक यानि करीब पांच घंटे का समय रख लीजिए और एक घंटे का समय रात को रख लीजिए। जो लोग प्रतिदिन शुद्ध भोजन करते हैं और भावना रखते हैं कि मैं किसी त्यागी व्रती को पड़गाह कर, आहार दान देकर भोजन करूंगा तो उनका भोजनादि करने तक का सारा समय धर्म कार्य में ही शामिल है। तो इस तरह करीब छः घंटे प्रतिदिन धर्मकार्य में व्यतीत किए जायें, यह किसी के लिए कोई कठिनाई की बात नहीं है। जो न करना चाहे उसकी तो बात ही अलग है। सुबह चार बजे उठकर सामायिक, ध्यान पूजा पाठ आदि सभी लोग कर सकते हैं, जरा भी उसमें कठिनाई की

बात नहीं है और कम से कम एक घंटे का समय शाम को धर्म साधना में व्यतीत हो, इस तरह की चर्या में वर्ष के तीन सौ साठ या तीन सौ पैंसठ दिनों तक रहने से उसके चित्त पर बहुत कुछ अच्छा प्रभाव पड़ेगा। यह धर्म ही, यह ज्ञान ही हमें उत्तम गति में ले जायेगा और कर्मों का क्षय करके मुक्ति प्राप्त करायेगा।

विरतमोह व निरतस्वभाव होकर धर्मपालन से संकट मुक्ति पाने में श्रेयो लाभ–धर्म नाम है किसका? धर्म नाम है ज्ञान स्वभाव का। अपना ज्ञान स्वभाव जैसा है तैसा विकसित हो जाये उस ही का नाम है धर्म का फल। इस ज्ञान स्वभाव में आनन्द भरा ही पड़ा हुआ है, जब ज्ञान स्वभाव की दृष्टि कर रहे तब भी आनन्द, उसका जब फल मिला तब भी आनन्द। ज्ञान ही आनन्द का कारण है, अन्य किसी उपाय से आनन्द नहीं मिल सकता। यह ज्ञान जन्म, जरा मरण आदि रोगों के निवारण करने के लिए अमृत के समान है। जन्म-मरण की परिपाटी चलते रहना यही संसार है और यही क्लेश है। अपना उद्देश्य पंच नमस्कार के मंत्र का स्मरण करते समय यही रखें कि हे प्रभो! मेरा जन्म जरा मरणादिक का रोग दूर हो जाये। इस जन्म-मरण के बीच में आज की जिन्दगी में जो ये अध्रुव समागम प्राप्त है उनमें मेरे मोह भाव न रहे। अगर हम करते तो रहें मोह और प्रभु से कहते रहे कि हे प्रभु! मेरा जन्म मरण मिटे तो यह तो केवल प्रलाप मात्र है। इस तरह से तो ये जन्म-मरण के रोग नही मिट सकते हैं। एक यही सोच लीजिए कि यदि हम आज इस मनुष्य पर्याय में न होते, कीट, पतंगा, पशु, पक्षी, पेड़, पौधा आदिक की पर्याय में होते तो आज के ये पाये हुए समागम ये वातावरण हमारे लिए क्या थे? कुछ भी तो न थे। सुयोग से हुए हैं मनुष्य तो ऐसा भी मान कर चलें कि यदि हम अन्य भव में होते तो मेरे लिए यहां के ये समागम कुछ भी न थे। सो मोह न जगे इस दिशा में मैं अपने को ऐसा मानते हुए चलूं कि मैं इस भव में नहीं हूं, मैं तो किसी अन्य ही भव में अभी हूं। फिर यहां का मेरे लिए क्या? मिला है सुयोग से यह मनुष्य भव तो बस लज्जा, संकोच भय, चाह आदि इन सबकी उपेक्षा करके एक अपने ज्ञान स्वभाव की आराधना में ही समय बितायें, चाहे फिर मेरी कुछ भी बाह्य स्थिति बने तो उससे क्या? यदि मेरा कोई रक्षक है तो केवल एक हमारा ही धर्म भाव है, वही हमारे समस्त दुःखों का क्षय करेगा और वही हमारी मुक्ति का साधन होगा।

सव्वायरेण जाणह एक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं।
जम्हि दु मुणि दे जीवे होदि असेसं खणे हेयं।।७९।।

पर से विभक्त होकर निज एकत्वस्वरूप में प्रवेश होने पर ही शान्ति का लाभ–यह एकत्वानुप्रेक्षा का अन्तिम छन्द है। यहां आचार्य देव प्रेरणा करते हैं कि हे भव्य जीवों! समस्त प्रयत्नों से अपने एक इस आत्माराम को शरीर से भिन्न जानो। शान्ति का उपाय कितना सरल है, सुगम है, स्वाधीन है, किन्तु सम्यक्बोध के बिना यह कठिन तो क्या असम्भव बन रहा है। जब तक ज्ञान प्रकाश नहीं है तब तक असम्भव ही है। सबको शान्ति ही तो चाहिए ना। जो कोई भी जो कुछ करता है वह अपनी शान्ति के लिए करता है। यदि एक बार भी हमारी स्थिति ऐसी बन जाये कि हम खुद में मग्न हो जायें, फिर चाहे कुछ भी हो, घर गिरे, लोग बिछुड़ें, वैभव नष्ट हो आदि, उनसे हमारा कुछ नुकसान नहीं है। दो चीजें हमारे सामने हैं एक तो व्यवहारी स्वजन, कुटुम्बीजन, इज्जत पोजीशन आदि और दूसरे–अपने आपमें बहुत गहरे प्रवेश करके अपने आपको जानते रहना, उसे ही सन्तुष्ट होना, सर्व प्रकार के विकल्पों का छोड़ना, इन दोनों स्थितियों में क्या ठीक है सो विचार करो। व्यवहार की स्थितियों का तो कुछ भरोसा ही नहीं है। यहां तो मनचाहा भी कुछ हो जाये तो वहां

शान्ति का मार्ग नहीं मिलता। एक तो यहां मनचाहा होता नहीं और दूसरे—मनचाहा हो भी जाये तो भी शान्ति का मार्ग नहीं और मनचाहा न हो तो भी शान्ति नहीं, वैभव मिले तब भी शान्ति नहीं। वैभव न मिले तब भी शान्ति नहीं। पुत्र सपूत हो तो भी शान्ति नहीं, पुत्र कुपूत हो तो भी शान्ति नहीं। यदि पुत्र कुपूत हो गया तब तो लोग समझते ही हैं कि उसे शान्ति कहां और यदि पुत्र सपूत भी हो तो भी शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि उसको सुखी रखने के लिए वह रात-दिन चिन्तित रहेगा, स्त्री यदि विरुद्ध है तो भी शान्ति नहीं और स्त्री यदि अनुकूल है, आज्ञाकारिणी है, बड़ा स्नेह रखने वाली है तो भी क्या वहां शान्ति है? दोनों ही स्थितियों में शान्ति नहीं है, इष्ट चीज मिले तब भी शान्ति नहीं, अनिष्ट चीज मिले तब भी शान्ति नहीं। इसका कारण यह है कि शान्ति का धनी यह उपयोग शान्ति के निज धाम से निकलकर पर घर भटकता फिर रहा है तो वहां शान्ति कैसे हो सकती है? किसी दूसरे का घर बहुत बढ़िया बना हुआ है और बड़ा इष्ट लग रहा है, लेकिन उसका सम्बन्ध बनाने पर तो विपदा ही मिलेगी। तो इसी तरह बाह्य पदार्थ कितने ही भले लगते हों, कितने ही सुहावने लगते हों, किन्तु उनमें यह उपयोग लगता है तो वहां नियम से अशान्ति ही मिलेगी। शान्ति का तो मात्र एक ही उपाय है, अपने आपके सहज स्वरूप को, सहज कारण परमात्म तत्व को जानना और वहां ही उपयोग रखकर शान्ति पाने का निर्णय रखना अन्यत्र शान्ति नहीं है।

मोह-मद का प्रभाव दूर कर आत्मप्रभाव में आने का उपदेश—आचार्य यहां उपदेश करते हैं कि भाई सर्व प्रयत्न से यह तो जानो कि यह मैं जीव शरीर से भी न्यारा हूं। अपने आपके आत्मा के सम्बन्ध में बहुत कुछ समझना है और भीतर गम्भीरता धीरता से गहरे प्रवेश करके अपने को विश्रांत बनाना है। लेकिन इतने बड़े महान् कार्य को करने के लिए सर्वप्रथम यह तो कर लें कि मान लें कि मैं इस शरीर से भिन्न हूं। जो लोग अपने को इस शरीर से भिन्न नहीं मान सकते वे अपने अंतस्तत्व के स्पर्श करने के पात्र नहीं हो सकते। अतएव एकदम ज्ञान का प्रथम द्वार बताया है कि अपने आपके आत्मा को शरीर से भिन्न जानो, जिस एक निज अंतस्तत्व के जान लेने पर शरीर, मित्र, स्त्री, पुत्र, धन सम्पदा आदिक वैभव सब क्षण मात्र में हेय हो जाते हैं। मोह-मद पान में ही ये वैभव मनोज्ञ जंचते हैं। जैसे कोई मदिरा पीने वाला पुरुष किसी शराब की दुकान पर गया, दुकानदार से बोला भाई बहुत तेज शराब दो। दुकानदार बहुत तेज शराब देता है, वह पुरुष उस तेज शराब को पीकर बेहोश हो जाता है, उसके ऊपर कुत्ते आकर पेशाब भी कर जाते हैं, वह बड़ा दुःखी होता है, फिर भी उस दुःख को दुःख नहीं मानता, इसी प्रकार ये मोही प्राणी मोह मदिरा का पान करके बहुत-बहुत दुःख भी सहते रहते हैं फिर भी उन दुःखों को दुःख नहीं समझते। हम ही चाहें तो इस मोह भाव को रखकर अपने को दुःखी बना डालें और हम ही चाहें तो इस ज्ञान-स्वभावी अमृत का पान करके अपने आपको सर्व संकटों से बचा लें। अपने को दुःखी करना, सुखी करना ये दोनों बातें केवल हमारे भावों द्वारा ही बन रही हैं, कोई दूसरा पदार्थ हमें सुखी अथवा दुःखी नहीं करता। तो अब कुछ विवेक करके हमें अपने ऐसे भाव बनाने चाहिएं जिनसे कि हम संसार के समस्त संकटों से सदा के लिए मुक्त हो जायें।

●●●

अन्यत्वानुप्रेक्षा

अण्णं देहं गिण्हदि जणणी अण्णा य होदि कम्मादो।
अण्णं होदि कलत्तं अण्णो वि य जायदे पुत्तो।।८०।।

देह की अन्यता और देह की अनन्यता के भ्रम का कारण—यह जीव अपने उपार्जित किए हुए कर्मों के उदय से भिन्न शरीर को ग्रहण करता है। इसका पिता भिन्न है, इसकी स्त्री भिन्न है और पुत्र भी भिन्न ही पैदा होता है। मनुष्यों का इन चार-पांच बातों से व्यवहार में घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। शरीर से, माता से, स्त्री से, पुत्र से। माता के कहने से पिता का भी ग्रहण कर लें, फिर भी मनुष्यों की आदत में पिता के प्रति अधिक प्रेम नहीं है। मां, स्त्री, पुत्र और शरीर इन चार से अधिक सम्बन्ध रहता है, तो अन्यत्वानुप्रेक्षा में इन चारों को सबसे पहले भिन्न बताया गया है। यह शरीर आहारवर्गणा के परमाणुओं का पिण्ड है। जब अन्य भव से विग्रहगति में होकर आता है तो जन्म स्थान पर पहुंचते ही वहां जो कुछ भी आहार वर्गणाओं का ढेर मिला है बीजरूप में उसको यह जीव अंगीकार करता है। जीव के आने पर फिर वे बीज भूत पिण्ड वृद्धि को प्राप्त होते हैं। वही आहार वर्गणाओं का पिण्ड अंगोपाङ्ग के निकलने पर एक मनुष्य आदि जैसी शक्ल में बाहर दिखता है। स्थावर जीव के देहों में अङ्ग-उपाङ्ग नहीं होते सो वे अटपट शक्ल में दिखते हैं। यों यह जीव इस देह से अत्यन्त भिन्न है। जीव चैतन्य स्वरूप है और ये देह परमाणु स्कंध सारे अचेतन हैं। शरीर से जीव का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, जिन स्थानों में जीव प्रदेश रह रहे हैं उन्हीं स्थानों में यह देह रह रहा है, देह के रग-रग में जीव प्रदेश मौजूद है। और जहां देह में कहीं पोल हो गयी जैसे नाक के छिद्र में, भीतर पोल है, कान के छिद्रों में पोल है, ऐसे ही जहां-तहां देह में पोल है वहां जीव प्रदेश नहीं है। स्कंधों में जीव प्रदेश हैं, इस तरह एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है। जीव का और देह का। साथ ही जीव और देह में बहुत सी बातों का परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब जीव के प्रदेश में हलन चलन हुआ तो शरीर प्रदेशों में भी हुआ। जब शरीर से कहीं गमन हो रहा तो जीव का भी गमन हो रहा। कोई सोचे कि शरीर यहीं रखा रहे हम थोड़ी देर बाहर विहार कर आयें तो यह हम आपके वश की बात नहीं है। कोई आहारक या अन्य ऋद्धियां होने से भले ही शरीर का सम्बन्ध न छोड़कर शरीर से बाहर प्रदेश चले जाते हैं पर इतना घनिष्ट एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है जीव का और देह का कि जब जहां जीव वहां देह। इस कारण अज्ञानवश इस जीव को इस देह से अज्ञानवश बड़ी प्रीति उत्पन्न हो गयी है।

जीव पर लदे हुए भार की दृष्टि से जीव के यहां अकेलेपन का अभाव—जीव पर क्या बोझ लदा, इस दृष्टि से देखो तो कोई भी जीव अकेला नजर नहीं आता। है अकेला ही यह स्वरूप में, मगर आप हम कोई यहां अकेले नहीं बैठे हैं। आपके साथ बड़ा भारी बोझ लदा हुआ है। एक पुरुष ने अपने किसी मित्र से कहा कि कल के दिन आपका निमंत्रण है, आप दस बजे आ जाना। मगर हम गरीब आदमी हैं, हमारे पास अधिक गुञ्जाइश नहीं है, सो आप अकेले आना। वह बेचारा दूसरे दिन दस बजे उसके घर पहुंचा तो उस निमंत्रण देने वाले ने कहा—भाई हमने तो आपको अकेले के लिए ही कहा था, सो आप अकेले क्यों नहीं आये? अरे हम अकेले ही तो आये हैं। आप अपने साथ में इस शरीर पिण्डौले को लाये, इसके साथ अनन्त पुद्गल परमाणुओं को लाये, बहुत से कर्मों को अपने साथ लाये, हमने तो आप अकेले को ही बुलाया था। अब

भला बतलाओ ऐसा अकेला कोई कहीं जा सकता है क्या? ऐसे अकेले तो सिद्ध भगवान हैं कि जिनके साथ अन्य कुछ भी नहीं है, केवल वह भी एक मात्र आत्मा है। तो यहां संसार अवस्था में जीव और देह का इतना घनिष्ट सम्बन्ध हो रहा है कि इस सम्बन्ध में यह अज्ञानी जीव देह में आत्मबुद्धि करता है। कोई कितना ही वृद्ध पुरुष हो, हड्डियां निकल आयी हों, खून भी काम न कर रहा हो फिर भी कोई बालक यदि कहने लगे कि दादा जी तुम्हारा शरीर तो बहुत कुरूप हो गया, कान्तिहीन है, हड्डियां भी निकल आयी हैं और देखो हमारा शरीर कैसा चंगा रूपवान है। तो कृपा करके आप हमारे इस चंगे शरीर से मोह किया करो, अपने शरीर में मोह मत किया करो तो क्या वह वृद्ध पुरुष मानेगा? अरे कैसा ही शरीर हो वह तो अपने ही शरीर को सबकुछ मानेगा। एक बुढ़िया बुढ़ापे से परेशान होकर रोज-रोज कहा करती थी कि हे भगवान मुझे उठा ले। उसके पोते उस बुढ़िया की यह बात रोज-रोज सुना करते थे। एक दिन अचानक ही उस बुढ़िया के पास एक सांप निकल आया तो वह बुढ़िया अपने पोतों का नाम ले-ले कर चिल्लाती है कि अरे बचाओ, सांप निकल आया। तो कोई बालक बोला अरी बुढ़िया दादी तू रोज-रोज भगवान से विनती करती थी कि हे भगवान मुझे उठा ले, तो भगवान ने अब तेरी पुकार को सुन लिया है और तुझे उठाने के लिए इसे भेजा है, लेकिन क्या वह बुढ़िया इस बात को मान जायेगी? वह तो मरना नहीं चाहती यों देह में जीव का इतना घनिष्ट मोह है।

देह देवालय से भिन्न आत्मदेव की वार्ता—यहा अन्यत्व भावना में कह रहे कि अरे भव्य जीव, जिस देह में तू बस रहा है यह तो तुझसे अत्यन्त भिन्न है। इस देह को तू देवालय समझ। तुम आत्मदेव इस घर में बस रहे हो। यह मंदिर तो भगवान नहीं, मंदिर में विराजमान प्रतिमा है उसमें भगवान की स्थापना है। यह देह तो आत्मा नहीं। इस देह में जो विराजमान आत्मा है, चेतन है वह है प्रभु, आत्मदेव। तो यह देह अत्यन्त भिन्न है, पर पूर्व उपार्जित कर्म के उदयवश यह जीव देह को ग्रहण करता है। माता भी अन्य है। जिस मां का इतना अधिक स्नेह कि बचपन में, शिशु अवस्था में कितना अधिक मां मोह रखती है, अपने पास उस बच्चे को सुलाये यदि बच्चा मूत्र कर दे, कपड़े गीले हो जायें तो स्वयं उन गीले कपड़ों में लेट जाती है और बच्चे को सूखे कपड़ों में सुलाती है। बच्चे की मुख मुद्रा को देखकर मां बहुत प्रसन्न रहती है। इतना अधिक स्नेह है मां का, लेकिन हे जीव, वह मां भी तेरे से अन्य ही है। यहां वस्तु स्वरूप की बात कह रहे हैं, ममत्व हटाने का उपदेश है।

यथोचित राग व्यवहार करते हुए भी निर्मोह रहने में गृहस्थ का निर्वाह—कोई घर में रहकर भी साधु जैसा व्यवहार रखे तो वह उपयोग्य नहीं जंचता, वहां तो राग करते हुए भी निर्मोह रहना है। जैसा कि ग्रन्थों में लिखा है कि ये स्त्री पुत्रादिक नरक निगोद के कारण हैं तो उनसे ऐसा कहकर व्यवहार न करें कि तुम तो नरक निगोद के कारण हो। उन परिजनों से एक असुविधा मिटाने के अर्थ लोक व्यवहार करना होगा प्रेमयुक्त वचनालाप करें जिससे कि कलह न बढ़े और ऐसे शान्त वातावरण में रखकर आत्मा की सुध लेने का बार-बार अवसर बनाये रहें। प्रेम व्यवहार रखना होगा लेकिन ममत्व रंच भी न रखना होगा। अपनी रक्षा चाहते हो तो घर में रहने पर भी प्रवृत्ति करनी है। प्रेम व्यवहार की, उत्तम वचन और घर गृहस्थी के कार्य व्यापार की संभाल, इतने पर भी अन्तर में पर वस्तु से ममत्व न रखना होगा। यह मेरा है ऐसी स्वप्न में भी प्रतीति न हो। मेरा मैं हूं, मेरा वैभव मैं हूं, अन्य कुछ मेरा नहीं है, अतः यह श्रद्धा हो और बाह्य में रखें प्रेम, संभाल आदि की बातें, तब गृहस्थी निभती है।

रागव्यवहार होने पर भी निर्मोहता का एक दृष्टान्त—एक सेठजी वृद्ध थे, उनका एक बालक था

कोई तीन-चार वर्ष का। सेठजी को किसी रोग ने घेर लिया तो अपनी सारी जायदाद पांच ट्रस्टियों के नाम से लिख दिया और कह दिया कि मेरा बालक जब बालिग हो जाये तो सारी जायदाद इसे सौंप देना। सेठ तो गुजर गया। ट्रस्टियों ने सारी जायदाद संभाली। कुछ ही दिनों बाद क्या हुआ कि उस सेठ के द्वार से कोई ठग निकला, वह बालक अपने द्वार पर खेल रहा था, उस ठग को वह बालक बहुत अच्छा लगा, उसके कोई बालक था भी नहीं, तो वह उस बालक को उठा ले गया और उसने अपनी पत्नी को दे दिया। वे जंगल में एक झौंपड़ी बनाकर रहते थे। दोनों ने उसे पाल पोषकर बड़ा किया। जब वह बालक करीब सत्रह अट्ठारह वर्ष का हो गया तो वह तो यही समझ रहा था कि यही मेरे मां-बाप हैं और यह जो खेती-बाड़ी झौंपड़ी आदि है यही मेरी जायदाद है। एक दिन वह बालक उसी शहर से निकला तो किसी ट्रस्टी ने उसे पहचान लिया और उससे कहा कि तुम्हारी लाखों की जायदाद हम लोग बहुत दिनों से संभाले हुए हैं, इसे तुम संभाल लो, हम लोग कब तक संभालेंगे? उसकी बात सुनकर उस बालक ने समझा कि यह हमें झूठ-मूठ में बहका रहा है। वही बात जब कई ट्रस्टियों ने कही तो सोचा कि जब ये सभी लोग वही बात कहते हैं तो इसमें कुछ राज होगा। सो वह बालक कहने लगा कि अच्छा तुम लोग एक-दो माह तक और संभाले रहो, बाद में हम सब संभाल लेंगे। उनकी बात पर विश्वास न होकर भी उस बालक ने इस तरह से कह दिया और जिस जंगल में उसके मां-बाप रहते थे वहां आकर बड़े प्रीतिपूर्ण वचनों से अपनी मां से बोला—मां सच बताओ मैं किसका बेटा हूं? उस समय उसे कुछ ध्यान न रहा तो यह कह दिया कि बैटे तू तो अमुक शहर के अमुक सेठ का बालक है। इतनी बात सुनते ही उस बालक को उस व्यवहार लोक में सच्चा ज्ञान प्रकाश जग गया कि ओह! मैं तो अमुक सेठ का पुत्र हूं और इस ठग के यहां पल पुष रहा हूं, ये मेरे मां-बाप नहीं हैं, यहां की खेतीबाड़ी मेरी जायदाद नहीं है, मेरे तो लाखों का धन है, मैं अमुक सेठ का पुत्र हूं, ये सभी बातें उसी समय उसके ख्याल में आ गईं, लेकिन इतना ध्यान होने पर भी क्या वह यह कहेगा कि ऐ ठग मुझे खाना खिला, ऐ ठगनी मुझे पानी पिला आदि? अरे वह मां को मां कहेगा, पिता को पिता कहेगा और उस समय उसके खेतों में कोई भैंस, झोंटा आदि घुस आये तो उसे भी खदेड़ेगा, उसकी जायदाद की रक्षा भी वह कर रहा है, इतने पर भी उसके चित्त में यह बात बसी हुई है कि ये मेरे मां, बाप, जायदाद आदि कुछ नहीं हैं, मेरे पास तो लाखों की जायदाद है, मैं तो अमुक सेठ का पुत्र हूं आदि।

राग व्यवहार होकर भी निर्मोह गृहस्थ की वृत्ति—उक्त दृष्टान्त की भांति ही समझिये कि यह जीव अज्ञान भाव से यहां के मां बाप को अपने मां-बाप समझ रहा, यहां के प्राप्त वैभव को अपना वैभव समझ रहा। कदाचित् सुयोग मिले, कुछ स्वाध्याय भी करे तो लो इन अनेक ट्रस्टियों ने समझाना शुरू कर दिया। अनुप्रेक्षा ग्रन्थ पढ़ा तो आचार्य महाराज ट्रस्टी समझा रहे हैं कि अरे तेरा वैभव तू ही है, तेरा माता-पिता तू ही है और अन्य ग्रन्थ उठाया तो कुन्द-कुन्द महाराज ट्रस्टी ने भी यही कहा कि तू तो इस देह से भी निराला है, तेरी अनुभूति ही तेरा सबकुछ है, तेरा कुटुम्ब तेरे ही प्रदेशों में है और भी ग्रन्थ उठाये तो कई ट्रस्टियों ने वही बात कही तो इस जीव को कुछ ख्याल आया कि बात तो लगती है ठीक। तब यह गिड़गिड़ाकर भीतर से उत्सुक बनकर इस अनुभूति मां से पूछता है यह जीव कि मां सच तो बताओ मैं क्या हूं, किसका हूं, कहां का हूं? ओह! बड़े ध्यान से उत्सुकता से जब अनुभूति से इस जीव ने पूछा, जानना चाहा तो एक झलक में एकदम उत्तर आया कि तुम सर्वस्व अपने ही हो, यहीं के हो। देखो यह है तुम्हारा वैभव, यही है तुम्हारी भूमि। तब इसका ज्ञाननेत्र खुलता है और जानता है कि यह लौकिक मां मेरी निश्चय से मां नहीं, यह पिता मेरा निश्चय

से पिता नहीं, यहां का सारा वैभव मेरा निश्चय से वैभव नहीं। मेरे में जो अनन्त शक्ति है, शाश्वत सहज वही मेरा वैभव है। मेरी जननी तो मेरी पूर्ण परिणति है, वही नई-नई परिणतियों का उपादान करती हुई चली जाती है। ज्ञान हो गया, पर इतना ज्ञान होने पर भी क्या यह ज्ञानी उस क्षण से यह कहना शुरू कर देगा कि ऐ नरक के कारणभूत स्त्री अथवा पुत्र, उठिये। मुझे पानी ला दो, क्या कोई ज्ञानवती महिला यह कहेगी कि हे नरक के कारणभूत पतिदेव! सुबह हो गया, उठिये। अरे ग्रन्थों में स्त्री पुत्रादिक परिजनों को उपचार से नरक का द्वार कहा है, पर घर गृहस्थी के बीच ज्ञानी पुरुष इस तरह से वार्तालाप का व्यवहार करेगा क्या? अरे वह तो जब तक गृहस्थी के बीच है तब तक प्रेम व्यवहार की ही बात रखेगा, झगड़ा झंझट कलह विग्रह आदि की बातें न करेगा, क्योंकि उनसे गुजारा चलता नहीं। वह तो धीरे से, बुद्धि से, विधिपूर्वक उनसे हटता है। उसने उद्देश्य तो यही बनाया है कि मुझे तो इन सबसे हटना है, मुझे निर्ग्रन्थ होना है। मेरा पूरा निर्ग्रन्थ होने से ही पड़ेगा। बाह्य के राग द्वेष मोह आदि का पूरा न पड़ेगा। ये सब स्त्री, पुत्र, बंधु, घर द्वार कुटुम्ब आदि छोड़ने पड़ेंगे। इस देह को भी छोड़ना पड़ेगा, लेकिन वर्तमान स्थिति ऐसी है कि इस देह को छोड़कर कहां जायें? तो यह ज्ञानी जीव इन सब राग प्रेमों का व्यवहार तो करता है, पर उसे अन्तरङ्ग में ममत्व भाव नहीं है। जो ग्रन्थों में बताया है कि पिता, पुत्र, स्त्री आदिक ये सब नरक के द्वार हैं, सो ये खुद नरक के द्वार नहीं हैं किन्तु इनके प्रति जो ममत्व का परिणाम बन रहा है वह नरक का द्वार है।

अपने को पर से भिन्न जानकर अपने सहज स्वरूप में आने की शिक्षा—आचार्य अन्यत्वानुप्रेक्षा में कह रहे हैं कि देख— जिस देह को तू ग्रहण करता वह भी तेरे से भिन्न है। जिन माता, पिता, स्त्री, पुत्रादिक से तू ममता करता है। वे भी तेरे से भिन्न हैं। यहां माता के लिए जननी शब्द दिया है, जननी के और भी पर्यायवाची शब्द थे, लेकिन जननीपन का नाता एक राग मोह बढ़ाने में विशेष आश्रय है। इसी प्रकार स्त्री को कलत्र शब्द से कहा है। स्त्री के पर्यायवाची शब्द और भी हैं भार्या, महिला, पत्नी आदिक, लेकिन यहां कलत्र शब्द कहने का यही प्रयोजन है कि कलत्रता के नाते से इस जीव को स्त्री से अधिक स्नेह होता है। कलत्र का अर्थ है जो शरीर की रक्षा करे। भोजन पान देकर, अन्य प्रकार सेवायें करके। कोई रोगादिक हो जायें तो सबसे अधिक चिंता स्त्री को होती है। तो यह स्त्री कलत्र कहलाती है। तो इस कलत्रता के नाते से इस जीव का स्त्री में प्रेम अधिक हो सकता है, इसलिए कलत्र शब्द से बताया है कि यह कलत्र तुझसे भिन्न है। इसी प्रकार पुत्र को कहा। पुत्र के पर्यायवाची अनेक शब्द हो सकते हैं सुत, संतान आदिक लेकिन यहां पुत्र कहने का प्रयोजन यह है कि पुत्र का अर्थ है वंश पुनाति इति पुत्रः जो वंश को पवित्र करे वह पुत्र है तो मनुष्य को पुत्र से जो अधिक स्नेह होता है वह इस कारण से नहीं होता कि इसे मैंने पैदा किया है, किन्तु मेरा नाम चलेगा, उस वंश चलाने की बात मन में आती है तो पुत्र से स्नेह जगता है। सो ये पुत्र, कलत्र जननी आदिक शब्द देकर कहा है कि ये तुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। ये जब भिन्न हैं तो अपना कर्त्तव्य है? भिन्न है ऐसा जान लें। भिन्न हैं ऐसा जानकर क्या कर्त्तव्य है? भिन्न हैं, मेरी परिणति में ये कुछ सहयोगी नहीं हैं। जब ये हम से अत्यन्त जुदे हैं तब इनमें क्या रति करना और जो अपना सर्वस्व है उसमें रुचि करना यही कर्त्तव्य है अन्यत्वानुप्रेक्षा का रहस्य यही है कि पर को भिन्न जानकर अपने में ही लगाव करो।

एवं बाहिर-दव्वं जाणदि रूवादु अप्पणो भिण्णं।
जाणंतो वि हु जीवो तत्थेव हि रच्चदे मूढो।।८१।।

समस्त पर पदार्थों को भिन्न जानने का प्रतिबोधन—इस प्रकार इन समस्त बाह्य पदार्थों को भिन्न

जानो। शरीर, माता, पुत्र, स्त्री आदिक जैसे कि वे भिन्न हैं तैसे ही हाथी, घोड़ा धन, मकान, वैभव आदिक इन सबको भिन्न जानो। जब जिनसे अधिक प्रीति हो सकती है उनको ही भिन्न समझ लिया तो इन बाह्यों को भिन्न जानने में कोई अड़चन नहीं हो सकती। जैसे कि शरीर का चर्म अगर अलग हो गया तो रोम छिद्र तो अपने आप ही पृथक् हो गए। शरीर, स्त्री, जननी, पुत्र आदिक इन सबको जब अपने से भिन्न समझ लिया तो फिर ये धन-धान्य आदि तो प्रकट भिन्न हैं और भी गहरी दृष्टि से विचारें तो अपने आपके स्वरूप में ही जो आपका रागादि रूप परिणमन है वह रागादि परिणमन भी तेरा नहीं रह पाता। वह भी आया और गया, दूसरे क्षण नहीं ठहरता। तो जहां ये रागादिक परिणमन भी मुझसे निराले हैं तो फिर अन्य पदार्थ तो मेरे हो ही कैसे सकते हैं? हिन्दी छन्द में कहा है कि "जहां देह अपनी नहीं, तहां न अपना कोय। घर सम्पत्ति पर प्रकट ये पर हैं परिजन लोय।।" जब कि यह देह भी अपना नहीं है तो अपना यहां अन्य कुछ हो ही कैसे सकता है? यहां 'जहां' शब्द डाला है। जहां का अर्थ जब स्थान से लेना। दुनियावी लोग तो ऐसा अर्थ कर सकते हैं कि देखो जहां अपना शरीर नहीं है वहां तो अपना कोई नहीं है, जहां अपना शरीर आ गया वहां अपने सब आ गए। जब घर में हम आ गए तो मां भी है, बेटे भी हैं, स्त्री भी है। इस प्रकार का अर्थ जहां से नहीं लेना है। इसका अर्थ लेना है कि जब कि यह शरीर भी अपना नहीं है तो अपना और हो ही क्या सकता है? घर सम्पदा ये तो प्रकट पर हैं। इस प्रकार इन समस्त बाह्य द्रव्यों को यह जीव अपने स्वरूप से भिन्न जानता है।

अन्यत्व की बात जानते हुए भी मोही के ममत्व त्याग के भाव का अभाव—भैया! साधारणतया सभी लोग जानते हैं कि घर धन वैभव ये सब मुझसे भिन्न हैं। क्या देहाती मूर्ख लोग, क्या शहरी धनिक, पंडित आदि सभी के मुख से यह बात सुन लो कि ये घर, मकान, जमीन, जायदाद आदि सब मेरे से निराले हैं। देखो मरने पर ये सभी चीजें छूट जाती हैं, कुछ भी साथ नहीं जाता। साधारणतया सभी लोग इस बात को समझते हैं, लेकिन खेद और आश्चर्य की बात यह है कि इन सब बाह्य द्रव्यों को अपने से भिन्न जानता हुआ भी यह मूढ़ जीव उन ही पदार्थों में रच-पच रहा है। मूढ़ कहो या मोही कहो बात एक ही है, लेकिन कुछ ऐसी प्रथा है कि किसी आदमी को कह दें कि तुम तो मूढ़ हो तो उसको ज्यादा बुरा लग जायेगा और अगर किसी भाई को कह दें कि भाई तुम तो मोही हो तो वह उतना बुरा न मानेगा। न जाने लोग मूढ़ और मोही में क्या अन्तर समझते हैं? अर्थ तो दोनों का एक ही है। दोनों की धातु एक है, जरा भिन्न-भिन्न प्रत्यय लगे हैं। किसी से कहा जाये कि भाई तुम्हें अपने कुटुम्ब में काफी मोह है तो कभी वह इसे प्रशंसा की दृष्टि से भी समझ लेगा और अगर कह दें कि यह तो अपने कुटुम्ब में मूढ़ बन रहा है तो उसे वह कुछ गाली सा समझ लेता है, पर मोह और मूढ़ में फर्क कुछ नहीं है। अर्थ दोनों का एक ही है। तो यह जीव मूढ़ होकर इन बाह्य द्रव्यों में रच-पच रहा है। हम आप सभी लोग जानते हैं कि संसार का सारा वैभव हमसे निराला है, हां इसे कोई कितने ही अंश में जानता है, कोई कितनी ही गम्भीरता से, कोई कितने ही विवेक से जानता है, पर जानते सभी लोग हैं, फिर भी मोह का महात्म्य ऐसा है कि उनमें ही यह जीव प्रीति कर रहा है, उन्हें भिन्न नहीं जानता। कितनी ही ठोकरें भी लग रही हैं लेकिन निर्णय अपना एक यही बना रखा है कि हमारा गुजारा तो इसी में है अन्य भांति हमारा गुजारा चल ही नहीं सकता। उन ही में यह रच-पच रहा है, यह सब अज्ञान का महात्म्य है।

जो जाणिऊण देहं जीव सरूवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि कज्जकरं तस्स अण्णत्तं।।८२।।

अन्यत्व भावना भाने का प्रयोजन बताने के प्रसंग में अनित्य व अशरण भावना भाने के प्रयोजन का उदाहरण–जो पुरुष जीव के स्वरूप से देह को तत्वतः भिन्न जानकर अपने आपके आत्मा की सेवा करता है उसकी अन्यत्व भावना भाना सफल है। जैसे अनित्य भावना का क्या प्रयोजन है? अनित्य भावना में भाते हैं–राजा, राणा क्षत्रपति सभी मरने वाले हैं, कोई यहां सदा नहीं रहने का है, जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग होगा आदिक बातें कहते हैं। लेकिन इस तरह की बातें सोचना तो घबराहट पैदा करता है। उससे लाभ क्या हुआ? एक शंका की जा सकती है कि यहां सभी लोग मरते हैं, हमें भी मरना पड़ेगा। अरे ऐसा सोचना तो एक घबराहट पैदा करेगा उससे लाभ क्या? तो अनित्य भावना का प्रयोजन वास्तव में यही है कि इन सबको अनित्य जानकर अपने नित्य ज्ञानस्वभाव की शरण लें, उसकी ही रुचि करें। यदि कभी आत्मा के नित्य स्वभाव की रुचि न बने, उस ज्ञानस्वभाव का उपयोग रखकर जो शरण नहीं ग्रहण करे तो उसकी अनित्य भावना कार्यकारी नहीं है। अनित्य भावना भाने का प्रयोजन यही है कि अनित्य पदार्थों को अनित्य जानकर, इन सब समागमों को विनाशीक जानकर इनमें प्रीति न करना और अपने आपका जो नित्य ज्ञान स्वभाव है, जो अपने साथ अनादि से है, अनन्त काल तक रहेगा, जिसके परिचय बिना ही संसार का जन्म-मरण करना पड़ रहा है उस ज्ञान स्वभाव की रुचि करना यह अनित्य भावना का प्रयोजन है। अशरण भावना भायी। इस जीव का कहीं कोई शरण नहीं है, जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही सुख दुःख भोगता है। इसकी कोई मदद नहीं करता है। यह जीव अशरण है, इसका कोई शरण नहीं है, इस तरह की बात विचारने से तो एक घबराहट पैदा करने की बात हुई। अशरण भावना भाने का प्रयोजन क्या है? अशरण भावना भाने का प्रयोजन यह है कि इन बाह्य पदार्थों से अपने को शरण न समझें। ये बाहरी पदार्थ कुछ भी मेरे शरण नहीं हैं मेरा शरण तो मेरे सहज स्वरूप का सम्बन्ध, इसका उपयोग शरण है। तो अपने वास्तविक शरणभूत निज अंतस्तत्व का शरण ग्रहण कराना अशरण भावना का प्रयोजन है।

अन्यत्व भावना भाने का प्रयोजन बताने के प्रसंग में संसार और एकत्व भावना भाने का प्रयोजन–संसार भावना में स्थूल तथा यह वर्णन करते हैं कि यह संसार असार है। यहां सभी जीव दुःखी हैं, संसार में कहीं सुख नजर नहीं आता। धनी लोग तृष्णावश दुःखी हैं, निर्धन धन बिना दुःखी हैं। कुछ पढ़े-लिखे लोग विद्या गौरव के कारण दुःखी हैं और मूर्ख पुरुष पर वस्तुओं की चाह बनाकर दुःखी हैं। इस जगत में कोई सुखी नजर नहीं आता, यहां सभी लोग दुःखी नजर आ रहे हैं। इस तरह का ज्ञान करके लाभ क्या मिलेगा? संसार भावना भाने से लाभ यह है कि यह समझकर कि संसार में सर्वत्र दुःख ही है, सारी जीव दशायें ये आकुलता के ही कारण हैं, इनमें सार नहीं है; किन्तु मेरा सार, मेरे में, अपना आप सहज ज्ञानमय अन्तस्तत्व अपने सत्व के कारण अनादि अनन्त विराजमान है। उसका दर्शन करना। उसमें रुचि करना यह संसार भावना भाने का प्रयोजन है। एकत्व भावना में यह बात कही गई कि यह जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरण करता है, अकेला ही बुढ़ापा, जवानी, बचपन आदि पाता है, अकेला ही रोगी शोकी होता है, अकेला ही सुखी दुःखी होता है। सबकुछ इस जीव पर अकेले ही होता है, तो ऐसा निरख कर हमें लाभ क्या मिला? लाभ यह है कि ऐसा सबकुछ सोचना तो व्यवहार का अकेलापन है, पर हम वस्तुतः देखें तो निश्चयतः मूलतः यह जीव अकेला ही है। अपने स्वचतुष्टय से सत् है, पर चतुष्टय से असत् है। मैं अपने ही द्रव्य से हूं, अपने ही गुणपर्याय के पिण्ड से हूं, अपने ही प्रदेशों से हूं, अपने ही परिणमन से हूं और अपने ही भावों से हूं। किसी

अन्य द्रव्य के साथ में से द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव किसी भी अंश का कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा अपने को अकेला जानना और इसके फल में समझा क्या कि मैं अनादि अनन्त शाश्वत एक सहज ज्ञानानन्द स्वभाव मात्र हूं, ऐसा मैं अकेला हूं। मुझसे जो रागद्वेषादिक विभाव परिणमन चलते हैं वे भी मेरे नहीं हैं, उनसे भी निराला एक सहज ज्ञान स्वभाव मात्र मैं हूं, ऐसे अपने एकत्व स्वरूप पर दृष्टि ले जाना, जिसमें उपयुक्त होने से कर्म झड़ते हैं, मुक्ति मिलती है, सदा के लिए संकट टलते हैं, ऐसे अपने एकत्व स्वरूप में पहुंचना, यह एकत्व भावना भाने का प्रयोजन है।

अन्यत्व भावना भाने का प्रयोजन–अनित्य अशरण आदि भावना के प्रयोजन की भांति अन्यत्व भावना भाने का प्रयोजन बतला रहे हैं। जीव के स्वरूप से देह को भिन्न जानकर क्या करना कि देह से निराले इस ज्ञान स्वरूप मात्र निज अंतस्तत्व की उपासना करना, ऐसा करने से ही अन्यत्व भावना भाना सफल है, यों तो अन्यत्व भावना शब्दों से सभी भा लेते हैं, जब घर में लड़ाई होती है तो झट अन्यत्व भावना सामने आ जाती है–अरे कोई किसी का नहीं है, सब जुदे हैं लेकिन यह अन्यत्व भावना कषाय वश आयी है, विवेक ही इसमें नहीं आया है। विवेक से यदि अन्यत्व की बात सोची जाये तो यह तो एक है बाह्य अन्यत्व का परिचय, किन्तु वह अन्तः यह परिचय करेगा कि मैं एक सहज ज्ञान स्वभाव रूप हूं। इसके अलावा अन्य सारी परिणतियां मुझसे भिन्न हैं। देखो कोई प्रभु हो गए तो क्या हो गए? जो उनका न था वह छूट गया, इसी के मायने प्रभु का होना कहलाता है। जो न था वह छूट गया और जो था वह दृढ़ता से हो गया इसी के मायने हैं प्रभुता पा लेना। अब बतलाओ प्रभु ने कोई बड़ा काम तो नहीं किया। जो थे सो रह गए। बस इतना ही किया। यह भक्ति के अलंकार में कहा जा रहा है। उन्होंने कोई पहाड़ नहीं उठाया अथवा कोई संग्राम नहीं किया। कोई बड़ा परिश्रम नहीं किया अर्थात् बाहरी बातें नहीं कीं। किया क्या? केवल अपने कैवल्य स्वरूप की भावना की, उपासना की, उसी के प्रसाद से अब वे केवल हो गए। जैसी श्रद्धा होती है जीव की प्रवृत्ति उसकी वैसी होती है। यह तो एक आम बात है। जिस मनुष्य की पाप में सुख मानने की श्रद्धा जगती है उसकी पाप में प्रवृत्ति होती है। जिसको शुभ में पुण्य में हित मानने की प्रवृत्ति होती है उसकी किसी अंश में पुण्य में प्रवृत्ति होती है और जिसको समस्त विभावों से रहित अपने आपके सत्व के ही कारण जैसा जो सहज स्वरूप है वही मैं हू इस तरह के जानने की रुचि होती है उसके वह गुण भी प्रकट होता है। तो प्रभु ने अपने कैवल्य स्वरूप की उपासना की, उसके प्रसाद से वे केवल हो गए, यही उनकी प्रभुता है। हम भी देह से निराले अन्तस्तत्व की उपासना करके शाश्वती निराकुलता प्राप्त करें यही अन्यत्व भावना भाने का प्रयोजन दिखाया जा रहा है।

इन्द्रियों से ज्ञान और सुख मिलने का भ्रम होने का कारण–हम संसारी जीव इस समय जो कुछ ज्ञान करते हैं और आनन्द पाते हैं उसमें आश्रय इन्द्रिय का होता है और इन्द्रिय का आश्रय होने से अर्थात् मति श्रुत ज्ञान की उत्पत्ति तथा वैषयिक सुख की उत्पत्ति इन्द्रिय के कारण होने से जीव को यह भ्रम हो गया है कि ये इन्द्रियां जानती हैं, सुख भोगती हैं, इनके ही कारण मेरा ज्ञान और आनन्द है, लेकिन इस जीव में स्वयं ज्ञान और आनन्द का स्वभाव न हो तो इन जड़ इन्द्रियों के माध्यम से भी क्या कोई ज्ञान और सुख पाया जा सकता है? तो जो स्वयं ज्ञानमय है, स्वयं आनन्दमय है उसकी पकड़ होना चाहिए। यह जगत मायाजाल है, इसमें सब जीव भूले-भटके फिर रहे हैं, बाह्य पदार्थों में प्रीति की उत्सुकता होने से प्रायः ये जीव अंधेरे में हैं। यहां लोग बड़प्पन भिन्न-भिन्न बातों में मानते हैं। कोई बड़ा अधिकारी बनने में, कोई बड़ा धनिक बनने में, कोई ज्ञान वालाबनने में, कोई किसी ही बात में अपना बड़प्पन मानते हैं। सो ठीक है लेकिन यह मैं आत्माराम तो उन सब विकल्पों से हटकर निर्विकल्प अविकार, सहज ज्ञान स्वभाव की उपासना में लगता हूं। इस मेरे का दुनिया

अपने आपके शरीर को सम्भाल छोड़ देता है, पागल सा बनकर यहां-वहां विचरता रहता है तो कर क्या रहा है वह? उसकी सेवा करने के लिए भी उत्सुक है जिस पर प्रीति हुई है, उसको रिझाने, मिलने, प्रसन्न रखने के लिए इतना दत्तचित्त है कि अपने आपके इस शरीर की भी खबर छोड़ देता है। यह तो है एक बाहरी बात और यहां ये अज्ञानी जन कर क्या रहे हैं कि बाह्य पदार्थों में इन्हें आसक्ति जगी है। इनसे ही तो सुख है। बहुत स्वादिष्ट भोजन करने में ही तो बहुत आनन्द मिलता है। वही रोज-रोज करना चाहिए। आसक्ति से खाते हैं, स्वाद लेते हैं, पर यह बात भूल गए कि इस मिठाई के खाने के समय भी जो स्वाद आ रहा है वह ज्ञान का स्वाद आ रहा है, इन पदार्थों का स्वाद नहीं आ रहा। यह खबर भूल गये। किसी भी प्रसंग में जब-जब भी ये आनन्द मानते हैं, सन्तोष करते हैं तो वे अपने ही किसी ज्ञान का स्वाद लेते हैं, आनन्द मानते हैं। पर समझते हैं कि इससे स्वाद आया।

एक उदाहरणपूर्वक सुख को अन्याधीन मानने के भ्रम का दिग्दर्शन--जैसे कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है तो चबाने से उसके ही दांतों के मसूड़ों में कुछ फटाव हो जाता है और उसी के मुख में से खून निकलता है। उस खून का वह स्वाद ले रहा है, कुछ अच्छा उसे जंच रहा है तो यह जानकर कि यह स्वाद इस हड्डी से आ रहा है, तब कहीं वह अकेले में जाकर उस सूखी हड्डी को चबाता है इसलिए कि कहीं दूसरा कुत्ता छुड़ा न ले। यदि कोई दूसरा कुत्ता उसे छुड़ाने आ जाता है तो उससे बुरी तरह वह कुत्ता लड़ता है, उस कुत्ते से भी यह नुचचिथ जाता है पर उस हड्डी को वह नहीं छोड़ना चाहता। यह भ्रम की ही तो बात है। ऐसे ही इन अज्ञानी जीवों ने यह भ्रम मजबूत कर लिया है कि मेरे को आनन्द इन पदार्थों के छूने से होता है, मेरे को आनन्द इन पदार्थों का स्वाद लेने से होता है, इन रूपों के देखने से मेरे को आनन्द होता है। लोक की ये भवमूर्ति, ये दुनिया के लोग मेरे बारे में कुछ अच्छा कह दें ऐसी बात मेरे सुनने-जानने में आये, इससे ही मुझको सुख होता है।

राग द्वेष मोह वश हुए दुःखों के मेटने का उपाय निज ज्ञान स्वभाव के ज्ञान का पौरुष--मेरा सुख इस पब्लिक के अधीन है, विषय के अधीन है ऐसी भ्रान्ति बना करके यह जीव यह भूल गया कि यह स्वयं ही तो आनन्द का पिण्ड है। इन घटनाओं में जो आनन्द जग रहा है वह इन चीजों का आनन्द नहीं है। वह तो मेरा ही परिणमन है। इस तथ्य को भूल जाने के कारण यह जीव उन बाह्य पदार्थों में ही दौड़ लगाये जा रहा है। अब ऐसी चाह वाले मनुष्य हैं अनेक। वैभव है परिमाण का और उसके चाहने वाले हैं सभी मनुष्य तो सभी तो उस पर टूटते हैं। तो एक-दूसरे का विरोधी जानकर जिसने समझा कि मेरे विषय में यह बाधक बन रहा है, उस पर टूट पड़ता है यों यह जीव मोह राग-द्वेष के वश होकर निरन्तर दुःखी रहता है। इस जीव के दुःख मिटने का उपदेश आचार्य ने यह दिया है कि तुम वस्तु के सत्य स्वरूप को जानो, तुम्हारे स्वरूप से देह विषय आदिक समस्त पदार्थ भिन्न हैं। उनकी उपेक्षा करके अपने आपमें रुचि करें, इस ज्ञान स्वभाव में ही उपयोग लगाने का प्रयत्न करें, यही इस अन्यत्व भावना भाने का फल है।

●●●

अशुचित्वानुप्रेक्षा

सयल-कुहियाण पिंडं किमि-कुल-कलियं अउव्व-दुग्गंधं।
मल-मुत्ताण य गेहं देहं जाणेहि असुइमयं।।८३।।

देह की अशुचिमयता–यह देह अशुचिमय है, अपवित्र द्रव्यों से बना हुआ है, क्योंकि यह देह सारी अपवित्र वस्तुओं का ही पिण्ड है। इस देह में भीतर से बाहर तक कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो किसी प्रकार लोक व्यवहार में भी कुछ ठीक माना जाता हो। बहुत से जानवरों के देह में कुछ चीजें ऐसी भी होती हैं कि जो लोक व्यवहार में कुछ काम में आती हैं और कुछ ठीक भी मानते हैं–जैसे गजमोती, सीप, शंख आदि किन्तु मनुष्यों के देह में तो इतना भी नहीं है। इसमें अनेक कीड़ों का समूह भी बसा हुआ है। पेट में उत्पन्न होने वाले दो इन्द्रिय लट आदिक, सिरकेश में जूं लीख वगैरह अनेक जीव भी इसमें और अधिक बने हुए हैं। यह शरीर अत्यन्त दुर्गन्धमय है तथा मलमूत्र आदि का घर है। सात धातु उपधातु और मल मूत्रादिक मलों का समूह ही यह देह है। अशुचिभावना में लिखा है कि यह देह चाम चादर से मढ़ी हुई है इसलिए प्रकट घिनावना नहीं लग रहा। यदि चाम की चादर इस देह पर न होती तो इस शरीर का बड़ा घिनावना रूप लगता। तो यह शरीर अत्यन्त दुर्गन्धमय है।

इस शरीर की उत्पत्ति वृद्धि की स्थिति में भी अशुचिता की प्रसिद्धि–देह की अशुचितता के सम्बन्ध में प्रथम तो समझिये कि इस शरीर की उत्पत्ति किस प्रकार होती है? कोई जीव मरकर जब गर्भ में आता है तो गर्भ में दस दिन तक इस शरीर का बीज कलिल अवस्था में रहता है। कलिल दशा ऐसी होती है कि जैसे गले हुए तांबे और चांदी को आपस में मिलने पर होता है। एक ढड़कता हुआ गीला सा बीज भूत शरीर रहता है। गर्भ अवस्था में माता के रज और पिता के वीर्य की ऐसी ही स्थिति दस दिन तक रहती है जो कि कलिल जैसी दशा रहती है। इसके बाद दस दिन तक उसका रंग कृष्ण हो जाता है। इसके बाद अब तक तो वह अस्थिर था, पिण्ड होकर भी कुछ गीला होने के कारण चलित अवस्था सी रहती थी, अब वह स्थिर हो गया। इन बातों का अनुमान अंडे में आने वाले जीव के शरीर को देखकर किया जा सकता है। जैसे कभी छोटी अवस्था में कहीं अंडा फूट जाता है, गिर जाता है तो वह शरीर कलिल की तरह पानी जैसा फैल जाता है। कुछ ज्यादा का दिन अंडा गिरा हुआ होता है तो फैलता नहीं किन्तु गीला होकर भी स्थिर सा रहता है, ऐसे ही मनुष्य के गर्भ में ऐसी स्थिति होती है। सो पहले महीने में तो यह दशा हुई, तीस दिन तक ऐसी स्थिति रही। दूसरे महीने में यह शरीर बुदबुदे की तरह हो जाता है। तीसरे महीने में उसमें कड़ापन आता है। यह मनुष्य देह जो बना है, उसकी क्रमशः ऐसी-ऐसी स्थितियां होती हैं। जीव तो उस ही क्षण से है जब कि वह गर्भ का प्रथम ही दिन था, जहां से उस शरीर में कुछ थोड़ी सी भी वृद्धि उत्पन्न हुई। तीसरे माह में वह शरीर कड़ा हो जाता है, चौथे माह में वह मांस का पिण्ड बन जाता है। पांचवें महीने में उस शरीर में से ऐसी जगह अंकुर फूटने लगते हैं जहां से हाथ-पैर आदिक बनते हैं। तो ऐसे वे अंकुर पांच फूटते हैं, दो हाथ के, दो पैर के और एक सिर का। है भी शरीर इस तरह पांच शाखाओं जैसा। छठे माह में अंगोपाङ्ग बन जाते हैं। सातवें महीने में चमड़ा केश, रोम, नख आदिक भी बन जाते हैं। कभी-कभी कोई-कोई बच्चा ७ माह का भी पैदा हो जाता है और उसमें सब बातें बन जाती हैं। आठवें महीने में बच्चा पेट में घूमने लगता है। थोड़ा-सा सरकना, हिलना-डुलना आदिक ऐसी बातें उसमें आने लगती हैं। नौवें और दसवें महीने में वह बच्चा गर्भ से बाहर

निकलता है। तो इस तरह इस शरीर का निर्माण हुआ। इस निर्माण विधि में प्रारम्भ से अन्त तक आपको यही ध्यान आ रहा होगा कि यह सारा शरीर अशुचि ही अशुचि है।

शरीर में पाई जाने वाली रचनाओं की अशुचिमयता–इस बने हुए शरीर में क्या-क्या रचनायें हैं? इसका भी परिज्ञान करने से यह बात ज्ञात होती है कि यह शरीर अशुचिमय है। इस शरीर में आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार तीन सौ हड्डियां बतायी गई हैं। जैसे अंगुलियों के भीतर भी हड्डियां हैं और कहीं जुड़ी हुई हड्डियां हैं। ऐसी सारे शरीर में मिलाकर तीन सौ हड्डियां होती है। ये हड्डियां मज्जा नाम की धातु से भरी हुई होती हैं। इन हड्डियों के भीतर कुछ थोड़ी पोल भी है लेकिन उसमें भी मज्जा जैसी धातु है तथा उन हड्डियों के ऊपर भी लिपटी रहती है। तीन सौ ही इसकी सन्धियां हैं। एक हड्डी दूसरी हड्डी से मिलें उसे सन्धियां बोलते हैं। इसमें नौ सौ नसें पायी जाती हैं, सात सौ इसमें शिराएं हैं। पांच सौ मांस की गांठे हैं, शिराओं के चार समूह हैं, रक्तपूर्ण, सोलह महाशिरायें है। उन शिराओं के छः मूल हैं। दो मांस रज्जु हैं, वे रस्सी की तरह हैं। और जिसे आंत जैसी बात कह सकते हैं कि इतने लम्बे-चौड़े रज्जु हैं पीठ पेट को कसने वाली कि जिसका इकहरा विस्तार हो तो बहुत लम्बाई बने। सात मांसखण्ड हैं, अस्सी लाख करोड़ रोम हैं। आमाशय में सोलह आतें हैं। सात दुर्गन्ध के आश्रय हैं। तीन स्थूणा हैं वात पित्त और कफ। एक सौ सात मर्म स्थान हैं, जिनमें चोट लगे तो प्राण निकलने जैसी वेदना मालूम पड़े, जैसे गले की जगह, नाभि की जगह, ऐसे एक सौ सात मर्म स्थान हैं, नौ मलद्वार हैं। जिनसे सर्वदा मल झरता रहता है। दो कान में छिद्र, दो नाक के छिद्र, दो आंख के छिद्र, एक मुख का छिद्र और दो मल तथा मूत्र के छिद्र ऐसे नौ मल द्वार हैं जिनसे सदा महा अपवित्र चीजें झरती रहती हैं। देखिये–शरीर में सबसे अधिक मल का घर है तो मुंह है जिससे लोग बड़ा परिचय रखते हैं और जिससे ही सुन्दरता समझते हैं। किसी के रूप का कोई अवलोकन करता है सुन्दर समझकर तो मुख को ही देखता है, पर सबसे ज्यादा मल के स्थान इस मुख पर हैं। तो इस मुख की जगह में सात मल द्वार हैं, दोनों कानों से कर्णमल झरता है, नाक के दोनों छिद्रों से नाक झरती, दोनों आंखों से आंखों का कीचड़ झरता, और मुख से लार, थूक, कफ आदिक झरते हैं। ऐसे महा अपवित्र मुख स्थान से लोग अपना परिचय करते हैं और उसमें सौन्दर्य का व्यवहार बनाते हैं। बहुत सी महिलायें अथवा पुरुष तो इस मुख स्थान को पोंछ-पोंछकर तेल पाउडर आदिक से बहुत अधिक सजाते हैं तो वे क्या करते हैं–मानो मल से भरे हुए स्वर्ण के घड़े को सजाते हैं। इस देह में एक अञ्जलि प्रमाण मस्तक है, अञ्जलि कहते हैं–दोनों हाथ मिलकर उसमें जितनी कोई चीज समा सकती है उसे एक अञ्जलि कहते हैं। एक अञ्जलि प्रमाण मेदा है, एक अञ्जलि प्रमाण ओज और एक अञ्जलि प्रमाण वीर्य है। तीन अञ्जलि वसा है, तीन अञ्जलि प्रमाण पित्त है। (इस देह के वर्णन में यहां प्रायः एक मनुष्य देह की बात चल रही है) इसमें आठ सेर खून है, सोलह सेर मूत्र रहता है, चौबीस सेर विष्टा रहता है। अब आप समझिये कि करीब इतना विष्टा निरन्तर इस शरीर में न रहे तो यह जीवित नहीं रह सकता। ऊपर से इस शरीर का बड़ा भला रूप लग रहा है किन्तु भीतर में महा अपवित्रतायें इसके अन्दर भरी हैं। इसमें बीस नख हैं जो अंगुलियों के अन्त में निकलते हैं और बत्तीस दांत होते हैं। किसी के इससे कुछ कम भी हो सकते हैं।

मोह ही की सर्वाधिक अशुचिता–इस शरीर में भरा क्या है? इसका वर्णन इसलिए किया जा रहा है कि जिस शरीर से इतनी अधिक ममता की जाती है वह शरीर पौद्गलिक पिण्ड है और कैसा अशुचिमय पदार्थ है। अशुचि भावना में अन्य कवियों ने भी इस शरीर की अशुचिता का वर्णन किया है। भूधरदास कवि ने बताया है कि हाड़ का यह पिंजड़ा है। इस लोक में देह के समान और कोई अपवित्र चीज नहीं है पर इसके ऊपर जो चाम की चादर मढ़ी हुई है उसके कारण लोग बड़ा प्यार करते हैं, घृणा नहीं करते। लोक में जो भी

अशुचि पदार्थ माने जाते हैं वे शरीर के सम्बन्ध से ही तो अशुचि हुए हैं। विष्टा क्या है? यह इस शरीर के सम्बन्ध से ही तो बनता है। नालियों में जो गंदगी है उसमें और है क्या? मरे हुए जीवों का समूह ही तो है। पर कुछ विवेक करके यह भी निरखिये कि जो अपवित्र शरीर माना जाता है उसमें अपवित्रता आयी कहां से? जब तक जीव ने शरीर को ग्रहण न किया था तब तक ये आहारवर्गणायें लोक में सर्वत्र फैली थीं और इनमें कोई गन्दगी न थी। आहरवर्गणायें ही औदारिक शरीर रूप परिणमती कभी वैक्रियक शरीर रूप परिणमती, कभी आहारक शरीर रूप परिणमती तो जो जीव जिस प्रकार के कर्मोदय वाला हो उसके उस तरह के शरीर बन जाते हैं। उन आहरकवर्गणाओं में क्या अशुचिपना है? जब इन कर्मभूमिया मनुष्य तिर्यञ्चों ने आहारवर्गणाओं को ग्रहण किया तो वे अशुचि बन गए। तो इसको अशुचि किसने बनाया? इस मोही जीव ने। जीव में अशुचिपना नहीं है किन्तु जीव का जो मोह परिणाम है उसके कारण ये सब अपवित्रतायें बन गईं। अतः सबसे गंदी चीज है यह मोह भाव, जिसके सम्बन्ध के कारण ये शरीरादिक सभी पदार्थ अशुचि हो गए। यों यह देह अशुचि है। इस देह के अन्दर विराजमान ज्ञानस्वरूप यह मैं अन्तस्तत्व शुचि हूं। यही समयसार है। आत्मा में जो एक सहज स्वरूप है वह उत्कृष्ट और पवित्र है। इसका ही शुद्ध विकास परमात्मा कहलाता है। तो यों इस अशुचि देह में विराजमान जो शुचि है उसको अन्दर निरखते रहना चाहिए कि कहां तो यह मैं ज्ञानस्वरूप शुचि पवित्र परम पावन आत्मतत्व, सहज परमात्मदेव और कहां यह अशुचि पदार्थों का पिण्ड यह देह? इसकी इस देह में ममता होना यह कितनी बेहूदी और बेतुकी बात है। इस प्रकार शुचि आत्मा से भिन्न अशुचि शरीर को निहारना सो अशुचि भावना है।

सुट्ठुपवित्तं दव्वं सरस-सुगंध मणोहरं जंपि।
देह-णिहित्तं जायदि घिणावणं सुट्ठु दुग्गंधं।।८४।।

देह के सम्बन्ध से पावन सुगंध मनोहर पदार्थों की भी अशुचिता–यह देह इतना अशुचि है कि इस देह पर यदि अत्यंत पवित्र, सरस, सुगंध, मनोहारी पदार्थ भी लगा दिया जाये तो वह भी घिनावना अति दुर्गन्धयुक्त हो जाता है। जैसे चन्दन बहुत सुगंधित पदार्थ है लेकिन चन्दन घिसकर कोई मस्तक में लगाता है और ज्यादा लग गया चन्दन तो क्या कोई दूसरा उसे अपने मस्तक पर लगाने के लिए तैयार हो सकता है? नहीं तैयार हो सकता। तो चन्दन जैसा कपूर, अगरू, कस्तूरी, सुगंधित पुष्प आदि पवित्र पदार्थ भी शरीर का स्पर्श होने से अपवित्र हो गया। किसी के शरीर में तेल मालिश की जा रही हो, किसी जगह तेल अधिक लग गया तो क्या दूसरा पुरुष उसके तेल को छुटाकर अपने शरीर में लगाना पसंद करेगा? नहीं पसंद करेगा। तो तेल शरीर का स्पर्श पाकर अपवित्र हो गया अन्य की तो बात क्या। अगर किसी के गले में फूलों का हार डाल दिया गया हो और दूसरों को विदित हो जाये कि यह माला इसने पहनी है तो कोई भी व्यक्ति उसे पहनना पसंद न करेगा। तो इस शरीर से सम्बद्ध हो जाने पर पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं। इतना अशुचि पदार्थ है यह देह, फिर भी इस जीव को इस शरीर से ग्लानि नहीं आती, इससे उपेक्षा नहीं जगती और इस शरीर की सेवा पोषण के लिए ही इस जीव का ममत्व बना रहता है, यह कितने खेद की बात है? शरीर में और आत्मा में स्वभाव भेद का कितना महान अन्तर है, कहां तो यह आत्मा आकाशवत् अमूर्त निर्लेप किन्तु चैतन्य गुण से विशिष्ट पावन ज्ञातादृष्टा, कहां तो इसका ऐसा पवित्र स्वभाव और कहां शरीर ऐसा अपवित्र जो मांस, रूधिर, मल, मूत्र आदिक की थैली ही है। इस आत्मदेव को अज्ञानवश कैसा मोह होता है सबकुछ अपना बड़प्पन अपनी भलाई इस देह के कारण ही मान रहे हैं।

भेद विज्ञान का प्रारम्भ और प्रकर्षपना–मोक्ष मार्ग में लगने के लिए भेद विज्ञान का प्रारम्भ देह से

भिन्नता का चिन्तन करने से तो होता है। यद्यपि भेद विज्ञान सही मायने में वह कहलाता है जहां समस्त पर तत्वों से भिन्न सहज ज्ञान स्वभाव पर दृष्टि की जाये। किन्तु एक भिन्न पदार्थ की मीमांसा में यदि इस क्रम से मीमांसा की जाये कि पहले सर्वाधिक भिन्न वस्तु से आत्मा को निराला सोचें फिर उससे अति निकट भिन्न वस्तु से निराला सोचें तब धन वैभव तो प्रकट पराये हैं। उनको भिन्न सिद्ध करने के लिये कोई दिमाग नहीं लगाना है। सभी लोग देख रहे हैं कि सभी वस्तुयें हमसे प्रकट भिन्न हैं, यहां तक कि यह देह भी हमसे भिन्न है, फिर भी मोहवश इन्हें यह जीव अपनाता है। इस शरीर की भी बात क्या, इससे भी और अन्तरङ्ग चलिये तो ये पौद्गलिक कर्म, ज्ञानावरण आदिक कर्म ये जीव से भिन्न हैं ये भी अचेतन हैं, परद्रव्य हैं, इनसे मैं न्यारा हूं। यहां तक तो परद्रव्य की बात चली। यानि नोकर्म और द्रव्यकर्म से मैं न्यारा हूं। अब और अन्तरङ्ग में चलें तो ये रागादिक दोष, क्रोध, मान, माया, लोभ, इच्छा आदिक विषय कषाय के परिणाम ये औपाधिक भाव हैं, स्वरूप में नहीं है। इनसे मैं न्यारा हूं। जैसे दर्पण में हाथ की छवि पड़ती है तो वह छवि दर्पण की मूलभूत वस्तु नहीं है, औपाधिक है। दर्पण के सत्त्व के कारण ही केवल वहां से प्रकट नहीं हुई, उसमें उपाधिका सन्निधान है। इस प्रकार रागादिक भाव औपाधिक भाव हैं, इस कारण ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। मैं इन रागादिकों से न्यारा हूं। अब और आगे चलें तो विचार, वितर्क, चिन्तन, छुटपुट ज्ञान—ये उन रागादिक दोषों की अपेक्षा तो अन्तरंङ्ग है, क्योंकि वे तो विकार हैं और यहां यह ज्ञान के आवरण में छुटपुट परिणमन हैं, लेकिन इससे भी मैं निराला हूं। अपने आपके सहज स्वरूप की दृष्टि से निर्णय किए जाने पर तो यह भी विदित होगा कि शुद्ध अवस्था होने पर भी, प्रभु परमात्मा होने पर भी जो प्रतिक्षण में वहां परिणमन चल रहा है, शुद्ध परिणमन चल रहा है शुद्ध परिणमन शुद्ध होने पर भी मैं सहज स्वरूप उस परिणमन रूप नहीं हूं, किन्तु शाश्वत एक ज्ञान स्वभाव हूं।

मोह में आत्मा और पुद्गल के अनमेल मेल का प्रयास—अब देखिये कहां तो मेरा यह पावन सहज ज्ञान स्वरूप और कहां चिपकाव लगाया गया है इस दुर्गन्धमय अशुचि भिन्न देह में, यह कैसा अनमेल मेल है? बाहर में यदि किसी एक गाड़ी में हाथी और बकरा जोते जायें तो लोग इसको बेवकूफी कहेंगे। कैसा अनमेल मेल किया जा रहा है और यहां कैसा अनमेल मेल बनाया जा रहा है इस पर दृष्टि नहीं रखते। तो यह शरीर अत्यन्त अशुचि है, ऐसा जानकर इससे विरक्त होने में ही लाभ है। यह देह रमने योग्य नहीं हैं देहरमण के प्रसंग में पुण्योदयवश मन में एक स्वच्छन्दता जगती है, कायरता जगती है, ये वैभव सुहावने लगते हैं किन्तु यह स्वप्न तो थोड़े ही समय का है, इसका फल बहुत कठिन भोगना पड़ेगा। कुछ मन मिला है, पुण्य मिला है, तो ठीक है, खूब खाओ अभक्ष्य पदार्थ, खूब भोग-भोग लो, खूब मनचाही स्वच्छन्द वृत्तियां कर लो, आज तो ये सब चीजें बड़ी सस्ती लग रही हैं लेकिन इन परिणामों में जो कर्मबंध होता है उसका फल भोगने कौन दूसरा आयेगा? यहां से मरण करके कीट पतंगे, पेड़-पौधा आदि बन गए तो फिर कहां ये सारी स्वच्छन्द वृत्तियां चल सकेंगी। स्वच्छन्दता वहां भी है, मगर अपने-अपने पर्याय के अनुकूल हैं। तो थोड़े ही वर्षों का यह विषय भोग जो इस ही जीवन में पीछे नीरस लगने लगता है, ऐसे भोगों में, ऐसे अशुचि देहों में जो पुरुष अनुरक्त होता है वह अपने आपको इन संसार की विडम्बनाओं में फंसा लेता है।

देहनुराग के साधनों की असारता—देह के अनुराग का एक साधन लोगों ने माना है ब्रह्मचर्य का घात। पर लोक दृष्टि से देखो तो ब्रह्मचर्य के घात में यह पुरुष प्रथम तो देह का बल खोकर आनन्द मानता है, जो देहवीर्य चालीस दिन तक भोजन करने पर थोड़ा सा बन पाता है उस वीर्य को कामी पुरुष अपने आप निर्दय होकर यों ही खो देता है। फिर उस शरीर के अनुराग में यह जीव अपने को कितना कायर बना लेता है? दूसरे को प्रसन्न रखने के लिए उसे कितना दीन बनना पड़ता है, ये सब बातें उसके मन पर ही बीतती हैं? देह के

अनुराग का साधन सभी विषयों का उपभोग है। देह को निरखकर यह जीव कितना मुग्ध होता, यह ही मैं हूं, यह ही सर्वस्व है। यह पता नहीं कि अनन्तानन्त देह पाये, इससे भी सुहावने, देव भव के भी देह पाये, पर उनसब देहों को त्यागना पड़ा और जैसे-जैसे बन्ध किया उसके माफिक अन्य-अन्य देहों को धारण करना पड़ा। शान्ति के इच्छुक को सर्वप्रथम तो यह निर्णय करना होगा कि जन्म लेना ही एक महान् विपदा है, इस भव के बाद अगले भव में भी जन्म होगा ना, लेकिन जो अगले भव में जन्म होगा उसकी सुध अभी तो नहीं है, पता नहीं अगले भव में कहां होंगे, कैसे समागम प्राप्त होंगे। एक भव छोड़ने पर दूसरी जगह जन्म लेने पर नये-नये संयोग मिलते हैं, नये-नये समागम प्राप्त होते हैं, नई-नई आकांक्षायें बनती हैं, अनेक यत्न करने होते हैं, सारा जीवन कष्ट भोगते-भोगते ही व्यतीत होता है। यह जन्म ही जीव की एक बड़ी विपदा है। मरण तो जीव के उद्धार का कारण है और जन्म जीव को विपत्ति में लगाने का कारण है। तो यह देह अशुचि है। यह रमने के लायक नहीं है।

त्रिविध भोग साधक–भैया! इस देह को अशुचि जानकर इससे विरक्त होने में ही लाभ है। लेकिन ये मोही जीव इस देह में इतना आसक्त है कि प्रकट घिनावना सब कुछ नजर भी आ रहा है लेकिन उससे प्रीति नहीं छोड़ सकते। एक बार किन्हीं तीन मनुष्यों को एक भंगिन सुन्दर तौलिया से ढका हुआ टोकरा लिए जाते हुए दिखी। वे तीनों पुरुष उस भंगिन के पीछे लग गए, यह सोचकर कि इस टोकने में यह कोई सुन्दर चीज लिए जा रही है। भंगिन उनको अपने पीछे लगा हुआ देखकर बोली–तुम लोग हमारे पीछे क्यों लगे हो? तो वे पुरुष बोले–हम यह जानना चाहते हैं कि तुम इस टोकरे में क्या चीज लिए जा रही हो? हमें लगता है कि इसमें कोई सुन्दर चीज होगी। तो भंगिन बोली–अरे इस टोकरे में विष्टा है। भंगिन की बात सुनकर उनमें से एक पुरुष वापिस लौट गया। दो पुरुष अभी भी भंगिन के पीछे लगे रहे। भंगिन फिर बोली–आप लोग क्यों हमारे पीछे लगे हैं? तो वे दोनों पुरुष बोले–हमें तो इसे खोलकर दिखा दो, जब सही-सही जान जायेंगे तब लौटेंगे। भंगिन ने उस तौलिया को हटाकर दिखा दिया तो उसे देखकर उन दोनों पुरुषों में एक पुरुष वापिस लौट गया। एक पुरुष अभी भी भंगिन के पीछे लगा रहा। तो भंगिन फिर बोली–भाई तुम क्यों हमारे पीछे लगे हो? तो वह पुरुष बोला–तुमने तो हमें यों ही दूर से दिखाकर बहका दिया है। हम तो यों न मानेंगे। हम तो खूब भली-भांति सूंघ-सांघकर जब सही रूप से परीक्षा कर लेंगे तब लौटेंगे। भंगिन ने तौलिया अलग कर दिया। उस पुरुष ने सूंघ-सांघकर अच्छी तरह परीक्षा कर ली, मन भर लिया तब वापिस लौटा। तो ऐसे ही यहां भी तीन प्रकार के भोग साधक पुरुष पाये जाते हैं। कोई पुरुष तो भोगों की असारता की जरा सी ही बात सुनकर भोगों से अपना मुख मोड़ लेते हैं, कुछ लोग भोगों को देख-सुन कर, भोगों में पड़कर, कुछ विशेष जानकारी होने पर उन भोगों से निवृत्त होते हैं और कुछ लोग ऐसे होते हैं जो मरते दम तक उन भोगों से निवृत्त नहीं होना चाहते। अन्त में मरण हो जाने के कारण ही विवश होकर उन्हें उन भोगों को छोड़ना पड़ता है, वे अपनी इच्छा से छोड़ना नहीं चाहते।

शान्ति और संकट पाने के उपाय का मर्म–संकट और शान्ति पाने के उपाय का इतना ही तो मर्म है। पर को भिन्न जानकर उससे उपेक्षा करके अपने आप में रुचि जगाना, ज्ञान स्वरूप में उपयोग लगाना, यहीं तृप्त रहना यह तो शान्ति का मार्ग है और अपने आपके स्वरूप की सुध छोड़कर बाह्य की ओर उन्मुख होकर इन बाह्य पदार्थों में लगना यह संकट पाने का उपाय है। भीतर ही ज्ञान भाव के पैंतरे से शान्ति व संकट का काम बनता है। अन्दर और कुछ करने की बात नहीं है। श्रद्धा मिथ्या हो तो संसार बनेगा, श्रद्धा समीचीन हो, 'अपने सहज स्वरूप में, यह मैं हूं' इस प्रकार के अनुभवने की श्रद्धा हो, लो संसार जाल कटने लगा। सारी

बात जब यहां ही निहित है, बाहर में कुछ निर्भर नहीं है तो हम यहीं अपने आपमें ही रहकर इस ही गुप्त उपाय को गुप्त विधि से कर क्यों नहीं लेते? अनन्तकाल के लिए समस्त संकट मिट जाने का एक यही उपाय है, ऐसा तो है अपना अन्तस्तत्व और कहां लगा रखा है जीवों ने ऐसे अशुचि देह से सम्बन्ध? तो इस अशुचि देह में अनुराग न करके अपने आपके स्वरूप की दृष्टि रखना, इससे ही इस दुर्लभ मानव जीवन की सफलता है। यही मात्र एक निर्णय रखिये कि मैं जीवित हूं तो एक अपने आपके स्वभाव की उपासना के लिए ही जीवित हूं। अन्तस्तत्व की उपासना के अतिरिक्त अन्य कुछ इस जीवन का निश्चयतः मेरा प्रोग्राम नहीं है।

मणुयाणं असुइमयं विहिणा देहं विणिम्मियं जाण।
तेसिं विरमण--कज्जे ते पुण तत्थेव अणुरत्ता।।८५।।

नर देह रचना के प्रयोजन की कल्पना–भाग्य ने तो मनुष्य का यह शरीर अपवित्र इसलिए बनाया मानो कि यह मनुष्य वैराग्य के कार्य में लग जाये, यह मनुष्य इस अशुचि देह को निरखकर इससे विरक्त हो और मोक्ष के मार्ग में लग जाये, मानो इसीलिए ही भाग्य ने मनुष्य का ऐसा गंदा शरीर बनाया। गंदा ही नहीं, किन्तु सारहीन भी, लोक में किसी के कुछ भी काम न आने वाला ऐसा असार अपवित्र शरीर तो वैराग्य कार्य में लगाने को बनाया, लेकिन यह मानव इस ही अशुचि शरीर में अनुरक्त होता है। जिस क्षेत्र में इष्ट पदार्थ का समागम रहता है, जहां इष्ट वियोग होता ही नहीं वहां से मुक्ति नहीं होती, जैसे भोग भूमिया का क्षेत्र। वहां स्त्री-पुरुष हमेशा रहते हैं, उनके कभी वियोग नहीं होता और जब उनके संतान होती है तो वे भी जुगलिया होते हैं। दोनों बच्चा-बच्ची उत्पन्न हुए कि तत्काल ही पुरुष और स्त्री एक साथ मर जाते हैं। न संतान ने माता-पिता को देखा, न माता ने संतान को देखा। उन संतानों को माता-पिता के न होने का कोई क्लेश नहीं है क्योंकि प्रकृत्या वहां पैरों का अंगूठा चूस-चूस कर वे पुष्ट होते हैं फिर कल्पपादप के भोग भोगते हैं और ४९ दिन में ही वे पूर्ण युवा हो जाते हैं, उनको किसी प्रकार का इष्ट वियोग नहीं है। जब संयोग हो और फिर न रहे उसका ही तो नाम वियोग है। माता-पिता को संतान का संयोग होता नहीं, संतान माता-पिता को देखती नहीं तो इष्ट वियोग तो नहीं है। जहां इष्ट वियोग नहीं ऐसे क्षेत्र से कभी इष्ट का वियोग देव और देवी को हो तो कुछ ही काल बाद उस ही गद्दी पर उस ही नियोग में देव-देवी उत्पन्न हो जाते हैं, वहां से भी मुक्ति नहीं है, शरीर भी वहां गंदे नहीं। कर्मभूमि का क्षेत्र इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, शरीर व्याधि आदिक अनेक दुःखों से भरा हुआ है, तभी कर्मभूमि के मनुष्य मुक्ति प्राप्त करते हैं। तो यह अपवित्र शरीर इस भाग्य ने कर्मोदय से मानो इस प्रकार बनाया है कि यह विरक्त हो जाये, लेकिन ये मोही प्राणी इतना प्रबल आसक्त है कि ऐसे अपवित्र शरीर में भी अनुरक्त होते हैं।

असार अशुचि भिन्न विनाशीक देह में अज्ञान से जबरदस्ती का मोह–देखिये यह मनुष्य कह रहा है मानो कि मान न मान मैं तेरा मेहमान। ये कोई संयोग इस जीव को मानते नहीं। जब देह ही ने इसे न माना तो अन्य की तो बात ही क्या, लेकिन यह मोही यह कहता है कि कोई पदार्थ मुझे अंगीकार करे या न करे, हम तो इनके ही हैं, हम तो इनमें ही अनुरक्त रहेंगे। तो यहां खेद के साथ आचार्य कह रहे हैं कि मानो विधि ने तो वैराग्य के लिये अशुचि शरीर बनाया और यह इसी में अनुरक्त होता है। जैसे किसी ने किसी को चंदन का वन पुरस्कार में दिया और वह उस चन्दन वन को काटकर सुखाकर भस्म बनाकर बर्तन मांजने के काम में लाये तो वह कितनी खेद की बात है। तो यों ही समझिये कि जो रत्न (मानव देह) हमने संसार संकटों से सदा के लिए मुक्ति पाने के लिए पाया था उस रत्न को यदि यों ही गंवा दिया तो यह बड़े खेद की बात है। समस्त भवों में इस मनुष्य भव में ही यह जीव एक तिरने का सीधा और सत्य उपाय बना सकता है, पर यहां ही यह

अनुरक्त हो गया तो इसके मोह का फल यही तो भोगेगा। हर तरह से विवेक करके सोचना है कि आज का पाया हुआ समागम मेरे लिए कितना लाभकर बन सकता है। भव-भव में कुटुम्ब पाये, भव-भव में मोह किया, पर उन सब भव-भवों के मोह से आज क्या पूरा पड़ा? उनका ध्यान भी नहीं है। लेकिन उन भवों में मोह करके जो पाप बांधा है उसकी वासना का फल अब तक मिल रहा है, जो जन्म करते हैं और मरण करते हैं। एक थोड़े से दिनों का यदि तपश्चरण कर लिया जाये, तपश्चरण भी क्या कि पर को पर जानकर उससे उपेक्षा कर ली जाये और निज को ज्ञानानन्द का धाम समझकर अपने आप में रत हो लिया जाये, एक उपाय बना लिया जाये तो अनन्तकाल के संकट मिट जायेंगे।

सम्यक्त्व की पारमार्थिकवै भवस्वरूपता–सम्यक्त्व के समान वैभव और कुछ नहीं बताया गया। यही कल्याणकर है, मिथ्यात्व के समान हानि और कुछ भी नहीं बतायी गई। यह जीव जरा से अनुकूल प्रतिकूल संयोग में हानि और लाभ का निर्णय कर लेता है। यह न हुआ निकट तो अपनी हानि समझ लिया, यह हो गया निकट तो अपना लाभ समझ लिया, पर इस ओर दृष्टि नहीं देता कि मेरे यदि ममत्व बसा है तो सारी हानि ही हानि है। मिथ्यात्व के रहने पर चाहे कितना ही राजपाट मिल जाये, उससे क्या प्रयोजन है? क्या फायदा होगा? संसार में रुलना और विकल्प करके आकुलित होना इसका विपाक है। और एक सम्यक्त्व भाव जग गया है, कुछ भी नहीं है निकट, फिर भी यह आत्माराम अकेला ही अपने आपमें इस सहज परमात्मतत्व को निरखकर तृप्त रहा करता है। सम्यक्त्व के समान कुछ वैभव नहीं है, मिथ्यात्व के समान कोई विपदा नहीं है। आज यह शरीर जन्म जरा मरण वाला प्राप्त किया है अशुचि, अपवित्र, दुर्गन्धित जिसमें अनेक व्याधियां भरी हैं। घृणास्पद यह शरीर पाया है तो यह निरखिये कि इस अवस्था में यह मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा अपने आपके अन्तरङ्ग का कितना बड़ा कार्य साध सकता हूं? यह कितना ऊंचा लाभ मिला? इस लाभ को देव प्राप्त नहीं कर सकते। इसको भोगभूमिया मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकते। तो इस समागम से हमें यह लाभ उठाना चाहिए कि हम अपने को पहचाने, जानें और आत्मा में रत होकर सदा के लिए हम संकटों से मुक्त होने का अमोघ उपाय बना लें।

एवं विहं पि देहं पिच्छंता वि य कुणंति अणुरायं।
सेवंति आयरेण य अलद्ध-पुव्वंति मण्णंता।।८६।।

अशुचि, असार अनित्य शरीर को अशुचि सारहीन देखकर भी इसमें अनुराग करने का प्राणी का व्यामोह–यह मानव शरीर को ऐसा अपवित्र सारहीन देख रहा है तिस पर भी इस ही में अनुराग कर रहा है और इस तरह अनुराग कर रहा, ऐसी लम्पटता के साथ इस देह में ममता कर रहा है कि मानो इससे पहले कभी शरीर पाया ही न हो। आसक्तिपूर्वक विषय उपभोग में तब होते हैं जब यह मोही चित्त में यह समझता है कि ऐसा विषय, ऐसा प्रसंग तो हमने अब तक नहीं पाया, यह अपूर्व है। किसी भी वस्तु को अपूर्व जानकर ही उसमें तीव्र अनुराग किया जाता है। तो यह मानव देह में इस तरह से आसक्त होता है कि मानो वह यह निश्चय किए हुए है कि मैंने यह शरीर कभी नहीं प्राप्त किया, ऐसा समझकर बड़े आदर से इस देह की रक्षा करता है। देहों की अवगाहना जघन्य बतायी गई है अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण, अब आप समझिये कि एक अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण कितना बड़ा हिस्सा होगा। इतने अत्यन्त सूक्ष्म परिमाण वाले जीव होते हैं निगोदियालब्ध्यपर्याप्तक और, उत्कृष्ट से उत्कृष्ट काय है एक हजार योजन लम्बा, पांच सौ योजन चौड़ा और दो सौ पचास योजन मोटा, इतने प्रमाण का जीव, वह है महामत्स्य जो कि स्वयंभूरमण समुद्र में पड़ा रहता है। अब इस जघन्य प्रमाण के शरीर से लेकर उत्कृष्ट प्रमाण तक एक-एक प्रदेश बढ़-बढ़ा कर आप अंदाज

करें कि कितनी तरह के भेद की अवगाहना के शरीर होंगे? जैसे कोई वस्तु एक अंगुल की है और वैसी ही वस्तु कोई एक हजार अंगुल की है तो एक-एक अंगुल बढ़ा-बढ़ा कर भीतर की वस्तुओं को देखो तो एक कम एक हजार तरह की अवगाहना के हुए ना, तो इसी तरह सूक्ष्म निगोद लब्ध्य पर्याप्त के जघन्य शरीर में एक प्रदेश बढ़कर कोई अवगाहना है, उससे एक प्रदेश बढ़कर कोई अवगहना है, यों एक-एक प्रदेश बढ़ा-बढ़ा कर उत्कृष्ट प्रमाण शरीर तक ले जाइये, इतनी अवगाहना तक के देह हम आपने अनन्त बार पाये होंगे, लेकिन यह जीव आज इस शरीर को पाकर मानता है कि हमने अपर्व वस्तु पायी और ऐसा ही समझकर इसमें आदर करता है।

मोही का अशुचि देह में आत्मीयता का व्यर्थ व्यामोह–यह बात प्रयोग में बहुतायत से आती ही रहती है कि शरीर कितना गंदा है? कहीं रक्त प्रवाह में बाधा आये तो वहां फोड़ा-फुंसी हो जाते हैं, वे पकते हैं और वहां से पीप निकलती है। उसे देखा नहीं जाता है। प्रिय से प्रिय हो कोई तो वे भी लोग देखने में घृणा करते हैं। तो यह सारा शरीर ही ऐसा बना हुआ है। केवल इस पर चाम की चादर मढ़ी है सो ये सब गंदगियां ढकी हैं। अगर इस शरीर के ऊपर की चाम की चादर हट जाये तो इस शरीर की सारी अपवित्रतायें स्पष्ट विदित हो जायें। यह शरीर महा अपवित्र है, ऐसा जानकर इस शरीर के भीतर की गन्दगी को परखकर दूसरे के शरीर से अनुराग, काम भावना का त्याग कर दें। जब भी किसी शरीर को देखें तो जैसे ऊपर से चाम दिखता है तो भीतर की गंदगियों का भी तो ज्ञान बनायें कि ऐसा यह गंदा शरीर है। यह मानव किससे प्रेम करता है। पहले तो इसको यही निर्णय नहीं है। शरीर से प्रेम करता होता तो जीव के मर जाने पर यानि दूसरे भव में चले जाने पर इस मृत शरीर से क्यों अनुराग नहीं करता? जीव से अनुराग करने की बात तो बिल्कुल ही झूठ है। कौन यह निरखता है कि इसमें अमूर्त चैतन्यमात्र जो आत्मा है उस आत्मा से मैं प्रीति करता हूं? अरे ऐसी आत्मा तो सब जीवों में समान रूप से है, फिर अन्य सारे अनन्त जीवों को छोड़कर उस एक ही जीव में अनुराग क्यों? तो यह मनुष्य जीव से प्रेम नहीं करता, शरीर से भी प्रेम नहीं करता, लेकिन कल्पना में ऐसा मुग्ध हुआ है कि इन भवमूर्तियों में अनुराग किए बिना रह नहीं पाता। यह एक मनुष्य जन्म को व्यर्थ गंवाने की बात है। देह में आत्मबुद्धि छूट जाये तो उसका सब मार्ग साफ हो जायेगा।

आत्मा के स्वरूप में गरीबी व दुःखों का अभाव–दुःख क्या है, इसका निर्णय करें तो उत्तर मिलेगा कि किसी को कोई दुःख नहीं है, कोई मानता है कि मैं गरीब हूं, मुझे बड़ा दुःख है, अरे तुम अमूर्त आत्मा जरा सिद्ध भगवान को तो देखो–अरहंत भगवान को तो देखो। सिद्ध परमेष्ठी आत्मा को तो निरखो, वह आत्मा कितना सबसे निराला है, केवल है, अकेला है। बाह्य पदार्थ न रहने से आत्मा यदि गरीब माना जाता होता तो सिद्ध को क्या कहोगे? साधुओं को क्या कहोगे? बाह्य पदार्थों के न होने पर बाह्य पदार्थों की लालसा करने को गरीबी कहते हैं। बाह्य पदार्थों के न होने का नाम गरीबी नहीं है, किन्तु बाह्य पदार्थों की लालसा, आशा, तृष्णा होने का नाम गरीबी है। अब इस गरीबी की व्याख्या व्यापक रूप से देखें तो जगत में जिन-जिन के तृष्णा है वे सभी गरीब हैं। अमीर तो वे हैं जिन्होंने तृष्णा पर विजय प्राप्त किया और अपने आपको प्रभु परमात्मा की तरह शुद्ध सहज ज्ञान स्वरूप में निरखा। मैं कहां गरीब हूं? तृष्णा ही गरीबी का साधन है, बाह्य वस्तु न होना इसको गरीबी नहीं कहा गया है।

गरीबी का एक उदाहरण–एक बार किसी फकीर को रास्ते में एक पैसा मिला तो उसने उठा तो लिया पर सोचा कि यह पैसा किसको दिया जाये? जो अधिक से अधिक गरीब हो उसको पैसा दिया जाये। अब जब सबसे गरीब की छांट के लिए चला तो उसे कोई ज्यादा गरीब न नजर आया। क्योंकि गरीब लोग

कुछ धन वैभव में कम होने पर भी सन्तोष का आश्रय ज्यादा रखते हैं, तो उसे अधिकांश लोग सन्तुष्ट दिखे, ज्यादा से ज्यादा गरीब कोई न दिखा। एक बार कोई बादशाह अपनी सेना सजाकर खुद हाथी पर बैठा हुआ किसी दूसरे छोटे राजा का राज्य हड़पने के लिए चढ़ाई करने जा रहा था। फकीर ने किसी व्यक्ति से पूछा कि यह कौन जा रहा है? उत्तर मिला—बादशाह। किसलिए जा रहा है? किसी राजा का राज्य छीनने के लिए। अब उस फकीर ने सोचा कि इससे अधिक गरीब और कौन मिलेगा? इसी को यह पैसा दे देना चाहिए। फकीर ने वह पैसा बादशाह की गोद में डाल दिया। बादशाह की नाक में भी वह पैसा लग गया। बादशाह उस फकीर पर कुछ गुस्सा सा हुआ और पूछा—क्यों फकीर, यह तुमने क्या दिया? तो वह फकीर बोला कि हमें यह पैसा रास्ते में मिला था। हमने सोचा था कि यह पैसा उसे देंगे जो अत्यन्त गरीब होगा। आप हमें अत्यन्त गरीब दिखे इसलिए हमने यह पैसा आपको दिया। तो बादशाह बोला—हम गरीब कैसे? हम तो बहुत बड़े राजपाट के स्वामी हैं, हमारे पास बहुत बड़ी सेना है, बड़ा वैभव है। तो फकीर ने कहा—महाराज, यदि आप गरीब न होते तो किसी छोटे राजा का राज्य छीनने क्यों जाते? आपने यह अनुभव किया है कि मेरे पास वैभव कम है, आपको वैभव की तृष्णा है सो आप गरीब ही तो हैं। फकीर की यह बात बादशाह के मन में समा गयी और उसी समय सारी सेना को वापिस लौट चलने का आदेश दिया। तो तात्पर्य यह है कि धन न होने का नाम गरीबी नहीं, किन्तु बाह्य पदार्थों से तृष्णा बढ़ाने का नाम गरीबी है।

गरीबी व गरीबी मिटने का उपाय—तृष्णामयी गरीबी के मिटने का उपाय बाहर में कोई नहीं है। आज हजार हैं तो लाख होने की तृष्णा करता, लाख हैं तो करोड़ की और करोड़ हैं तो अरब की तृष्णा करता है। इस तृष्णा का अन्त तो एक सम्यग्ज्ञान ही कर सकता है। जहां निरखा कि मैं देह से भी न्यारा ज्ञान मात्र अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सत्, विषय में ही अपने को करने वाला, अपने में ही अपने को भोगने वाला यह मैं आत्मा स्वतंत्र सबसे पृथक हूं। मेरा मैं ही मात्र हूं। जो मेरा है वह मेरे से बाहर कभी नहीं जा सकता। जो मेरा नहीं है वह कभी भी मेरे में नहीं आ सकता। ऐसा निर्णय रखने वाला सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही तृष्णा से मुक्त हो सकता है। तो तृष्णा का नाम गरीबी है, बाह्य वस्तुओं के कम होने का नाम गरीबी नहीं है। तो यह मनुष्य अपने को गरीब हो तो अनुभव कर रहा है जो विषयों में शरीर का अनुराग बनाये हुए है। मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हूं, मुझे कुछ आवश्यकता ही नहीं। मैं अपने में सर्वस्व हूं। सम्पन्न हूं, यह दृष्टि न होने से इस जीव को ऐसे अपवित्र शरीरों में अनुराग बनता है। सो जो शरीर एक मुक्ति के लाभ का उपाय बनाने के लिए मिला था उसे यह मोही विषयों में प्रीति करके नष्ट कर देता है।

मानवजीवन का दुरुपयोग व सदुपयोग—एक दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे गन्ना (ईख) होता है, उसके नीचे के कुछ पोर जिनमें जड़ें होती हैं, जो बहुत कड़े भी होते हैं, वे खाने योग्य नहीं होते, गन्ने के ऊपर के कुछ पोर नीरस होने से खाने योग्य नहीं होते और उस गन्ने के बीच के हिस्से में कीड़ा लग जाये, तो जैसे वह सारा गन्ना खाने योग्य नहीं रहता। कोई विवेकी पुरुष उस गन्ने को कुछ खाकर यों ही फेंक देने के बजाय उसको जमीन में बो देता है तो उससे वह अनेक गन्ने प्राप्त कर सकता है। किन्तु रसासक्त पुरुष उस काने गन्ने को चीथकर अपनी व गन्ने की बरबादी कर देता है। ठीक इसी प्रकार इस मानव जीवन का बाल्यकाल भी अज्ञानता में ही व्यतीत हो जाता है। बाल्यकाल में तो यह मानव धर्मबुद्धि नहीं जागृत करता है और वृद्धावस्था में भी बिल्कुल मृत के समान है। शरीर वृद्धावस्था में समर्थ नहीं रहता है और इस जीवन के बीच की जो युवावस्था है उसे यह मानव भोग विषयों में रत होकर व्यतीत कर देता है। यों इस मानव जीवन को यह मोही प्राणी व्यर्थ ही खो देता है। कोई विवेकी पुरुष इस जीवन को व्यर्थ में न खोकर इसका सदुपयोग

कर ले, कुछ धर्म साधना बना ले, ज्ञानार्जन, तत्व चिन्तन आदि करके अपने आत्मा का पोषण कर ले तो इसके भव-भव के पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होगी, पुण्यबंध होगा, जिससे उसका भविष्य अच्छा बनेगा, धर्म के समागम प्राप्त होंगे और निकट काल में ही श्रेष्ठ मनुष्य भव पाकर मुनि होकर, निर्ग्रन्थ होकर अपने आपमें स्वरूपाचरण को बनाकर मुक्ति प्राप्त कर लेगा। इसमें तो विवेक है, पर काने गन्ने की भाँति यों ही विषयभोगों में देह लगाने में कोई बुद्धिमानी नहीं है।

जो पर-देह-विस्तो णिय देहे ण य करेदि अणुरायं।
अप्प सरूव-सुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स।।८७।।

अशुचित्वानुप्रेक्षण का फलाधिकारी–यह अशुचि भावना की अन्तिम गाथा है। यहां आचार्य कहते हैं जो दूसरे के देह से विरक्त है और जो अपने देह में भी अनुराग नहीं करते हैं वे आत्मा के स्वरूप में रुचिवान होते हैं, उनकी ही अशुचि भावना सफल है। यह देह गन्दा है ऐसा परिज्ञान कर लेने से लाभ क्या मिला? लाभ यही मिला कि देह की अशुचिता को, असारता को जानकर प्रथम तो यह दूसरे के देहों से विरक्त हो, उन अशुचि देहों में क्या रमना? और फिर अपने देह में भी यह अनुराग नहीं करे, इस मरे मिटे देह का क्या अनुराग करना? यह तो पालते-पोषते हुए भी रहता नहीं है, किसी दिन मिटेगा। कुछ दिनों में मिटे या अभी जल्दी ही मिट जाये, मिटेगा अवश्य। तो इस मिट जाने वाले देह में क्या अनुराग करना? तो परदेह से विरक्ति हो। इस अशुचि भावना भाने वाले ज्ञानी पुरुष ने अपने देह में अनुराग नहीं किया तब यह आत्मा के स्वरूप में लीन हुआ। उपयोग कहीं तो जायेगा ही, कहीं तो लीन होगा ही। अब परदेह में तो यह अनुरक्त होता नहीं, क्योंकि यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हुआ है व अपने देह में भी अनुराग करता नहीं, तो उपयोग कहां जायेगा? निश्चय ही अपने आपके स्वरूप में लगेगा। तो जो इस प्रकार पर देहों से विरक्त होकर निजदेह में भी विरक्ति करके अपने आपके स्वरूप में उपयोग में लगता है उसकी ही अशुचि भावना सफल है, लेकिन जो अशुचिपने का चिन्तवन करते हुए भी अपने शरीर में और पर शरीर में अनुरक्त होता है उसकी अशुचि भावना भाना केवल विडम्बना है। बारह भावना को यदि हार्दिक भावों से भाया जाये तो इसका फल बताया है कि इसका चिन्तवन करने से समता सुख जगता है। जैसे कि हवा के लगने से अग्नि ज्वलित होती है। बहुत सीधे उपायों में यह उपाय सुगम है कि हम बारह भावनाओं का ठीक स्वरूप जानें और इनके आधार से हम वस्तुस्वरूप की परीक्षा करते जायें तो इस भावना के बल से हम आप अपने आत्मस्वरूप के दर्शन करेंगे और जहां ही अपने सत्य ज्ञानानन्द स्वरूप एवं पर से हममें अमीरी आयी और गरीबी मिटी।

●●●

आस्रवानुप्रेक्षा

मण-वयण-काय-जोया जीव-पएसाण फंदण-विसेसा।
मोहोदएण जुत्ता विजुदा वि य आसवा होंति।।८८।।

ज्ञानानन्द स्वभावी जीव की विडम्बना का कारण प्रतिपक्ष पर की उपाधिका संसर्ग–जीव का स्वरूप तो ज्ञान और आनन्द है, जैसे बाहरी पदार्थों में देखते हैं ना–चौकी का क्या स्वरूप है? जो यह दिखने में आया, उठाने में आया यही तो इस चौकी का स्वरूप है। ऐसे ही जीव का क्या स्वरूप है? जीव एक आकाश की तरह अमूर्त पदार्थ है, उसमें ज्ञान और आनन्द स्वभाव पड़ा हुआ है। यह कह लीजिए कि ज्ञान और आनन्द के होने का ही नाम जीव है। तो ऐसे ज्ञानानन्द स्वभावी जीव में अपने आप कोई क्लेश नहीं। कोई दुःख का कारण नहीं, कोई विडम्बना नहीं, लेकिन आज देख रहे हैं कि जीवों की विडम्बनायें तो बहुत हैं, कैसे कैसे देहों में जन्म लेना, कैसी-कैसी विचित्र कषायें उत्पन्न होना, ये सब विडम्बनायें जीव में बहुत हैं। ये सब विडम्बनायें हो कैसे गईं? इसका उत्तर यह है कि जीव के साथ अनादि काल से कोई दूसरी वस्तु लगी हुई है उसी के कारण इसकी विडम्बनायें हो रही हैं। एक यह नियम है कि जो भी चीज है वह अपने आप अकेले अपनी विडम्बना नहीं बना सकता। जैसे जल गर्म किया गया, खौल गया तो यह बात किसी दूसरे जीव के सम्बन्ध से ही तो हुई है। जल में अगर किसी दूसरी वस्तु का सम्बन्ध न हो तो जल न रंगीन बने न गर्म बने। जल के जो अनेक विचित्र परिणमन बनते हैं वे किसी दूसरे के सम्बन्ध से ही बनते हैं तो यो ही समझिये कि जीव की जो विचित्र विडम्बनायें बन रही हो वे भी किसी दूसरे के सम्बन्ध से बनती हैं। हालांकि जीव की विडम्बना जीव में ही है, दूसरे में नहीं, लेकिन पर उपाधि के बिना विडम्बना नहीं बनती। जैसे स्फटिकमणि अपने आप लाल-पीली आदि रूप नहीं बनती। वह तो स्वच्छ है, अपने ही स्वभाव की ओर से केवल न अपने ही कारण से दूसरे का सम्बन्ध मिले बिना वह लाल-पीला आदि नहीं होता। जिस रंग का आवरण उस स्फटिक के सामने आता है उस तरह का रंग उसमें हो जाता है। तो यह बात समझने की और यह अपने बड़े काम की बात है।

जीव स्वरूप, जीव विडम्बना हेतु की परख–इस जीव की अपने आप विडम्बना नहीं हो रही है, इसके साथ किसी दूसरी चीज का सम्बन्ध है तब विडम्बना हो रही है, ऐसा निर्णय करने से पहले यह जानें कि अपने आपका निजी स्वरूप क्या है? जब यह जानने की इच्छा हो गई तो समझिये कि अब हमारा कल्याण शुरू हो गया। शरीर बिना, कर्म बिना, उस कर्म के प्रभाव बिना अपने आप स्वयं मैं क्या हूं, वही मेरा सत्य रूप है। अपने उस सहज स्वरूप के जानने की इच्छा बना लूं, रुचि बना लूं तो यह कल्याण का प्रारम्भ समझिये। प्रकरण में यहां कहा जा रहा है कि जीव में अपने आप अपनी ही ओर से कोई विडम्बना नहीं है। इसके साथ कोई उपाधि लगी है जिससे ये विडम्बनायें होती हैं। जैसे स्फटिक पाषाण में कोई विकार नहीं है लेकिन किसी कागज आदिक का सम्बन्ध होने से उसमें अनेक रंग उतरते हैं। इसी प्रकार जीव के साथ भी कोई द्रव्य बाहर लगा अवश्य है। इस बात को यों भी परख सकते हैं कि यहां जब निरखते हे कि कोई श्रीमान है, कोई दरिद्र है, कोई बुद्धिमान है, कोई मूर्ख है ऐसे जो नाना भेद जीव में देखे जा रहे हैं तो किसी भी जाति

में भेद किसी पर के सम्बन्ध से ही होता है तो इसका कारण कोई है पर द्रव्य, जिसके सम्बन्ध में ये नाना भेद हो गए। जीव-जीव तो सब समान हैं। जीव केवल ज्ञानानन्द स्वरूप है लेकिन यह क्या विडम्बना हो रही है कि कोई पेड़ के शरीर में बंधा हुआ है, कोई कीड़ा-मकौड़ा के शरीर में बंधा है, हम आप मनुष्य देह में बंधे हैं। पशु-पक्षी आदिक कितने विचित्र देह हैं जिनमें यह जीव बंधा है ऐसा बन्धन होना, ऐसे न्यारे-न्यारे विभिन्न देह पाना यह जीव में अपने आपकी ओर से ही स्वयं नहीं है।

जीव विडम्बना हेतुभूत उपाधि के विशेष स्वरूप का निर्णय–किसी परद्रव्य का सम्बन्ध है इसका निर्णय करने के बाद फिर आगे और बढ़िये कि वह परद्रव्य क्या हो सकता है? वह चौकी, भीत आदिक की तरह ऐसा एकदम दृश्यपिण्ड तो है नहीं। और है मुझसे कोई भिन्न जाति का ही पदार्थ। एक जाति के पदार्थ से यानि जैसा मैं जीव हूं ऐसा मेरे साथ कोई शुद्ध जीव लगा हो, उससे वहां विडम्बना नहीं है। मैं हूं अमूर्त तो वह उपाधि है मूर्त। मैं हूं चेतन, तो वह उपाधि है अचेतन। वह द्रव्य है कर्म, जो जीव के साथ अनादि से ये कर्म लगे आ रहे हैं व इसी से इसकी विडम्बनायें हैं। इस आस्रवानुप्रेक्षा में यह बात बतलाते हैं कि ये कर्म जीव में आते क्यों हैं? कर्मों के आने का कारण क्या है? कर्मों का आना दुःखकारी है। कर्मों का उदय होना क्लेश का कारण है। संसार की जितनी विडम्बनायें हैं वे सब कर्म के सम्बन्ध से ही तो हैं। तो इन कर्मों का हटाना बहुत आवश्यक है। हम जिन अरहंत, सिद्ध प्रभु को पूजते हैं वे और हैं क्या? कर्मरहित ही तो हैं, इसी कारण वे पूज्य हैं और पूज्य होने से बड़प्पन नहीं किन्तु बड़प्पन के कारण पूज्य है। वह बड़प्पन यों है कि शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आनन्द उनके प्रकट हुआ है। हम आप सब ज्ञान और आनन्द के ही तो अभिलाषी हैं, सबकी चाह है कि हमारा ज्ञान बढ़े और आनन्द मिले। तो जिन पुरुषों को शुद्ध ज्ञान, शुद्ध आनन्द परिपूर्ण प्राप्त है वे हमारे बड़े हैं, पूज्य हैं, हम उनके स्वरूप को निहारकर, उनकी विधि को जानकर कौन सी विधि है जिससे वे ऐसे महान् हैं, उस पर हम चलते हैं तो हम भी सुखी शान्त रह सकते हैं। हां तो जिन कर्मों के नाश हुए बिना जीव को शान्ति न मिलेगी, वे कर्म जीव में आते क्यों हैं, किस कारण से आते हैं, यह जानना यों आवश्यक है कि हम उन कारणों को न करें तो कर्म न आयेंगे।

मनोयोग, वचनयोग व काययोग से कर्मों का आस्रवण–इस गाथा में कह रहे हैं कि जीव में कर्मों के आने का कारण है योग—मन, वचन, काय इनका हलन-चलन। हम जो मन से बहुत यहां-वहां चित्त डुलाते हैं, यश तृष्णा राग, अनुराग मोह आदिक में इस चित्त को फंसाये रहते हैं तो चित्त की यह स्वच्छन्दता कर्मों का आस्रव करती है। वचन हम अधिक बोलते हैं, बिना अवसर के बोलते हैं, बोलते रहते हैं या बोलते ही हैं तो वचन बोलने में जो परिस्पंद होता है उससे कर्म आते हैं। इसी प्रकार शरीर के चलने की प्रवृत्ति से कर्म आते हैं। ये कर्मों के आने के साधारण कारण हैं। यद्यपि इस समय हम आप मन, वचन, काय को बिल्कुल रोकने में समर्थ नहीं हैं, फिर भी यह ध्यान में तो आये कि मनोयोग से कर्मों का आस्रव होता है और हम इस मन की स्वच्छन्दता को मिटायें, इस मन को हम शुभ कार्यों में लगायें, शुद्ध तत्व के चिन्तन में लगायें जिससे पापकर्मों का तो आस्रव न हो। हम वचन बोलें तो हित, मित, प्रिय, सत्य वचन बोलें ताकि पाप कर्म न आये, शरीर की प्रवृत्ति हमारी दूसरों की रक्षा के लिए हो तो पापकर्म का आस्रव तो न हो। यह योग ही जीव के प्रदेश में कर्मों का आस्रव करता है। यह योग मोहनीय कर्म के उदय से सहित भी होता है और रहित भी होता है। दसवें गुण स्थान तक जहां तक सराग अवस्था है वहां तक योग है ही, किन्तु वीत मोह ११वें, १२वें, १३वें गुणस्थान में भी

योग है। सो १० वें गुणस्थान तक साम्परायिक आस्रव है व ११वें, १२वें, १३वें में ईर्यापथ आस्रव है।

गुण स्थान १४ प्रकार के कहे गए हैं। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्त मोह, क्षीणमोह, संयोगकेवली, अयोगकेवली। मिथ्यात्व इन सब में प्रथम गुणस्थान है अर्थात् नीचा गुणस्थान है। जहां मोह ममता बसी है, देह में आत्मबुद्धि की जा रही है, आत्मा की रंचमात्र भी सुध नहीं है उसे कहते हैं मिथ्यात्व भाव। सारा संसार मिथ्यात्व भाव में ग्रस्त है, इस मिथ्यात्व भाव से लाभ कुछ नहीं मिलता। जैसे स्वप्न में सोना, चांदी, रत्न आदि की डली प्राप्ति की तो यह अपने को बड़ा लाभ वाला समझता है, मुझे बड़ा वैभव मिला, उस समय वह यह नहीं समझ पाता कि यह तो स्वप्न की बात है, झूठ है, हमें मिला कुछ नहीं है। वह तो सही जानता है कि मुझे मिला ही तो है। ऐसे ही मोह के उदय में जो इस लोक में समागम प्राप्त हुए हैं उनको देखकर यह समझता है कि मुझे यह लाभ मिला, मैं इस कारण से बड़ा हूं, यों समझते हैं लेकिन है कुछ नहीं। जब जीव स्वरूप पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट नजर आयेगा कि मेरा तो केवल मैं ही हूं। मेरे से बात ऐसी है लेकिन जिसके मिथ्यात्व का उदय है उसके अभिप्राय में यह बात नहीं समा सकती। जब तक इन वैषयिक सुखों से विलक्षण अलौकिक आनन्द की झलक न आये तब तक इन सुखों को छोड़ने की कौन इच्छा करेगा?

अलौकिक स्वाधीन सहज आनन्द के दिग्दर्शन हुए बिना मोही अहित की विषयों में आसक्ति—एक कथा वेदान्त की जागदीशी टीका में लिखी है कि दो चींटियां थीं, एक रहती थी नमक की दुकान में और एक रहती थी शक्कर की दुकान में। एक बार शक्कर की दुकान में रहने वाली चींटी नमक की दुकान में रहने वाली चींटी के पास जाकर बोली—बहिन तुम रोज-रोज यहां खारी खाना क्यों खाया करती हो? मैं तो रोज-रोज मीठा-मीठा खाना खाती रहती हूं। तुम मेरे साथ चलो, तुमको रोज-रोज खूब मीठा खाना खिलाऊंगी। उस नमक की दुकान में रहने वाली चींटी को पहले तो विश्वास न हुआ पर बहुत-बहुत कहने पर चलने को तैयार हो गई। वह चली मुख में एक नमक की डली दाबकर इसलिए कि कहीं वहां जाकर भूखों न मरना पड़े। जब शक्कर की दुकान में पहुंचकर शक्कर खाया तो शक्कर की दुकान में रहने वाली चींटी ने पूछा—कहो बहिन, कुछ मीठा स्वाद आया या नहीं? तो नमक की दुकान में रहने वाली चींटी बोली—हमें मीठा स्वाद तो नहीं आया। हमें तो वैसा ही खारी स्वाद आया। अरे अपनी चोंच में कुछ दबाये तो नहीं हो? हां, एक दिन का कलेवा साथ में ले आई थी वह दबाये हूं। अरे इस डली को मुख से बाहर निकाल, फिर स्वाद ले। तब देख स्वाद आता है कि नहीं? उसने वैसा ही किया। नमक की डली को मुख से निकाला स्वाद लिया तो बड़ा मधुर स्वाद आया। फिर वही नमक की डली में रहने वाली चींटी पूछती है—बहिन तुम इस प्रकार का मधुर स्वाद कब से ले रही हो? यह तो बहुत ही मीठा है। तो इस कथा का प्रयोजन यह है कि जब तक इस जीव को विलक्षण आत्मीय स्वाधीन ज्ञानोपयोग द्वारा साध्य आनन्द प्राप्त नहीं होता तब तक यह जीव वैषयिक सुखों को कैसे छोड़ सकता है? यह जीव सारे जीवन भर वैषयिक सुखों में ही रत रहता, बढ़िया-बढ़िया भोजन का स्वाद लेने की प्रवृत्ति रखता, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु श्रोत्र आदिक समस्त इन्द्रिय विषयों में रत रहने में मस्त रहता, लेकिन अन्त में इसे लाभ क्या मिलता? हे आत्मन्! इन बाहरी-बाहरी बातों में ही पड़कर अपने जीवन को बहुत-सा समय व्यर्थ ही बिताया, अब तो इस रहे-सहे थोड़े से जीवन को ज्ञानवासना में ढाल करके तो देखो कि यहां भी कोई विलक्षण आनन्द है अथवा नहीं। तो इस प्रकरण में बात यह चल रही है कि

मिथ्यात्वगुणस्थान में यह जीव वैषयिक सुखों को ही सुख मानता है, अपने आप में स्वयं यह आनन्दस्वभावी है इसकी उसे श्रद्धा ही नहीं है। यह हुआ मिथ्यात्व गुण स्थान।

अविरतसम्यक्त्व नामक चतुर्थगुण स्थान की द्वितीय व तृतीय गुण स्थान की उत्पत्ति–अब निकट संसारी मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञान का अभ्यास करके तत्वचिन्तन, तत्वचर्चा के द्वारा कुछ तत्वस्वरूप में उपयोग लगाता है व जब यथार्थ स्वरूप का ज्ञान बनता है तो यह पर वस्तुओं से निवृत्ति पाता है और तब अपने आपमें सहज एक ऐसा विश्राम मिलता है कि उस विषय में ही उसे अपने आत्मा का अनुभव बनता है सो इसके सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। तो मिथ्यात्व गुण स्थान का प्रतिपक्ष है सम्यक्त्व वाला गुण स्थान। जिसे अभी अविरत सम्यक्त्व हुआ है, इसे चौथा गुण स्थान कहते हैं। व्रत तो नहीं है पर सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का ऐसा प्रताप है कि यह जीव निराकुल हो जाता है, इसे चिन्ता नहीं रहती। घर गिर गया तो क्या हुआ, परद्रव्य का परिणमन है, उसकी दृष्टि में यह बना रहता है। धन कम हो गया तो क्या हुआ? वह भी परद्रव्य की बात है। देह में कुछ बाधा आये तो क्या हुआ? यह भी परद्रव्य की बात है। मैं आत्मा तो इन समस्त परद्रव्यों से निराला स्वयं ही आनन्दस्वरूप हूं। इस प्रतीति का सम्यग्दृष्टि को इतना महान् बल है कि वह किसी भी स्थिति में व्याकुल नहीं होता। यह अविरत सम्यक्त्व नामक चौथा गुणस्थान है। यह अविरत सम्यक्त्व तो पशु, पक्षी, नारकी, देव आदि सभी गतियों में हो जाता है। अब आप अन्दाज कर लीजिए कि नारकियों के सम्यक्त्व हो जाये, सातवें नरक के नारकी को भी सम्यक्त्व हो जाये लेकिन मनुष्य सम्यक्त्व न प्राप्त करे तो इसमें बाधा क्या आ पड़ी? प्रत्यक्ष बाधा यह है कि ये मोही प्राणी इन विषय सुखों में आनन्द समझते हैं, अपने जीवन के उद्देश्य की समाप्ति इसी में समझते हैं। धन खूब कमायें, भोगापभोग के आराम के साधन खूब बनायें, दुनियावी यश खूब लूटें आदि बातों में ही अपना उपयोग रखा, अतएव आत्मा की सुध न हो सकी। तभी किसी कवि ने सुख से भी बढ़कर दुःख को कहा है। दुःख में प्रभु की याद तो रहती है किन्तु सुख में दिल मस्त रहता है, फिर प्रभु की याद रखने का मौका कम मिलता है। बिरले ही पुण्यात्मा जीव ऐसे हैं जो सुख साधन पाकर भी अपने आत्मा की सही सुध बनाये हुए हैं। पर बहुधा सुख पाकर जीवों को आत्मा की सुध नहीं रहती। इसी ग्रन्थ में आगे आयेगा कि पुण्य ने कराया क्या? पुण्य से मिले वैभव, सुख के साधन मिले और उनमें हो गया यह जीव मुग्ध तो उससे नरक आयु भी बंध सकती और अन्य अन्य खोटी आयु भी बंध सकती। तो पुण्य भला नहीं है। हां, पुण्य के उदयकाल में उससे जीव को सुबुद्धि जगे और रत्नत्रय के लाभ की बात बनाये तो यह उसके लिए लाभ की बात है। चतुर्थ गुणस्थान है अविरत सम्यक्त्व। अभी बीच में दो गुणस्थान छोड़ दिए हैं–दूसरा और तीसरा। तीसरा गुणस्थान कहलाता है मिश्र। अर्थात् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मिले-जुले हों। जैसे दही और शक्कर मिलकर उसमें स्वाद क्या बनता है? न तो दही का ही स्वाद रहता है और न ही गुड़ का, किन्तु विलक्षण कोई तृतीय स्वाद है, ऐसे ही मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के मिले होने में कोई तृतीय ही बात है। यह कहलाता है सम्यग्मिथ्यात्व। दूसरा है सासादन गुणस्थान अर्थात् जिस किसी उपशम सम्यग्दृष्टि का सम्यक्त्व छूटा और मिथ्यात्व में न आ पाया, उस भाव को कहते हैं सासादन गुणस्थान। यहां तक तो अविरत असंयमी जीव है।

पंचम गुण स्थान से तेरहवें गुणस्थान तक का संक्षिप्त विवरण व उनमें यौगनिमित्तक आस्रव का कथन–जब अणुव्रत का भाव होता है, पापों से एक देश विरक्ति होती है तो वह कहलाता है देशविरत

गुणस्थान। इसके बाद परिणाम और निर्मल हुआ तो एकदम सातवां गुणस्थान होता है, उस अप्रमत्त गुणस्थान से पहले परिणामों की निर्मलता के काल में वह मुनिदीक्षा विधि कर लेता है। सातवें गुणस्थान के बाद जब छठें गुणस्थान में आया तो यहां पूर्ण महाव्रत है ही। यहां हिंसा आदिक पापों का परिपूर्ण रूप से त्याग हो गया। यों छठे से सातवें, सातवें से छठे गुण में असंख्यातों बार परिवर्तित होते रहते हैं। जब अप्रमत्तविरत गुणस्थान वाले मुनि उनका आत्मध्यान में विशेष रत रहते हैं, कब ही उनका उत्कृष्ट अप्रमत्त विरत में निर्विकल्प ध्यान रहे तो वे श्रेणी माड़ते हैं। उपशम और क्षपक ये दो श्रेणियां हैं। इनमें उपशम श्रेणी वाले तो गिर जाते हैं नीचे गुणस्थानों में, सो ऊपर की बात समझने के लिये क्षपक क्षेणी की बात लो। यह जीव क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करके क्षणक श्रेणी पर चढ़ता है तो आठवें, नौवें, दसवें गुणस्थान में जाकर अन्त में मोहनीय कर्मों का पूर्णतया नाश कर देता है। दसवें गुणस्थान के बाद बारहवें गुणस्थान में पहुंचता है तो वहां मोह नहीं रहता पर कर्म का आस्रव है तो देखो यहां मोह के बिना भी योग के कारण कर्मों का आस्रव होता है, लेकिन है वह केवल सातावेदनीय का आस्रव जो आया और गया, स्थिति नहीं बांध सकता। तेरहवें गुणस्थान में अरहंत सकल परमात्मा होते हैं जिनकी मूर्ति बनाकर हम आप पूजते हैं। तेरहवें गुणस्थान में यह जीव परमात्मा रहकर करोड़ों, अरबों, खरबों, वर्षों तक भी रह जाता है। उस समय के जीवों का कितना अधिक पुण्य उदय है कि अरहंत भगवान विहार करते हुए समवशरण में विराजमान हुए गंध कुटी पर विराजे हुए लोगों को मिलते हैं। लोग उनके दर्शन करते हैं, अपने परिणाम निर्मल करते हैं। आजकल तो हम आप उन अरहंत देव का चिन्तवन करके पुण्य लाभ लेते हैं, धर्मदृष्टि करते हैं। तो वे हैं तेरहवें गुण स्थानवर्ती सकल परमात्मा। इनके अपने आप ही बाकी बचे हुए चार अघातियाकर्म भी दूर होते हैं। वे सिद्ध भगवान बन जाते हैं। सिद्ध होने से पहले वह तेरहवें गुण स्थान के बाद उनके चौदहवां गुण स्थान प्रकट होता है। चौदहवें अयोगकेवली नामक गुण स्थान में आस्रव रंच भी नहीं है और सिद्ध भगवान के भी आस्रव रंच भी नहीं है। वीतमोह में यानि उपशान्त मोह, क्षीण मोह व सयोग केवली गुण स्थान में आस्रव केवल सातावेदनीय का है और वह भी स्थिति बंध व अनुभाग बंध बिना है। आस्रव होता है योग के कारण, जब इस जीव के साथ कषाय लगी है तब तो वहां स्थिति व अनुभाग का भी बंध होता है, किन्तु जहां कषाय नहीं है, केवल योग है वहां न स्थिति बंध है, न अनुभाग बंध है। इस तरह मन, वचन, काय की हलन-चलन से क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय के परिणमन से कर्म आते हैं, बंधते हैं, और जब इनका उदय आता है तब इसको विडम्बनायें भोगनी पड़ती हैं। अतः विडम्बनायें न मिलें, ऐसा यदि मन में संकल्प बने तो यह चाहिए कि इन कषायों पर विजय प्राप्त करें और मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों को कम से कम करें।

मोह-विवाग-वसादो जे परिणामा हवंति जीवस्स।
ते आसवामुणिज्जसु मिच्छत्ताई अणेय-विहा।।८९।।

कर्मबन्धहेतु भूत मिथ्यात्व भाव का संक्षिप्त विवरण—मोहनीय कर्म के उदय से जीव के जो अनेक तरह के मिथ्यात्व आदिक परिणाम होते हैं उनको आस्रव मानो। उन आस्रव भावों से ज्ञानावरणादि कर्मों का आस्रव होता है सो मोहपरिणति के संसर्ग से उनका बंध हो जाता है। यहां आस्रव और आस्रव से बढ़कर बंध के बारे में विचार कर रहे हैं। बंध के पांच कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। मिथ्यात्व तो पांच प्रकार के हैं—अज्ञान मिथ्यात्व, जो सब जीवों में पड़ा हुआ है, चाहे संज्ञी हो, असंज्ञी हो, एकेन्द्रिय हो, पेड़

पृथ्वी आदिक हो, सब में मिथ्यात्व पड़ा हुआ है। इसके अलावा जो मन वाले जीव हैं, जो समझदार हैं, जो कुछ विचार कर सकते हैं उनके अन्य प्रकार के भी मिथ्यात्व पड़े हैं। संस्कार में सभी में मिथ्यात्व पड़ा समझिये। पहला मिथ्यात्व है एकान्त मिथ्यात्व। वस्तु में धर्म अनन्त है उनमें से एक ही धर्म का आग्रह कर लेना एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे बतलाओ—जीव नित्य है या अनित्य? द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य है, जीव सदा रहता है। अनादि से जीव था, अनादि से है और अनन्त काल तक रहेगा। संसार में यह जीव है तो संसारी है, कर्मों से छूट गया, सिद्ध भगवान हो गया, देह से भी मुक्त हो गया तो वह हो गया मुक्त जीव। किसी भी अवस्था में रहे पर जीव रहता है सदा। द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य है, पर्यायदृष्टि से जीव अनित्य है। जो पर्याय मिली वह पर्याय सदा नहीं रहती। कषाय जगी, क्रोध जगा तो फिर वह क्रोध मिट जाता है, मान कषाय जगी, क्रोध जगा तो फिर वह क्रोध मिट जाता है, मान कषाय जगी तो वह भी मिट जाती है। यों माया, लोभ आदि सभी कषायों के परिवर्तन होते रहते हैं। जो भी पर्याय जीव पाता है वह पर्याय भी मिटती है, सदा नहीं रहती। ये पर्यायें हैं विशेष औपाधिक, लेकिन जहां स्वाभाविक पर्यायें हैं, सिद्ध प्रभु हो गए, अब ऐसे कारण नहीं रहे कि वे सिद्ध मिटकर संसारी बन जायें, लेकिन उस सिद्ध अवस्था में भी सूक्ष्म दृष्टि से देखो तो प्रतिक्षण नयी-नयी पर्यायें उत्पन्न होती रहती हैं। जैसे दीपक जलता है तो उसमें तेल की नयी-नयी बूंद पहुंच पहुंचकर जलती रहती है। जो दीपक किसी समय जला तब से वही का वही नहीं जलता रहता है, उसमें पर्यायें बदलती रहती हैं। इसी प्रकार इस जीव की भी निरन्तर पर्यायें बदलती रहती हैं। इस प्रकार यह जीव द्रव्यदृष्टि से तो नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य है। तो नित्यानित्य होने पर भी कोई एकान्त हठ करे कि जीव नित्य ही है या जीव अनित्य ही है तो यह हुआ एकान्त मिथ्यात्व। अब विपरीत मिथ्यात्व का स्वरूप निरखिये—चीज तो है और प्रकार, मानते हैं और प्रकार। जैसे यह देह मेरा है नहीं और मानते हैं कि यह देह मेरा है, तो वस्तु जैसी नहीं है वैसी मानना, वह है विपरीत मिथ्यात्व। एक है संशयमिथ्यात्व। संशय करना कि जीव सचमुच है या नहीं, परमात्मा भी है या नहीं, आत्मा भी कोई चीज है या नहीं, आदि बातों का संशय करना सो संशय मिथ्यात्व है। एक है विनय मिथ्यात्व। देव कुदेव की पहिचान भली-भांति किए बिना ही कोई यह सोचकर उनकी विनयभक्ति करे कि हमारे लिए तो बराबर हैं, हमसे तो अच्छे ही हैं। तो इस प्रकार की विनय करना सो विनय मिथ्यात्व है। इन सभी मिथ्यात्वों के कारण कर्मों का विशेष आस्रव होता है, बंध होता है। स्थिति अनुभाग भी विकट पड़ा करते हैं।

बन्धहेतुभूत अविरति भाव का संक्षिप्त विवरण—अविरति के परिणाम बारह प्रकार के हैं—स्पर्शन इन्द्रिय के विषयों से विरक्त न होना तथा रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र आदिक के विषयों से विरक्त न होना, ये छः तो हैं विषय अविरति और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति व त्रस इन आदिक छः काय के जीवों की हिंसा से विरक्त न होना ये छः हैं काय अविरति। ये सब अविरति के परिणाम हैं। कषायें पच्चीस तरह की होती हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ—जो मिथ्यात्व को पुष्ट करें वे अनन्तानुबंधी कषायें हैं। किसी-किसी को तो धर्म के नाम पर भी क्रोध बना रहता है। जरा-जरा सी बातों में अनुकूल प्रतिकूल मानकर भीतर ही भीतर क्रोध बनाये रहना सो अनन्तानुबंधी क्रोध है। अनन्तानुबंधी क्रोध के उदय में इस जीव को अपने आपकी सुध नहीं हो सकती। यों ही मान कषाय धर्म के नाम पर भी किन्हीं-किन्हीं के चला करती हैं। लोग घमंड में आकर धर्म की आड़ लेकर अपना अभिमान पुष्ट करते हैं तो यह कहलाता है अनन्तानुबंधी मान। इसी तरह से

अनन्तानुबंधी माया और अनन्तानुबंधी लोभ कषायें भी इस जीव को बहुत हैरान कर रही हैं। इन समस्त कषायों को फल बड़ा कटुक है। इनके फल में जीव को दुर्गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जिन्हें ऐसे पापास्रवों से बचने का भाव है उनका यह कर्त्तव्य है कि इन अनन्तानुबंधी जैसी कषायों से बचें और सम्यक्त्व के कारणभूत जो ज्ञानाभ्यास है, तत्व चिन्तन है उसमें अपना उपयोग लगायें।

कषायों का वैचित्र्य–जीव में कषायों की बड़ी विचित्रता है और इसी कारण कषायों के दर्जे के स्थान असंख्याते हैं। इनमें अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय होने पर अणुव्रत भी ग्रहण करने का भाव नहीं होता है। अनन्तानुबंधी के उपशम या क्षय या उदयाभावी क्षय होने पर सम्यक्त्व तो हो जाता है, किन्तु यदि अप्रत्याख्यानावरण का उदय हो तो जीव में अणुव्रत पालने का भाव नहीं हो सकता है। अप्रत्याख्यानावरण नहीं रहा, किन्तु प्रत्याख्यानावरण का उदय हो तो इस जीव के महाव्रत पालने का भाव नहीं हो सकता। संज्वलन कषाय भी जब तीव्र उदय में होती है तब जीव में प्रमाद रहता है। संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र को नहीं होने देती। इसी प्रकार अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण के उदय में और संज्वलन कषाय के तीव्र उदय में प्रमाद होता है। सो प्रमाद भी बंध का कारण है, किन्तु प्रमाद इन कषायों में गर्भित है। इसके अतिरिक्त ऐसे-ऐसे भी कर्म होते हैं कि किसी-किसी में जीव को हंसी-मजाक करने का भाव होता है। किसी कर्म के उदय में प्रेम, कभी द्वेष, कभी रंज, कभी डर, कभी ग्लानि, और कभी काम विषयक भावनायें जागृत होती हैं, ये सब मोहकर्म के ही प्रसाद हैं।

कर्मों में स्थिति व अनुभाग का बन्ध–कषाय के कारण इन कर्मों में स्थिति बंधती है। जैसे कोई भोजन किया, अब भोजन करने के बाद आपका कुछ वश नहीं है, जैसी जठराग्नि में योग्यता है उसके माफिक उसमें विभाग हो जाते हैं। भोजन के कुछ अंश रुधिर रूप बनते हैं, कोई हड्डी रूप, कोई वीर्य रूप, कोई पसीना रूप, कोई मल-मूत्रादिक रूप बनते हैं। अब जो अंश वीर्य रूप बना उसकी स्थिति शरीर में बहुत ज्यादा रहेगी। जो पसीना रूप बना वह थोड़े समय रहेगा, जो रुधिर रूप बना वह कुछ और अधिक रहेगा। तो जैसा भोजन खाया गया उसके अनुसार यह सब अलग-अलग व्यवस्था हो जाती है। ऐसे ही जब कर्मबन्ध होता है तो उन बंधी हुई कर्म प्रकृतियों में यह स्थिति बंध जाती है कि ये निषेक इतने दिन आत्मा में रहेंगे, ये इतने दिन तक शरीर में रहेंगे। आपने समझा होगा कि खाये हुए भोजन का जो अंश बहुत जल्दी निकल जाता है उसमें शक्ति कम होती है, जो अंश बहुत दिनों तक रहेगा उसमें शक्ति अधिक होती है। जैसे मल-मूत्र में कुछ बल नहीं है, रुधिर में कुछ बल है, वीर्य में सर्वाधिक बल है। तो जो जितने अधिक दिन तक टिक सकेगा उसमें उतने ही अनुभाग अधिक हैं। ऐसी ही बात कर्मों में है कि एक आत्मा में जितनी कर्म प्रकृतियां बंधी हैं उनके निषेकों में जो निषेक जल्दी खिरेंगे उनमें अनुभाग कम है और जो बहुत अधिक समय बाद खिरेंगे उनका अनुभाग अधिक है। तो यह सब व्यवस्था कर्मों के निमित्तनैमित्तिक भाव से बनती है। उसका बनाने वाला कोई प्रभु, ईश्वर आदिक नहीं है।

योग और कषायों में कुछ ज्ञातव्य–अन्तिम कारण है कर्मों के आस्रव का योग। योग कहते हैं आत्मा के प्रदेश के हलन-चलन को। यह हलन-चलन होती है मन, वचन, कार्य के निमित्त से। योग के तीन भेद किए गए हैं–मनोयोग, वचनयोग और काययोग। ये सबके सब शुभ भी होते हैं–अशुभ भी होते हैं। कषाय शुभ भी है, अशुभ भी है। द्वेष तो सभी अशुभ हैं। राग में ये दो प्रकार कल्पित होते हैं। अविरत भाव में भी कोई

परिणाम मंद कषाय में चलता है, कोई तीव्र कषाय में भी अविरत चलता है। मिथ्यात्व तो अशुभ ही है, फिर भी कहीं मंद मोह हुआ कहीं तीव्र, इस तरह आस्रव भाव नाना प्रकार के हैं, ये सब मोहनीय कर्म के उदय से हैं। हिन्दी भावना में कहा है कि 'मोह नींद के जोर जगवासी घूमें सदा।' ये जगतवासी संसारी प्राणी मोह निद्रा के वश होकर घूम रहे हैं। अब बताओ हम आप जीव इस संसार में यात्रा करते हुए आज यहां उत्पन्न हुए हैं, यहां के समागमों में आये हैं, तो जब अनादिकाल की यात्रा में पाये हुए समागम मेरे न रह सके तो ये कुछ वर्षों के समागम ये अपने हो जायेंगे क्या? ये स्वरूपतः भिन्न हैं और मोटे रूप से विचार करें तब भी भिन्न नजर आते हैं। कुछ दिनों का समागम है लेकिन इनमें जो अज्ञान मोह बसा लिया जाता है इससे जीव को भविष्य में भी भ्रमण करने का बंध हो जाता है। अतः विवेक यह है कि अपने आप अपने भीतर गुप्त ही गुप्त ज्ञानप्रकाश पैदा करना है। 'मैं मैं हूं, मैं देह रूप नहीं, मैं मेरा हूं, मेरे सिवाय बाहर में अन्यत्र मेरा कहीं कुछ नहीं।' यह ज्ञानप्रकाश किया जाये तो यही हम आपका शरण होगा। यह ज्ञानप्रकाश न हो तो हम आपको कोई शरण नहीं है। अतः इस ज्ञानप्रकाश में अपने सहज स्वरूप पर दृष्टि देकर कषायों और योगों से निवृत्त होने का पुरुषार्थ करो।

वस्तुस्वातन्त्र्य जानकर पर में लगाव न रखते हुए आस्रवों के परिहार करने का अनुरोध—प्रत्येक पदार्थों में स्वयं से स्वयं के लिये परिणमन होते रहना वस्तु स्वरूप है, इसे कोई मेट नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वभाव से अपने में उत्पाद व्यय कर रहे हैं। हम आप भी अपने आपमें, अकेले में, अपने आपकी कल्पनायें बनाते और सुख दुःख की अनुभूति किया करते हैं। तो ऐसा अपने को अकेला जानकर हमें अपने ही परिणाम से अपनी भलाई-बुराई जानकर कुछ अपनी ओर आना चाहिए। मोह ममत्व के अज्ञान परिणामों का अब तिरस्कार करना चाहिए। इस ममत्व परिणाम ने इस जीव को अब तक बहुत दुःखी किया। इस जीव में किसी प्रकार का विकार स्वभाव से पड़ा ही नहीं है, लेकिन इन विभाव भावों के उदय से इस आत्म तत्व की ऐसी विडम्बना बन रही है। अब इन विभाव भावों का आदर न करें। अपने आपका जो स्वभाव है विशुद्ध पावन, उसका आदर करें। इस मोहभाव को दूर करने के लिए और आत्मा के स्वभाव में लगाने के लिए एक साहस बनाना होगा, अन्यथा जैसे इस संसार में रुलते आये वैसा ही रुलना बना रहेगा। इस मोहभाव के कारण जीव की कितनी कठिन जन्म-मरण की परम्परा लगी हुई है? इसका कुछ निश्चय नहीं कि आज तो हम मनुष्य हैं और मरकर फिर मनुष्य ही बनेंगे। मुनष्य मरकर सब प्रकार के देहों में पैदा हो सकते हैं, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पशु, पक्षी, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य देव आदि सभी जगह ये मनुष्य उत्पन्न हो सकते हैं। तो यहां से मरकर अगर स्थावर, तिर्यञ्च आदि हो गए तो फिर यहां के समागमों से क्या सम्बन्ध रहेगा? ये सारे मायाजाल हैं, इनसे प्रीति न करें, इस ही में अपनी भलाई है तो ये आस्रव भाव ऐसे घोर दुःख के ही कारण हैं ऐसा जानकर हे बुद्धिमंतो! इस आस्रव भावों का परिहार करो।

कम्मं पुण्णं पावं हेउं तेसिं च होंति सच्छिदरा।
मंद-कसाया सच्छा तिव्व-कसाया असच्छा हु।।९०।।

प्रशस्त व अप्रशस्त कर्मों के विवरण में संज्वलन क्रोध की मंदकषायता का कथन—कर्म दो प्रकार के हैं—पुण्य और पाप और उसके हेतु भी दो प्रकार के हैं—पुण्य भाव और पाप भाव। पुण्य भाव को शुभ कहा, पाप भाव को अशुभ कहा। पुण्य कर्म का कारण शुभ आस्रव है, पाप कर्म का कारण अशुभ आस्रव

है, याने मंद कषाय होने से जो आस्रव होता है वह तो शुभ आस्रव है, तीव्र कषाय होने से जो आस्रव होता है वह अशुभ आस्रव है। इसका संक्षिप्त विवरण यह है कि कषायें होती हैं चार प्रकार की क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्येक कषाय की चार-चार जातियां होती हैं। अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। जैसे जल में रेखा कर दी गई तो वह रेखा कितनी देर रहती है, तुरन्त ही मिट जाती है, तो ऐसे ही समझिये कि ऐसा मंद होता है संज्वलन क्रोध मुनिजनों का, तो वह कितनी देर रहेगा? क्रोध आया कि वहीं तरंग समाप्त हो जाती है। जैसे बहुत से मनुष्य किसी पर ऐसा क्रोध करते हैं कि उस क्रोध को जीवन भर भी नहीं छोड़ते। यद्यपि क्रोध कोई जीवन भर कर नहीं सकता, मगर वासना तो रख सकता है। और कितने ही जीव तो अगले भव में भी क्रोध की वासना ले जाते हैं। जैसे कमठ के जीव ने कई भवों तक अपनी क्रोध वासना निभाई और वह भी एकदम कितना इकतरफा कि मरुभूति तो गया था अपनी स्त्री के साथ ही अन्याय करने वाले कमठ को समझाने कि कमठ मेरा बड़ा भाई है, यह हम से अप्रसन्न न रहे, लेकिन कमठ तापसी बनकर एक बहुत बड़ी शिला अपने हाथ पर उठाये हुए कुतप कर रहा था। मरुभूति ने विनय किया और चरणों में गिर गया लेकिन कमठ का क्रोध शान्त न हुआ और क्रोध में आकर उस शिला को मरुभूति पर पटक दिया। यों ही कमठ के जीव ने मरुभूति के जीव पर अनेक भवों में अनेक उपद्रव ढाये। यहां तक कि मरुभूति का जीव जो पार्श्वनाथ भगवान का जीव बना। उस समय भी मुनि अवस्था में कमठ के जीव ने उपद्रव ढाया, इतने पर भी मरुभूति के जीव ने कमठ से बदला लेने की बात कभी नहीं सोची। तो यह क्रोध भाव भव-भव में जाता है, पर साधुजनों के संज्वलन क्रोध अन्तर्मुहूर्त से आगे नहीं ठहरता, क्षणमात्र में ही नष्ट हो जाता है—जैसे कि जल की रेखा।

प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण व अनंतानुबंधी में कषाय वासना की उत्तरोत्तर अधिकता—संज्वलन क्रोध से बढ़कर क्रोध है प्रत्याख्यानावरण क्रोध। कच्चे मार्ग में जैसे बैलगाड़ी निकलती है तो बैलगाड़ी के तो बैलगाड़ी के पहिये की रेखा बन जाती है। अब बतलाओ वह पहियो की रेखा कितने दिन टिकेगी? अधिक से अधिक १०-१५ दिन। हवा चलने से या अपने आप ही किसी कारण से वह मिट जाती है, ऐसे ही प्रत्याख्यानावरण क्रोध होता है जो कि श्रावकों में होता है। ज्यादा से ज्यादा श्रावकों में क्रोध होगा तो उसकी वासना करीब १५ दिनों तक रहेगी। १५ दिनों से ऊपर अगर किसी के प्रति बैर विरोध की वासना बनती है तो समझिये कि उसके अणुव्रत नहीं है। इससे बढ़कर रेखा है खेत में हल चलाये जाने की। वह रेखा खेत में दो-चार महीने तक रह सकती है। फिर वह रेखा अपने आप मिट जायेगी। ऐसे ही अप्रत्याख्यानावरण क्रोध उस पृथ्वी रेखा की तरह ज्यादा से ज्यादा छः माह तक रहेगी, इससे अधिक नहीं रह सकती। तो जो जीव सम्यग्दृष्टि है और अव्रती है उसके जिस किसी भी विषय में क्रोध की वासना उत्पन्न हुई है, वह वासना छः माह से अधिक नहीं चलती। लेकिन अनन्तानुबंधी क्रोध की वासना छः माह से अधिक चलती है, भव-भव तक चलती है। जैसे पत्थर में रेखा कर दी जाये तो वह रेखा बहुत वर्षों तक रहती है। इस तरह कषायें भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। एक श्रीरामचन्द्र जी का कथन आया है कि वे मृतक लक्ष्मण के शरीर को लिए हुए छः महीने तक फिरे। लेकिन छः महीने के बाद वे न रख सके। उनके सम्यक्त्व था, इस बात की सिद्धि इस तरह होती है कि वे यदि भूले रहे, उनमें लोभ की वासना रही तो छः महीने तक रही। यह लोभ वासना का दृष्टान्त है। जैसे क्रोध वासना चार प्रकार की बतायी है अन्तर्मुहूर्त, एक पक्ष, छः महीना और बहुत काल।

ऐसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ इनकी भी वासना इन चार प्रकारों में हैं। वे श्रीराम अविरत सम्यग्दृष्टि थे। वे अपनी इस वासना को छः महीने से अधिक नहीं चला सके। आखिर योग मिला और उनको चेत हुआ। ये वे कषायें इस प्रकार चार-चार प्रकार से समझना चाहिए।

कषायों की मन्दता और तीव्रता पर कुछ प्रकाश—अब इन चार कषायों में से अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण इनको तो तीव्र कषाय समझ लीजिए और प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन इनको मंद कषाय समझ लीजिए। यह भेद यों किया कि श्रावक और मुनि इनको पुण्यास्राव बहुत अधिक होता है और फिर चार कषायों में भी यह बात लगा सकते कि किसी के अनन्तानुबंधी भी मंद रहे, किन्तु अनन्तानुबंधी चूंकि संसार का कारण है अतएव हर स्थिति में वह वस्तुतः तीव्र कषाय है। अनेक द्रव्यलिङ्गी मुनि अपने परिणामों में इतनी मंद कषाय रखते हैं कि किसी को कोल्हू में भी पेल दिया जाये तो भी वे शत्रु से बदला लेने का भाव नहीं करते। और इतना कष्ट सहने पर भी उन मुनियों के मिथ्यात्व रह सकता है, यह मिथ्यात्व किस बल पर रहा? पर्याय बुद्धि के बल पर मिथ्यात्व का लक्षण है पर्याय बुद्धि है। जो जिस पर्याय में है उसी पर्याय में यह मैं हूं, इस ही पर्याय रूप मैं हूं, मैं यह हूं, इस तरह के पर्याय को अपनाना, इस पर्याय को ही आत्मा समझना यह मिथ्यात्व की प्रकृति है। तो उस मुनि ने उस समय क्या किया? जो द्रव्यलिङ्गी मुनि है, मिथ्यादृष्टि मुनि है और मंद कषाय है उसने अपने आपमें यह निर्णय रखा है कि यह मैं मुनि हूं। शरीर के आकार को शरीर के निर्ग्रन्थ भेष को उस पर्याय को मान रहा कि यह मैं हूं और मैं बन क्या गया? मुनि। जैसे धनिक लोग अनुभव करते कि मैं धनिक हूं, पर क्या यह आत्मा धनिक है। आत्मा तो अमूर्त ज्ञान मात्र है, वह धनी नहीं है। इसी प्रकार द्रव्यलिङ्गी मुनि ने यह अनुभव किया कि मैं मुनि हूं, तो क्या आत्मा मुनि है? आत्मा मुनि नहीं है। आत्मा तो अमूर्त ज्ञानमात्र है, पर उस द्रव्यलिङ्गी साधु ने यह प्रत्यय किया कि मैं मुनि हूं। तो मैं मुनि हूं, मुझे शत्रु मित्र को बराबर मानना चाहिये, यह मेरा कर्त्तव्य है। इस नाते से मैं बड़ा हूं। यहां कषाय तो उसकी मंद हुई लेकिन मिथ्यात्व नहीं गया। तो अनन्तानुबंधी कषाय रहते हुए भी उस द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि मुनि ने शत्रु पर रोष तो नहीं किया और निश्चय से देखा जाये तो उसने शत्रु पर तो रोष नहीं किया लेकिन अपने आत्मदेव पर तो महान् रोष किया। आत्मदेव पर यही रोष कहलाया कि आत्मा को यथार्थ रूप से न परखकर अनात्म रूप में परखा, यही आत्मदेव पर अन्याय है। तो मंद कषाय भी अनेक ऐसी होती हैं कि जिनमें मिथ्यात्व बसा हुआ है और अकल्याण चलता है, पर वस्तुतः वह भी तीव्र कषाय ही है।

कर्मों की पुण्यपापरूपता का कारण—तीव्र कषाय सहित योग होने से जो कर्मों का आस्रव होता है वह अशुभ आस्रव है और मंद कषाय योग से जो आस्रव होता है वह शुभ आस्रव कहलाता है। कर्मों की प्रकृतियां १४८ हैं, उनमें से सम्यक्त्व प्रकृति व मिश्र प्रकृति का बंधन होने से बंध योग्य १४६ हैं, जिनको यथोचित कुछ गर्भित करके १२० रूपों में कहा है। जैसे वर्ण रस गंध स्पर्श नाम कर्म के २० भेद है उन्हें ४ मूल में ले लिये सो १६ ये कम किये तथा शरीर संघात व बंधन नाम कर्म के एक से ५-५ भेद हैं उनमें से एक पांच ले लिये सो १० ये कम हुए यों १४६ में २० कम होने से कुल बन्धन योग्य १२० हैं। उनमें से ४२ प्रकृतियां तो पुण्यरूप हैं और ८२ प्रकृतियां पापरूप हैं। वर्णगन्ध रस और स्पर्श नाम कर्म पुण्यरूप भी हैं और पापरूप भी हैं, अतः इन चार प्रकृतियों में पुण्यरूप व पाप रूप दोनों प्रकार के माने हैं। यह कथन स्थिति बंध व अनुभाग बंध की अधिकता की प्रधानता से है। साधारणतया तो शुभ-अशुभ दोनों आस्रवों से पुण्य व पाप

दोनों प्रकार के कर्म बंधते हैं। उनमें घातियां कर्म तो सब पापरूप हैं। तो यह समझना चाहिए कि हमारे जितने भी रागद्वेष हैं वे वस्तुतः पापरूप हैं। हम मोह राग द्वेष करते हैं तो हम अपने आपका कितना अधिक बिगाड़ कर रहे हैं? ऐसा उत्तम कुल, उत्तम धर्म, उत्तम सुयोग पाकर भी यदि हमने अनात्म तत्व से हटकर आत्मा के स्वरूप में रुचि बनाने का काम न किया तो लौकिक बड़प्पन सब बेकार है। यह लौकिक बड़प्पन साथ न देगा, मरण अवश्य होगा। मरण के बाद क्या स्थिति होगी, सौ लौकिक बड़प्पन के हिसाब से बात न बनेगी किन्तु भीतर में जैसे परिणाम किये उसके अनुसार बात बनेगी। अतः यह कर्त्तव्य है कि अपने परिणामों की संभाल अधिकाधिक करनी चाहिए । अब मंद कषाय के दृष्टान्त देते हैं।

सव्वत्थ वि पिय-वयणं दुव्वयणे दुज्जणे वि खम-करणं।
सव्वेसिं गुण-गहणं मंद-कसायाण दिट्ठंता।।९१।।

मंद कषाय की प्रमुख तीन पद्धतियां–सब जीवों में प्रिय वचन बोलना यह मंद कषाय का उदाहरण है। अब परख कर लीजिये कि जिस जीव के तीव्र कषाय भरी है वह वचन बोलेगा तो प्रिय कैसे बोल सकता है। क्योंकि मूल आधार ही उसका बुरा है। वहां पुण्यभाव ही नहीं है तो प्रिय वचन कैसे बोल सकता है? कषाय मंद हो तब ही उसके मुख से वचन प्रिय निकल सकते हैं। तो सब जीवों में प्रिय वचन बोलना यह मंद कषाय है और कोई दुर्वचन भी बोले तब भी उसको क्षमा करना, सोचना कि यह अज्ञानी जीव है, कषायों से घिरा है, उसकी ऐसी ही चेष्टा हुई है। वस्तुस्वरूप को निरखें, उसके उपादान निमित्त को देखें और यों सत्य जानकर उस पर भी क्षमा करें, यह मंद कषाय वाले बुद्धिमान पुरुषों से ही बन सकता है। कोई पुरुष दुर्जन है, अनेक बार उसने अपकार भी किया है फिर भी क्षमा कर देना यह मंद कषाय का दृष्टान्त है। देखो कमठ के जीव ने अनेक भवों में मरुभूति के जीव को सताया था, लेकिन मरुभूति के जीव ने किसी भी भव में उस कमठ के जीव से बदला लेने का भाव नहीं किया। उस मरुभूति के जीव की कषायें मंद थीं। दुर्जन पुरुषों पर भी क्षमा कर देना यह मंद कषाय की बात है। तीसरा उदाहरण है—सभी जीवों के गुणों को ग्रहण करना। जो मंद कषाय पुरुष है उसमें ही ऐसी क्षमता है कि दूसरे जीवों के गुणों को ग्रहण कर सकता है। जो पक्षपाती है, द्वेषी है, तीव्र कषायी है उसको तो दोष ही दोष नजर आयेंगे। किसी में गुण नजर न आयेंगे, गुण ग्रहण करने की तो बात ही जाने दो। जब मन में अभिप्राय बुरा है तो बाहर में उसे खराबियां ही खराबियां दिखेंगी और यदि अपना अभिप्राय भला है तो बाहर में उसे भला ही भला दीखेगा। यों जो मंद कषायी पुरुष है उसमें यह क्षमता है कि दूसरे के गुणों को ग्रहण कर सकता है।

दृष्टि की अभिप्रायानुसारिता–जैसे यहां यह बात देखी जाती है कि जो पुरुष खुद दुःखी है उसे बाहर में सभी लोग दुःखी नजर आते हैं और अगर स्वयं सुखी है तो बाहर में भी उसे सब सुखी नजर आते हैं। तो जैसी अपनी दृष्टि बनायी उसके अनुसार ही बाहर में दिखता है। जो पुरुष सज्जन है उसे बाहर में भी यानि अन्य पुरुषों में सज्जनता ही नजर आती है और जो लोग दुर्जन हैं उन्हें बाहर में यानि अन्य पुरुषों में भी प्रायः दुर्जनता ही नजर आती है। तो जो मंद कषाय वाले पुरुष हैं उनको ही दूसरे पुरुषों में गुण दीखा करते हैं और वही पुरुष दूसरे के गुण ग्रहण करते हैं। बालक में भी गुण हों तो उसके गुण ग्रहण करना चाहिए। बालक भी यदि भली शिक्षा की बात कर रहा हो तो उसकी शिक्षा की बात मान लेनी चाहिए। यह प्रकृति मंद कषाय वाले सज्जन पुरुषों में ही हो सकती है। एक छोटा-सा कथानक है कि एक नाई बादशाह की हजामत बनाया

करता था। तो बादशाह ने उस नाई से कहा—खवास जी यह बताओ कि आजकल हमारी प्रजा के क्या हाल हैं? तो नाई बोला—महाराज आजकल आपकी प्रजा बहुत मजे में है। घी दूध की तो आजकल नदियां बह रही हैं। सभी लोगों का जीवन बड़ा सुखमय है। बादशाह ने सोचा कि यह नाई खुद मजे में है सो दूसरों को भी वैसा ही समझ रहा है। सो क्या किया बादशाह ने कि उस नाई पर कोई झूठा-मूठा अपराध लगाकर सिपाहियों को हुक्म दिया कि इसके सभी गाय, बैल, भैंस आदि जानवर यहां ले आओ। सिपाहियों ने वैसा ही किया। अब कुछ दिन बाद में फिर वही नाई बादशाह की हजामत बनाने गया तो बादशाह ने फिर उसी प्रकार पूछा कि खवास जी, यह बताओ कि आजकल हमारी प्रजा का क्या हाल है? तो खवास बोला—महाराज आजकल आपकी प्रजा बड़ी दुःखी है। आजकल तो किसी को दूध घी के दर्शन ही नहीं हो रहे हैं तो जिसकी जैसी दृष्टि बनती है उसे बाहर में वैसा ही दिखता है।

ज्ञानी का निज का एकत्व विषयक ज्ञानप्रकाश व मंद कषाय के दृष्टान्तों का उपसंहार—जिस का जैसा परिणाम है उसके अनुसार उसे बाहर में दिखता है। मंद कषाय वाले पुरुषों में चूंकि गुणों की रुचि है और सम्यग्दृष्टि पुरुषगुण रुचि होने के कारण मंद कषाय रहा करते हैं। उनको निरन्तर यह ज्ञानप्रकाश रहता है कि मैं तो ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान को ही करता हूं, ज्ञान को ही भोगता हूं। मैं बोल रहा हूं तो इस वक्त मैं बोलने का कर्ता नहीं, किन्तु भीतर में जो ज्ञान चल रहा है उस ज्ञानभाव का ही करने वाला हूं। जब-जब भी मैं सुख-दुःख भोगता हूं उस वक्त मैं उन बाहरी चीजों को नहीं भोगता हूं, जैसे भोजन किया तो लोग अनुभव करते हैं कि मैं भोजन को भोग रहा हूं, परन्तु वस्तुतः सोचिए तो मैं भोजन को नहीं भोग रहा, भोजन के विषय में मैं जो ज्ञान कर रहा हूं, जो चीज ज्ञान में है उस सम्बन्ध में ज्ञान कर रहा हूं और साथ ही में लगा हुआ है राग। तो उस राग के कारण ज्ञान की उस वृत्ति को मैं भोग रहा हूं। जैसे कहा 'कल्पना' कल्पना ज्ञान के साथ चारित्र के विकार होने पर बना करती है। कल्पना क्या चीज है? ज्ञान का ही तो परिणमन है, लेकिन साथ में राग द्वेष की पुट लगी हुई है। इस कारण वह कल्पना का रूप बना है। तो मैं कल्पना को भोगता हूं, बाह्य पदार्थ को नहीं भोगता, इस तरह बाह्य पदार्थ का कर्तापन, बाह्य पदार्थ का भोक्तापन जब मेरे आस्रय में नहीं है। और केवल अपने आपके अंतस्तत्व से ही मैंने अपने आपको निर्णय बनाया है तो मुझे जगत में कोई अपना विरोधी और कोई अपने अनुकूल नहीं नजर आता। मैं विरोधी को अपनाऊं यानि अपना विरोधी मानूं तो मैं ही अपना बिगाड़ कर रहा हूं, मैं अनुकूल को अपनाऊं तो मैं ही अपना बिगाड़ कर रहा हूं। वे दोनों के दोनों इस मुझ अंतस्तत्व से भिन्न हैं, ऐसे परभावों से अत्यन्त विभक्त निज के स्वरूप मात्र अपने आपके स्वरूप का अनुभव कर लेने वाले सम्यग्दृष्टि पुरुष के तीव्र कषाय नहीं लगती। तो ये जो तीन उदाहरण दिये हैं ये मंद कषाय के दृष्टान्त हैं और ये तीन बातें सम्यग्दृष्टि पुरुष में तो पायी ही जाती हैं, सब जीवों से प्रिय बोलना, दुर्जन पुरुषों की प्रतिकूल चेष्टा होने पर भी उनको क्षमा कर देना और सभी जीवों के गुण ग्रहण करना, ऐसी मंदकषाय की परिणतियों से पुण्य प्रकृति का आस्रव होता है।

अप्प-पसंसण-करणं पुज्जेसुवि दोस-गहण-सीलत्तं।
वेर-धरणं च सुइरं तिव्व-कसायाण लिंगाणि।।९२।।

तीव्र कषाय वालों के चिन्हों से आत्म प्रशंसा करण नामक प्रथम चिन्ह का वर्णन—अब इस गाथा में तीव्र कषाय करने वालों के चिन्ह बताते हैं। अपने आप की प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषों में भी दोष

निकालने का स्वभाव होना और बहुत काल तक बैर को धारण करना, ये तीव्र कषाय वाले जीवों के चिन्ह हैं। अपने आपकी प्रशंसा करना यह पर्याय बुद्धि और कषाय की तीव्रता हुए बिना नहीं हो सकता, क्योंकि यह आत्मा है अमूर्त ज्ञान मात्र, उसको दृष्टि में रख करके तो यह भाव न बनेगा कि लोक में मेरी प्रशंसा बढ़े। उसका तो भाव ज्ञानमात्र निज स्वरूप में लीन रहने का होगा। जब अपने स्वभाव से दृष्टि गिर जाती है और देह में 'यह मैं हूं' इस प्रकार की ममता और अहंता बनती है तभी यह भाव बनता है कि लोक में मेरी ख्याति बढ़े। लोग हमें कुछ समझें ऐसा ख्याल रखकर ही तो अपने मुख से अपनी प्रशंसा करने की विडम्बना बनती है तो अपने गुणों की प्रशंसा करना यह तीव्र कषाय वाले पुरुषों के चिन्ह हैं। यद्यपि ऐसा लगता है कि यह भाई किसी का बिगाड़ नहीं कर रहा, किसी से झगड़ता नहीं, किन्तु इसकी एक इच्छा है, अपने आपकी खुद प्रशंसा कर रहा है तो इसमें तीव्र कषाय की क्या बात हुई? लेकिन अन्तः दृष्टि करके देखो तो वह अपने आत्मदेव को भूला हुआ है और इसी कारण बाह्य में नाना विकल्प बना रहा है। तो उसका वह अपने आपके प्रति तीव्र कषाय कहलाया ना? तीव्र कषाय का अर्थ केवल द्वेष नहीं है। तीव्र राग होने से भी तीव्र कषाय होती है क्योंकि कषाय के दो भेद हैं राग और द्वेष। जैसे कोई पुरुष अपने घर में बड़े आराम से रहता है, उसकी आमदनी भी नियत है, उसका किराया, ब्याज आदि आसानी से घर बैठे ही लोग दे जाते हैं। वह लोगों से असद्व्यवहार भी नहीं करता, अपने घर में मौज से रहता है, अपनी स्त्री पुत्रादिक में आसक्त रहता है, वह यदि सोचे कि मैं किसी का कुछ बिगाड़ नहीं कर रहा, तो क्या उसकी कषायें कम हो गयीं? एक अपने आपको भूल जाना यह सबसे बड़ा पाप है, जिसे सैद्धान्तिक शब्दों में मिथ्यात्व कहते हैं। मोह सबसे बड़ा पाप है। इस मोह के रहते हुए जो जो भी करनी है चाहे धर्म के नाम पर हों, चाहे शान्ति समता के नाम पर हों, वे सब मिथ्या हैं। तो मोह में ही यह जीव अपने आपकी प्रशंसा कर रहा है। जोकि तीव्र कषाय है।

तीव्र कषाय वालों का द्वितीय व तृतीय चिन्ह—पूज्य पुरुषों में दोष ग्रहण करने का स्वभाव होना, यह भी तीव्र कषाय का चिन्ह है। अपने गुरुजन हैं, जिनसे विद्याभ्यास किया, जिनसे कोई चारित्र संयम की शिक्षा ग्रहण की जाती, जिनसे रत्नत्रय के भावों में बढ़ने की मदद मिलती है ऐसे गुरु आदिक पूज्य पुरुषों में दोष ग्रहण करने का स्वभाव होना यह भी तीव्र कषाय का चिन्ह है। कहां तो चाहिये था उपकारी और पूज्य पुरुषों के गुणों पर दृष्टि देकर अपने आपको गुण वृद्धि में बढ़ाना और कहां किया जा रहा है इसके विपरीत कि उनमें गुण भी हैं तो भी उन पर दृष्टि न होकर दोष ग्रहण करने का ही स्वभाव होता है। तीसरा चिन्ह बताया जा रहा है कि बहुत काल तक बैर धारण करना। यह तो स्पष्ट ही तीव्र कषाय है। जीवन भर या भव-भव में किसी के प्रति बैर विरोध का भाव रखना यह तीव्र कषाय का ही तो चिन्ह है। पुराणों में जैसे बहुत से कथानक आते हैं और इस जीवन में भी देखा जाता है कि कितने ही पुरुष तो ऐसा वैर ग्रहण का स्वभाव रखते हैं कि प्रतीक्षा करते रहते हैं, अभी हमारी कमजोरी है। अभी हम कुछ कर नहीं सकते, यों बीसों वर्षों तक वे बैर विरोध का उनके विनाश करने तक का भाव मन में रखा करते हैं। इस तरह के बैर धारण करने वाले पुरुष भी पाये जाते हैं। इसे तो कृष्णलेश्या का लक्षण कहा है। कितने ही सुख साधन जुटाये जायें, कितना ही उपकार किया जाये फिर भी जो तीव्र कषाय की प्रकृति वाले पुरुष हैं वे बैर विरोध को नहीं छोड़ते। मरुभूति के जीव ने कमठ पर क्या उपसर्ग किया, बल्कि सुवचन ही कहा, तिस पर भी कमठ ने मरुभूति पर शिला पटक दी। ऐसे ही अनेक दृष्टान्त हैं। सज्जन पुरुष अपनी सज्जनता न छोड़कर उस दुर्जन का उपकार और

हित करने का ही यत्न करते हैं, लेकिन दुर्जन पुरुष वहां दूसरे के अवगुण ही ग्रहण करते हैं और बैर को नहीं छोड़ते।

एवं जाणंतो वि हु परिचयणीए वि जो ण परिहरइ।
तस्सासवाणुवेक्खा सव्वा वि णिरत्थया होदि।।९३।।

हेय परिहार से आस्रवानुप्रेक्षा की सार्थकता—ऐसा जानते हुए भी लोग जो छोड़ने योग्य को छोड़ते नहीं हैं, उनकी आस्रव भावना का पाठ भी मिथ्यात्व, कषाय निरर्थक है। कुछ भी बात जानकर स्वाध्याय में, भावना में, चिन्तवन में सबको अपने आप पर घटित करना चाहिए। हम शास्त्रों में जीवों की अवगाहना पढ़ते हैं—ऐसी-ऐसी अवगाहना वाले जीव हैं। उत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्य की है इस बात को जानकर हमें शिक्षा यह लेना है कि एक आत्म स्वरूप के परिचय बिना पर्याय बुद्धि करने के कारण ऐसे-ऐसे भवों में जन्म लेना पड़ता है। तब ऐसे खोटे कार्य न करें, अज्ञानवृत्ति न बनायें, अपने आपके स्वरूप का बोध रखें तो इन पर्यायों की विडम्बना से बच जायेंगे। जब लोक का विस्तार पढ़ते हैं—कि यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है। एक राजू और वह भी विस्तार रूप में, नाना रूपों में, किन्तु एक फैलाव मात्र में इतना बड़ा है कि जिसमें असंख्याते द्वीप समुद्र समाये हुए हैं और वे भी कितने विस्तार वाले, सबसे बीच में जम्बूद्वीप है, वह है एक लाख योजन का, उसे घेरकर लवण समुद्र एक तरफ दो लाख योजन का, उसे घेरकर द्वीप, उससे दूना समुद्र, इस तरह दूने-दूने विस्तार वाले असंख्याते द्वीप समुद्र जितने विस्तार में हैं वह सब क्षेत्र अब भी एक राजू से कुछ कम है। तो ऐसे ३४३ घनराजू प्रमाण लोक हैं, यह जानकर हमें क्या शिक्षा लेनी है? यह तो यह कि इस लोक में ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा जिस प्रदेश पर हम अनन्ते बार जन्मे न हों और अनन्ते बार मरे न हों। तब जिस जगह आज हम पैदा हुए यहां तो अनन्त बार जन्म ले चुके, यह कोई नया क्षेत्र नहीं, कोई नई बात नहीं। यहां मोह के योग्य कोई अवसर नहीं। दूसरी बात यह निरखना है कि जब लोक इतना बड़ा है और उसमें इतना परिचित क्षेत्र जो है, वह तो समुद्र के सामने एक बिन्दु बराबर है। तो इतने से क्षेत्र में हमने कुछ अपना बड़प्पन चाह लिया, यश कीर्ति बना ली तो बचा हुआ जो इससे अनगिनते गुना क्षेत्र है उसमें तो हमारा कुछ यश न रहा है। तो जब इतने बड़े क्षेत्र में हमारे बूझने वाला कोई नहीं है तो थोड़े से स्वार्थवश बूझ लेने वाले लोग मिल गए तो यह मेरे लिए कुछ बड़प्पन की बात नहीं है। यों हम जो कुछ भी अध्ययन करें उसका अपने आप पर जैसे हित मार्ग में अपने को चलाने के लिए प्रभाव आये वैसी बात गुजरना चाहिए। यहां आस्रवानुप्रेक्षा का चिंतन चल रहा है। इस भावना में बताया है कि मिथ्यात्व कषाय के कारण इस जीव में कर्म बंधते हैं, उनकी स्थिति, उनका अनुभाग बंधता है जिनके उदयकाल में जीव को ऐसी विडम्बनायें सहनी पड़ती हैं। वे कर्म दो प्रकार के हैं—शुभ और अशुभ। शुभ भाव करने से शुभकर्म बंधता है, अशुभ भाव करने से अशुभ कर्म बंधता है। तब कर्त्तव्य यह है कि सर्वप्रथम, अशुभ भावों का परित्याग करें जिससे हमारा पाप पंक में फंसाव न रहे और शुभभाव करके उसमें भी तत्व चिन्तन, धर्मदृष्टि आदिक करें और दृष्टि यह बनायें कि पुण्य और पाप ये दोनों ही संसार के हेतुभूत हैं, इन दोनों से मुक्त होकर हमें अपने आपके स्वरूप में आने की बात पड़ी हुई है। निरास्रव अपने आपके स्वरूप को तकना यह आस्रवानुप्रेक्षा का प्रयोजन है। जीव में कर्म आते हैं, बंधते हैं, लेकिन जीव स्वयं किस स्वभाव का है? निरास्रव, जिसमें शुभ अशुभ किसी भी प्रकार के विकार का स्वभाव नहीं है। जो केवल अपनी ओर से अपने सत्त्व के कारण सहज ज्ञानानन्द स्वभाव रूप है, ऐसे निरास्रव निज

अन्तस्तत्व भावना बने तो वह आस्रवानुप्रेक्षा का प्रयोजन है।

आस्रवानुप्रेक्षण में सबके प्रति प्रिय वचन बोलने और क्षमा धारने की शिक्षा—मोटे रूप से जो अभी ऊपर की दो गाथाओं में बताया है कि मंद कषाय की ये बुद्धियां हैं और तीव्र कषाय की ये बुद्धियां हैं। अधिक नहीं तो इतना तो व्यवहार में लाना ही चाहिए कि तीव्र कषाय की बुद्धियां मिटें और मंद कषाय की वृत्तियां जगें। मंद कषाय की वृत्तियों में बताया है कि सबके प्रति प्रिय वचन बोलना। अब बतलाओ सबके प्रति प्रिय वचन बोलने में क्या बिगड़ता है? कौन-सी हानि होती है? लाभ अनेक हैं। दूसरे की दृष्टि में भले रहने से विपदाओं का कम अवसर है, खुद भी शान्त रहता है और दूसरे भी शान्त रहते हैं। किसी के प्रति खोटे वचन बोलने के लिए पहले अपने आत्मा में संक्लेश करना पड़ता है, फिर उस कषाय की तीव्रता में दुर्ववचन बोले जाते हैं। तो ऐसे वचन बोलने का भाव ही क्यों करना कि खुद भी हैरान हो जायें और दूसरों को भी हैरान किया जाये। तो सब जीवों में प्रिय वचन बोलने की जीवन में वृत्ति बने। अपनी सामर्थ्य भर दूसरे के दुर्वचन (प्रतिकूल वचन) होने पर क्षमा करने की प्रकृति बने। यह संसार है, अनन्त जीव हैं, सब अपनी-अपनी कषाय चेष्टा के अनुसार अपनी क्रिया करते हैं, इस बेचारे से मेरा क्या सम्बंध? यह क्षमापात्र है, यह बेचारा अज्ञान विपदा से ग्रस्त है, स्वयं दुःखी है तभी तो यह अनुचित चेष्टा कर रहा है। इस पर क्या रोष करना? ऐसा जानकर सभी पुरुषों पर, दुर्वचन बोलने वालें पर क्षमा करना।

आस्रवानुप्रेक्षण में परगुणग्रहण करने की शिक्षा—मंद कषाय के दृष्टान्त में तीसरी बात कही गई कि सबके गुण ग्रहण करना। हमको गुणदृष्टि में लाभ है, दोषदृष्टि में लाभ नहीं है। दोषदृष्टि करने में प्रथम तो यह बात आ गई कि इसको दोष रुच गए। इसे दोष प्यारे हैं तभी तो इसे बहुत जल्दी दूसरे के दोषदृष्टि में आते हैं। यदि इसे गुणों में रुचि होती तो दूसरों के गुण इसके ध्यान में आते। सभी जीवों में गुण और दोष ये दोनों पाये जाते हैं। चाहे कोई बहुत ही गुणवान हो उसमें भी कोई न कोई दोष पाया जाता है। (यहां के मनुष्यों की बात कह रहे हैं।) यहां के सभी लोग गुण और दोषों से भरे हैं अब उनमें से हमारी दृष्टि गुणों पर जाये तो इसका कारण यह है कि हमें गुणों से अधिक प्रेम है और दोषों पर दृष्टि जाये तो इसका कारण यह है कि हमें दोषों से अधिक प्रेम है। तो हमारी वृत्ति कैसी बने? हम स्वयं अपने आपमें बसे हुए गुणों के विकास का पुरुषार्थ करें, अपने वास्तविक गुणों पर दृष्टि दें। पर्याय गुणों पर दृष्टि देने का नाम तो अभिमान है, लेकिन आत्मा में जो सहज गुण है, ज्ञानस्वभाव, आनन्द स्वभाव, उस ज्योति पर दृष्टि दें तो वह कला आयेगी अपने आपमें कि दूसरों को भी निरख कर दृष्टि जायेगी तो गुणों पर जायेगी, दोषों पर आकर्षण न होगा। ऐसी वृत्ति हमारे जीवन में बने तो आस्रवानुप्रेक्षा का भाना सफल है।

परित्यजनीय भावों के परिहार कर देने में ही आस्रवानुप्रेक्षा की सफलता—और भी देखिये—जो तीव्र कषाय के चिन्ह बताये गए हैं उनसे दूर रहें। ऐसा पुरुषार्थ करने से ही आस्रव भावना सफल है। प्रथम चिन्ह बताया है तीव्र कषायी का अपनी प्रशंसा करना। इसमें प्रथम तो यह देखिये कि जो पुरुष खुद अपने आपकी प्रशंसा करता है उसका बड़प्पन दूसरे सुनने वाले लोग नहीं देते। भले ही किसी कारणवश तत्काल हां में हां मिला दें लेकिन उनका दिल कहता है और वे परोक्ष में कहते भी हैं कि देखो यह कैसा अभिमानी है, अपने मुख से अपनी प्रशंसा करता है। तो जिस बात में तत्काल भी हानि है, भविष्य में भी हानि है ऐसी वृत्ति क्यों बनाते? तीव्रकषायी का द्वितीय चिन्ह है—पूज्य पुरुषों में दोष ग्रहण करने का स्वभाव होना। यह प्रवृत्ति

दोषमय बनाने का कारण है अतः पूज्य पुरुषों में दोष ग्रहण करने का स्वभाव न रखा जाये। जगत में सभी जीव हैं, हम भी जीव हैं, कर्मों के परे हैं। कर्मोदय वश दोष आ पड़ते हैं। पर उन दोषों को दोष समझना, उन दोषों से हटने की भावना रखना यह भी एक गुण है। हममें गुण ग्रहण का स्वभाव बनेगा तो सभी में और पूज्य पुरुषों के गुणों के ग्रहण में रुचि जगेगी। इसी तरह किसी के प्रति द्वेष की भावना चित्त में न बसायें। यह द्वेष भाव कालान्तर में खुद का ही बड़ा अनर्थ कर देगा। यों खोटे भावों से हटकर शुभ भावों में आना, ऐसी वृत्ति बने तो आस्रवानुप्रेक्षा सफल है। लेकिन जो जानबूझकर भी परिहार किए जाने योग्य चीजों को छोड़ता नहीं, उसका आस्रव भावना भाना निरर्थक है।

एदे मोहय-भावा जो परिवज्जेई उवसमें लीणो।
हेयं ति मण्णमाणो आसव-अणुवेहणं तस्स।।९४।।

मोहभाव को हेय जानकर दूर करने में ही वास्तविकी आस्रवानुप्रेक्षा–जो मुनि साम्यभाव में लीन होता हुआ मोह के उदय से होने वाले इन भावों को त्याग देता है, यह समझकर कि ये सब भाव हेय हैं, ऐसे ही मुनि की आस्रवानुप्रेक्षा वास्तविक है। अपने आपको निरखिये कि हम केवल अपने ही स्वरूप में हैं। जो कुछ करते हैं अपने आपको ही करते हैं, भोगते हैं तो अपने आपको ही भोगते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें ही अपना उत्पाद और व्यय करते हैं। यदि किसी इष्ट पुरुष को समझाने के लिए, उसका दुःख मिटाने के लिए कोई सम्बन्धी भी साथ ही साथ रोने लगे, उसके इष्ट वियोग आदिक दुःखों में सहानुभूति प्रकट करने लगे, तो दोनों दुःखी हो रहे। पर यह नहीं कहा जा सकता कि वे दोनों मिलकर दुःखी हो रहे, वे दोनों तो अलग-अलग दुःखी हो रहे, किसी प्रसंग में वे दोनों मिलकर सुखी हो रहे हों तो वहां यह नहीं कहा जा सकता कि वे दोनों मिलकर सुखी हो रहे। अरे वे दोनों अलग-अलग अपने-अपने में सुखी होते हैं। तो जब प्रत्येक पदार्थ का अपने आपमें ही अपना सबकुछ है तो मैं भी एक सत् पदार्थ हूं। मेरा जो स्वरूप है वह केवल मुझमें है। मेरा जो परिणमन है वह भी केवल मुझमें ही है। तब बतलाओ कि मेरा मेरे से बाहर क्या है और जब कुछ नहीं है मेरा बाहर तो किसी पर से मेरा क्या सम्बन्ध है? जब सम्बन्ध नहीं तो उनके बारे में सोचना, विकल्प करना, आशा करना, मोह राग करना, ये विकल्प रखना क्या कोई भली बात है? ये विकल्प तो इस जीव को बरबाद ही करने वाले हैं। ये हेय हैं। अपने आपमें जो भाव आगंतुक हैं, कर्मोदय से हुए हैं, पर वस्तु के आश्रय से हुए हैं वे भाव हेय हैं और जो भाव मुझमें मेरे स्वभाव से मेरे ही कारण, मेरे स्वरूप में प्रकट हुए हैं वे भाव उपादेय हैं। अतः जो ज्ञानभाव है, स्वाधीन आनन्द है वह तो उपादेय है और जो वैषयिक सुख हैं, विकल्प हैं, रागद्वेष हैं, वे सब हेय चीजें हैं।

ज्ञानी में संसार हेतुक दुर्भावों का अभाव–अध्यात्म शास्त्रों में बताया है कि जीव के अध्यवसान के दो प्रकार के परिणाम होते हैं–एक तो संसार हेतुक और एक सुखदुःख हेतुक। जो सुख दुःख मात्र से सम्बन्ध रख रहे हैं ऐसे भाव संसार बढ़ाने के कारण नहीं हैं और जो रागद्वेष भाव हैं वे संसार बढ़ाने के कारण हैं। जैसे ज्ञानी सम्यग्दृष्टि भी सांसारिक सुख-दुःख पा रहा है लेकिन उसके भाव संसार बढ़ाने के कारण नहीं बन पाते। यदि भाव में रागद्वेष भाव जगें तो सम्यक्त्व मिटेगा और वे संसार के कारण बनेंगे। किन्तु एक बार सम्यक्त्व जग जाने के चिर संसार वृद्धि तब भी न होगी, निकट काल में सम्यक्त्व जगेगा। राग द्वेष मोह के मायने अपने राग में राग करना, यह तो अज्ञानी का राग। अपने रागविरोधक पदार्थ में द्वेष करना यह है अज्ञानी का द्वेष। जैसे

कोई रईस आदमी कभी बीमार हो जाये तो उसके आराम के बड़े साधन जुटाये जाते हैं, सजा कमरा, कोमल पलंग, नौकर, चाकर बढ़ा दिये जाते हैं। सहानुभूति प्रकट करने वाले बहुत से लोग आते हैं। दूर से देखो तो बड़ा आराम दिखता है लेकिन उस रोगी को भीतर से उस आराम की चाह नहीं है, ऊपर से चाह अवश्य है, क्योंकि वह अपने को रोगवश कमजोरी के कारण कष्ट में नहीं रख सकता, लेकिन उसका अन्तरङ्ग यह कहता है कि यह मेरा रोग कब मिटे और मैं रोज दो-चार मील घूमने चलने लायक बन जाऊं। यों ज्ञानी जीव भी एक अपनी परिस्थिति के अनुसार आराम चाह रहा है लेकिन उसे उस आराम में राग नहीं है। वह यह नहीं सोचता कि ऐसा ही आराम मुझे सदा मिलता रहे। उसकी तो भावना है कि यह सब विडम्बना है व इन सब विडम्बनाओं से मुझे मुक्ति मिले।

ज्ञानी का वास्तविक वैभव में संतोष—स्वजन समागम हुआ तो क्या हुआ? उन अनन्त जीवों में से कुछ जीव आ गए, यहां इकट्ठे मिल गए तो इनसे क्या मेरा पूरा पड़ जायेगा? ये न आते और कोई जीव आ जाते तो क्या आ नहीं सकते थे? तब इनसे मेरा क्या खास सम्बन्ध रहा? यह समझकर ज्ञानी स्वजन में आसक्त नहीं होता। वैभव को जानता है कि यह अचेतन है, पौद्गलिक है, यह स्वयं अपने परिणमन से परिणमता है, रहता है, जाता है। इससे मेरा क्या सम्बन्ध है? अरे अरहंत सिद्ध प्रभु के स्वरूप को देखो—वे तो उत्कृष्ट वैभववान हैं ना? जिनके चरणों में १०० इन्द्र नमस्कार करते हैं। जिनके चरणों में तीनों लोक पड़ गये हैं। वे तो सबसे बड़े उपासनीय हैं। क्या है उनमें वैभव? उनका वैभव है—दोष जरा भी न रहे और गुण पूरे विकसित हो गए। तो यह सब वैभव मेरे स्वभाव में पड़ा हुआ है, यह प्रकट हो तो हम सच्चे वैभववान हैं। निर्दोषता और गुणविकास यदि नहीं बनता है तो इन पौद्गलिक ढेरों के समागम से क्या तत्व निकलेगा? इस अनादि अनन्त काल के सामने ये १०-२०-५० वर्ष क्या गिनती रखते हैं जिनमें हम भोग विषयों का आराम चाह रहे हैं? यह समय भी झट निकल जायेगा और जो पाप भोगने पड़ेंगे वह काल निकट आ जायेगा। तो ऐसा जानकर निर्णय करें कि मेरे में रागद्वेष भाव, आस्रव भाव, कषाय भाव, ये सब हेय हैं और अपने आपका जो सहज ज्ञान ज्योति स्वरूप है वह मेरा उपादेय भाव है, स्वरूप है। किसी भी पदार्थ का स्वरूप उस पदार्थ के बिगाड़ के लिए नहीं होगा। मेरा स्वरूप ज्ञानानन्द है, वह मेरे बिगाड़ के लिए न होगा, प्रत्युत मेरे आनन्दानुभव के लिए ही होगा। ऐसा जानकर मुनिजन समता भाव में लीन होते हैं और विभावों को हेय मानकर उन विभावों का त्याग कर देते हैं और अपने को निरास्रव तक कर उस ही ज्ञान स्वभाव में लीन होना चाहते हैं, उनकी आस्रवानुप्रेक्षा भाना सफल है।

●●●

संवर भावना

सम्मत्तं देस-वयं महव्वयं तह जओ कसायाणं।
एदे संवर-णामा जोगाभावो तहा चेव।।९५।।

मोक्षमार्ग में मूलभूत संवरतत्व की अनुप्रेक्षा–जीव के साथ जो संकट लगे हैं उनका निमित्त कारण है कर्म का उदय। कर्मोदय तब आता है जब कर्म बंधे हुए हों और कर्मबंध तब होता है जबकि उसका आस्रव हो। तो सर्व संकटों का मूल आस्रव कहलाता है। वह आस्रव है क्या? अन्तरङ्ग दृष्टि से तो आत्मा के मोह राग द्वेष परिणाम का नाम है और बहिरङ्ग दृष्टि से ज्ञानावरण आदिक अष्ट कर्मों का नाम है। आस्रव रुके तो जीव को विश्राम मिले। अब आस्रव किस प्रकार रुके इसकी भावना इस संवरानुप्रेक्षा में की गई है। आस्रव रुकने से संवर है। कर्मों का आना बंद हो गया, आत्मा में राग द्वेष मोहभाव न आयें इसका नाम संवर है। संवर ही जीव को सुख का कारण है। अब तक अज्ञान में अनेक भवों में करोड़ों बार तपस्यायें भी की होंगी और कठिन से कठिन तपश्चरण किए गए होंगे, द्रव्यलिंग धारण करके भी, निर्ग्रन्थ भेष धारण करके भी ऊंचे से ऊंचे तपश्चरण भी किए गए होंगे, किन्तु यह जीव संसार संकटों से मुक्त न हो सका। इसका कारण यह है कि आस्रव तो रुका ही नहीं। आस्रव के रुकने का नाम संवर है और यह संवर जीव के लिए हितकारी है। मोक्ष मार्ग का प्रारम्भ संवर तत्व के विकास से होता है। जैसे किसी नदी में नाव जा रही है व उस नाव में छिद्र होने से पानी आ रहा है। अब पानी आता रहे, छिद्र न बंद करें तो वह तो उस नाव के डूबने का ही कारण है। नाव को डुबाने से बचाने के लिये मल्लाह क्या करता है कि सर्वप्रथम तो उस छिद्र में, कपड़ा आदिक लगाकर छिद्र को बन्द करता है ताकि नया पानी न आ सके क्योंकि पहले छिद्र को बन्द न करे, पानी आता रहे और उस पानी को ही वह मल्लाह अपने हाथों से उलीचता रहे तो क्या पानी का आना रुक जायेगा? नहीं रुकेगा। तो कुशल मल्लाह क्या करता है कि सर्वप्रथम पानी आने वाले छिद्र को बन्द कर देता है, फिर वह उस आये हुए पानी को उलीचता है। जब नाव में पानी बिल्कुल नहीं रहता तो नाव अच्छी तरह पार हो जाती है। इसी प्रकार इस आत्मा में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के छिद्र हैं, जिन वृत्तियों के कारण आत्मा में कर्म आते हैं, बंधते हैं, वे वृत्तियां छिद्र रूप ही तो हैं। फिर बंधे हुए कर्मों की निर्जरा करता है। तो पहले जब कर्मों का आना रुका और आये हुए कर्मों का निर्जरण किया तो एक समय वह आता है कि कर्मों से सदा के लिए यह जीव मुक्त हो जाता है। तो ऐसे महा उपकारी संवर तत्व की यहां भावना की जा रही है।

संवर भावों में मूलभूत सम्यक्त्व भाव का निर्देश–अब परखिये संवर भाव कौन से हैं? उनको संवर नाम दे करके इस गाथा में कहा है। सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कषायों का विजय और योग का अभाव इनको संवर कहते हैं। सर्वप्रथम संवर भाव के नामों में सम्यक्त्व कहा गया हैं। जब तक सम्यक्त्व नहीं होता तब तक संवर का प्रारम्भ नहीं है। भले ही प्रायोग्य लब्धि में अनेक कर्म बंधने से रुक जाते हैं। तब ही बंधापसरण का सम्बन्ध होता है। अभव्य जीव भी प्रायोज्यलब्धि तक प्राप्त कर लेते हैं, करणलब्धि नहीं मिलती, जिस करणलब्धि से नियम से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता ही है। सम्यक्त्व से संवर का प्रारम्भ माना हैं मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय इनका उपशम होने पर सम्यक्त्व भाव प्रकट होता है। प्रथम बार अनादि मिथ्यादृष्टि जीव

के इन पांच प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व होता है। उपशम सम्यक्त्व होते ही मिथ्यात्व के खण्ड हो जाते हैं सो उस दबी हुई हालत में दो प्रकृतियां और बन जाती हैं, खण्ड हो करके सम्यक् प्रकृति और मिश्र प्रकृति। फिर इसके बाद इन सात का क्षयोपशम हुआ, फिर क्षय हुआ तो इस विधि से यह जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर फिर सदा के लिए अबाधित हो जाता है व उसके सम्यक्त्व में न मल पैदा होता, न कभी सम्यक्त्व के विनाश की सम्भावना है। तो सम्यग्दर्शन से संवर का प्रारम्भ है।

सम्यग्दृष्टि अविरत अवस्था में भी ४१ प्रकृतियों का संवर–जिस जीव को सम्यक्त्व हुआ अर्थात् आत्मा के सहज स्वरूप का अनुभव हुआ–मैं केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूं, इस प्रकार सहज ज्ञानानन्द में अपना जिसने पता पा लिया ऐसे पुरुष को फिर बाह्य विषयों में, संगों में आसक्ति नहीं रहती। उसका निरन्तर यह ध्यान रहता है कि मैं तो सहज ज्ञानानन्द मात्र हूं। मेरा सर्वस्व मुझमें है। मेरा किसी अन्य से सम्बन्ध नहीं है, ऐसे विविध निज एकत्व स्वरूप को दृष्टि में लेने वाले सम्यग्दृष्टि के ४१ प्रकृतियों का संवर रहा करता है। कर्मों की १४८ प्रकृतियों में यथोचित कुछ को गर्भित करके १२० कही हैं बंध योग्य, उनमें से ज्ञानी के ४१ प्रकृतियां बंधन से रुक जाती हैं। ये ४१ प्रकृतियां जो बहुत कठिन-कठिन दुःख की कारणभूत प्रकृतियां हैं।

सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व हेतुक सोलह प्रकृतियों का संवर–सम्यग्दृष्टि जीव में मिथ्यात्व प्रकृति का बंध नहीं होता। संसार की समस्त विडम्बनाओं का कारण यह मिथ्यात्व भाव है। ज्ञानी जीव के हुंडक संस्थान का बंध नहीं होता, जिससे बड़े बुरे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, विकलत्रिकख नारक आदिक अटपट शरीर मिला करते हैं। ज्ञानी जीव असंप्राप्तसृपाटिका संहनन प्रकृति का बंध नहीं करता। एकेन्द्रिय व स्थावर प्रकृति का बंध ज्ञानी के नहीं हो सकता। आताप का जिसका कि उदय सूर्य के पृथ्वी कायिक जीवों में होता है। सम्यग्दृष्टि के बंध नहीं है। सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, ऐसी-ऐसी कठिन प्रकृतियों का बंध नहीं होता। सूक्ष्म प्रकृति नाम कर्म के उदय से जीव ऐसे शरीर को ग्रहण करता है जो आंखों नहीं दिख सकता और किसी पदार्थ से रुक नहीं सकता। सूक्ष्म निगोदिया जीव सर्वत्र भरे पड़े हैं। जहां अग्नि जल रही है वहां भी सूक्ष्म निगोदिया शरीर हैं और वे अग्नि के कारण जलते नहीं किन्तु एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण उनका होता ही रहता है। इस पद्धति से उनका मरण होता है। अपर्याप्त नाम कर्म के उदय से यह जीव लब्ध्य पर्याप्त होता है। जैसे ही देह को धारण किया, देह पर्याप्ति बन भी नहीं पाती, देह में पूरा बनने की शक्ति तक भी नहीं आ पाती कि वे जीव मर जाते हैं। यह लब्ध्य पर्याप्तक जीवों का स्वभाव है। साधारण प्रकृति के उदय में ऐसी व्यवस्था रहती है कि एक शरीर और उसके स्वामी अनन्त जीव। जैसे यहां हम आप एक-एक शरीर के एक-एक जीव स्वामी हैं, ऐसा साधारण प्रकृति के उदय वाले जीवों में नहीं है। साधारण जीवों में शरीर तो एक है और उसके अधिकारी अनन्त जीव हैं और वे सब एक साथ मरते हैं, एक साथ जन्म लेते हैं। हां यह बात अवश्य है कि उन सभी जीवों का कार्माण शरीर, तैजस शरीर भिन्न-भिन्न है। तो ऐसी कठिन प्रकृतियों का बंध सम्यग्दर्शन होने पर रुक जाता है। इससे आप यह भी अंदाज कर लें कि सम्यग्दर्शन न होने पर मिथ्यादृष्टि रहने पर ऐसे-ऐसे खोटे भवों में इसकी उत्पत्ति होती है। और ऐसे खोटे भवों में उत्पन्न होने के लिए कठिन-कठिन कर्मों का बंध होता है। ज्ञानी जीव दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय प्रकृतियों का बंध नहीं करता, सो जब विकलत्रय की प्रकृति ही नहीं बंधती तो उन भवों में जन्म कैसे होगा? नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरक आयु इनका भी सम्यक्त्व में बंध नहीं होता। ये १६ प्रकृतियां दूसरे गुण स्थान रहने वाले जीव के भी नहीं बंधती और इसके ऊपर भी किसी भी गुण स्थान के जीव के ये १६ प्रकृतियां नहीं बंधती।

ज्ञानी जीव के अनन्तानुबन्धी हेतुक २५ प्रकृतियों का संवर--अब सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबंधी हेतुक २५ प्रकृतियों का भी बंध नहीं होता। तीसरे गुण स्थान में भी उनका बंध नहीं है और चौथे आदि ऊपर के किसी भी गुण स्थान में उनका बंध नहीं है। जैस--अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, ये बहुत तीव्र कषाय हैं, ऐसी तीव्र कषाय वाले कर्मों का बंध ज्ञानी जीव के नहीं होता। स्त्यानगृद्धि--जिसके उदय में ऐसी निद्रा आती है कि कोई जीव नींद में ही कुछ काम कर डाले और फिर सो जाये, सोया तो तब भी था स्त्यानगृद्धि में, लेकिन जगने पर उसे पता न पड़ेगा कि मैंने कोई काम किया था। निद्रा निद्रा प्रकृति में ऐसा है कि नींद आयी, उसे जगा दिया गया, फिर नींद आ गयी। तो ऐसी कठिन प्रकृतियों का बंध ज्ञानी जीव के नहीं होता। प्रचला-प्रचला प्रकृति भी बहुत कठिन पाप प्रकृति है। इसके उदय में सोते हुए में भी यह जीव मुंह चलाये, अंग चलाये, बड़बड़ाये, मुख से लार बहे आदि भी चेष्टायें हो जाती हैं। ऐसी कठिन प्रकृतियों का बंध ज्ञानी पुरुष के नहीं होता। दुर्भग--जिससे कि दूसरे लोग प्रीति नहीं करते, दुस्वर--जिससे कि बड़ा बुरा स्वर उत्पन्न होता है, अनादेय--जिससे शरीर में कोई कान्ति नहीं रहती और बीच के चार संस्थान, बीच के चार संहनन जिनसे अटपट शरीर रचना होती है तथा दुर्गमन जैसे ऊंट गधा आदि खोटी चाल से चलते हैं, ऐसी चाल जिस प्रकृति के उदय से आती है, ऐसी अप्रशस्त प्रकृति का बंध नहीं होता। ज्ञानी जीव के सम्यग्दर्शन होने पर वह चाहे अभी स्त्री पर्याय में हो अथवा पुरुष पर्याय में हो उस जीव के फिर स्त्री वेद का बंध नहीं होता। नीच गोत्र, तिर्यञ्चगति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, तिर्यगायु जैसी कठिन गतियों का बन्ध रुक जाता है। सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर अविरत सम्यक्त्व में और १० प्रकृतियों का भी संवर हो जाता है। तो आप यह परखिये कि सम्यक्त्व का मोक्ष मार्ग में कितना महान योगदान है और ऊंचे संवर भाव भी तब ही हो सकेंगे जबकि पहले सम्यक्त्व जग जाये।

सम्यक्त्वोपपत्ति के योग्य संक्षिप्त ज्ञान विवरण--सम्यग्दर्शन उत्पन्न करने के लिए पुरुषार्थ इस प्रकार का करना चाहिए कि पहले वस्तु स्वरूप का कुछ ज्ञान करें, अभ्यास करें। पदार्थ किस स्वरूप है? जैन शासन में पदार्थों का स्वरूप भली-भांति बताया है, जिसे समझने के पहले यह जान लीजिए कि संसार में पदार्थ कितने हैं? जब हम एक-एक पदार्थ को जान पायेंगे कि एक पदार्थ इतना होता है तब तो हम उसका स्वरूप निरखन कर सकेंगे। पदार्थ लोक में अनन्तानन्त हैं। जैसे एक हम आप अलग-अलग बैठे हैं ऐसे ही अनन्तानन्त जीव हैं, सबका अनुभव अपने आपमें है। सुख-दुःख होता है तो सबको अपने आपमें होता है। इससे सिद्ध है कि प्रत्येक जीव अपने स्वरूप में अकेला है। ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं और उन जीवों से अनन्तानन्त गुने पुद्गल हैं, इसको कैसे जाना जाये? तो सुनिये--अब तक जितने जीव मुक्त हुए हैं उनकी संख्या इतनी है कि वे एक निगोद शरीर में जितने अनन्त जीव होते हैं उनके अनन्तवें भाग हैं अर्थात् उनसे अनन्तगुने संसार में एक निगोद शरीर में जीव हैं। और एक जीव के पीछे कितने परमाणु लगे हैं ऐसा ध्यान में लायें। जैसे आप ही एक जीव हैं, आपके साथ कितने पुद्गल चिपके हुए हैं सो ध्यान में दीजिए। यह जो शरीर है जिसके बन्धन में पड़े हैं इस शरीर में अनन्त परमाणु हैं। संख्याते और असंख्याते परमाणुओं का पिण्ड तो आंखों से भी दिखने में नही आता। एक छोटा से छोटा कंकड़ अथवा पिसे हुए आटे का एक दाना जो आंखों से दिख सकता है उसमें अनन्त परमाणु पड़े हुए हैं। तो इस शरीर में जितने परमाणु हुँ वे सब अनन्त परमाणु हैं। और उससे अनन्तानन्तगुने परमाणु तैजस शरीर में हैं। और उससे भी अनन्तगुने परमाणु कार्माण शरीर में हैं। जो कर्म आंखों

नहीं दिखते, व इस जीव के साथ बंधे हुए हैं वे परमाणु इन सबसे अनन्तगुने हैं फिर अनन्ते ही इनके विस्रसोपचय के परमाणु हैं तो इतने पुद्गल एक जीव के साथ लगे हुए हैं। और हैं अनन्तानन्त जीव। तो कितने पुद्गल हो गए? जीवों से अनन्तानन्तगुने पुद्गल परमाणु हैं। एक धर्मद्रव्य—जो जीव और पुद्गल चलें तो उनके चलने में सहायक होता है। एक अधर्म द्रव्य जो लोक भर में व्याप्त है, चलते हुए जीव पुद्गल ठहरें तो उनके ठहरने में सहकारी होते हैं। एक आकाश द्रव्य, एक असंख्यात कालद्रव्य। ये समस्त पदार्थ अनन्त हैं। इनमें प्रत्येक एक पदार्थ अपने स्वरूप से सत् है। सबमें अपना-अपना स्वभाव पड़ा हुआ है। जैसे जीवों में चैतन्य स्वभाव है, पुद्गल में रूप, रस, गंध, स्पर्श होना यानि मूर्तिकला होना स्वभाव पड़ा है। प्रत्येक पदार्थ में अपना-अपना लक्षण है, ये सभी पदार्थ केवल अपने आपमें ही परिणमन करते हैं, अपने आपमें ही अपने परिणमन का अनुभवन करते हैं, अतएव किसी पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ के साथ रंच भी सम्बन्ध नहीं है। मैं एक जीव हूं, मेरा शरीर के परमाणु के साथ अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं क्योंकि स्वरूप निराला है।

देह से भिन्न, अमूर्त, ज्ञानमात्र अन्तस्तत्व के आलम्बन में सम्यक्त्व की उत्पत्ति—यद्यपि इस समय ऐसी कठिन परिस्थिति है जो कि हमने अपने भावों के आधार पर निर्माण की है कि रोग हो तो व्यथा हो जाती है, क्षुधा तृषा हो तो क्षोभ हो जाता है। इस शरीर का कितना घनिष्ट सम्बन्ध बना लिया है लेकिन स्वरूप दृष्टि से देखो तो इस शरीर के साथ हमारा रंच मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। मैं हूं अमूर्त चेतन और यह शरीर है अचेतन और पौद्गलिक। जब वस्तु के स्वरूप पर दृष्टि देते हैं तो यह समझ में आता है कि एक वस्तु का किसी अन्य वस्तु के साथ सम्बंध नहीं। इस परिज्ञान का अभ्यास बनाते-बनाते और इन वस्तुओं के स्वरूप के सम्बन्ध में ज्यादा जानकारी और चिन्तवन करते-करते कोई समय ऐसा आता है कि जब मेरा किसी पर पदार्थ के साथ सम्बन्ध ही नहीं है तो किसी का क्या बिगाड़ करना? स्वयं विकल्प हटते हैं और विकल्प हटने पर अपने आपमें विश्राम, तृप्ति, संतोष होता है। उस समय जो स्वाधीन सहज आनन्द है यह जगता है। बस यह अनुभूति हुई कि सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इस जीव ने अपनी शान्ति सुख की प्राप्ति के लिए अनेक प्रयास किये, लेकिन यह प्रयास नहीं किया। सम्यक्त्व का प्रयास किया हो, सम्यक्त्व जगा हो तो फिर इस जीव को संसार के संकट नहीं रहते। अनाकुल तो तत्काल ही अनेक अंशों में हो जाता है। तो संवरों में सबसे मुख्य कारण है सम्यक्त्व।

सम्यक्त्व नामक संवर भाव के लाभ के अनन्तर होने वाले अन्य महान् संवरभाव—सम्यक्त्व होने के बाद या सम्यक्त्व के साथ ही साथ देशव्रत हो जाये, जहां बारह व्रतों का पालन है, तो अणुव्रत की स्थिति में आंशिक स्थिरता जग जाती है, कषायें मंद हो जाती हैं, अप्रत्याख्यानावरण कषाय वहां नहीं रहती और इसके संवर ४ प्रकृतियों का और भी हो जाता है। उससे और निर्मल परिणाम है महाव्रत का। जहां हिंसा आदिक ५ प्रकार के पापों का सर्वदेश त्याग है उसे महाव्रत कहते हैं। यहां ६ प्रकृतियों का संवर और बढ़ जाता है व अप्रमत्तविरत में देवायु का संवर हो जाता है। इसके बाद क्षपक श्रेणी में ८वां, ९वां, १०वां, १२वां गुणस्थान होता है। उपशम श्रेणी में ८वां, ९वां १०वां, ११वां गुणस्थान होता है। इन सब में उत्तरोत्तर कषायों का विजय और कर्मों का संवर बढ़ जाता है। जहां कषायों पर पूर्ण विजय होती है, कषायें नहीं रहती हैं, सब नष्ट हो जाती हैं वहां उपशम श्रेणी में तो ११वां गुण उपशान्त मोह गुणस्थान बनता है, किन्तु क्योंकि चारित्र मोह का उपशम होने के कारण यह गुणस्थान बनता है सो उपशम काल समाप्त होते ही यह गिर जाता है। क्षपक श्रेणी में

क्षीणमोह नाम का १२वां गुण स्थान बनता है। यहां यह पर्याय रूप से कारण परमात्मा कहलाने लगता है। यहां तक ३६, ५ व १६ प्रकृतियों का और संवर हो जाता है यानि ११९ प्रकृतियों का संवर हो चुकता है। इसके बाद अब शीघ्र ही १३वां गुणस्थान होगा अरहंत भगवान होगा। तो कषायों का विजय होना यह संवर है। अन्त में योग रह जाता है। कषायों का विजय हो चुकने के बाद अर्थात् निर्मोह, क्षीणमोह बनने के बाद १३वें गुणस्थान में और १२वें गुणस्थान में भी योग रहता है। उस योग से आस्रव होता है लेकिन सातावेदनीय का और वह भी एक समय की स्थिति का, यानि वहां स्थितिबंध व अनुभागबंध उसके भी नहीं है। आत्मा में इस योग का जब अभाव हो जाता तब जीव में पूर्ण रूप से संवर भाव प्रकट होता है। इस तरह संवर भाव के कारणभूत ये भाव है। इन भावों पर हमारी दृष्टि हो और उनमें सर्वप्रथम हम सम्यक्त्व भाव के लिए यत्न करें तो संवर के अधिकारी होंगे, और संवर के प्रसाद से कभी कर्म लंकों से निर्भार होंगे, हमारी वास्तविक उन्नति होगी, हम मुक्ति के निकट पहुंचेंगे।

गुत्ती समिदी धम्मो अणुवेक्खा तह य परिसह जओ वि।
उक्किट्ठं चारित्तं संवर-हेदू विसेसेण।।९६।।

संवर भावों में गुप्ति समिति व धर्म भाव रूप संवर तत्व का वर्णन–गुप्ति, समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीषहजय और उत्कृष्ट चारित्र, ये विशेष रूप से संवर के कारण हैं। गुप्ति नाम है रक्षा करने का। वश में करना सो गुप्ति है। मनोगुप्ति मन को वश में करना सो मनोगुप्ति, वचनगुप्ति वचन को वश में करना सो वचनगुप्ति, कायगुप्ति—काय को वश में करना सो कायगुप्ति। मनोगुप्ति का अर्थ है इस मन को तत्वचिन्तन में लगायें, यहां-वहां के रागद्वेष विषयक विकल्प न जगे। वचनगुप्ति का अर्थ है मौन से रहें और जब कभी वचनों का प्रयोग करना पड़े तो बड़े विचारपूर्वक करे जिससे अपना अहित न हो, पारमार्थिक हानि न हो इस तरह के वचनों का प्रयोग करना वचनगुप्ति है। कायगुप्ति का अर्थ है शरीर को वश में करना, हलन-चलन क्रिया न बढ़े और कुछ क्रियायें करनी पड़ें तो प्रभुभक्ति आदिक शुभ कार्यों में करें। समिति नाम है जो कुछ प्रवृति करें सो देखभाल कर करें, जिसमें जीव हिंसा न हो, अविवेकपूर्वक कोई बात न बने। धर्म नाम है ऐसे उपाय का कि जो दुःख के कारणों से छुटाकर सुख में पहुंचा दे। ऐसी बात क्या है? सर्व प्रथम तो सम्यक्त्व है। विपरीत अभिप्राय नष्ट हो, सन्मार्ग का दर्शन हो तो उसे सम्यक्त्व कहते हैं। फिर क्षमा भाव करना, मन में क्रोध न बसाये रहना क्योंकि क्रोध रहेगा तो खुद के ही गुण जलेंगे। क्रोधी पुरुष दूसरे का अपकार कर सके यह नियम तो नहीं है, खुद की बरबादी जरूर हो जाती है। जैसे किसी पुरुष ने किसी को मारने के लिए हाथ में अंगार उठाया तो उससे दूसरे पुरुष का शरीर जल पाये या न जल पाये, वह तो उसके भाग्य की बात है पर जिसने अंगार उठाया उसका खुद का हाथ तो अवश्य ही जल जायेगा, ऐसे ही क्रोधी पुरुष जिस पर क्रोध करेगा उसका चाहे कुछ भी बिगाड़ न हो सके, पर क्रोध करने वाले का तो सारा ही बिगाड़ हो जाता है। जब इस अमूर्त पावन परमात्मतत्व में अज्ञानवश क्रोध भाव जगता है तो ये सारे प्रदेश क्रोध से मलिन हो जाते हैं। इस क्रोध के प्रसंग में यह जीव अपने गुणों को जला देता है। क्रोध बहुत विलक्षण अग्नि है, जिससे उदारता, संयम, सद्बुद्धि आदिक सारे गुण जल जाते हैं। यह क्रोध भाव न हो तो यही उत्तम क्षमा है। मान न जगे तो उत्तम मार्दव है। मान कषाय में भी खुद ही खुद में कुछ कल्पनायें करता है। कोई उसे बड़ा मानता है, कोई नहीं मानता। अव्वल तो कोई किसी को मानने वाला नहीं है। और कोई मानता है, चेष्टा करता है सो खुद अपने

आपमें अपना ही काम करता है। यह अज्ञानी जीव खुद में शेखचिल्ली बनकर मद में मुंह फुलाये रहता है, किन्तु देखने वाले छोटे-बड़े सभी लोग इसे बेवकूफ ही समझते हैं। मद के अभाव को मार्दव कहते हैं। छल-कपट के अभाव को आर्जव कहते हैं और लोभ के अभाव को शौचधर्म कहते हैं। जब जीव में चार कषायें न हों तो सत्य धर्म है जिसके प्रताप से यथार्थ रूप में इन्द्रियसंयम व प्राणसंयम रूप वृत्ति जगती है। संयमी ज्ञानी पुरुष का तपश्चरण उत्तम तप है, उसके समस्त हेय भावों का त्याग होता है और वहां उत्तम आकिञ्चन्य धर्म होता है, सर्व पर भाव से विविक्त अमूर्त ज्ञानज्योतिमात्र निज अन्तस्तत्व का उपयोग रहता है। इस धर्म के प्रसाद से जीव निज ब्रह्म स्वरूप में रमकर उत्तम ब्रह्मचर्य का पूर्ण अधिकारी होता है।

अनित्य अशरण व संसार भावना की संवररूपता–जीव को शान्ति संवर भाव में है। संवर भाव के विरुद्ध किसी भी भाव में, विकल्प में किसी भी जीव को शान्ति नहीं मिलती। संवर भाव में यहां अनुप्रेक्षाओं का वर्णन चल रहा है। बारह भावनाओं का तो प्रतिपादन करने वाला यह ग्रन्थ ही है, उस ही में संवर के प्रकरण में बारह भावनाओं को कर्मों का स्वर बताने वाला कहा है। जब अनित्यभावना भाते हैं कि संसार के प्रत्येक पदार्थ विनाशीक है। अतः विनाशीक पदार्थों में रुचि न करना, किन्तु अविनाशी जो अपना आनन्द स्वभाव ज्ञान स्वरूप है उसमें रुचि करना। यों अनित्य भावना भाकर जो निज अंतस्तत्व की रुचि की प्रेरणा मिलती है वह संवर भाव ही तो है। अशरण भावना में यह भावना की जाती है कि दल, बल, वैभव, माता-पिता आदिक सभी मेरे लिए अशरण हैं। मृत्यु से बचाने वाला भी कोई नहीं है और जब कभी दुःख आता है तो उन समयों में भी कोई शरण नहीं है। यों बाहरी पदार्थों से तो उपेक्षा करायी गयी और अन्ततः यह देखिये कि निर्मल परिणामों से रहने वाला मैं ही मेरे लिए शरण हूं, मेरा जो सहज स्वरूप है उसका आलम्बन उसका अनुभव ही मेरे लिए वास्तविक शरण है। यों अशरण भावना से हमको पारमार्थिक शरणभूत निज स्वभाव की दृष्टि जगती है। वह संवर भाव है। संसार भावना में यह ज्ञान किया है कि संसार में सर्वत्र दुःख हैं। प्रत्येक पर्यायों में कष्ट ही कष्ट विदित हो रहे हैं। कभी मनोवांछित वैभव आदिक भी मिलें लेकिन संतोष उसमें कौन करता है? और कुछ संतोष भी करे तो उससे कुछ पूरा तो नहीं पड़ता। वह मिटेगा। ये पुण्य-पाप सब अस्थायी भाव हैं, इनके फल में हर्ष-विषाद मानने का कोई अधिकार नहीं है। तो इस दुःखमय संसार में किसी भी स्थिति में दृष्टि न थमे, इन सब सांसारिक दशाओं से उपेक्षा जगे। और जो अपना स्वरूप है संसार रहित जिसमें रागादिक विकारों का स्वभाव नहीं पड़ा है, केवल विशुद्ध ज्ञानानन्द का ही स्वभाव है, ऐसे निःसंसार आत्मतत्व की दृष्टि जगती है। सो यह संवरभाव ही तो है।

एकत्व, अन्यत्व व अशुचि भावना की संवर रूपता–एकत्व भावना में यह निरखा जाता है कि यह जीव सब दशाओं में अकेला है। अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, जो-जो भी इस पर पर्यायें गुजरती हैं उन सबका अनुभव यह अकेला ही करता है। ऐसा जानेकर किसी को अपना सहयोगी न मानकर सबसे उपेक्षा रखना। जहां ये बाह्य लौकिक प्रेरणायें मिली हैं वहां यह भी प्रेरणा मिलती है कि मैं अपने आपके सहज शुद्ध एकत्व स्वरूप में हूं। मैं वह हूं जो शाश्वत एक रूप रहता हूं, जिसके आधार पर एक ज्ञान और आनन्द की व्यक्त पर्यायें चला करती हैं, मैं ऐसा शुद्ध ज्ञानानन्द मात्र हूं। ऐसे अपने एकत्व की सुध हुई तो ऐसे अपने स्वरूप में रहने का भाव संवर भाव ही तो है। अन्यत्व भावना में यह भाया जाता है कि ये सब मुझसे निराले हैं। परिजन, मित्रजन, वैभव और की तो बात क्या, यह देह भी मुझसे भिन्न है। अतएव जो भिन्न है, जिस पर

मेरा अधिकार नहीं है उसमें क्या रुचि करना? जहां बाह्य में ऐसी प्रेरणा मिलती है वहां अंत: यह भी प्रेरणा मिलती है कि मेरे में उठने वाले ये राग द्वेषादिक भाव भी मेरे स्वरूप नहीं हैं। जैसे दर्पण में किसी चीज की छाया प्रतिबिम्बित हुई तो वह प्रतिबिम्ब दर्पण में दर्पण की ओर से दर्पण की निजी चीज नहीं है। वह वस्तु सामने से हट जाये तो उसका प्रतिविम्ब भी हट गया। यों ही मेरे में जो रागद्वेषादिक परिणमन होते हैं वे मेरे स्वभाव से मेरे नहीं हैं, वे उठे हुए हैं, आगंतुक हैं, पर भाव हैं, वे भी मुझसे जुदे हैं। मैं तो शुद्ध-सहज ज्ञानानन्द स्वरूप हूं। इस प्रकार के विभाव में भी परपने का निश्चय कराकर यह अन्यत्व भावना स्वभाव में लीन कराने की प्रेरणा करती है। तो यह भाव संवर ही तो है। अशुचि भावना में यह परिज्ञान किया कि देह अत्यन्त अशुचि पदार्थ है, इस देह में भीतर से लेकर बाहर तक सभी पदार्थ अशुचि ही हैं। खून, मांस, मज्जा, रोम, नख आदिक सभी अपवित्र पदार्थ हैं लेकिन यह भी साथ में दृष्टि जगती है कि मैं आत्मा अमूर्त ज्ञानानन्द मात्र स्वयं स्वभावत: पवित्र हूं। सब द्रव्यों में सार एक यही आत्मतत्व है। जो ज्ञाता है, विश्व की व्यवस्था समझ सकने वाला है ऐसा यह मैं ज्ञान मात्र पदार्थ शुचि हूं। इस भावना से अशुचि पदार्थों से हटकर परम पावन निज अन्तस्तत्व का आलम्बन प्राप्त होता है। यह संवर भाव है।

आस्रव, संवर निर्जरा व लोक भावना की संवररूपता—आस्रव भावना में रागादि भावों को अहित समझकर उससे हटकर निरास्रव सहज अन्तस्तत्व में उपयुक्त होने का पौरुष होता है यों आस्रव भावना भी संवररूप है। संवर भावना में तो यह सब वर्णन चल ही रहा है। वह तो प्रत्यक्ष संवर रूप है ही। निर्जरा भावना में यह जीव चिन्तन करता है कि इस जीव के क्लेश के कारणभूत कर्म हैं। जब तक कर्म दूर न हों तब तक जीव को कोई पारमार्थिक आराम का मार्ग न मिल सकेगा। भले ही विषयों में मौज माने, लेकिन वहां भी बंध मार्ग है। तो कर्म कैसे झड़ें, उसका उपाय समझा कि अपनी उपयोग भूमि से कषायों को हटायें, इच्छाओं को दूर करें और अपने सहज ज्ञानानन्द स्वभाव की दृष्टि रखें तो कर्म झड़ते हैं। निर्जरा भावना में कर्म झड़ाने की दृष्टि का जो एक आश्रय है उसके दर्शन होने से संवर भाव बनता है। लोक भावना में ज्ञानी ने चिन्तन किया कि यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है। इस लोक में कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहां यह जीव अनन्त बार उत्पन्न न हुआ हो और मरा न हो। इस लोक में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं बचा जिसको इस जीव ने अनन्त बार भोगा न हो। तो सभी क्षेत्र, सभी पदार्थ अनेक बार समझे हुए हैं, भोगे हुए हैं तो इन पदार्थों में क्यों रुचि करना? जीव के भटकने का कारण तो यही है कि यह पर पदार्थों में रुचि करता है। जैसा स्वरूप है वैसा यह जानना नहीं चाहता। असत्, विपरीत, मिथ्या जानने में ही इसको मौज आती रहती है। यह सबसे बड़ी भारी विपदा है। भला सत्य बात जानने में कोई दोष तो नहीं है। बीते कुछ भी, हम कर सकें या न कर सकें, मगर सत्य बात जानने का प्रमाद क्यों? सत्य स्वरूप जानने में जो एक प्रमाद जगता है, अरुचि जगती है, यह जीव पर सबसे बड़ा अंधकार है। तो इन्हीं अज्ञान भावों के कारण यह जीव लोक में सर्वत्र जन्मा और मरा। वह अज्ञान दूर हो तब सम्यक्त्व सूर्य प्रकट होता है और यह समस्त संकट भाग जाता है। होता क्या है वहां? अपने आपका जो मैं सहज शुद्ध हूं, उसका आलम्बन ही तो लिया जाता है? कितना सुगम काम है। बाहर में जिन पदार्थों के जुटाने, रक्षा करने आदि का अधिकार नहीं उन पर तो यह जीव रुचिया बन रहा है और जो निज का तत्व है, स्वयं का स्वरूप है ज्ञानमय, उस ज्ञानमय सुगम स्वरूप के जानने के प्रमादी बन रहे हैं तो यह तो बड़प्पन के खिलाफ बात है। अपने आपके स्वरूप का दर्शन हो तो संवर भाव है।

कल्पनायें करके दुःखी हो रहा हूं। यों कष्टों को कष्ट ही न मानें और उन्हें समता से सह लें। यह केवल बात ही बात नहीं है किन्तु यह बात हम आपमें सुगमता से आ सकती है। एक अपने स्वरूप को संभालने भर का ही तो पुरुषार्थ करना है। प्रभु से यह चाहें कि हे प्रभु! मुझमें वह ज्ञान बल प्रकट हो जैसा कि आपमें प्रकट हुआ, जिसके सामर्थ्य से कष्टों को समता से सह सकें। यह संसार कष्टमय है। 'मुझ पर कष्ट न आयें,' संसार में रहते हुए यह चाहें तो यह चाह तो पूरी न होगी। यहां तो एक कष्ट दूर हुआ कि दूसरा कष्ट सामने आया। तो इस कष्ट भरे संसार में कष्टों से छूटने की भीख मांगना, यह तो अच्छी बात नहीं है, किन्तु इन कष्टों को समता से सहने की सामर्थ्य प्रकट हो, यह बात चाहें। यह बात बन जायेगी। सो परीषह जय ऐसे ही ज्ञान बल के आधार पर बनता है।

शीत उष्ण आदि सभी परीषहों के जय में संवरपना—ठंड गर्मी का परीषह सहना अथवा नग्न परीषह सहना ऐसी अविकारता कि जिनके चित्त में रंच मात्र भी विकार नहीं है, जो निष्परिग्रह हैं, जिनके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकार के परिग्रह अत्यन्त दूर हो गए हैं, ऐसे साधुजनों के नग्न परीषह जय होता है। अब यह समझिये कि इन परीषहों में कितनी विशुद्धता है, जिसके प्रसाद से कर्म वहां बहुत ही झड़ते हैं। किसी अनिष्ट पदार्थ का मेल रहने पर उसमें द्वेष न करना, कहीं स्त्री देवांगना आदिक सामने आने पर रंचमात्र विकार भाव न करना, चलते हुए में कोई पैरों में कंकड़ आदिक चुभ जाये तो भी शरीर में ममत्व उत्पन्न न करना, उस परीषह को समता से सहना, बैठने में एक करवट, सोने में कंकरीली जमीन में बैठकर सो रहे हैं, वहां भी कष्ट का अनुभव न करना, उसमें सहनशीलता बनाये रखना, कोई गाली देता है तो उसका भी बुरा न मानना, उसको भी समता से सहन कर लेना आदि ऐसे अनेक परीषहों को साधुजन सहन किया करते हैं। उन परीषहों के सहने में करना क्या है? उत्कृष्ट बात तो यह है कि उसकी ओर दृष्टि ही न रखें। कुछ ज्ञान बल आ जाये तो उस ज्ञान का मद न करना। कोई बहुत तपश्चरण करने पर भी ज्ञान प्रकट नहीं हो रहा तो अपनी श्रद्धा को न बिगाड़ना। ग्रन्थों में तो बताया है कि ऐसे तपश्चरण के बाद अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान जैसे चमत्कार पाये जाते हैं। यहां तो कुछ चमत्कार ही नहीं हुआ, ऐसी शंका मन में न लाना यह परीषह विजय है। शरीर पर बहुत मल लगा हुआ है, हिंसा के त्याग के अभिप्राय से जिन्होंने स्नान का त्याग किया। ऐसे निर्ग्रन्थ साधुजन उसमें भी ग्लानि नहीं करते। ये कैसे आदर्श कष्टसहिष्णु हैं। उन पर सम्मान अपमान आदि के कैसे ही कष्ट आयें, उन सब स्थितियों में उन मुनियों को अपने आत्म स्वरूप का ध्यान रहता है। सबसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूं। इस स्वभाव की दृष्टि करके जो निरन्तर तृप्त रहा करते हैं ऐसे साधुओं के ये परीषह विजय होते हैं। तो परीषह विजय में आत्मा की ओर झुकाव प्रसिद्ध रूप से बढ़ता है। कवियों ने तो यह कहा कि जिन पर उपसर्ग हुए हैं उन्हें झट केवल ज्ञान हुआ तो इसमें यह भी उपसर्ग कारण है। न होता तो विलम्ब से केवलज्ञान होता आदिक संम्भावनायें अलंकार रूप से कही हैं। तो उपद्रव मेरे लिए कोई दुःख की (बुरी) चीज नहीं है किन्तु उनमें जो ममता जगती है और वहां कुछ कल्पनायें बनाते हैं वे कल्पनायें दुःख की चीज है। ये कल्पनायें दूर हो और कष्ट सहने की हममें शक्ति प्रकट हो, ऐसी भावना हमें बनानी चाहिये।

गुत्ती जोग-णिरोहो समिदी य पमाद-वज्जणं चेव।
धम्मो दया-पहाणो सुतत्त-चिंता अणुप्पेहा।।९७।।

गुप्ति और ईर्यासमिति का स्वरूप—गुप्ति, समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीषह विजय—ये संवर भाव कहे गए हैं। इनमें गुप्ति का अर्थ है योगों का निरोध करना। मन, वचन, काय जो हम आपके साथ लगे हुए हैं,

जिनका हलन-चलन होता है और उस निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में भी हलन-चलन होता है तो उन योगों का निरोध करना गुप्ति है। प्रमाद के त्याग करने का नाम समिति है। विहार करना पड़ रहा है। चार्तुमास के अतिरिक्त एक नगर में बहुत दिनों तक रहने की शास्त्राज्ञा नहीं है, क्योंकि एक जगह बहुत काल रहने पर राग, प्रमाद, मोह उत्पन्न हो सकते हैं। तब विहार करना ही है। विहार करने में शरीर के हलन-चलन की प्रवृत्ति होगी ही। तो उस शरीर के हलन-चलन प्रवृत्ति में प्रमाद न रहना, इसका नाम समिति है। तभी तो ईर्यासमिति में ४ हाथ आगे जमीन देखकर सूर्य के प्रकाश में उत्तम भाव से अच्छे काम के लिए विहार किया जाता है। ईर्यासमिति का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना। उसमें चार बातें होनी चाहिएं। सूर्य के प्रकाश में, और अच्छे काम के लिए, अच्छा भाव रखते हुए चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना। यदि कोई साधु चार हाथ आगे जमीन को देखता है, पर रात्रि में या संध्याओं में देखता है तो वह ईर्यासमिति नहीं। कोई दिन में भी चार हाथ आगे जमीन देखकर चल रहा है लेकिन बुरे काम के लिए जा रहा है। कोई अच्छे कार्य के लिए गमन नहीं कर रहा तो वह ईर्यासमिति नहीं कहलाता। कोई साधु यात्रा आदिक काम के लिए भी जाये, दिन में भी जाये, चार हाथ आगे जमीन देखकर भी जाये और क्रोध से विहार करे। जैसे किसी गांव में ठहरे हुए थे, वहां कोई प्रसंग ऐसा आ गया कि इसे क्रोध उत्पन्न हो गया और रोष में आकर वह भाग रहा है तो अच्छे परिणाम पूर्वक तो नहीं जा रहा तो ईर्यासमिति नहीं है। ऐसे अन्तरङ्ग प्रमाद न रहे, बहिरङ्ग प्रमाद न रहे, यह बात समिति में बनती है।

भाषा समिति व ऐषणा समिति का स्वरूप– दूसरी समिति है भाषा समिति। भाषा समिति में हित, मित, प्रिय वचन बोलना। ये तीन विशेषतायें होनी चाहियें। जो भी हम बात कहें वह दूसरे के लिए हितकारी हों। बात तो कहें जैसी की तैसी, किन्तु उससे होता हो दूसरे का अहित तो उसे भाषा समिति में शामिल नहीं किया गया है। जनता का या धर्म का जिन वचनों से वस्तुतः अहित होता हो वे वचन सत्य नहीं हैं, वहां भाषा समिति नहीं है। इसी प्रकार कहें तो हम दूसरे के भले की बात लेकिन अप्रिय बोलें, डाट डपटकर, गाली-गलौच देकर बोलें तो वह समिति में शामिल नहीं है और फिर हितकारी भी वचन बोलें और प्रिय भी बोलें, मगर खूब बोलते चले जायें, तो यह भी समिति में शामिल नहीं है। सो हित, मित, प्रिय वचन बोलना सो भाषा समिति है। तीसरी है एषणा समिति। आहार की एषणा के लिये जब साधु चलते हैं तब से विधि समाप्ति पर्यन्त जो निष्प्रमाद प्रवर्तन है उसका नाम है ऐषणा समिति। एषणा मायने खोज करना। अपने योग्य आहार की खोज करना। जहां विधिपूर्वक हो, दाता की भक्ति से हो वहां निर्दोष शुद्ध आहार लेना। तो इसमें भी अनेक बातें परखी जाती हैं। दातार का भाव शुद्ध होना चाहिए। भोजन शुद्ध होना चाहिए। इन सब बातों को ठीक परखकर साधुजन आहार लेते हैं, यह एषणा समिति है।

आदान निक्षेपण समिति व प्रतिष्ठापना समिति का स्वरूप–चौथी समिति है आदान निक्षेपण समिति। पिछी, कमण्डलु पुस्तक आदि उपकरणों को खूब देख भालकर धरना उठाना ताकि किसी कीड़ा मकोड़ा आदिक जीवों की हिंसा न हो जाये। यों ही बिना देखे भाले जहां चाहे उठाने रखने में हिंसा का दोष है। इसी तरह जमीन में किसी वस्तु को बिना देखे-भाले थोड़ा बहुत घसीट लेने में भी दोष है। तो वस्तुओं को देख भालकर धरना उठाना सो आदान निक्षेपण समिति है। ५वीं है प्रतिष्ठापना समिति। थूक, कफ, मल, मूत्रादि को जहां चाहे न गिराकर अथवा न फैंककर उन्हें प्रासुक जमीन देखकर ही निक्षिप्त करना सो प्रतिष्ठापना

समिति है। जैसे कोई साधु ऊपर की मंजिल में बैठा है तो वह खिड़की से थूक न सकेगा। जब तक कि वह उस जमीन को खूब देखभाल न ले तब तक वह थूक न सकेगा। यह है प्रतिष्ठापना समिति। इन सब समितियों में प्रमाद का परिहार बताया गया है। आलस्य न रहे और भीतर में अपनी कृपा बुद्धि बनाये रहें तो यह संवर भाव ही तो हुआ।

क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच धर्म के धारण में अपने आत्मा की पारमार्थिक दया—दस लक्षण धर्म में संवर भाव कहा गया है। उस समस्त भावों में दया की वृत्तियां हैं। बाह्य दया भी है और अन्तरङ्ग दया तो प्रधान है ही। कोई जीव क्रोध कर रहा है तो किस पर क्रोध कर रहा है? अपने पर क्रोध कर रहा है। किसकी बरबादी कर रहा है? अपनी। किसे जला रहा है? अपने आपको। अपने आपमें यदि क्षमाभाव धारण किया तो किस पर दया की? अपने आप पर दया की। अपने को सन्तोष में सुख में रख सका, यह उसने अपने पर बड़ी दया की। कोई पुरुष मान (घमंड) कर रहा तो वह किसका अनर्थ कर रहा? किसी दूसरे का तो वह अनर्थ कर नहीं सकता। वह तो अपने आपका ही अनर्थ कर रहा है। अपने आपका ही बिगाड़ कर रहा है। क्योंकि उस घमंड परिणाम के कारण उसे अपने आपके स्वरूप की सुध नहीं रहती। अभिमान में वह अपने आपके स्वरूप को तक नहीं सकता। अगर उसने अभिमान करना छोड़ दिया तो किस पर दया की, किसे बचाया, किसकी रक्षा की? अपने आपकी। तो इन धर्मों में अपने आपकी दया प्रधान बन रही है। कोई पुरुष छल-कपट कर रहा है तो छल-कपट करके यह किसका बिगाड़ कर रहा? दूसरे का। अगर पाप का उदय है तो भले ही उसकी किसी हानि में यह कपटी पुरुष निमित्त मित्र बन जाये उसका नियम तो नहीं लेकिन छल-कपट करने वाले पुरुष ने अपने आप की बरबादी की। छल-कपट छोड़ता है तो किसकी रक्षा की? उसने अपने आपकी रक्षा की। जो पुरुष सरल चित्त होते हैं धर्म उनके ही हृदय में ठहरता है। कपटी पुरुष के हृदय में धर्म का अंकुर नहीं उत्पन्न होता। इसी प्रकार लोभ कषाय कोई कर रहा है—तो उसमें भी वह किस पर अन्याय कर रहा है? अपने आप पर। बाह्य वैभव तो ऐसे हैं कि आप इनका उचित भोग करें, उचित त्याग करें, तब भी ये कम नहीं होते और जब कम होने होंगे तो ये कम हो ही जायेंगे। आप न भी उनका भोग करें, न भी त्याग करें, केवल उनके संचय की ही बुद्धि बनाये रहें तब भी पापोदय आने से हानि हो जायेगी और जब तक पुण्य का उदय है तब तक भोग और दान से धन हानि नहीं होती। तो लोभ करके इस जीव ने बाहर में किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा, किन्तु अपने आपका बिगाड़ किया। यदि उसने लोभ छोड़ दिया तो रक्षा किसकी की? अपने आपकी। तो लोभ त्याग में शौच धर्म के पालन में भी अपनी दया की बात आयी।

सत्य संयम तप और त्याग में आत्मकृपा—सत्य, संयम, तप त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य, इन सब धर्मों में अपने आपकी रक्षा प्रधान है। न सच्चाई से रहे तो किसकी बरबादी की? अपने आपकी। सच्चाई का जीवन रखे तो अपने आप पर दया की। असंयम से रहे, कोई पुरुष हिंसा, झूठ, चोरी, पाप आदि का त्याग न करे, प्राणियों की रक्षा न करे, विषयों का लोलुपी रहे तो असंयम करके उसने किस पर अन्याय किया? अपने आप पर। अपना जो सहज परमात्मदेव है उसका विकास न हो सका और नरक निगोद पशु आदिक दुर्गतियों में भटकते रहे तो यह अपने पर कम अन्याय है क्या? कोई संयम प्रकट कर ले तो उसने किसकी रक्षा की? अपने आपकी। इच्छा निरोध का नाम तप है। लोग इच्छायें अटपट बढ़ाते रहते हैं। पुण्य का उदय है। कुछ धन का बल है, मन का बल है, तन का बल है तो अपनी अनेक इच्छायें बढ़ाते हैं, पर इच्छाओं को बढ़ाकर किसी ने अपनी भलाई कर पायी क्या? बड़े-बड़े तीर्थंकरों ने इच्छाओं का, परिग्रहों का त्याग करके उन्होंने मुक्ति प्राप्त

की है। तो इच्छायें बढ़ाकर हम अपने आप पर अन्याय करते हैं कोई इच्छा निरोध करे, तपश्चरण करे तो उसने किस पर दया की? अपने आप पर। किसकी रक्षा की? अपने आपकी। दशलक्षण धर्म आत्म रक्षा करने वाला दया प्रधान धर्म है। जिस आत्मा ने चतुर्गति संसार में भ्रमण करने से मुक्ति प्राप्त कर ली तो उसने किन चीजों का त्याग किया था? रागद्वेष मोह भावों का और इनके आश्रय भूत पदार्थों का भी त्याग किया तो उसने किस पर दया की? अपने आप पर। तो उत्तम त्याग धर्म में भी अपने आपकी दया बसी हुई है।

आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य धर्म में अन्तस्तत्व की रक्षा—कोई पुरुष सब कुछ अपना मान रहा है, यह भी मेरा, यह भी मेरा, धन वैभव इज्जत पोजीशन सम्पदा ये सब मेरे हैं ऐसा मानता है तो वह पागल की भांति है। कहीं उसके मानने से वे सब पर पदार्थ उसके न बन जायेंगे। जैसे कोई पागल किसी मार्ग के पास कुएं के निकट बैठा रहता है, अब उस मार्ग से अनेकों मुसाफिर रिक्शा, मोटर, तांगा, साइकिल आदि लेकर निकलते हैं, थोड़ा-सा रुककर, कुवें से पानी निकालकर, पीकर अपने-अपने निर्दिष्ट स्थान पर चले जाते हैं, वह बेचारा पागल मनुष्य उन रिक्शा, मोटर, साइकिल, तांगा आदि को अपने मान लेता है और वे मुसाफिर तो पानी पीकर अपनी-अपनी सवारियां लेकर चले जाते हैं। वह पागल पुरुष उस जगह रोता है, दुःखी होता है—हाय हमारी मोटर चली गई, हमारी साइकिल चली गई आदि। तो ऐसे ही ये मोही प्राणी अपने ज्ञानमात्र निजस्वरूप को छोड़कर बाह्य में कुछ भी तो अपना नहीं है, यह देह भी अपना नहीं है और यह मोही प्राणी धन वैभव, घर द्वार, कुटुम्ब परिजन आदि पर पदार्थों को अपना मान लेता है। उनके नष्ट हो जाने पर अथवा विछोह हो जाने पर मोही प्राणी दुःख मानते हैं कि हाय मेरा धन मिट गया, मेरा यह वियोग हो गया आदि। है तो बाह्य में कुछ भी अपना नहीं, लेकिन पर वस्तुओं के प्रति ये मोही प्राणी यह भाव कर रहे कि ये मेरे हैं, तो इस मान्यता से अज्ञान से अन्याय किस पर किया? अपने आप पर। बरबादी किसकी? अपने आपकी। किसी जीव के अगर ज्ञानसूर्य प्रकट हो जाये और वह यह निर्णय कर ले कि एक इस ज्ञान स्वरूप के सिवाय मेरा तृणमात्र भी नहीं है तो उसके इस आकिञ्चन भाव से कितनी शान्ति समृद्धि होगी? तो आकिञ्चन भाव करने से, निष्परिग्रह का भाव होने से इस जीव ने अपने आप पर ही दया की। ब्रह्मचर्य भाव—यह परम उत्तम भाव है। आत्मा का जैसा सहज स्वरूप है विशुद्ध ज्ञानानन्द रूप उसमें मग्न रहना सो ब्रह्मचर्य है। जब यह जीव अपने स्वरूप की सुध भी नहीं रख रहा और बाह्य परिग्रहों में लीन हो रहा, चारों गतियों में जन्म-मरण कर रहा तो वह अपने आपकी बरबादी ही तो है। कोई पुरुष ब्रह्मचर्य भाव का आदर करे और अपने इस शुद्ध चैतन्य मात्र स्वरूप में लीन हो तो उसने किस पर दया की? अपने आपपर दया की, अपनी ही रक्षा की। इस तरह इन दशलक्षण धर्मों में भी दया की प्रधानता है। जहां अपने आप पर वास्तविक दया की जा रही है वहां दूसरों पर कृपा स्वतः ही होती जाती है।

अनुप्रेक्षादि धर्म धारण से आत्मा की भलाई—संवर भावों में अनुप्रेक्षा को भी कहा है। इससे मोक्ष मार्ग के प्रयोजनभूत तत्वों के चिन्तन की प्रधानता है। इससे सांसारिक बातों की चिन्तना नहीं होती है। वह तो चिन्ता का रूप है और अपनी भलाई के विषय में जो विचार चलते हैं उसे चिन्तन अथवा चिन्तवन कहते हैं। तो बारह भावनाओं में जो कुछ ज्ञान और वैराग्यवर्द्धक तत्व का चिन्तन चला उस चिन्तन से इस जीव ने अपने आपका ही तो कल्याण किया। धर्म के जितने भी भाव हैं, प्रयत्न हैं, पौरुष हैं, उन सबसे इस जीव की भलाई होती है और उसके विरुद्ध अधर्म पाप कुछ भी मन में आये तो उससे जीव का अहित होता है। सुख शान्ति का कारण धर्म का प्रसंग ही है, इसमें रंच सन्देह नहीं। जो लोग आज सुख सुविधायें पाये हुए हैं, कुछ अच्छा

वातावरण पाये हुए हैं तो वह किसका फल है? यह पूर्व समय में किए गए धर्म के साथ जो पुण्य भाव बना उस पुण्य भाव का फल है। पुण्य भी एक धर्म का किसी दृष्टि में आंशिक रूप है। अशुभ परिणाम की अपेक्षा शुभ परिणाम तो अच्छा ही है। और पुण्य बनता है शुभ परिणाम से ही। अशुभ परिणाम से पुण्य का बन्ध नहीं होता। अज्ञानी जीव भी कभी पुण्य बांध पाता है तो तब ही जब उसका अशुभ परिणाम मंद होता है, शुभ परिणाम कषाय का मंदपना बनता है तब पुण्य का बंध कर पाता है। यों यह लौकिक सुख शान्ति भी धर्म के प्रसाद से प्राप्त होती है। सत्य बात तो यह है कि धर्म के प्रसाद से सदा के लिए संकट छूट जाते हैं।

सो वि परीसह-विजओ छुहादि-पीडाण अउ-रउद्दाणं।
सवणाणं च मुणीणं उवसम-भावेण जं सहण।।९८।।

मुनिराजों का परीषह विजय रूप संवरभाव—इस गाथा में यह बताया है कि साधुओं का परीषह विजय भी संवर भाव है। क्षुधा तृषा आदिक पीड़ायें जो अति विकराल हैं, जिनके सम्बन्ध में लोग परिचित ही हैं। जब तीव्र क्षुधा होती है तो उसे कुछ नहीं सूझता। कुत्ता, बिल्ली आदि जानवर तो जब क्षुधा से अति पीड़ित होते हैं, जब कि कई दिनों के भूखे होते हैं, पेट का एक भाग दूसरे भाग से मिल जाता है, तो ऐसी कठिन क्षुधा की वेदना में वे अपने बच्चों को भी मारकर खा जाते हैं। उन जानवरों की तो बात जाने दो--कोई-कोई देश ऐसे भी हैं कि जहां मनुष्य मनुष्य को मारकर भी खा जाते हैं। तो ये क्षुधा तृषा आदिक वेदनाएं अति रौद्र हैं। लेकिन क्षुधा तृषादि भयंकर पीड़ाओं को भी साधुजन समताभव से सह लेते हैं और समता परिणाम रूप अमृत के पान से वे अपने आपमें संतुष्ट रहा करते हैं। उन मुनियों का यही परीषह विजय है और इस परीषह विजय के प्रसाद से वे भव-भव के बांधे हुए कर्मों को भी ध्वस्त कर देते हैं। कर्म आये हैं कषायें करने से। तो कर्म मिटेंगे कषायें न करने से। सीधा उपाय है यह कषाय न करें, ऐसा किसी का संकल्प बने, ऐसा कोई प्रयत्न करना चाहे तो उसे कष्टसहिष्णु अवश्य बनना पड़ेगा। जो पुरुष कष्ट सहिष्णु नहीं है, आरामतलबी में ही रहता है उसके परीषह विजय नहीं बन सकता और समय-समय पर वह अपने सन्मार्ग से च्युत हो जाया करेगा। इस कारण यह चाहिए कि हम धर्मबुद्धि से कष्टसहिष्णु बनें। दुःख न मानते हुए, संक्लेश न करते हुए, राग विरोध न मचाते हुए हम कष्टसहिष्णु बनें तो हममें ऐसा उत्साह जग सकता है कि उपद्रव आने पर भी हम धर्म से न चिगें। यही परीषह विजय का प्रयोजन है और तत्काल फल भी यही है। भयंकर उपद्रवों में भी मुनिजनों को आकुलता नहीं हुई और उन्होंने सदा के लिए संसार संकटों से छुटकारा पाया, निर्वाण पाया। इस प्रकार संवर भावों में जो ५ भाव मुख्य बताये हैं उनका वर्णन यहां समाप्त हुआ।

अप्प-सरूवं वत्थुं चत्तं रायादिएहि दोसेहिं।
सज्झाणम्मि णिलीणं जाणसु उत्तमं चरणं।।९९।।

उत्तम चारित्र रूप परमसंवर का स्वरूप—ऐसे आत्म स्वरूप को ही उत्तम चारित्र जानो जो रागद्वेष विषय कषाय आदिक सब अवगुणों से परे है, उत्तम स्वतत्व के ध्यान में लीन है। आत्मा एक अभेद रूप है, उसकी जानकारी के लिए भेद करके गुण बताये गए हैं कि आत्मा में दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, ये सब भेद एक व्यवहार चलाने के लिए किए गए हैं। अन्यथा लोग कैसे समझें कि आत्मा का क्या स्वरूप है? यदि इतना ही कहते जायें किसी को आत्मा, आत्मा, आत्मा, तो इतने मात्र से लोगों को क्या मालूम पड़े? तब आत्मा में जो शक्तियां समझ में आ रही हैं उन शक्तियों का नामकरण करके लोगों को समझायें तो समझ जायेंगे, आत्मा उसे

कहते हैं जिसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र आनन्द गुण पाये जायें। तो इस तरह समझाने के लिए, तीर्थ प्रवृत्ति के लिए भेद व्यवहार करके गुणों को बताया गया है। जब यह कहा जाये कि ज्ञान क्या है बताओ? तो सीधा आत्मा को ही बताना चाहिये। यह है ज्ञान। तो चारित्र क्या है सो बताओ? तो यहां भी आत्मा ही बताया जायेगा कि यह है चारित्र। चारित्र की जो शुद्ध वृत्तियां हैं, एक साम्य भाव अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव में मग्न रहना, केवल जानन-देखन हार रहना, शुद्ध कार्य होना, यह ही तो है उत्तमचारित्र, सो ऐसा उत्तमचारित्र है क्या? यही आत्मा का स्वरूप, इसका विवरण करके समझा जाये तो यों कहो कि राग द्वेषादिक भाव आत्मा में नहीं उठे, वह है उत्तमचारित्र।

अन्तस्तत्व के परिचय से ही वास्तविक बड़प्पन—भैया! अपने आपके भीतर के स्वरूप को पहचानिये। बड़प्पन इसी में है। बाहरी पौद्गलिक धन वैभव आदिक के कारण जीव का बड़प्पन नहीं है। ये तो संसार की घटनायें हैं। कई बार इससे करोड़ों गुना वैभव मिला वह भी न रहा और कई बार देव बनकर भी पृथ्वी जल पेड़ वगैरह होना पड़ा होगा। कहां उत्कृष्ट बात और कहां खोटे भवों में जन्म। तो इस सम्पदा का, समागम का, इज्जत पोजीशन का क्या मूल्य है? यह तो संसार है। जैसे स्वप्न में देखे गए राज्यपाट वैभव का क्या मूल्य है। वह तो काल्पनिक है। इस ही तरह यहां भी तो कल्पना ही बनायी जा रही है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप मात्र है। अपने स्वरूप से बाहर वस्तु का न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है। मैं भी अपने स्वरूप मात्र हूं, मेरा द्रव्य, मेरा गुण, मेरी पर्याय मुझमें ही समाप्त है। मुझसे बाहर नहीं। तब मैं बाहर में कुछ करतब ही नहीं कर सकता। बाहरी किसी पदार्थ का अनुभव कर ही नहीं सकता। तो ऐसा यह मैं आत्मा अपने स्वरूप मात्र हूं। ऐसा ज्ञान जब न हुआ तब संसार में भटकना पड़ा। तो सबसे बड़ी सम्पदा, सबसे बड़ा शान्ति का साधन एकमात्र शरण अपने आपके शुद्ध सहज ज्ञान स्वरूप का दर्शन करना है। इसमें प्रमाद नहीं करना है। अन्य बातों में प्रमाद हो उससे हानि नहीं। धन कमाने में प्रमाद हो गया, अव्वल तो प्रमाद से धन की हानि नहीं होती, पाप के उदय से धन की हानि होती है, अन्यथा कुछ लोग दुकान पर कभी जाते ही नहीं हैं फिर भी अनेक वैभव आते रहते हैं। तो प्रमाद और निष्प्रमाद का लोक में कोई प्रभाव नहीं, वहां तो पुण्य पाप का प्रभाव है। लेकिन आत्मा के ज्ञान और चारित्र के सम्बन्ध में हम प्रमाद करें तो इसका फल संसार में भटकना है। सोचिए कहां तो मेरा ऐसा पावन स्वरूप जो अरहंत सिद्ध आत्मा की तरह ही अन्तः आत्म स्वरूप बसा हुआ है और कहां बाह्य पदार्थों में ममता दृष्टि करके उसके लगाव से अपने आपका अनर्थ किया जा रहा है। वह तो भैया! बड़े अंधकार में है जो मोह ममता करके, धन संचय करके अपने को चतुर समझते हैं सो तो चतुराई नहीं वह तो एक व्यामोह है। चतुराई तो अपने आपके स्वरूप का निर्णय करने में है। बाहरी बातें चाहे रहें चाहे आयें, चाहे किसी भी स्थिति को प्राप्त हों, उससे कुछ अपने उद्धार में फर्क न आयेगा। किन्तु हम स्वयं अपने आपको न परख सके तो अन्तर आ जायेगा। तो चारित्र क्या है इस सम्बन्ध में कह रहे हैं कि जो राग द्वेषादिक स्वरूप से रहित है ऐसे आत्म स्वरूप आत्म का अनुभवन, आत्मा का विशुद्ध परिणमन, इस ही को चारित्र कहते हैं।

आत्मरमण में ही साररूपता—स्थूल दृष्टि से भी देखो तो अनगिनत योजनों प्रमाण इस सारी दुनिया में जितनी जगह में हम आपका कुछ प्रभाव है, परिचय है, परिचय भी क्या केवल मोहमयी कल्पनायें। वह क्षेत्र कितना सा है, इतने से क्षेत्र में यदि कुछ कल्पनायें करके अपनी शान बना ली तो इससे आत्मा का क्या पूरा पड़ेगा? इस जीवन का कितना समय है? कुछ ही वर्षों का। तो इन कुछ दहाई वर्षों के समय में यदि अपने को

विकल्प करके मौज में रख लिया कि मेरा तो बड़ा बड़प्पन है तो इससे आत्मा का क्या पूरा पड़ेगा? बताओ जीव कितने हैं? अनन्तानन्त। उन अनन्तानन्त जीवों के समक्ष ये हजार ५०० लोग कुछ गिनती में भी हैं क्या? तो जब अनन्तानन्त जीवों के लिए हम बड़े न कहला सके तो इन हजार ५०० जीवों के लिए हम कुछ बड़े कहलायें ऐसा विकल्प करके अपने इस परमात्म देव पर अन्याय क्यों किया जा रहा है? सर्वोत्कृष्ट वैभव पुरुषार्थ तो अपने आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप में लीन होने का है। यह दृष्टि रखिये, निर्णय रखिये, बाकी सब बातों को महत्त्व न दीजिए। हम आप लोगों के बीच रहते हैं, अनेक प्रकार के लोगों से व्यवहार होता है। कोई कुछ कहता है, कोई कैसी प्रवृत्ति करता है सब अपनी-अपनी कषाय के अनुसार अपने में अपनी कसरत किया करते हैं, सो हमारा कुछ नहीं करते। हर्ष क्षोभ न लायें। किसी भी परिस्थिति में ऐसा ज्ञान बल बढ़ायें कि आत्म स्वरूप की समझ बनाकर आत्मा में लीन और तृप्त रहा करें। तो रागादिक दोषों से रहित अपने ध्यान में लीन जो आत्मस्वरूप है उसे उत्तम चारित्र जानें। ऐस उत्तम चारित्र से कर्मों का आना रुकता है जिससे निकट काल में हम मुक्ति प्राप्त कर लेंगे।

एदे संवर हेदू विचारमाणो वि जो ण आयरइ।
सो भमइ चिरं काले संसारे दुक्ख-संतत्तो।।१००।।

आचरण रहित संवर हेतु विचारक का भी संसार में चिरपरिभ्रमण—इस संवर अनुप्रेक्षा में संवर के हेतुओं का वर्णन किया गया है कि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा परीषह जय, चारित्र, इनके द्वारा कर्मों का संवर होता है। जिन महापुरुषों में, पावन आत्माओं में यह भाव होता है, ऐसी वृत्ति होती है, बस उसे ही संवर का अधिकारी समझिये। यहां यह परखिये कि संवर के जो कारण कहे गए हैं उन कारणों में सबसे अन्त में जो भाव बताया है उत्तम चारित्र आत्मस्वरूप, रागादिक दोषरहित आत्म स्वरूप में लीनता ये उत्तम चारित्र तो परम ज्ञानी जीव में सदा रहेंगे। अरहंतों में, सिद्धों में सदा काल पाया जा रहा और यही कारण है कि सिद्ध होने से फिर कर्म नहीं आते। कर्मों का आना सो संवर है, लो यह संवर तत्व सिद्ध में भी बना हुआ है। अगर न होता संवर तत्व तो कर्म आ धमकते। देखो आस्रव, बंध निर्जरा ये सब निकल गए। मोक्ष तो मिल ही गया। अब मिला हुआ मोक्ष क्या बार-बार बनेगा? संसार संकट तो छूट गया सो छूट ही गया तो अन्य तत्व की बात तो अब नहीं रही है किन्तु संवर तत्व संवर परिणाम, निर्दोष स्वलीन आत्म स्वरूप लक्षण वाला उत्तम चारित्र उस शुद्ध आत्मा में सदा रहेगा। हां जो कुछ इस उत्तम चारित्र रूप संवर में कम गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह जय, आदिक भाव हैं वे नहीं रहे, पर यह उत्तम चारित्र सिद्ध में अनन्तकाल तक रहेगा और यही कारण है कि अनन्तकाल तक संवर रहेगा। मुक्तात्मा अब कभी भी संसार में न आ सकेगा। तो ये संवर के कारण बताये गये हैं, इसके लिए कोई विचार भी करता है। इसका प्रतिपादन भी करता है। फिर भी जो पुरुष इस रूप अपना आचरण नहीं करता वह संसार में चिरकाल तक भ्रमता है और दुःख सहता है।

उपदेश पर अमल किये बिना केवल कथनमात्र से कर्मास्रवनिरोध की अशक्यता—प्रभु का उपदेश है कि कषायें मत करो। बस यों वचन ही रह गए और भीतर में ऐसा पुरुषार्थ नहीं जगाया कि कषायें न हों, ज्ञान भाव में रमने का पुरुषार्थ नहीं बनाया तो फल तो न मिल जायेगा। जैसे कोई पुरुष किसी मिठाई का नाम लेता जाये, रटता जाये तो उससे कहीं स्वाद तो न आ जायेगा, या उदरपूर्ति तो न हो जायेगी। हां, कभी आप ऐसा कह सकते हैं कि कभी-कभी मिठाई का नाम लेने से भी मुंह में मधुर पानी आ जाता है तो वह नाम

लेने से नहीं आया, किन्तु पहले उस मिठाई को खाया था, उसका स्मरण आया और उस स्मरण से उस तरह का स्मृति रूप ज्ञान बना, उससे भले ही थोड़ा मौज मान लिया, परिज्ञान हो गया स्वाद का स्मृति रूप में, लेकिन नाम लेने से तो सिद्धि नहीं होती। जिन पुरुषों ने आत्मा का अनुभव किया है उनको आत्मानुभव के प्रसाद का स्मरण होने से भी आंशिक स्वाधीन सदा आनन्द रहता है तो एक नाममात्र से तो काम नहीं बनता। उसका आचरण करना चाहिए तब जीव शुद्ध होता है अन्यथा संसार में तो भ्रमण करता ही रहेगा।

मात्र रटंत बोल चाल की व्यर्थता—सुबाबत्तीसी में बताया है कि किसी बड़े अच्छे पिंजड़े में पले हुए तोते को उसके मालिक ने रटा दिया—तोते! नलनी पर कभी न बैठना। नलनी होता है यह एक इस तरह का यंत्र कि जिसके नीचे कुछ चावल वगैरह डाल दिए जायें, सो तोता उस नलनी पर बैठता है दाने चुगने के लिए, उस प्रयत्न में वह औंधा लटक जाता है। औंधा लटकने पर वह इसलिए मजबूती से पकड़े रहता है कि उसे भय रहता है कि कहीं मैं गिर न जाऊं। आखिर उसे लटका हुआ देखकर शिकारी उस तोते को पकड़ लेता है। तो ऐसी नलनी के बारे में कह रहे हैं कि तोते को तो उसके मालिक ने रटा दिया कि ऐ तोते पिंजड़े से उड़कर कहीं मत जाना, जाना तो नलनी पर मत बैठना, नलनी पर बैठ भी जाना तो दाने चुगने की कोशिश न करना, दाने भी चुगना तो उलट न जाना, उलट भी जाना तो उसे पकड़े न रहना, उसे छोड़ कर उड़ जाना आदि। वही तोता एक दिन मौका पाकर पिंजड़े से बाहर निकल गया, नलनी पर जाकर बैठ गया, दाने चुगने की कोशिश करने लगा, उलट भी गया, पर उसे मजबूती से पकड़े रहा, इस डर से कि कहीं मैं नीचे न गिर जाऊं। ये सारी क्रियायें तो वह तोता करता रहा, पर पाठ वही पढ़ता रहा जो याद कर रखा था। उस तोते ने पाठ तो याद कर लिया था, पर उसका अर्थ वह नहीं समझ रहा था। बहुत से तोतों को तो राम नाम का पाठ भी रटा दिया जाता है, दोहा भी वे तोते पढ़ जाते हैं पर उन्हें कुछ भाव भासना भी है क्या? तो यों ही रटंत की तरह हम शास्त्रों का अध्ययन करें, चर्चा करें, बात कहें और अपने आपके एकत्व स्वरूप को न जानें और अपने स्वरूप में ही रमने का प्रयोजन न रखें, न रम सकें तो वे सब बातें बिल्कुल व्यर्थ हैं।

ज्ञानार्जन करने व उसका आचरण करने का कर्त्तव्य—ज्ञानार्जन करना बुरा नहीं है, उस पर भी न अमल कर सके, तो भी लाभ संभावना का थोड़ा फायदा अवश्य है। जैसे कोई धनी कंजूस होता है उसके प्रति लोग कहते हैं कि इसका धन होना ना न होना बराबर है। इसका धन कहां किसी के काम आया? न खुद भोग कर सका, न दान कर सका। तो यद्यपि लगता है इस समय कि उस कृपण धनी का धन व्यर्थ है लेकिन धन तो है। आज भाव कृपणता का है, कल भाव बदल जाये तो उसका उपभोग कर सकता है, दान कर सकता है। इतनी दृष्टि से कृपण धनी के पास धन होना कुछ कार्यकर है, ऐसे ही जिसने इन विद्याओं का अर्जन किया, जानकारी बनायी, धर्मशास्त्रों का ज्ञान किया, पर आचरण नहीं किया, लोग उसे कहते हैं कि इसका ज्ञान सब बेकार है क्योंकि उससे फायदा क्या? इसमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें भी ज्यादा हैं, तो लग रहा है ऐसा और बात भी सही है इस समय, लेकिन, जिसने ज्ञान किया है, वस्तु स्वरूप का कुछ लक्षण जाना है तो ज्ञान तो अर्जित है। किसी समय उसकी दृष्टि बदल जाये और अपने आपके उद्धार के लिए तड़प जाये, उद्धार का उद्देश्य बना ले तो वे सब ज्ञान इसके काम में आ जायेंगे। इतनी बात में तो ठीक है, पर ज्ञान कोई कर रहा है और उस पर आचरण कर नहीं सकता तो समझिये कि वह संसार में चिरकाल तक भ्रमेगा। अतः कर्त्तव्य यह है कि वस्तु स्वरूप का ज्ञान करे और यथाशक्ति उसका अमल करे। अब कहते हैं कि जो पुरुष विषय विरक्त है, इन्द्रिय विषय विजयी है उसके अवश्य ही संवर तत्व होता है—

जो पुण विसय-विरत्तो अप्पाणं सव्वदो वि संवरइ।
मणहर-विसएहिंतो तस्स फुंड संवरो होदि।।१०१।।

विषय विरक्त एवं इन्द्रिय विजयी आत्मा का संवर तत्व पर अधिकार—यह संवर भावना की अन्तिम गाथा है। इसमें आचार्य कहते हैं कि जो मुनि विषयों से विरक्त होकर मन को हरने वाले पाँचों इन्द्रियों के विषयों से अपने को दूर रखता है उसके निश्चय से संवर होता है। दो ही तो करने के काम हैं—अपने स्वरूप का ज्ञान रखना, और पर पदार्थों में रागद्वेष न करना अर्थात् पर पदार्थों से हटाना और अपने में लगाना। यही उपाय करना है। कर्मों का आना इस ही उपाय से रुकता है। कर्मों का निर्जरण भी इस ही उपाय से होता है। संसार में यह जीव जो कुछ भी इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, जन्म, मरण आदिक जो कुछ भी पा रहा है वह सब कर्मोदय का निमित्त पाकर पा रहा है। तब ये संसार की विडम्बनायें हैं ना। इन्हें दूर करना है तो क्या करना होगा कि कर्मबन्ध के कारणभूत जो उपाय हैं। उन उपायों से हटना होगा। बंध होता है पर वस्तुओं का लगाव रखने से, कर्मबन्ध होता है अपने आपके स्वरूप की भूल रखने से। सो भाई इस जीवन में जो बीते सो बीतने दो, उनको महत्त्व न दो, होंगे वे सब अनायास हमारे थोड़े ही पुरुषार्थ से। जैसे होते हों हों, लेकिन महत्त्व दीजिये इस बात का कि इस अनादि संसार में भ्रमते-भ्रमते आज बड़े सुयोग से मानव जीवन पाया, जिसमें बुद्धि श्रेष्ठ, कुल श्रेष्ठ, जैन शासन का समागम, अहिंसामय वातावरण, जो कि इस जीव के उद्धार के कारण हैं वे सब साधन प्राप्त हुए हैं तो अपने आपके स्वरूप दर्शन का खूब लाभ लूट लें अर्थात् हमें अपने आपके स्वरूप के बराबर दर्शन हों, क्षण मात्र को भी उसकी दृष्टि न हटें, ऐसी मन में उत्सुकता बनायें, प्रभु ध्यान करके आत्म स्वरूप का चिन्तन करके।

आत्मरमण में संतुष्ट होने की सहजवृत्ति पाने का उपाय बना लेने का अनुरोध—हे मुमुक्षु आत्मन्! सदा के लिये संकट मुक्ति चाहते हो तो अपने आपको ऐसा दृढ़ बना लें कि अपने आप में रमकर सन्तुष्ट होने की प्रकृति बन जाये। पर से हटना और अपने आपके स्वरूप में लगना यही उपाय कर्मों के रुकने का वास्तविक है। संवर भावना के वर्णन को सुनकर इतना तो मान ही लीजिये कि मुझे अपने आपके स्वरूप का निर्णय करना है, जानना है और जानकर उस ही के निकट रहना है। वही मेरे लिए शरण है, अन्य कुछ मेरे लिए शरण नहीं हो सकता। ऐसा भाव रखकर इस आत्म देव की शरण गहो। प्रभु शरण पाकर इस आत्म देव की उपासना करो। देखिये ज्ञान इतना विशिष्ट तो पा ही लिया है कि चाहे इस ज्ञान द्वारा विभिन्न विशिष्ट-विशिष्ट बाह्य अर्थों को जानने का उद्यम कर लें और चाहे एक स्वरूप अविशिष्ट निज अन्तस्तत्व में उपयुक्त होने का पौरुष कर लें। अब विवेक करके सुनिश्चित कर लो कि कैसा ज्ञान बनाये रहने में आत्म लाभ है। ध्रुव ज्ञान ज्योति स्वरूप सहज निज अन्तस्तत्व में उपयोग रमाने में ही श्रेयो लाभ है। अतः एतदर्थ भेद विज्ञान परक सहजस्वतत्वसंस्पर्शी सुतत्व चिन्तन का पौरुष करना चाहिये।

●●●

निर्जरानुप्रेक्षा

बारस-विहेण तवसा णियाण रहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्ग-भावणादो णिरहं का रस्स णाणिस्स।।१०२।।

ज्ञानी आत्मा में मोक्ष मार्ग के प्रयोजन भूत निर्जरा की पात्रता—बारह प्रकार के तपों के द्वारा निदानरहित ज्ञानी पुरुष के वैराग्य भाव के कारण कर्मों की निर्जरा होती ही है। इस जीव को दुःख के हेतु कर्मोदय है। दुःख न चाहने वाले पुरुषों को ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे कि कर्मों की निर्जरा हो जाये। प्रथम तो यह प्रयत्न होना ही आवश्यक है कि नये कर्म न आ सकें, इसके लिए संवर भावना में विशेष रूप से वर्णन किया गया है। अब संवर भाव को प्राप्त ज्ञानी जीव बंधे हुए कर्मों की निर्जरा भी करता है, इसका वर्णन इस निर्जरा अनुप्रेक्षा में किया जा रहा है। निर्जरा होती है ज्ञानी पुरुष के जिसको कर्म रहित अमूर्त केवल सहज चैतन्य स्वरूप अन्तस्तत्त्व का परिचय है ऐसा पुरुष ही कर्मों की निर्जरा कर सकता है, क्योंकि निर्जरा के मायने है कर्मों का आत्मा से अलग हटाना। जब तक इस जीव का परिणाम परद्रव्यों के साथ लगाव का है तब तक इसमें न कर्मों का संवर है और न कर्मों की निर्जरा सम्भव है। यद्यपि कर्म उदय में आयें और झड़ गए, इसका नाम भी निर्जरा है, किन्तु निर्जरा की भावना का यह प्रयोजन नहीं है, ऐसी निर्जरा तो सभी संसारी जीवों की हो ही रही है। कर्म उदय में आते हैं और फल देकर झड़ जाते हैं, लेकिन इस निर्जरा से तो इस जीव का पूरा क्या पड़ा? यह हानि में ही रहा। उससे और कर्मों का इसने बंध कर लिया। तो जो मोक्ष मार्ग में प्रयोजनभूत है उस निर्जरा से यहां सम्बन्ध है और उस ही निर्जरा की यह भावना चल रही है। ज्ञानी पुरुष जिसने कर्म रहित, कर्मों के विपाक से रहित शुद्ध चैतन्य मात्र अपने आपके स्वरूप का निर्णय किया है—मैं तो यह हूं, इस तरह निर्णय करने वाले ज्ञानी पुरुष के कर्मों की निर्जरा होती है। तो इस गाथा में 'णाणिस्स' यह शब्द कहकर निर्जरा का पात्र अथवा अधिकारी बताया है।

निरहंकार ज्ञानी जीव में मोक्ष मार्ग के प्रयोजनभूति निर्जरा की पात्रता—वह ज्ञानी पुरुष कैसा होना चाहिए जिसके कर्मों की निर्जरा विशेष रूप से हो सके? उसके लिए कह रहे हैं कि वह निरहंकार होना चाहिये। अहंकार रहित। निरहंकार शब्द से दो स्थितियों पर दृष्टि पहुंचती है, प्रथम तो यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव के निर्जरा नहीं होती, मिथ्यादृष्टि जीव अहंकारी है, पर द्रव्यों में, पर भावों में अहंरूप से जिसकी बुद्धि है। उसे अहंकारी कहते हैं। तो अज्ञानी के तो निर्जरा मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत सम्भव ही नहीं है। तब वह निरहंकार होना चाहिए। निरहंकार शब्द से दूसरी दृष्टि यह बनती है कि ८ प्रकार के मदों में से यदि कोई मद रहता है—किसी को जाति अच्छी मिलने के कारण वह जाति का अभिमान करता है, कुल अच्छा मिलने से कुल का अभिमान करता है, कुछ विद्यायें सीख लीं, ज्ञानार्जन कर लिया तो उस विद्या का ज्ञान का गर्व करता है, तो कोई बल का गर्व करता है, कोई वैभव का गर्व करता है, किसी ने कुछ व्यवहार धर्म में प्रगति की, व्यवहार धर्म का पालन करता है तो वह अपने तपश्चरण का मद करता है, किसी को अपनी सुन्दरता पर अभिमान है, ऐसा अभिमान में जिसका परिणाम लगा है उस पुरुष के निर्जरा नहीं होती है। अपने आप में यह अनुभव करना चाहिये कि मैं समस्त पर और पर भावों से रहित केवल चैतन्य स्वरूप हूं, मुझमें पर का प्रवेश

नहीं है, ऐसा केवल निज अंतस्तत्त्व मय, अपने आपकी श्रद्धा इस निर्जरा का मूल है। तो जो पुरुष ज्ञानी है और अहंकार रहित है उसके निर्जरा होती है।

निदानरहित ज्ञानी आत्मा में मोक्ष मार्ग के प्रयोजनभूत निर्जरा की पात्रता–निर्जरा के अधिकारी ज्ञानी जीव का एक विशेषण दिया गया है कि जो निदानरहित हो उसके निर्जरा होती है। निदान कहते हैं भविष्य काल में भोगों की प्राप्ति की इच्छा करने को। मैं देव बनूं, इन्द्र बनूं, राजा बनूं आदि इस प्रकार के भोगों की इच्छा करने को निदान कहते हैं। जो जीव निदान का परिणाम रखता है उसकी बुद्धि ही स्वच्छ नहीं है। अरे यह जीव जो सहज अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द का स्वरूप रख रहा है वह बाहरी विषय भोगादि से अपने आपकी शान्ति माने तो यह उसका अंधेरा है। निदान सहित पुरुष में न तो संवर की पात्रता है, न निर्जरा की पात्रता है। साथ ही इस विशेषण से यह भी दूसरी दृष्टि लेना कि सूक्ष्म रूप से ऐसा निदान भी न हो जिसे प्रशस्त निदान कहते हैं, तो उस श्रमण के विशेष रूप से कर्मों की निर्जरा होती है। आज के प्रोग्राम की ही कुछ बात नहीं, निकट में भी कुछ चाह की बात नहीं, समय पर जो हो सो हो, उसके ज्ञातादृष्टा रहें, ऐसी ऊंची एक अनन्तस्तत्व के स्पर्श की वृत्ति जिनकी है उनके विशेष रूप से कर्मों की निर्जरा होती है।

मोक्ष मार्ग की प्रयोजन भूत निर्जरा का कारण वैराग्य भाव का अनुभवन–यह सब निर्जरा वैराग्य भाव से हो रही है। चूंकि ज्ञानी जीव में राग भाव नहीं रहा तब कर्म कैसे टिक सकें? जैसे कोई मेहमान आपके घर आया और आप उसको आदर न दें, उसकी प्रीति न रखें तो वह मेहमान घर कब तक टिका रहेगा? उसे तो जल्दी भागना होगा। वैसे भी भागता और जब रुचि न दीखी मालिक की, उस गृहस्थी की तो मेहमान कब तक टिक सकता है? तो चूंकि वह मेहमान पहले किए हुए राग के कारण आया था लेकिन वर्तमान में राग नहीं तो वह कब तक टिक सकेगा? ऐसे ही ये कर्म पहले किये हुए राग भाव से आये थे, किन्तु अब राग भाव न रहा तो ये कर्म कैसे टिक सकेंगे? इनकी निर्जरा होगी, इनकी उथल-पुथल मेचेगी। तो निर्जरा का साधन है सही वैराग्य भाव। संसार, शरीर, भोगों में वैराग्य की भावना है। अनुभवन है अथवा वस्तुस्वरूप का, आत्मा के स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान है, तो इस वैराग्य और भावना के बल से कर्मों की निर्जरा होती है। यह सब निर्जरा हुई वैराग्य के अनुभव से। अब इसका बुद्धिगत उपाय क्या है? इस पर विचार करिये।

निर्जरा का उपायभूत प्रायश्चित तप–जिसको हम कुछ जान समझकर प्रारम्भ कर सकें, इस प्रकार का कर्म निर्जरण का उपाय क्या है? उस उपाय को बताया है बारह प्रकार का तप। तप उसे कहते हैं जहां इच्छाओं का निरोध किया जाता है। तपश्चरण में इच्छाओं का निरोध है। इन बारह प्रकार के तपों में छह तो हैं अंतरङ्ग तप और छह हैं बहिरङ्ग तप। जो अपने आत्मा से विशेष सम्बन्ध रखता है, जिसकी जानकारी का बाहर में कोई नियमित चिन्ह नहीं है वह तो अन्तरङ्ग तप है, जैसे प्रायश्चित करना। कोई दोष लगने पर उस दोष का पश्चाताप करना और वह दोष जिस प्रकार अब न लग सके उस प्रकार का अपना परिणाम करना यह है प्रायश्चित तप, दोष के परिहार रूप में कोई प्रायश्चित स्वीकार करके उसका भाव से पालन करना। यह प्रायश्चित वस्तुतः किसी दूसरे के द्वारा निरखा नहीं जा सकता। किसी पुरुष को अपने दोष पर वास्तव में ग्लानि आयी है इसका निरीक्षण दूसरा क्या करेगा?

निर्जरा का उपायभूत विनय तप–दूसरा तप है विनय। भले ही लोग शरीर की चेष्टा देखकर अनुमान

कर लें कि यह बहुत विनय करने वाला है, लेकिन विनय का सम्बन्ध तो भावों से है। किसी प्रयोजन से, संकोच से कोई किसी का विनय करता भी हो, लेकिन यह नियम नहीं है कि जो ऊपर से काय से विनय कर रहा है उसके अन्तरङ्ग में विनय का परिणाम अवश्य है। विनय एक अन्तरङ्ग के गुण-प्रेम, गुण श्रद्धा से सम्बन्ध रखने वाला भाव है। विनय का अर्थ है नम्रता, झुक जाना। कहां झुक जाना? अपने आपके उपयोग का अपने गुणों में झुक जाना यह है वास्तविक विनय। जब कभी हम दूसरे गुणी पुरुषों का विनय करते हैं तो उनके गुणों पर दृष्टि देकर हम अपने आपमें ही तो अपने गुण की ओर आकर्षित होते हैं। जो पुरुष दोषग्राही है, दूसरे पुरुषों के दोष ग्रहण करता है उसमें गुणग्राहिता न होने से अपने आपके गुणों की ओर भी नहीं झुक सकता। जो दूसरे के दोषों पर उपयोग लिए हुए है उसके उपयोग में तो दोष समाये हुए हैं, वह अपने आपके गुणों की क्या निगाह कर सकेगा? सो विनय तप अन्तरङ्ग तप है।

निर्जरा का उपाय भूत वैयावृत्य और स्वाध्याय तप–तीसरा अन्तरङ्ग तप है वैयावृत्य। गुणी जनों का, तपस्वी धर्मी जनों का वैयावृत्य करना, सेवा करना वैयावृत्य नाम का तप है। सो इस तप को भी दूसरे लोग पहचान नहीं कर सकते कि इसका सचमुच अंतरङ्ग सेवा का भाव है, क्या गुण की उपासना का भाव है। तो यह भी अंतरङ्ग भाव से संबंध रखता है इस कारण यह अन्तरङ्ग तप कहलाता है। इसी बात को पुष्ट करने के लिए शब्द रखा गया है वैयावृत्य। अन्यथा सेवा शुश्रूषा आदिक बहुत से शब्द थे, पर वैयावृत्य शब्दों को ही क्यों रखा? सो सुनिये। वैयावृत्य शब्द में यह भाव भरा है कि जो वास्तव में निवृत्त है, संसार के कारणों से व्यावृत्त है, जो विभावों से उपेक्षा किए हुए है ऐसे व्यावृत्त पुरुषों की जो वृत्ति है उसे वैयावृत्य कहते हैं। चौथा अन्तरङ्ग तप है स्वाध्याय। यद्यपि कुछ बाहरी लक्षणों से यह पहचाना जाता है कि इसने स्वाध्याय किया, इसने नहीं किया, लेकिन वास्तविक स्वाध्याय का कौन पता कर सकेगा? स्वाध्याय में दो शब्द हैं–स्व और अध्याय। स्व अर्थात् निज आत्मा का अध्ययन करना, आत्म निरीक्षण, आत्म चिन्तन, आत्म शिक्षण जिस प्रक्रिया में होते रहते हैं उसे स्वाध्याय कहते हैं। इसी कारण इन वृत्तियों को भी स्वाध्याय में माना है कि कोई पुरुष किसी समय बड़े भावों से यह भी कह देता है कि हे अरहंत प्रभु! अथवा प्रभु की जय, ऐसे थोड़े-थोड़े शब्द भी कोई कहता है और भावपूर्वक कह रहा है, जिसका सम्बन्ध अपने भावों के उत्कर्ष से बना हुआ है तो वह भी स्वाध्याय है। न भी कोई हाथ में पुस्तक लिए है लेकिन जब-जब जिन अन्य बाह्य वचनों द्वारा अपने आपके स्वरूप का स्वाध्याय हो रहा, अध्ययन हो रहा उसे भी स्वाध्याय गिना। तो स्वाध्याय का भी कोई दूसरा क्या पता कर सकेगा कि इसने स्वाध्याय किया अथवा नहीं। स्वाध्याय भी अन्तरङ्ग तप है।

निर्जरा का उपायभूत व्युत्सर्ग तप–५वां तप है व्युत्सर्ग। व्युत्सर्ग का अर्थ है समस्त बाह्य पर पदार्थों का त्याग हो जाना। इसमें देहोत्सर्ग की प्रधानता है, देह की ममता का भी त्याग हो जाना सो व्युत्सर्ग तप है। जहां देह में ममता का भी त्याग है वहां अन्य सब पदार्थों का त्याग है ही। कभी ऐसा लगेगा कि अनेक पुरुष ऐसे भी देखे जाते हैं कि जो किसी संग्राम आदिक में युद्ध करके अपने देह का भी बलिदान कर देते हैं, अपने प्राण भी खो देते हैं तो उनको देह में ममता नहीं है, ऐसा कोई संदेह कर सकता है, लेकिन वह भी देह की ममता के कारण ही अपने प्राण गंवाता है। जैसे कुछ दिन पहले एक रिवाज सा बन गया था कि परस्पर में ही लड़-भिड़कर कई लोग कुंए में गिरकर अपने प्राण त्याग देते थे तो क्या उनके सम्बन्ध में आप यह कह सकेंगे कि वे निर्मोह थे, उन्हें देह में ममता न थी। अरे देह की ममता से ही तो उन्होंने अपने प्राण त्यागे। किस तरह

कि वे जो गुस्सा से भरे हुए थे सो देह को आत्मा मानकर ही तो गुस्सा कर रहे थे। जैसे इसने मुझे यों कह दिया, ये लोग मुझे यों बोलते हैं, मेरा अपमान कर दिया आदि। ये सभी बातें देह की ममता के कारण ही तो उन्होंने सोची थीं सो उन्होंने अपने आपका अपमान समझा इस कारण उन्हें क्रोध में कुछ भी न सूझा और उन्होंने फिर जो उपाय सूझा सो किया। उस उपाय के करने के बाद जब कुएं में गिर ही गए तो अब कोई चारा नहीं है। बुरी तरह चोट आये तो तुरन्त भी मर सकते है। मरते समय उनकी अक्ल ठिकाने लगती है, ओह मैंने बड़ा गड़बड़ कार्य किया, यों वे बड़ा संक्लेश पाते हैं, तो उनकी देह की ममता अब उस रूप में व्यक्त हुई है। तो जो लोग कभी प्राणोत्सर्ग भी करते हैं वे देह की ममता से करते हैं। युद्ध में मरने वाले सुभट देह की ममता से ही तो नौकरी कर रहे हैं। युद्ध की नौकरी की, अब वहां युद्ध का काम करना ही होगा, करते ही हैं। जब ऐसी स्थिति सामने आती है कि दूसरा शत्रु आक्रमण कर रहा है तो इसमें चूंकि वीरता है, कला है, युद्ध करने का अभ्यास किया है तो ये भी लड़ते हैं और लड़ने-मारने में बच जाना या मर जाना दोनों ही बातें संभव हैं। तो वे सुभट जो प्राणोत्सर्ग करते हैं वे देह की ममता से ही तो करते हैं अथवा कोई पुरुष युद्ध में नौकरी भी करते किन्तु देश सेवा के भाव से स्वयं लड़ते हैं अथवा नौकरी करते हुए भी देश सेवा का भाव रह सकता है। वे देश सेवा के शुद्ध भाव से युद्ध कर रहे हैं तो उस समय भी उनको देह में ममता है, यह देह मैं हूं, यह मेरा देश है, इसकी मुझे रक्षा करनी है, यहां मेरे कुटुम्बीजन हैं, मेरे जाति के देशवासी लोग हैं, वे भली तरह सुरक्षा से रह सकें यह बात निभानी है, इस भाव से वे युद्ध करते हैं। तो मूल में उन्हें देह में आत्मत्व की बुद्धि तो है ही, यह मैं हूं और इस मेरे का यह देश उन्नतिशील रहना चाहिए, आजाद रहना चाहिए, इस भाव से भरकर वे प्राणोत्सर्ग करते हैं। तो देह की ममता का त्याग होना बड़ा कठिन है। देह ममत्व छूटने पर अन्य शेष ममता छूटना आसान हैं। तभी तो व्युत्सर्ग नाम के तप में देह के ममता के त्याग की बात प्रधान रूप से कही है। देह की ममता का त्याग होना व्युत्सर्ग तप है। यह बात कौन पहचान सकता है कि इसके देह में ममता है अथवा नहीं। भीतर के परिणाम में तो यही अनुभव रहा है इसलिए व्युत्सर्ग नाम का तप भी अन्तरङ्ग है।

निर्जरा का उपायभूत ध्यानतप—छठा अन्तरङ्ग तप है ध्यान। ध्यान कहते हैं चित्त के एक ओर रोक लेने को। इस लक्षण के हिसाब से आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान—ये चारों ही ध्यान हैं। चित्त को एक विषय में रोक लिया। केवल शुक्ल ध्यान में जो अन्तिम दो ध्यान हैं—सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती, व्युपरित क्रिया निवृत्ति, इन दो ध्यानों में चित्त के निरोध का लक्षण नहीं जाता, लेकिन ध्यान का फल है कर्मनिर्जरा होना, सो कर्मनिर्जरा के फल को निहारकर इस तृतीय शुक्ल ध्यानवर्ती पावन आत्मा की जो वृत्ति है उसको भी ध्यान कहा है और अयोग केवली की जो स्थिति है उसको भी ध्यान कहा है। तो ध्यान का मुख्य लक्षण है चितध्यन चित्त को एक ओर रोक देना। अब चित्त यदि खोटे विषय में रुका है तो वह खोटा ध्यान कहलायेगा। चित्त यदि किसी शुद्ध भाव में रुका है तो वह उत्तम ध्यान कहलायेगा। मोक्ष मार्ग के प्रकरण में शुद्ध तत्व की ओर चित्त के रुकने का नाम ध्यान है। कोई पुरुष ध्यान कर रहा है अर्थात् ध्यान के जो आसन हैं, ध्यान की जो स्थिति है उस स्थिति से ध्यान कर रहा है लेकिन दूसरे को क्या पता कि वह वास्तव में स्वतत्त्व की ओर अपने चित्त को रुकाये हुए है। इसी कारण यह ध्यान भी अंतरङ्ग तप कहलाता है।

कर्म निर्जरा निमित्त अनशन तप—कर्मों की निर्जरा होने में छः प्रकार के अन्तरङ्ग तप विशेष रूप से कारण होते हैं और ऐसे ही परिणामों की विशुद्धि में सहकारी हैं छः बहिरङ्ग तप। अनशन—भोजन का त्याग

करना सो अनशन है, इसका दूसरा नाम उपवास भी है। अनशन का अर्थ है भोजन के विकल्प का भी त्याग कर देना और उपवास का अर्थ है अपने आत्मा के समीप में ही बसे रहना तो इन दोनों नामों से यह स्पष्ट होता है कि उपवास तप तभी कहलाता है जब खाने का विकल्प भी न बने और आत्मा की ओर उपयोग बसा करे। किसी ने उपवास तो ठाना किन्तु कुछ कल्पनायें बना रहा अथवा ऐसी भी कल्पनायें बना रहा कि आज तो अनन्त चौदस है, आज उपवास है, होने तो दो पूने का भोर फिर तो हमारा भोजन का ही सब काम है, ऐसे विकल्प चौदस के दिन कोई करे तो उसके उपवास में दोष आ गया। तो भोजन के विकल्प का भी न होना जरूरी है, और कोई पुरुष भोजन के विकल्प को न करे, मगर समय गुजारने के लिए कुछ मन बहलाव के काम करे, कोई खेल खेलने ही बैठ जाये अथवा कुछ यहां-वहां तफरी करने चला जाये तो वह भी दोष है। उपवास तब ही बनेगा जब खान-पान, भोग-उपभोग आदिक सभी के विकल्पों का परिहार हो और अपने आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप में निवास भी बने अथवा निवास करने का संकल्प रहे है। अनेक साधुजन महीनों के उपवास करते हैं और महीनों तक भी भोजन के विकल्प से परे रहते हैं और काम फिर उनका क्या है? किस बल पर वे महीनों निकाल देते हैं? वह बल है अपने आत्मस्वरूप के दर्शन श्रद्धान् का। जिस का एक मार्ग निश्चित हो चुका कि मुझे तो इस पद्धति से चलना है और इस ही में मेरा हित है तो उस पुरुष की धुन लगन उस ओर ही रह जाती है। यही बात उस साधु परमेष्ठी में है।

अवमौदर्य तप—दूसरा बहिरङ्ग तप है अवमौदर्य, जिसका दूसरा नाम है ऊनोदर। भूख से कम खाना, जितनी भूख हो, जितने से पेट भरता हो उससे कम भोजन करना यह है अवमौदर्य तप। इस अवमौदर्य तप की कठिनाई कोई अपने अनुभव से परख सकता है कि जब सामने सब प्रकार का भोजन हाजिर है और भूख भी खूब अच्छी लगी हुई है वहां भूख से कम अथवा आधा भोजन आप करें तो कितना कठिन मालूम होता है? अनशन से ऊनोदर तप कम नहीं है कि सामने आयी हो चीज और फिर भोगते हुए की स्थिति में कुछ ही भोगना और बाकी छोड़ देना ऐसा विचार और पुरुषार्थ भी एक विशुद्धि के बल से बनता है। अवमौदर्य अर्थ है अवम औदर्य अर्थात् पूर्ण नहीं, भूख से कुछ कम भोजन करना, इसका नाम है अवमौदर्य। ऊनोदर का भी अर्थ है ऊन अदर। पेट से कम खाना अर्थात् जितनी भूख है उससे कम खाना सो ऊनोदर तप है। इस तपश्चरण में इच्छा का निरोध किया गया, अतएव यहां निर्जरा होती है। यह बहिरङ्ग तप इसलिए कहलाता है कि ऐसा काम तो अज्ञानी भी कर सकता है, अर्थात् भूख से कम खायें, अनशन करें यह अन्य जन भी कर सकते हैं और करते हुए में कोई यह पता नहीं पाड़ सकता है कि इसका भाव कैसा है? कोई किसी उद्देश्य से अनशन करे तो इसका कौन पता पाड़ सकता है? जैसे कि जब कभी कोई पुरुष मानो ससुराल में ही गया तो सास पहले से ही प्रशंसा करने लगे कि ये तो कुछ नहीं खाते, फूल-सा सूंघकर रह जाते। सास की ऐसी प्रशंसात्मक बातें सुनकर यदि वह बहुत कम खाता है तो क्या यह उसका तप हो गया? लोक में हमारा धर्मात्मापन प्रकट हो, इस भाव से या किसी भी भाव से कोई अनशन कर ले तो वह तप तो न हो जायेगा। तो ऊनोदर तप करते हुए में कोई बाहर से यह पहचान नहीं कर सकता कि इसका परिणाम भी विशुद्ध है अथवा नहीं? इस कारण यह बहिरङ्ग तप कहलाता है।

वृत्तिपरिसंख्यान तप—तीसरा बहिरङ्ग तप है वृत्तिपरिसंख्यान। भोजन के समय में कोई अटपट नियम ले लेना और उसकी पूर्ति होने पर ही आहार करना, अन्यथा नहीं, इस प्रकार का संकल्प और प्रवर्तनवृत्ति

निर्जरण हेतुभूत आज्ञाविचय धर्म ध्यान का निर्देशन—कर्म निर्जरा के कारण दो प्रकार के ध्यान हैं—धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान। धर्मध्यान के चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, और संस्थानविचय। आज्ञाविचय धर्मध्यान में ऐसा ध्यान रहता है कि प्रभु का जो उपदेश है, उन्होंने जो कर्त्तव्य बताया देव पूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, दान आदिक, और जो-जो भी विधियां शास्त्रों में बतायी गई हैं वे सब पूर्णतया सत्य हैं। यों प्रभु की आज्ञा को मुख्य मान करके जो धर्म में आचरण किया जाता है उसका नाम है आज्ञाविचय धर्मध्यान। यद्यपि केवल आज्ञा के ही कारण यह ज्ञानी ऐसी श्रद्धा नहीं रख रहा कि यह सत्य है किन्तु वस्तुस्वरूप भी समझ रहा है। वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय करके भी वह ज्ञानी प्रभु के उपदेश का ही महत्त्व देता है। तो यह हुआ आज्ञाविचय धर्मध्यान। मंदिर आना, दर्शन करना, पूजन करना, स्वाध्याय करना धर्म के कार्य में तन, मन, धन, वचन आदि लगाना इन सब वृत्तियों में आज्ञाविचय की प्रधानता है। इसी को कहते हैं आज्ञाविचय धर्मध्यान। देखिये—इन ध्यानों में मंद कषाय है, और साथ ही इसमें कुछ शुभ भाव भी हो, कुछ शुद्ध उद्देश्य की भी बात आयी, इस कारण कर्म निर्जरा होती है।

कर्म निर्जरण हेतुभूत अपायविचय धर्मध्यान—दूसरा धर्मध्यान है अपायविचय—संसार के हेतुभूत राग द्वेष मोहादिक भाव हैं। इनका कैसे विनाश हो, इनके नाश करने में ही भला है। कषायों से किसी को शान्ति प्राप्त नहीं होती। ये कषायें मेरी मिटें, इन विकार भावों के विनाश के सम्बन्ध में चिन्तन करना यह अपायविचय धर्मध्यान है। इसमें इस जीव को कुछ प्रकाश मिला। 'मैं ज्ञान स्वरूप हूं' अतः ज्ञाता दृष्टा रहना चाहिए, मैं केवल जानन देखनहार रहूं, मैं किसी रोग विरोध में न पड़ूं, मेरे भाव में विकार न जगे तो इससे मुझे राहत मिलेगी, शान्ति प्राप्त होगी, अतएव ये रागादिक विकार मेरे दूर हों, इसके लिए यत्न भी करना। जितने भी आवश्यक कर्त्तव्य बताये हैं धर्म के प्रसंग में वे सब विकार न होने देने के उद्देश्य से ही तो हैं। तो यह अपायविचय धर्मध्यान है। इसमें भी कर्म निर्जरा होती है।

निर्जरण हेतुक विपाकविचय धर्मध्यान—तीसरा है विपाकविचय धर्मध्यान। कर्मों के फल का चिन्तन करना सो विपाकविचय धर्मध्यान है। जो लोग कर्मविपाक पर श्रद्धा नहीं रखते ऐसे अनेक अज्ञानी जीव हैं, जिनकी ऐसी वृत्ति है कि क्या होगा आगे? कौन देखता है, इस समय तो खूब मौज से रहो जो चाहे खूब खाओ पियो, सब प्रकार के मौज लूट लो, उन मौजों में कमी क्यों आने दो, इस प्रकार की वृत्ति बन जाती है और ज्ञानी को यह श्रद्धा है कि जो कर्म बंधे हैं वे फल दिये बिना न खिरेंगे, उनके उदयकाल में दुःख भोगना पड़ेगा, फिर कोई सहाय न होगा। पापकर्म के उदय में जीव दुःखी होता है, नारकी बनता है, पशु, पक्षी आदि बनता है, बड़े-बड़े कष्ट भोगता है तो उसकी कौन सहाय कर पाता है? कर्म जो बंधे हैं वे फल दिए बिना न खिरेंगे, इस कारण वर्तमान में अपने परिणामों की सावधानी रखनी चाहिए। उससे खोटे कामों में प्रवृत्ति नहीं बन पाती है। तो विपाकविचय धर्मध्यान में भी यह जीव बहुत से कर्मों की निर्जरा कर लेता है। विपाकविचय के चिन्तन के लिए पुराणों में बहुत से कथानक आये हैं। उनमें यह निरख सकते हैं कि बड़े-बड़े महापुरुषों को भी पूर्वकृत कर्म के उदय में दुःख का सामना करना पड़ा उन्होंने कष्ट झेला, सुकुमाल मुनि की देह को स्यालिनी ने खाया, सुकौशल मुनि की देह को शेरनी ने खाया, श्रीराम को जंगल में रहना पड़ा। कितनी ही तरह के कष्ट झेलने पड़े। वे सब कष्ट कर्मोदय में हुआ करते हैं। यों कर्म विपाक का चिन्तन करने वाला पुरुष पापकर्मों से बचता है, और कर्मों की निर्जरा करता है। यद्यपि वस्तुतः पाप का उदय आना कल्याण से भ्रष्ट कर देने का नियत

कारण नहीं, किन्तु पाप परिणाम का होना तो खोटी बात है। पाप परिणाम का फल ही तो संसार परम्परा है ऐसा चिन्तन करना जिससे पाप कर्म से निवृत्ति हो तो विपाकविचय नामक धर्मध्यान है।

संस्थान विचय में लोक विस्तार चिन्तन से वैराग्य व परमौपक्षा भाव का प्रकाशन—संस्थान विचय नाम के धर्म ध्यान से कर्मों की विशेष निर्जरा होती है। संस्थान विचय का अर्थ है संस्थान के सम्बन्ध में विचार करना। संस्थान शब्द उपलक्षण है। लोक का आकार चिंतन करना, काल की लम्बाई विस्तृतता चिन्तन करना और जीव के संसरण के विस्तार का चिन्तन करना, आत्मा के गुण विस्तार का चिन्तन करना आदिक सभी तत्त्व चिन्तन इस संस्थान विचय धर्म ध्यान में आ जाते हैं। संस्थानविचय धर्मध्यान में जब लोक के आकार का चिन्तन चलता है, लोक कितने विस्तार वाला है, इसे ३४३ घनराजू प्रमाण कहा है। एक घनराजू एक राजू चौड़े, एक राजू लम्बे, एक राजू मोटे सब ओर से एक-एक राजू होने को एक घनराजू कहते हैं। उसमें से केवल एक तरफ के एक राजू का परिमाण भी बहुत बड़ा है। जितना मध्य लोक है चौड़ाई में विस्तार मात्र वह एक राजू है। एक राजू में असंख्याते द्वीप समुद्र समाये हुए हैं। और वे संख्याते द्वीप समुद्र ऐसे परिमाण के कि उन सबके मध्य में है एक जम्बूद्वीप, जो कि एक लाख योजन का चौड़ा है। एक लाख योजन मायने दो हजार कोस का तो एक योजन होता है, ऐसे-ऐसे एक लाख योजन प्रमाण का जम्बू द्वीप है। उससे दूना एक तरफ लवण समुद्र है। उससे दूना एक तरफ दूसरा द्वीप है। उससे दूना समुद्र, उससे दूना द्वीप। यह तो एक तरफ का विस्तार है, ऐसा ही विस्तार दूसरी ओर है। तो यों असंख्याते द्वीप समुद्र जितने विस्तार में समा जाते हैं उतना क्षेत्र अब भी एक राजू से कुछ कम रहता है। अब अंदाज कर लीजिए कि लोक का कितना बड़ा विस्तार है? जब इतना बड़ा लोक विस्तार जिन साधुओं के उपयोग में रहता है उनके यश आदिक के निदान कभी हो ही नहीं सकते। इस विस्तार वाले लोक के सामने यह परिचय वाला क्षेत्र कितना सा है? स्वयंभूरमण समुद्र के समक्ष एक जलबिन्दु बराबर भी नहीं है। इतने से क्षेत्र में क्या यश चाहना, क्या चाहना। यह सब निरीहता साधुजनों में इस संस्थान विचय चिन्तन में स्वयमेव होती है।

संस्थान विचय धर्मध्यान में काल विस्तार चिन्तन से वैराग्य व परमोपेक्षा भाव का विकास—क्षेत्र विस्तार के चिन्तन की तरह जब काल का विचार किया जाता है कि काल कितना बड़ा है? अब से पहले कितना समय गुजर गया, उस समय की कोई आदि नहीं है—क्योंकि यदि समय की कुछ आदि मान ली जाये तो यह प्रश्न सामने आता है कि क्या उस समय से पहले कुछ समय ही न था? समय तो अनादिकाल से है और समय अनन्तकाल तक रहेगा। हम आप भी अनादि से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। जीव कभी मूलतः नष्ट नहीं होता। लोग व्यर्थ ही भय बनाते हैं कि हाय मैं मरा, हाय मैं मिटा, पर कहां मरा, कहां मिटा? यहां जो भी पदार्थ हैं वे सदा रहा करते हैं। जीव तो मोहवश जिन पदार्थों में मोह पड़ा हुआ है उन पदार्थों के छूटने पर बड़ी तकलीफ मानते हैं और अपने आपको नष्ट हुआ समझते हैं। लेकिन कोई पदार्थ नष्ट हो ही नहीं सकता। तो संस्थान विचय धर्मध्यान साधु चिन्तन करता है कि इस अनादि अनन्त काल के समक्ष यह १००-५० वर्ष का जीवन कुछ भी तो गिनती नहीं रखता। इस इतने से काल के पीछे इस इज्जत पोजीशन आदि की चाह करना, यह तो अपने आत्म देव पर महान् अन्याय करना है।

ज्ञानी के शान्ति रससंवर्द्धन में संस्थान विचय धर्म ध्यान का सहयोग—ज्ञानी जीव को क्यों शान्ति रहती है? उसने समझा है कि मैं मैं हूं जो किसी के द्वारा जाना नहीं जाता। यहां पर जो लोग समझते हैं कि वे

किसी अन्य की मूर्ति देखकर ही कुछ कहते हैं, मुझ अमूर्त ज्ञान मात्र को देखकर तो नहीं कहते। यहां का यह कुछ दिनों का बड़प्पन तो न कुछ की तरह है। अरे अपना बड़प्पन भीतर देखो स्वयं ज्ञानानन्द स्वभाव वाला है। उसका महत्त्व तो ऐसा है कि तीन लोक के समस्त पदार्थों को एक साथ जान ले। इससे भी मैं अपना कुछ महत्त्व नहीं समझता। वह तो एक चेतन पदार्थ का स्वभाव है, लेकिन अपने आपमें इस शुद्ध ज्ञानमात्र की वर्तना के प्रसाद से जो महत्त्व बनता है उसे तो देखो—कितना निराकुल निस्तरंग शान्त मेरा स्वरूप है? उसका तो घात हो जाये और थोड़ा काल्पनिक लौकिक यश मिले जिसमें कुछ दम नहीं है, कोई महत्त्व नही है, ऐसे यश की चाह करना यह अपने आत्मदेव पर अन्याय करना नहीं है क्या? ज्ञानी पुरुष को अपना शरण सहज कारण परमात्मत्त्व अपनी दृष्टि में रहता है, इसी कारण अपने आपमें शान्ति वर्तती रहती है। इन बाह्य पदार्थों से, जो विनाशीक हैं, कुछ चाहना, ये मेरे रहे आयें, ये मेरे अनुकूल चलें ऐसी कुछ भी चाह करना यह अपने आप पर महान् अन्याय है। इस बात को ज्ञानी पुरुष ही समझ सकते हैं। अज्ञानी जन इस रहस्य को नहीं जान सकते। तो संस्थान विचय धर्मध्यान में यह ज्ञानी चिन्तन करता है कि इस अनादि अनन्त काल के समक्ष यह थोड़ा-सा समय कुछ भी तो गिनती नहीं रखता। इस न कुछ समय में कुछ भी पर वस्तु विषयक चाह करना बेकार है। इस भव का यह क्लेश कितना सा है, जो कि एक स्वप्नवत् है। उसको भी यदि समता से सह लें, अपने आपके आत्मा के स्वरूप का विशुद्ध ज्ञान बना लें तो क्या चीज है यह? हमने भविष्य का कितना बढ़िया मार्ग बना लिया। यहां क्या है? कुत्ता भी मरकर देव बन जाता, देव भी मरकर एकेन्द्रिय हो जाता। तो यहां के न कुछ जैसे जरा से बड़प्पन का क्या विश्वास है? यहां गर्व करने लायक कुछ भी बात नहीं है। बड़प्पन तो मूल में होना चाहिए कि आत्मा के महत्त्व का प्रभाव मुझे अनन्त काल तक प्राप्त हो। तो यहां ज्ञानी पुरुष इस अनादि अनन्त काल को निरखकर सहज ही विरक्त है इस जीवन से। इस थोड़े से काल में क्या चाहेगा? यों संस्थान विचय धर्मध्यान में परम वैराग्य समाया रहता है। इसी कारण कर्मों की विशेष निर्जरा होती है।

संस्थान विचय धर्मध्यान में जीव दशा विस्तार चिन्तन से वैराग्य व परमोपेक्षा भाव का विकास—संस्थानविचय धर्मध्यान में जीवों का नाना आकार परखा जा रहा है। कितनी तरह की जीव जातियां हैं, गुणस्थान और मार्गणाओं के परिज्ञान से स्पष्ट समझ में आता है। जब जीवों के लाखों-करोड़ों प्रकार के जाति के देह विदित हो जाते हैं तब यह जीव सहज ही विरक्त रहता है। देखो—एक आत्मा के विशुद्ध चैतन्य स्वरूप के भान बिना जीव ऐसी-ऐसी अटपट देहों में जन्म लेता है। बेकार है यह देह धारण करना। मुझे इन देहों से विरक्त रहना है। संस्थानविचय धर्मध्यान मुनियों के विशेषतया माना गया है। इसके मुख्य अधिकारी मुनिजन हैं, उनको सदा इस लोक, काल, जीवदशा आदि के विस्तार के ज्ञान की भावना रहती है। जिसको यह ज्ञान है कि लोक इतना बड़ा है, उस लोक के सामने यह कुछ हजार मील की पृथ्वी क्या गिनती रखती है, यहां का यह प्राप्त वैभव भी क्या गिनती रखता है? इसमें मोह करने से, इसमें आसक्ति करने से इस आत्म देव का दर्शन नहीं हो पाता और फिर यह संसार जो कि इतने महाविस्तार वाला है और सब प्रदेशों में इसे जन्म लेना पड़ता है। तो संस्थानविचय धर्मध्यान में मुनि महाराज के लोक विस्तार और काल विस्तार का स्पष्ट ज्ञान रहता है व इसी कारण उनके सहज वैराग्य है। यहां बताया जा रहा है कि साधुजनों के क्यों सहज शान्ति और वैराग्य रहता है? उसका कारण यह है कि उनको स्पष्ट भान है कि यह जरा-सी दुनिया यह लोक विस्तार के सामने न कुछ है। इसमें क्या चाहना? यह जरा-सा जीवन अनादि अनन्त काल के सामने न कुछ है, इतने में

क्या चाहना? ये थोड़े से जीव जो सामने नजर आते हैं अनन्त जीवों के समक्ष जो कि भिन्न-भिन्न रूपों में रहते ये कितने हैं, इनमें क्या चाहना? ये सब मेरे स्वरूप से भिन्न हैं, इनका स्वरूप इनमें है, मेरा स्वरूप मेरे में है, यह बात मुनियों को स्पष्ट ज्ञान में बनी रहती है, इस कारण सहज वैराग्य है।

अज्ञानी जनों की परचिन्ता व वेदना—देखिये यथावत्स्वरूप चिन्तन से ज्ञानी के सहज वैराग्य है, लेकिन यहां अज्ञानी जनों को ऐसा लगता है कि जो मेरी जिन्दगी है यह ही मेरे लिए पूरी सारभूत बात है। यही तो मेरा सबकुछ है। यहां की जितनी-सी जमीन पर, जितने से वैभव पर अधिकार पाया है, (अधिकार तो वहां भी नहीं है) पर इस मोहमय संसार में मोहियों ने मोह में यह व्यवस्था बना ली है। नगरपालिका, जिलामण्डल, प्रान्त आदिक बनाकर रजिस्ट्रेशन की एक व्यवस्था कर ली है कि यह मेरा है, यह इसका है, है किसी का कुछ नहीं। तो अज्ञानीजन इन बाह्य पदार्थों में आत्मबुद्धि करके 'यह मेरा है' इस प्रकार का निर्णय बनाकर दुःखी होते हैं। मेरा तो कुछ है नहीं, ये तो अपने आप मिटेंगे, रहेंगे, जायेंगे, आयेंगे। इन बाह्य पदार्थों पर मुझ ज्ञान मात्र आत्म तत्त्व का अधिकार कुछ नहीं है, पर माना जा रहा है अधिकार तो उनके वियोग में, उनके प्रतिकूल चलने में हम दुःख माना करते हैं, क्योंकि संस्थानविचय धर्मध्यान का हम आश्रय नहीं लेते।

संस्थानविचय धर्मध्यान में पिण्डस्थ चिन्तन में पार्थिवी व आग्नेयी धारणा का भाव—संस्थानविचय धर्मध्यान में चार प्रकार से चिन्तन है पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीत। पिण्डस्थ ध्यान में चार प्रकार की धारणायें बतायी हैं, पृथ्वी धारणा, आग्नेय धारणा, मारुति धारणा और जल धारणा। यह ज्ञानी जीव इन धारणाओं में किस तरह अपने मन को मौंजता है, सो सुनो। पृथ्वी धारणा में यह चिन्तन इस ज्ञानी ने बनाया जो कि पद्मासन से स्थिर होकर शरीर को बिल्कुल सीधा रखकर अपने आपकी ओर दृष्टि लगाकर ध्यान कर रहा है,उसने यह चिन्तन किया है, यह सुहित साधक कल्पना की है कि यह मैं आकाश में बहुत ऊपर एक कमल के ऊपर विराजमान हूं। देखिये जिस काल में आप अपनी ओर ऐसी बात ले जायेंगे उस काल में आपके ये भार, चिंतायें, विकल्प सब दूर हो जायेंगे। मैं आकाश में बहुत ऊंचे एक कमल के ऊपर विराजमान हूं। कितने ऊंचे? मेरू पर्वत बराबर। और नीचे बहुत बड़ा अपार समुद्र है। उस समुद्र के बीच एक बड़ी मेरूदण्ड बराबर ऊंची नाल पर कमल, कर्णिका पर ऊंचे बैठा हूँ। उस समय उपयोग में अन्य किसी पौद्गलिक चीज का परिचय न रहे। उस समय यह ध्यान रहे कि यह मैं शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा हूँ। अब इस पिण्ड (शरीर) में दो कमलों का विचार किया जा रहा है। एक अपने शरीर भीतर नाभिकमल जो कि ऊपर को पांखुरी करके फूला हुआ है और एक उसके ऊपर औंधा कमल जो नीचे, पांखुरी करके लटका हुआ है, ऐसे दो कमल। नीचे का कमल जो ऊपर को पांखुरी किए हुए है वह गुणों का समूह है। उसके जैसे अनेक पत्ते हैं ऐसे अनेक इसमें गुण हैं। और इस कमल के ऊपर जो ८ पांखुरी वाला कमल औंधा है वह अष्टकर्मों का कमल है। इसने समस्त गुण ढक रखे हैं और ये मेरे गुण अब प्रकट नहीं हो पाते हैं। चिन्तन कर रहे हैं अर्हं मन्त्र का। अर्हं मंत्र में रेफ का ऐसा चिन्तन चला, रेफ ज्वाला के आकार का होता है ना। मानो वहां से एक ध्यान अग्नि बहुत जोर से चली कि प्रज्वलित हो करके उस ध्यान अग्नि ने इस औंधे कमल को भस्म करना शुरू किया और यह आग इतनी बढ़ी कि उसने समस्त कर्मों को भस्म किया, और इस देह को भी भस्म किया। लो अब मैं केवल वही गुणों का पिण्ड रह गया।

संस्थानविचय धर्म्यध्यान के पिण्डस्थ चिन्तन में आग्नेयी, मारुति व वारुणी धारणा का

भाव–देखिये–उपयोग अपने आत्मा के अन्तः स्वरूप पर पहुंच रहा है, वहां चिन्तन चल रहा है कि ये सब कर्म भस्म हो गए। यह देह भी अवगुणों का पिण्ड है। यह देह महाकष्ट का हेतु है, यह तक भस्म हो गया। इसके बाद बड़े जोर से एक ध्यान वायु चली। ऐसी हवा चली कि जो कुछ मल था, (भस्म थी) वह सब उड़ गया। लो अब, मैं मल (भस्म) के भार से भी दूर हो गया, इसके बाद बहुत ही तीव्र अमृतवर्षा हुई। उस जलवर्षा से रहा-सहा चिपका हुआ भस्म (मल) धुल गया। और, यह मैं शुद्ध चैतन्य मात्र हूं, इस चिन्तन में इस ज्ञानी ने यह निरखा कि मेरा जो सहज स्वरूप चैतन्य मात्र तत्त्व है उस चैतन्य को गंदला करने वाले जो भी मल हैं उन सब मलों का सफाया हो गया है और यह मैं एक शुद्ध चिन्मात्र हूं। लो यही स्वरूप प्रभु का है। अब प्रभुता का चिन्तन चल रहा है। अनन्त चतुष्टय विराजमान यह परमात्मतत्त्व इसका चिन्तन करते-करते एक शुद्ध चिन्मात्र अविकार निर्विकल्प ज्ञान में रहता है। इस तरह यह ज्ञानी इन धारणाओं के सहारे अपने आपमें यों उत्कृष्ट चिन्तन करता चला जाता है। यह बात इस संस्थानविचय धर्मध्यान में है। संस्थानविचय के भले उपयोग से कर्मों की किस प्रकार निर्जरा होती है, सो आप अंदाज कर लो कि जिसमें एक शुद्ध चैतन्य मात्र पर इस तरह उपयोग पहुंचता है तो वहां कर्म कैसे ठहर सकते हैं?

संस्थानविचय धर्मध्यान में पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीत ध्यानों का प्रभाव–संस्थानविचय धर्मध्यान में पदों के सहारे भी ध्यान चलता है। ॐ, णमोकार मंत्र, ॐ नमः सिद्धेभ्यः आदिक जो अनेक मंत्र हैं पंच परमेष्ठी के नाम अथवा अरहंत सिद्ध किसी भी प्रकार से उन नामों के सहारे जो परमेष्ठी परमात्मा प्रभु के स्वरूप पर ध्यान जाता है वह पदस्थ ध्यान है। पहले बताया गया था पिण्डस्थ, यह हुआ पदस्थ। इसमें दृष्टि गई स्वरूप पर। उस विशुद्ध चैतन्य स्वरूप की उपासना से इसका कर्म मल दूर हो जाता है। तीसरा है रूपस्थ। अरहंत प्रभु का जैसा स्वरूप है–समवशरण में विराजमान, इस पृथ्वी से ५ हजार धनुष ऊपर विराजमान समवशरण की अद्भुत रचना के बीच शोभायमान जहां गंधकुटी पर सिंहासन, सिंहासन पर कमल और कमल के ऊपर अंतरिक्ष विराजमान हैं। यह सकल परमात्मा, जिसका चारों ओर से मुख दिखता है, जिसकी सेवा में जिनके चरणों में बड़े-बड़े देव देवियां नृत्यगान करते हुए आ रहे हैं, यह है वीतरागसर्वज्ञ देव का ध्यान। यह है रूपस्थ ध्यान और संस्थानविचय की अन्तिम पद्धति है रूपातीत ध्यान की। जिस आत्मा को हम किसी मुद्रा में नहीं बांध सकते। लो अभी रूपस्थध्यान में अरहंत स्वरूप का एक शान्त दिव्य मूर्ति की मुद्रा में बांधा था, उसको आकार में लिया था लेकिन रूपातीत में तो जैसे कि सिद्ध प्रभु होते हैं, केवल आत्मा ही आत्मा, वहां द्रव्यकर्म, भावकर्म, नौकर्म, कुछ भी झंझट शेष नहीं रहता है। केवल चिन्मात्र उस चैतन्य स्वरूप का जो ध्यान है वह है रूपातीत ध्यान। इस प्रकार इस संस्थान विचय धर्मध्यान के प्रसाद से भव-भव के संचित कर्मों की विशेषतया निर्जरा होती है।

मिच्छादो सद्दिट्ठी असंख गुण-कम्म-णिज्जरा होदि।
तत्तो अणुवय-धारी तत्तो य महव्वई णाणी।।१०६।।
पढम कसाय-चउण्हं विजोजओ तह य खवय-सीलो य।
दंसण-मोह-तियस्स य तत्तो उवसमग चत्तारि।।१०७।।
खवगो य खीण मोहो सजोइ णाहो तहा अजोईया।
एदे उवरिं उवरिं असंख-गुण-कम्म-णिज्जरया।।१०८।।

गुणश्रणिनिर्जरा के स्थानों का वर्णन–इन तीन गाथाओं में यह बता रहे हैं कि ११ स्थान ऐसे हैं संक्षेप रूप से कि जिनमें एक से दूसरे में असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा होती है, जैसे मोटे रूप में यह समझ लीजिए कि जो अविरत सम्यग्दृष्टि जीव हैं, जिसे चौथा गुणस्थान कहा है कि सम्यक्त्व तो है पर व्रत नहीं है तो उस जीव की जितनी कर्म निर्जरा होगी उससे अधिक अणुव्रती देशविरत पंचम गुणस्थान वाले जीव के होगी। जितनी कर्म निर्जरा चौथे गुणस्थान में होती हो उससे अधिक ५वें गुणस्थान में, उससे अधिक छठे गुणस्थान में ऐसा जंचता है ना। तो इन तीन गाथाओं में यह बतला रहे हैं कि किस जीव से किस जीव की कर्म निर्जरा अधिक होती है? गुण श्रेणी निर्जरा उसे कहते हैं कि जैसे कोई जीव पहले समय में जितने कर्म निषेक निर्जरा कर रहा है दूसरे समय में उससे असंख्यातगुना कर्मनिषेक निर्जरा कर रहा है। जितने कर्म निषेक वहां खिर रहे हैं उससे असंख्यातगुने कर्मनिषेक तीसरे स्थान में खिर रहे हैं, यों उत्तरोत्तर असंख्यात असंख्यात गुने कर्मनिषेकों की निर्जरा का नाम है गुणश्रेणी निर्जरा।

गुणश्रेणिक निर्जरा का प्रथम स्थान गुणश्रेणि निर्जरा द्रव्य बताने का अपेक्ष्य स्थान–सबसे पहले किस जीव को ग्रहण किया कि जिससे असंख्यातगुनी श्रेणी निर्जरा होती है। जो जीव सम्यग्दर्शन करने के सम्मुख है, जिसको थोड़े ही समय में सम्यग्दर्शन होने वाला है ऐसे जीव के निर्जरा प्रारम्भ है। यद्यपि अभी यह मिथ्यादृष्टि जीव है जिसको सम्यक्त्व होगा, लेकिन अन्तिम मिथ्यादृष्टि है। जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो जायेगा और सम्यक्त्व अब तुरन्त ही होने वाला है, ऐसा मिथ्या दृष्टि है। उसे कहते हैं सातिशय मिथ्यादृष्टि। तो जब यह जीव अनादि काल से मिथ्यात्व में बसा आ रहा है और इस जीव पर कर्मों का भार लदा है, अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के पांच कर्म प्रकृतियां तो सत्त्व में नहीं हैं, बाकी १४३ प्रकृतियां सत्ता में हैं। कर्मों की सारी प्रकृतियां १४८ हैं, जैसे ज्ञानावरण की ५ दर्शनावरण की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयु की ४, नामकर्म की ९३, गोत्र की २, अन्तराय की ५, ये सब मिलकर १४८ प्रकृतियां हैं। इनमें से ५ प्रकृतियों का सत्व अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के नहीं है। कौन सी हैं वे ५ प्रकृतियां? एक तो तीर्थंकर प्रकृति। तीर्थंकर प्रकृति का बंध सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है। अनादि मिथ्यादृष्टि के तीर्थंकर प्रकृति कहां से आयी? दूसरे आहारक शरीर, आहारक अंगोपाङ्ग जिसके उदय में छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के मस्तक में आहारक शरीर पुतला बनता है। जो तत्व समाधान के लिए निकलता है और तीर्थंकर के दर्शन करके चाहे वह विदेह क्षेत्र में तीर्थंकर हो, चाहे किसी स्थान पर हो, वहां तीर्थंकर प्रभु के दर्शन करके वापिस मस्तिष्क में आ जाता है। वह आहारक शरीर आहारकशरीर, नामकर्म और आहारक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से बनता है। तो ये दो प्रकृतियां अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के नहीं हैं। अब सुनिये सम्यक्त्व को नष्ट करने वाली सात प्रकृतियां होती हैं। हम आप संसारी जीवों में कर्म प्रकृतियों का बोझ लदा है, इनमें जो मिथ्यादृष्टि जीव हैं उनके सम्यक्त्व को घातने वाली सात प्रकृतियां भी हैं। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, ४ तो ये हैं, ५वीं है मिथ्यात्व नाम की प्रकृति, छठी है, सम्यक्मिथ्यात्व नाम की प्रकृति और ७वीं है सम्यक्, जिसके उदय में सम्यक्त्व का नाश तो नहीं होता, किन्तु सम्यग्दर्शन में चल मलिन अगाढ़ दोष उत्पन्न होता है। यों सात प्रकृतियां सम्यक्त्व को घातने वाली कही है। इनमें से अनादि मिथ्या दृष्टि के जीव के सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति और सम्यक् प्रकृति की सत्ता नहीं है, क्योंकि इन दो प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। किन्तु जब इस मिथ्यादृष्टि जीव के उपशम सम्यक्त्व हो जायेगा तो सम्यक्त्व होने के ही साथ, उपशम सम्यक्त्व होते ही दबी हुई जो मिथ्यात्व प्रकृति है उसके दबे ही दबे उस सम्यक्त्व की चक्की के चलने से तीन टुकड़े हो जाते हैं। एक तो मिथ्यात्व पूरा का पूरा रहता है और

कुछ भाग सम्यक् मिथ्यात्व बनता है, कुछ सम्यक् प्रकृति बन जाता है जैसे कोई दरेती में चनों को पीसे तो सम्भव है कि कोई चने साबित भी निकल आते हैं, कुछ चने दो दाल बनकर निकलते हैं और कुछ चने चूरा भी बनकर निकलते हैं। तो जैसे चक्की के दलने से उन चनों के तीन भाग हो जाते हैं इसी प्रकार इस सम्यक्त्व परिणाम के होने से मिथ्यात्व के तीन भाग हो जाते हैं। तो उन दो प्रकृतियों की सत्ता सम्यक्त्व के तीन भाग हो जाते हैं। तो उन दो प्रकृतियों की सत्ता सम्यक्त्व होने पर होती है। तो अब अनादि मिथ्यादृष्टि जीव, जिसके १४३ प्रकृतियों तक का सत्व संभव है, उनमें ५ प्रकृतियां सम्यक्त्व घातक हैं। उनका जब उपशम करने के सम्मुख होता है तो उसके तीन परिणाम होते हैं—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इन परिणामों के बल से जो उसकी विशुद्धि बढ़ी उस मिथ्यादृष्टि जीव के परिणामों में निर्मलता जगी, उस निर्मलता के कारण आयुकर्म को छोड़कर बाकी के ७ कर्मों में जो गुण श्रेणी निर्जरा द्रव्य पड़े हुए हैं अर्थात् जितनी गुण श्रेणी निर्जरा होती है उससे असंख्यातगुनी गुण श्रेणी निर्जरा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में होती है।

गुणस्थान और गुणश्रेणि निर्जरा का आधार—गुणस्थान १४ बताये गए हैं, उनमें मिथ्यात्व गुणस्थान में कर्मों की निर्जरा नहीं होती। अर्थात् मोक्ष मार्ग में लग सके इस तरह की निर्जरा नहीं है। केवल उस मिथ्यादृष्टि के निर्जरा है जो मिथ्यादृष्टि तुरन्त ही सम्यग्दृष्टि होने वाला है उसे कहते है अन्तिम मिथ्यादृष्टि। तो वहां भी अनुमान करो कि जिस जीव को सम्यग्दर्शन होने वाला है तो सम्यग्दर्शन होने से पहले है तो वह है मिथ्यादृष्टि, लेकिन कितना निर्मल होगा। निर्मल हुए बिना सम्यग्दर्शन तो न हो सकेगा। तो उसे कहते हैं सातिशय मिथ्यादृष्टि। सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव के जितनी गुण श्रेणी निर्जरा चलती है उस समय में उससे असंख्यातगुनी गुण श्रेणी निर्जरा चौथे गुणस्थान वाले सम्यग्दृष्टि के होती है। कर्म निर्जरा होना मोक्ष मार्ग में बहुत आवश्यक है। मोक्ष के कारण संवर और निर्जरा तत्व हैं। मोक्ष मार्ग के प्रयोजनभूत (अर्थात् जिनके जाने बिना, हेय, उपादेय किये बिना मोक्ष का मार्ग नहीं बनता) ७ तत्त्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष। इनमें जीव और अजीव तो सामान्य हैं। इनके सम्बन्ध से आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष—ये ५ बातें बतायी गयी हैं। कैसे कि जब जीव में अजीव आता है उसका नाम आस्रव। अजीव मायने कर्म। और, जब जीव में अजीव बंध जाता है तो उसका नाम है बंध। जब जीव में अजीव नहीं आते, कर्मों का आना रुक जाता है तो है संवर। तो जब जीव में नये कर्म तो आयें नहीं और पहले बंधे हुए कर्म खिर जायें तब ही तो मोक्ष होगा। तो उस ही नियोग की बात चल रही है।

अविरतसम्यक्त्व से देशसंयम, सकलसंयम व अनन्तानुबंधी विसंयोजन में उत्तरोत्तर असंख्यातगुनी निर्जरा—अब चौथा गुणस्थान, जिसका नाम है अविरत सम्यक्त्व, व्रत नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन है, वहां जितने कर्म झड़ते हैं उससे असंख्यातगुने कर्मों का झड़ना पंचम गुणस्थान में होता है। जब पंचम गुणस्थान उत्पन्न होता है उस समय भी भी अधःकरण और अपूर्व करण ये दो परिणाम होते हैं। तो वहां भी गुण श्रेणी निर्जरा है। अब जितनी गुण श्रेणी निर्जरा (यानि कर्मों का झड़ना) पंचम गुणस्थान के उत्पन्न होते समय हुई, उससे असंख्यातगुनी निर्जरा सकल संयमी मुनि के होती है। इतना तो एक मोटे रूप से ही जाना जा सकता है कि एक श्रावक जितनी कर्म निर्जरा करता है उससे मुनि के कर्म निर्जरा तो अधिक होगी ना। तो उसके अधिकपने का तारतम्य बताया जा रहा है जब सकल संयम प्रकट होता है तो देशसंयम से असंख्याते गुनी कर्म निर्जरा कहने से यह अभिप्राय लेना कि उस प्रकृति में बहुत से निषेकों का क्षय हो जाता है। वह प्रकृति बंध आदिक

बंधों से रहित हो जाता है। अब जितनी गुणश्रेणी निर्जरा सकलसंयमी मुनि के हुई है उससे असंख्यातगुनी गुणश्रेणी निर्जरा अनन्तानुबंधी कषाय का विसंयोजन करने वाले जीव के होती है। अनन्तानुबंधी के विसंयोजन का अर्थ है कि अनन्तानुबंधी कषाय कर्म बदल करके अप्रत्याख्यात्यावरण रूप हो जाये, ऐसा विसंयोजन करने वाले जीव के उससे असंख्यातगुनी द्रव्य निर्जरा है।

कषायों और विडम्बनाओ की सकारणता—जितने भी जीव के कषाय उत्पन्न होते हैं वे सब कषाय बिना कारण के तो नहीं हुए। वे तो जगते ही हैं। जीव में क्रोध भाव जगा तो किसी कर्म के उदय से ही तो हुआ। देखिये—कषायें जगने में तीन बातों पर ध्यान दीजिये—जिसमें कषाय जगी वह तो है उपादान। और जिस कर्म के उदय से कषाय जगी वह है निमित्त और जिस चीज में दिल लगा करके कषाय जगी, जिसका उपयोग बसा करके जगी वह है आश्रय। तो जो आश्रय की चीज है उसमें पक्का नियम नहीं है कि आश्रय मिले तो कषाय जगे ही जगे। जैसे स्त्री पुत्रादिक जीव एक राग जगने के आश्रय हैं। स्त्री पुत्र हुए सामने तो रागभाव जगता ही है ना। तो वे रागद्वेष के आश्रय हुए, लेकिन यह नियम तो नहीं है कि स्त्री, पुत्र आदिक सबको राग जगायें ही जगायें। जब परिग्रह त्याग करके साधु हो जाता है तो उसकी गृहस्थावस्था की स्त्री आहार भी दे रही हो, मना तो नहीं है, कोई भी आहार दे सकता है, लेकिन उस पुरुष के (मुनि के) चित्त में रंच मात्र राग नहीं जगता। तो स्त्री राग जगा ही दे, ऐसा नियम नहीं है क्योंकि वह आश्रयभूत है। फिर आप यह पूछेंगे कि गृहस्थ को तो स्त्री के कारण राग बन गया और मुनि को स्त्री के कारण राग नहीं जगा, क्या कारण है? तो इसका कारण है भीतरी। गृहस्थ के तो उस प्रकार के कर्म पड़े हुए हैं, उदय आ रहे हैं और मुनि के उस जाति के कषाय प्रकृति का उदय नहीं है। तो जो भी कषाय जगती है, जो भी इसकी विडम्बना बनती है, भव-भव में जन्म लेना, पशु-पक्षी, कीट-पतंगा आदिक बनने की जो बात बन रही है वह एक सी तो नहीं है न्यारी-न्यारी है। तो जो बात न्यारी-न्यारी है, एक-सी नहीं है वह बिना कारण के नहीं हो सकती। बिना कारण के जो भी बात हो सकती है वह एक-सी रहेगी। जैसे भगवान का शुद्ध ज्ञान, शुद्ध आनन्द, ये सब अकारण बने हुए हैं। अपने आत्मा का ही ज्ञान और आनन्द उमड़ रहा है, किसी इन्द्रिय मन की सहायता से नहीं, किसी चीज का उपयोग करने से नहीं, किन्तु अपने स्वभाव से ज्ञान और आनन्द प्रभु के उमड़ रहा है इसलिए प्रभु का ज्ञान और आनन्द एक सरीखा है और यहां हम आप लोगों के ये ज्ञान, आनन्द, सुख दुःख आदिक के परिणमन एक सरीखे हो रहे हैं क्या? एक से तो ये परिणमन नहीं हो रहे हैं। यहां जो हम आपकी अनेक विडम्बनायें बन रही हैं उनका कारण है कर्मों का उदय। जिसको ये विडम्बनायें न चाहिये वह कषाय न करे।

मनुष्य भव पाकर कर्त्तव्य का स्मरण—आज मनुष्य हुए हैं। मनुष्य होकर अब मैं मनुष्य या देव इनसे और हल्के भव में न जाऊं और शीघ्र ही इन भवों से भी मुक्त हो जाऊं। यदि ऐसी इच्छा है तो यह ध्यान देना होगा कि हमारे ऐसे कर्म न बंधें कि जिनके उदय में हमें इस पर्याय से भी नीची पर्यायों में जन्म लेना पड़े। बड़प्पन इसी में है, अगर आज यह मानवपर्याय पाया है, श्रावक कुल में जन्मे हैं, जैन शासन मिला है तो इसका सदुपयोग यही है कि अपने आपमें ऐसा ज्ञान प्रकाश बनायें कि जिस ज्ञान प्रकाश में हमारी उन्नति ही उन्नति हो, और यहां कुछ मौज चाह लिया, यहां के कुछ आराम के साधन बढ़ा लिया, यहां परपदार्थों में लोभ तृष्णा अशान्ति कर करके अपने आपका जीवन यों ही गुजार दिया तो इसमें कोई भलाई नहीं है। इस जीव का कोई भी दूसरा साथी नहीं है। केवल अपने परिणाम विशुद्ध हों तो इस जीव का भला हो सकता है। अपना भला करने का अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं है। तो ऐसे-ऐसे कर्मों की निर्जरा होती है और असंख्याते गुने निर्जरा

होती है उसके ये स्थान बताये जा रहे हैं।

अनन्तानुबंधी विसंयोजक से दर्शनमोहक्षपक, उपशमकत्रय में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा–जितनी गुणश्रेणी निर्जरा अनन्तानुबंधी कषाय का विसंयोजन करने वाले आत्मा के हुआ है उससे असंख्याते गुनी गुणश्रेणी द्रव्य निर्जरा दर्शन मोह का क्षय करने वाले के है। सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियां बतायी गयी थीं ना। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति। तो जब इनका क्षय होने को होता है तब मिथ्यात्व व मिश्र (सम्यक् मिथ्यात्त्व) प्रकृति का संक्रमण विधि से क्षय हो जाता है फिर सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय होता है जिससे क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होता है तो दर्शन मोह की तीन प्रकृतियों का क्षय करने वाले जीव के बड़ा ही निर्मल परिणाम होता है। ऐसा सम्यक्त्व जिनके प्रकट हो रहा है कि जो सम्यक्त्व अब अनन्त काल तक न मिटेगा तो समझिये कि ऐसा पुरुषार्थ करने वाले आत्मा के कितने महान् विशुद्ध परिणाम होते हैं। अब जितनी गुणश्रेणी द्रव्य निर्जरा दर्शन मोह का क्षय करने वाले याने क्षायिक सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले आत्मा के होती है उससे असंख्यातगुनी गुण श्रेणी निर्जरा उपशम श्रेणी के ८वें, ९वें, १०वें गुणस्थान में होती है। ७वें गुणस्थान के ऊपर दो श्रेणी बतायी गई हैं। उपशम श्रेणी में ८वां, ९वां, १०वां, ११वां गुणस्थान है, उनमें से ८वां, ९वां, १०वां इन तीन गुणस्थानों में असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा होती है।

उपशमकत्रय से उपशान्त कषाय गुणस्थान में असंख्यात गुणी निर्जरा–जितनी निर्जरा उपशम श्रेणी के तीन गुणस्थानों में है, उससे असंख्यात गुणी उपशान्त कषाय में होती है। उपशान्त कषाय गुणस्थान जीव की उपशम श्रेणी की सबसे ऊंची स्थिति में है। कषायें तो उसकी सब १०वें गुणस्थान के अन्त में दब गईं। अब ११वें गुणस्थान में वह वीतराग मुनि है। रागद्वेष रंच मात्र नहीं हैं। केवल एक सातावेदनीय कर्म का ही आस्रव होता है, शेष प्रकृतियों का आस्रव नहीं है और वह भी एक समय के लिए ईर्यापथ आस्रव रूप में आता है, इतना निर्मल परिणाम हो गया ११वें गुणस्थान का। लेकिन कर्मों को दबाकर चढ़ा था सो दबे हुए कर्म उखड़ने लगते हैं, उदय में आते हैं तो ११वें गुणस्थान से भी गिरना पड़ता है। १०वें में आया, ९वें में आया, ८वें में, फिर ७वें में, इसके बाद छठे में, फिर कहीं भी पहुंच जाये। यदि मरता है इस बीच में तो चौथे गुणस्थान में आता है। अब देखिये कि इतना महान पौरुष किया इस आत्मा ने ११वां गुणस्थान प्राप्त कर लिया। जो वीतराग है, वंदनीय है, फिर भी वहां से गिरकर मिथ्यादृष्टि तक भी बन सकता है। तब देखिये कि हम आप यदि आज मनुष्य हो गए, कुछ पुण्य का उदय पाया, कुछ भला, आराम का साधन पाया तो यह कौन-सी बड़ी चीज प्राप्त कर ली? देखो कोई आत्मा उपशान्त मोह बनकर भी गिर-गिर कर मिथ्यात्व में आ जाता है। तो हमें अपने जीवन के ये समय बहुत संभल करके बिताना है जिसमें पापकर्म न आयें और अपने परिणाम निर्मल बने रहें इस ही उपाय से हम आपका सच्चा बड़प्पन बनेगा। केवल विषयों की इच्छानुसार भोगोपभोगों से या परपदार्थों की तृष्णा संग्रह से आत्मा का पूरा नहीं पड़ने का। इस असंख्याते गुण श्रेणी निर्जरा के प्रकरण को सुनकर हमें विशुद्ध परिणाम करने का उत्साह लाना चाहिए।

उपशान्त कषाय से क्षपकत्रय व क्षीणमोह में उत्तरोत्तर असंख्यातगुनी निर्जरा–११वें गुणस्थान में जितनी कम निर्जरा होती है उससे असंख्यातगुनी निर्जरा क्षपकेश्रेणी के तीन गुणस्थानों में होती है। ७वें गुणस्थान के बाद जो दो श्रेणियां बतायी हैं उपशम श्रेणी में ८वां, ९वां, १०वां ये तीन और इसके ऊपर है ११वां उपशान्त मोह। तो उस ११वें गुणस्थान वाले जीव के जितनी कर्म निर्जरा होती है उससे असंख्यात गुनी क्षपक श्रेणी के ८वें, ९वें, १०वें गुणस्थान में होती है। अब देखिये ११वां तो है उपशान्त मोह, जहां कषाय रंच भी न

रही, सभी कषायें उपशान्त हो चुकीं, वीतराग हो गए, रंच मात्र रागद्वेष नहीं है और यहां क्षपक श्रेणी के ८वें ९वें १०वें गुणस्थान में अभी सूक्ष्म कषायें हैं। संज्वलन कषाय मात्र मौजूद है फिर भी उस ११वें गुणस्थान वाले जीव से असंख्यातगुनी कर्म निर्जरा इस क्षपक श्रेणी के ८वें, ९वें, १०वें गुणस्थान में हो जाती है। उसका कारण यह है कि यह क्षपक श्रेणी वाला मोहनीय कर्म को नष्ट करता हुआ चढ़ता जा रहा है और वह मोहनीय कर्म को दबा करके चढ़ा था। अब क्षपक श्रेणी के इन तीन गुणस्थानों में जितनी कर्म निर्जरा होती है उससे असंख्यातगुनी कर्म निर्जरा १२वें गुणस्थान में होती है। इस क्षीण मोह में वैसा ही अविकार परिणमन है जैसा कि ११वें गुणस्थान में था, लेकिन वह कर्मों को दबा करके चढ़ा, सो उससे ज्यादा असंख्यातगुनी निर्जरा तो क्षपक श्रेणी में ८वें, ९वें १०वें गुणस्थान में है और इससे असंख्यातगुनी कर्म निर्जरा १२वें गुणस्थान में है। क्षीणमोह जो मुनि है वह अरहंत भगवान के हीं समान है। इतना जरा अन्तर है कि केवल ज्ञान नहीं हुआ पर आत्मा में अविकारता देखिये—जैसी प्रभु में है वैसी ही १२वें गुणस्थान में है। राग द्वेष रंचमात्र भी नहीं है। १२वें गुणस्थान में यह उत्कृष्ट अन्तरात्मा है। अब १२वें गुणस्थान में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय-इन तीन शेष अघातिया कर्मों का क्षय हो जाता है तब अरहंत भगवान बनते हैं तो अरहंत प्रभु १३वें गुणस्थान में हैं।

क्षीण मोह से स्वस्थानगत सयोगकेवली के असंख्यातगुनी कर्म निर्जरा—१२वें गुणस्थान में जितनी कर्म निर्जरा है उससे असंख्यातगुनी कर्मनिर्जरा १३वें गुणस्थान में है। अब १३वें गुणस्थान में अरहंत हुए हैं, जिनका स्वरूप बहुत भली प्रकार समझ ही लेना चाहिये, क्योंकि हम आप सबका शरण अगर कुछ है तो वीतराग सर्वज्ञदेव का स्मरण ही शरण है और निश्चय से अपने निर्विकार सहज चैतन्य स्वरूप की उपासना शरण है। यह आत्मा स्वयं ज्ञान और आनन्द स्वभाव से खूब भरा हुआ है, किन्तु केवल इतने अपराध से कि अपने आत्मा को छोड़कर जो पदार्थ है, इन पदार्थों में यह मैं हूं, यह मेरा है, इस तरह की जो भीतर में कल्पनायें जगी हैं बस इन कल्पनाओं के अपराध से ही इस जीव को संसार में जन्म-मरण करना पड़ रहा है और, एक कल्पना यह छूट जाये और यथार्थ उपयोग बने कि जैसा जो कुछ बाह्य में है वह है। मैं अपने में हूं, मेरा किसी भी अन्य पदार्थ के साथ रंच मात्र सम्बन्ध नहीं है, ऐसा भीतर में यदि उजेला बन जाये, ज्ञान प्रकाश हो जाये तो इस जीव को फिर कोई कष्ट नहीं है। ऐसा स्वरूप हमारे ख्याल में आये इसके लिए आश्रय है अरहंत भगवान की भक्ति। जो गृहस्थपना त्याग करके मुनिधर्म अंगीकार करके अपने स्वरूप की साधना में रहे और जिसके प्रताप से घातिया कर्म नष्ट हुए, अरहंत भगवान हुए उनकी भक्ति के लिए स्वर्गों के देव बड़ी संख्या में आते हैं नृत्यज्ञान करते हुए। समवशरण के समय में स्वर्ग बहुत सा खाली हो जाता है। यद्यपि वे देव आते हैं तो उनका मूल शरीर नहीं आता। स्वर्गों में जो जिस देव का निवास है, उसका जो असली शरीर है वह स्वर्गों से उठकर यहां नहीं आता, पर वे विक्रिया से अपना नया शरीर बनाते हैं और उस नये शरीर के साथ ये आते हैं। भक्ति वंदना करते, लेकिन मन एक है, आत्मा एक है उस शरीर में और इस शरीर में इस बीच में जितनी जगह है स्वर्ग तो है बहुत दूर समवशरण है यहां मध्य लोक में, तो दोनों शरीरों के बीच जो जगह है वहां भी आत्मा है और जो शरीर बनाया वहां भी आत्मा है। पर मन एक है, आत्मा वही है। तो यों स्वर्ग के बहुसंख्या में देव समवशरण में आते हैं। भला बतलाओ भगवान से उन्हें क्या मिल रहा है दुनियावी हिस्सब से? उन देवों को क्या चाहिये? उन्हें आजीविका की कोई चिन्ता नहीं, भोगोपभोग साधन अभीष्ट हैं, शरीर में कोई बाधा नहीं होती। उनको अब क्या जरूरत है? प्रभु की वीतरागता का इतना प्रभाव है कि सभी जीव जो थोड़ी बहुत धर्म बुद्धि रखते हैं वे धर्मात्मा के संग में बिना स्वार्थ के उनकी सेवा में आया करते हैं। अरहंत प्रभु

धर्ममूर्ति हैं। कोई कहे कि धर्मपालन करो तो धर्म नाम है किसका? धर्म की साक्षात् मूर्ति हैं अरहंत भगवान। वहां क्या निरखना है कि आत्मा में जो धर्म है चैतन्य ज्ञानदर्शन शुद्ध आनन्द वह सब पूर्ण प्रकट है। तो प्रभु क्या हैं? साक्षात् धर्ममूर्ति हैं। उस धर्मस्वरूप प्रभु के स्मरण में हमें अपने आपका भी स्पर्श रहता है, हम अपने आपकी भी संभल करते रहते हैं। तो प्रभु का शरण एक बहुत बड़ा शरण है। यहां लोग कुछ मेहनत करके लौकिक लाभ पा लें, तो क्या प्रभुभक्ति के प्रताप से इससे करोड़ों गुना लाभ स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। जितना जो कुछ इस लोक में वैभव का लाभ है वह सब धर्म का प्रताप है, पुण्य का प्रताप है। विशिष्ट पुण्य धर्ममय प्रभु की सेवाभक्ति उपासना से ही प्रकट होती है। तो ये प्रभु करोड़ों वर्ष भी अपने १३वें गुणस्थान में रहकर मध्यलोक में विचरते हैं। जिस तीर्थंकर की जितनी आयु है, उतनी उस शरीर में पूरी करने पड़ेगी। बिना आयु पूरी किए उनकी आयु नष्ट नहीं होती। जैसे किसी तीर्थंकर की ५० करोड़ वर्ष की आयु है, उसे मान लो १० हजार वर्ष की उम्र में ही कैवल्य ज्ञान हो गया तो १० हजार वर्ष कम ५० करोड़ वर्ष तक वे अरहंत प्रभु १३वें गुणस्थान में रहते हुए बिहार करेंगे, दिव्य ध्वनि उपदेश होगा, जीवों को लाभ होगा। तो जितने काल वे अरहंत हैं उतने काल असंख्यातगुनी कर्मों की निर्जरा होती है।

स्वस्थानगत सयोगकेवली से समुद्घातगत सयोगकेवली के असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा—जब अरहंत भगवान के समुद्घात की अवस्था है उस समय उससे भी असंख्याते गुने कर्मों की निर्जरा होती है। कर्म ८ होते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये तो चार घातिया कर्म हैं जो जीव के गुणों का घात कर रहे हैं, जीव में ज्ञानगुण है उसे प्रकट नहीं होने देता ज्ञानावरण। जीव में दर्शनगुण है उसका आवरण कर रहा है दर्शनावरण। जीव में आनन्दगुण है, शुद्ध रहना, अपने आपमें लीन रहना। यह आत्मा का एक स्वाभाविक गुण है, लेकिन इसे प्रकट नहीं होने देता मोहनीय कर्म। आत्मा का जो अतुल सामर्थ्य है, शक्ति है उसे दबाये हुए है अन्तराय। तो जब चार घातिया कर्म नष्ट हुए तब वे अरहंत भगवान हुए। लेकिन अब भी उनके चार अघातिया कर्म शेष हैं। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। वेदनीय कर्म के उदय से इस जीव का साता और असाता रूप परिणाम होता है। सुख और दुःख का अनुभव करता है लेकिन भगवान के वेदनीय कर्म तो है, पर मोहनीय का क्षय हो चुकने के कारण शुद्ध आनन्द होने से सुख दुःख की बाधा नहीं है। आयुकर्म के उदय से इस जीव को शरीर में उतनी स्थिति तक रुकना पड़ता है जितनी कि आयु है। सो वह रुके हुए हैं ही। नामकर्म के उदय से इस शरीर की रचना रहती है। अंगोपाङ्ग प्रकट होने से आकार रूपादिक शरीर में बने इस सबका कारण नामकर्म है। गोत्रकर्म के उदय से जीव का उच्च और नीच कुल में जन्म होता है। भगवान उच्च कुल के हैं ही। सो ये चार अघातिया कर्म अभी अरहंत भगवान के हैं।

समुद्घातगत सयोगकेवली का वर्णन—तो जब अरहंत प्रभु की आयु तो रह जाये अन्तर्मुहूर्त, मायने दो एक मिनट और तीन घातिया कर्म रहें हजार लाख वर्ष की स्थिति के, तो अब यह तो होगा नहीं कि आयुकर्म भगवान का पहले नष्ट हो जाये और तीन कर्म बाद में नष्ट हों। जब आयु नष्ट हो गयी, जब शरीर न रहा, अकेला वह आत्मा रह गया तो फिर वहां पे उनका क्या हाल होगा? आयुकर्म नष्ट हो जाये और तीन कर्म शेष रहें ऐसा नहीं होता है। जब निर्वाण होता है प्रभु का तो चारों अघातिया कर्म एक साथ नष्ट होते हैं। तो अब यह संभव है कि आयुकर्म तो रह गया थोड़ा और बाकी कर्म हैं हजार लाख वर्ष के तो एक साथ कैसे नष्ट होंगे? तो उस समय प्रभु के सहज ही समुद्घात होता है। समुद्घात में मूल शरीर को न छोड़कर भगवान अरहंत आत्मा के प्रदेश नीचे जहां तक लोक हैं। वातवलय को छोड़कर वहां तक पहुंचते हैं और ऊपर भी वातवलय

को छोड़कर उस लोक तक पहुंच जाते हैं यानि वातवलय के सिवाय १४ राजू प्रमाण दंडाकार भगवान के प्रदेश फैल जाते हैं। जैसे एक दंडा खड़ा है तो उसकी चौड़ाई कोई अधिक नहीं है, पर लम्बाई बहुत है। इसी तरह से इस दंड समुद्धात में भगवान आत्मा के प्रदेश नीचे से ऊपर तक शरीर प्रमाण मोटाई में फैल जाते हैं। यदि उस समय भगवान खड़गासन में खड़े हों तो जितनी शरीर की चौड़ाई है उतने ही प्रमाण में नीचे से ऊपर तक प्रदेश फैल जाते हैं। यदि प्रभु पद्मासन में बैठे हैं और उस समय दंड समुद्धात होता है तो शरीर की जो चौड़ाई है उससे तिगुने विस्तार में मोटे होकर वे प्रदेश नीचे से ऊपर जायेंगे। वे तिगुने भी क्या हुए? चूंकि पद्मासन से विराजे हैं ना तो उस आसन में तिगुने प्रदेश विस्तार बन जाते हैं। खड़े में तो जैसी शरीर की चौड़ाई है, एक कंधे से लेकर दूसरे कंधे तक जितनी चौड़ाई है उतनी ही है और जब पद्मासन में बैठेंगे तो पैरों के नीचे घुटने तक हैं दोनों बगल और प्रदेश बनेंगे शरीर के सब अंगों से, तो उस समय तो कंधे से कंधे तक की चौड़ाई से तिगुनी चौड़ाई हो जाती है। यह है उनका दंड समुद्धात। यह एक समय में काम हो जाता है। एक समय कितना होता है कि आंख एक बार में पलक मारे। जैसे आंख उठती है तो पलक मारने में जितना समय लगता है उसमें असंख्याते समय होते हैं। करोड़ों अरबों नहीं, गिनती से परे होते हैं। उनमें से एक समय में यह इतना काम बनता है। इसके बाद फिर उनके कपाटसमुद्धात होता है। कपाटसमुद्धात में बगल से प्रदेश फैल जाते हैं। यहां आगे पीछे न फैलें, अगल-बगल से ही फैलें किवाड़ के आकार का बन गया उन प्रदेशों का फैलना, जैसे किवाड़ जितनी चौड़ाई को लिए हैं मोटाई तो नहीं है। तो जिस समय वे प्रदेश अगल-बगल से फैलते हैं तो उस समय कपाट जैसा आकार होता है। वह कपाट समुद्धात भी एक समय में बन जाता है। इसके बाद फिर आगे-पीछे प्रदेश फैलते हैं तब प्रतर बन जाता है। प्रतर मायने चारों ओर फैला हुआ। इतने पर भी अभी प्रभु के प्रदेश वातवलयों में नहीं फैले। इस सारे लोक के संभाले हुए चारों तरफ बहुत मोटी वायु है। वे तीन तरह की हवायें हैं। उन हवाओं के आश्रय से यह लोक टिका हुआ है। तो अभी तक प्रतर समुद्धात में उन वातवलयों में आत्मा के प्रदेश नहीं गए। जब लोकपूरण समुद्धात होता है, तिसमें वातवलयों में भी प्रदेश फैल जाते हैं। इस प्रभु का आत्मा सारे लोक में फैला हुआ है। इसके बाद एक ही समय में सिकुड़ने पर प्रतर संमुद्धात बराबर होता है। जैसे पहले प्रतर में जितने में प्रदेश फैले हुए थे उतने में ही थे। उसके बाद एक समय में और सिकुड़कर कपाट के आकार हो जाते हैं। फिर एक समय में दंड समुद्धात, फिर एक समय में अपने शरीर में ज्यों के त्यों समा जाते हैं। इसमें उन्हें लगते हैं ८समय। इन ८ समयों में जो प्रदेश फैले और प्रदेशों के फैलने के साथ ही साथ कर्म भी फैल गए, क्योंकि आत्मा के साथ ही कर्म लगे हुए हैं तो कार्माणवर्गणायें भी फैल जाने से वे कर्म झड़ जाते हैं, सूख जाते हैं और कितने रह जाते हैं जितनी कि आयु है। दो एक मिनट के करीब कर्म परमाणु रह जाते हैं और थोड़ी बहुत जो अभी कसर है वह तुरन्त पूरी होती है तब आयु के बराबर उनके तीन अघातिया कर्म हो गए।

समुद्धातगतकेवली से अयोगकेवली के असंख्यातगुनी निर्जरा—सयोगकेवली गुणस्थान के बाद फिर प्रभु अयोगकेवली बनते हैं। उनके १४वां गुणस्थान होता है । योग उनके सब समाप्त हो जाते हैं। १४वें गुणस्थान का कितना समय है? इसे बताया है कि ५ ह्रस्व अक्षरों के बोलने में जितना समय लगता है उतना समय १४वें गुणस्थान का है। ५ ह्रस्व अक्षर हैं अ इ उ ऋ लृ। अ इ उ ऋ लृ इसके बोलने में जितना समय लगेगा उतना समय १४वें गुणस्थान में रहता है। इसके बाद प्रभु उस शरीर को छोड़कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं और यह शरीर कपूर की तरह उड़ जाता है। जैसे यहां कोई जीव शरीर छोड़कर चला जाता है तो शरीर

यहीं पड़ा रह जाता है। लोग उस शरीर को जला देते हैं, इस तरह से भगवान का शरीर यहां पड़ा नहीं रहता, वह कपूर की तरह उड़ जाता है, सिर्फ यहां नख और केश पड़े रह जाते हैं। इन नख और केशों के ऊपरी भाग में इस समय भी देख लीजिए जीव नहीं हैं। इन्हें कैंची आदि से काट देने पर कोई कष्ट तो नहीं होता। तो इस तरह ये प्रभु समुद्घात अवस्था में असंख्यातगुनी कर्म निर्जरा करते हैं। और उससे भी असंख्यातगुनी कर्मनिर्जरा १४वें गुणस्थान में होती है। फिर इसके बाद वे गुणस्थानातीत सिद्ध भगवान हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मा के सहज विशुद्ध परिणामों के बल से असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा इस प्रकार जीव के होती है।

असंख्यातगुणश्रेणि निर्जरा के वर्णन में प्राप्तव्य शिक्षा—इन सब वर्णनों में हम आपको शिक्षा ग्रहण करने के लिए क्या मिला? जीव को जब तक सम्यक्त्व नहीं होता तब तक वह मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत निर्जरा नहीं कर सकता है। यद्यपि इस प्रसंग में मिथ्यादृष्टि के भी गुणश्रेणी निर्जरा बताया जिसको कि सम्यक्त्व तुरन्त होने वाला है, लेकिन वह तो एक सम्यग्दृष्टि की ही तरह है। ज्ञान उसका बहुत शुद्ध है और सम्यक्त्व होने ही वाला है। उस सातिशय मिथ्यादृष्टि की बात को प्रधानतया मिथ्यात्व में न ले जायें। वह तो सम्यग्दृष्टि तुरन्त ही नियम से हो रहा है और फिर ऊपर जितनी निर्जरा बतायी है वह सब सम्यग्दृष्टि जीव के ही है। हम आपने अब तक सब कुछ पाया है लेकिन वह सब व्यर्थ रहा। एक कल्पना कर लिया कि मैंने पाया, पर वस्तुतः मैंने कुछ नहीं पाया। मैं अपने आपमें अपने स्वरूप में लखूं जो कि स्वरूपतः आनन्दमय है। तो उस निराकुल स्वरूप को लखकर जो विशुद्धि बनेगी, जो सहज आनन्द जगेगा, आत्मा की वास्तविक सम्पत्ति तो यही है। बाहरी चीजें तो बाह्य वस्तु हैं। जैसे स्वप्न में थोड़ा दिखा हुआ वैभव मेरे लिए कुछ नहीं है, केवल ख्याल ही ख्याल है इसी तरह वस्तु स्वरूप का परिचय जब तक नहीं है तब तक जागृत दशा नहीं है और मोह नींद में सोये हुए हैं तो उस समय भी ये सब ख्याल ही ख्याल है। इस जीव का जीव से बाहर कुछ नहीं है। किसी भी बाह्य पदार्थ से इस जीव का रंच मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। यह जीव व्यर्थ ही आकुलित होता है, अपना मानकर, अनुकूल प्रतिकूल समझकर। अपने स्वरूप को संभाले तो उसको कहीं भी रंच क्लेश नहीं है। स्वरूप दृष्टि में रह रहा और वह एक शरीर छोड़कर अन्य शरीर में भी जाता है तो उसका बुरा क्या? उसको कोई नुकसान नहीं है। और एक आत्मज्ञान से रहित होकर यहां राजपाट भी संभाले तो भी उसको मिला क्या? वह तो अंधेरे में ही है। विकल्प ही कर रहा है। तो इस जीव का शान्ति साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। यद्यपि आजकल मनुष्यों में यह देखा जा रहा है कि इस रत्नत्रय धर्म और इसके साधनों के प्रति लोगों की प्रीति कम है और विषय भोग विषय परिग्रह इनमें ही प्रीति अधिक है, लेकिन संसार में यही तो होगा, जो प्रायः जीवों को हो रहा है। यहां तो केवल एक निज की ही बात संभाल लें यह मेरे लिए बड़प्पन की बात है। दूसरे को निरखकर अपना भी निर्णय वैसा ही बनाना यह विवेक नहीं है किन्तु अपने देव शास्त्र गुरु के स्वरूप को समझकर, अपने आपके स्वरूप को जानकर आत्महित के लिए अपना निर्णय बनाना यह विवेक का मार्ग है। तो यह यत्न होना चाहिए कि हम वस्तु के सही स्वरूप को परखें और अपने आपके स्वरूप को समझकर इस ही के निकट रहकर सन्तुष्ट रहा करें, ऐसी हमारी दृष्टि होनी चाहिए। इससे हम अपने जीवन को सफल बना सकेंगे।

जो विसहदि दुव्वयणं साहिम्मय-हीलणं च उवसग्गं।
जिणिऊण कसाय-रिउं तस्स हवे णिज्जरा विउला।।१०९।।

कषाय विजय करते हुए दुर्वचन साधर्मिहीलन उपसर्ग को सहन करने का निर्णय—जो पुरुष

कषाय बैरी को जीत करके दूसरों के दुर्वचनों को सहता है, साधर्मी जनों के द्वारा किए गए अनादर को सहता है और अन्य जीवों के द्वारा होने वाले उपसर्गों को सहता है उस जीव के बहुत कर्मनिर्जरा होती है।

इस जीव के साथ जो दूसरे लोग व्यवहार करते हैं तो वह अपने ही कषायों की शान्ति के लिए अपनी चेष्टा करते हैं, दूसरे जीव जो यह मान रहे हैं कि इसने मेरी इच्छा के विरुद्ध काम किया, मेरे सताने के लिए किया, अपना अनिष्ट समझता है। वह उस दूसरे ही पुरुष का स्वयं का अपने पाप का फल है। सर्वप्रथम पाप तो यह हुआ कि उस जीव ने ऐसा भाव ही क्यों किया, परद्रव्य के सम्बन्ध में कि यह परपदार्थ मेरे प्रतिकूल परिणम रहा है, मुझे सताने के लिए परिणम रहा है। उसने वस्तुस्वरूप से अपना ज्ञान नेत्र क्यों मूंद लिया? प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में ही परिणमता है। किसी में किसी दूसरे का परिणमन ही, अधिकार ही नहीं है, इस बात को उसने अपने ज्ञान से ओझल क्यों किया? पापफल प्रथम तो यह ही है। दूसरी बात यह है कि जो पूर्व जन्म में पापकर्म बंधे थे उन पापकर्मों के उदय में ऐसे ही निमित्त मिलते हैं जो इस जीव के दुःख के कारण होते हैं। तो वह पूर्वकृत पापकर्म का ही तो फल है। ऐसा समझकर जो मुनि विवेकी पुरुष दूसरे के दुर्वचनों को समता से सह लेते हैं उनके बहुत से कर्मों की निर्जरा होती है।

इस जीव के भेद विज्ञान साक्षात् जाग्रत हो रहा है। ये जो वचन हैं सो भाषावर्गणा जाति के पुद्गल के परिणमन हैं। यह पुरुष है सो अन्तः यह अपनी योग्यता लिए हुए अपनी ही शान्ति के अर्थ अपनी वैसी चेष्टा करता है। यों कोई चेष्टा कर रहा है, मैं इन सबसे न्यारा अपने ही स्वरूप में हूं, इस प्रकार की जिसके भेदविज्ञान की प्रतीति है वही पुरुष तो सही समतापूर्वक दूसरे के दुर्वचनों को सह सकता है। साथ में रहने पर अनेक साधर्मी पुरुष परस्पर में जो व्यवहार करते हैं तो कितना ही संभाल कर करते हों तिस पर भी अनेक व्यवहार इस जीव को प्रतिकूल जंचने लगते हैं। अथवा मानो किसी ने अपने अपराधवश दुर्व्यवहार ही किया कोई अनादर की बात ही कही, फिर भी जो पुरुष साधर्मी जनों के अनादर के वचन को या असम्मान की घटना को समतापूर्वक सह लेता है उस पुरुष के बहुत कर्म निर्जरा होती है।

समता से परिषोढव्य उपसर्गों का विवरण—उपसर्ग चार प्रकार के होते हैं—देवकृत, तिर्यञ्चकृत मनुष्यकृत और अचेतनकृत। जो व्यन्तर आदिक देवों के द्वारा उपसर्ग किया जाता है उसे देवकृत उपसर्ग कहते हैं। जैसे श्रीराम लक्ष्मण के समय में देशभूषण कुलभूषण मुनि पर व्यन्तर ने उपसर्ग किया था और राम लक्ष्मण के आते ही उनकी मुनिभक्ति को निरखकर वह देव भागा था। तो व्यन्तर भी मुनिजनों पर उपसर्ग कर सकते हैं। जो मुनिराज उन उपसर्गों को आत्मचिन्तन करके सर्व संकटों से रहित ज्ञान मात्र अपने स्वरूप का चिन्तन करते हुए समता से सह लेते हैं उनके कर्म निर्जरा विपुल होती है। दूसरा उपसर्ग है तिर्यञ्चकृत। तिर्यञ्चों की प्रकृति मांस खाने की है, इस कारण भी वे अपनी क्षुधाशान्ति के लिए मुनिराज पर उपसर्ग कर सकते हैं उन्हें खायें मारें अथवा कोई तिर्यञ्च तो पूर्वभव के बैर का स्मरण करके समझकर क्रोधवश बैर निभाने के लिए भी उपसर्ग करते हैं जैसे सुकौशल मुनि पर सुकौशल की मां जो सिंह पर्याय में उत्पन्न हुई थी। उसने उपसर्ग किया। सुकुमाल मुनिराज पर बहुत पूर्वभव की भावज जो स्यालनी बनी थी, उसने उपसर्ग किया था तो अनेक तिर्यञ्च बैर निभाने के लिए भी मुनिराज पर उपसर्ग किया करते हैं। ऐसे उपसर्गों को भी मुनिराज समतापूर्वक सहन कर लेते हैं। उनके कर्म निर्जरा विपुल होती है। मनुष्यकृत उपसर्ग भी होता है। जैसे पाण्डव मुनि पर कौरव वंश के रिश्तेदार किसी पुरुष ने बैर निभाने के लिए उपसर्ग किया था। खूब अग्नि जलाया और उसमें लोहे के कड़े आदि खूब तपाये और उन तप्त लोहे के कड़ों आदि को उन पाण्डव मुनियों के शरीर के सभी

अंगों में पहनाये थे, यह कहकर कि लो तुम्हें हम खूब आभूषणों से सजाते हैं। उस कठिन उपसर्ग को उन मुनिराजों ने समता से सहन किया। गजकुमार मुनि के श्वसुर ने जब देखा कि इस गजकुमार ने अभी एक दिन पहले तो हमारी लड़की से शादी की और लो आज विरक्त होकर चल दिया तो उसे इतना क्रोध आया कि गजकुमार के सिर पर मिट्टी की बाड़ बनाकर उसमें अंगीठी जलायी। गजकुमार ने उस कठिन उपसर्ग को भी समता से सहन किया था। तो ऐसे कठिन उपसर्गों को जो मुनि समता से सहन कर लेते हैं उनके विपुल कर्म निर्जरा होती है। अचेतनकृत भी अनेक उपसर्ग होते हैं। कोई प्रचण्ड तेज वायु चल जाये अथवा कभी बिजली गिर जाये, कहीं कोई वृक्ष की डाल टूट जाये और मुनिराज के शरीर पर गिरे, ऐसे अनेक अचेतनकृत उपसर्ग भी होते हैं, उन उपसर्गों को भी जो मुनिराज समतापूर्वक सहन कर लेते हैं उनके विपुल कर्म निर्जरा है।

दुर्वचन उपसर्ग आदि को समतापूर्वक सह लेने का भाव—समतापूर्वक सहन कर लेने का अर्थ यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभा दिक कषायें न जगें। लोग उपसर्ग कर रहे हों, तो उन पर क्रोध न आये, उनको सताने का, उन्हें शाप आदि देने का परिणाम न जगे अथवा अपने में मान कषाय प्रकट न हो, कहां तो मैं ऐसा राजपुत्र, ऐसा राज वैभव छोड़कर आया और कहां यह उपसर्ग हो रहा है, यो अपनी पर्याय का गर्व रंचमात्र भी न ला सके, ऐसी कषाय को जीतकर समता से सहने की बात कही जा रही है। मायाचार का भी परिणाम न हो। मैंने ऐसे धर्म भेष को लिया है। अब मैं इस उपसर्ग में भी टल जाऊंगा तो लोग मुझे क्या कहेंगे, इस प्रकार की वासनायें नहीं होतीं। लोभ भी नहीं होता । अरे शास्त्रों में सुना गया है कि मुनि बनकर जो इस-इस तरह के उपसर्ग सहते हैं, उन्हें मुक्ति मिलती है, उन्हें स्वर्ग मिलता है, इसलिए समता से सह लें तो हमको बड़ा लाभ मिलेगा, इस प्रकार कोई लोभ का भाव भी न जगे, किन्तु उस समय क्या चिन्तन रहता है कि मैं एक विकार रहित चैतन्य स्वरूप हूं। मुझमें किसी पर पदार्थ का प्रवेश ही नहीं। यह मैं तो शाश्वत विशुद्ध चैतन्य मात्र हूं। इस प्रकार की अन्तः स्वरूप पर दृष्टि बनी हुई है। जिस दृष्टि के प्रताप से ऐसे-ऐसे कठिन उपसर्ग भी सह लिए जाते हैं। तो इन चार प्रकार के कषायों को जीते, और इन उपसर्गों को भी सहे, समतापूर्वक, उस मुनि के कर्मनिर्जरा विपुल होती है।

कर्मनिजर्रा के उपायों में यथाशक्ति गृहस्थों का उद्यम—इससे गृहस्थजनों को भी यह शिक्षा लेनी है कि अपने आपको ऐसा कष्ट सहिष्णु बनायें कि शारीरिक, मानसिक और वाचनिक कोई उपद्रव भी आयें तो उसे सहन करने का बल रहे। गृहस्थ जीवन में दुर्व्यवहार की घटनायें अनेक होती हैं। पड़ौसियों से भी दुर्व्याहार बन जाये, ग्राहकों से अथवा बाहर रहने वाले पुरुषों से, दुर्व्यवहार बन जाने के बहुत मौके हैं। तो गृहस्थ भी यह विचार करके कि हमने यह मानव जीवन पाया है तो यह आत्मोद्धार के लिए पाया है। जिस प्रकार हो विकाररहित ज्ञानस्वरूप अपने आत्मप्रभु की प्रतीति रहे, इसकी दृष्टि रहे, इसकी उपासना में ही समय जाये इसके लिए यह मानव जीवन है। पर ऐसा प्रकट और चिरकाल तक कर सकने के लिए मैं समर्थ हूं। गृहस्थ जीवन धारण किया है तो यहां आजीविका की भी आवश्यकता है। गृहस्थी में दो प्रयोजन हैं—तात्कालिक तद्भव में आजीविका का प्रयोजन। आजीविका सही न हो तो वह गृहस्थ चिन्तित रहेगा और धर्मपालन में बाधा आयेगी। तो आजीविका ठीक रखना और आत्मोद्धार का कार्य करना, इन दो कामों के सिवाय तीसरा कोई काम करने को नहीं है। तो जो पुरुष दुर्व्यवहार करता है, खोटे वचन कहता है तो कहने दो, उससे मेरा क्या बुरा हो गया? हां, यदि मेरी आजीविका पर चोट आती है तो हम उस पर विचार करेंगे। यदि मेरे उद्धार में कोई बाधा आती है तो हम उसका प्रतिकार करेंगे, किन्तु जब तक मेरी आजीविका में कोई बाधा नहीं आती और मेरे

उद्धार में भी कोई विघ्न नहीं होता तब कोई दुर्व्यवहार करता है तो करने दो, उसका वह दुर्वचन उसके अनर्थ के लिए होगा। लोक में भी दुर्व्यवहार का उत्तर दुर्व्यवहार से देने में कोई भलाई नहीं मानी जाती है। इन सब विवेकों को रख करके जो दूसरे के दुर्वचनों को सह लेता है उसकी आत्मा उज्ज्वल होती है, पुण्य रस बढ़ता है और कर्मनिर्जरा भी विशेष होती है। देखिये—एक केवल दृष्टि को स्वच्छ बनाने की बात है। काम कितना है? इस प्रकार जो साधर्मीजन हैं, जो समाज के लोग हैं, उस ही धर्म को मानने वाले पुरुष हैं उनके बीच रहकर भी अनेक घटनाएं ऐसी हो जाया करती हैं कि जिनमें सम्मान-अपमान अथवा कितने ही कलह के अवसर आ सकते हैं, लेकिन उन्हें यह सोचना चाहिए कि क्या है, धर्म क्या चीज है? जो तीर्थंकर की परम्परा से अहिंसामयी प्रवृत्ति, अहिंसामय स्वरूप का ज्ञान और अहिंसा में आचरण होने का नाम धर्म है, उस ही जैन शासन के पालने के लिए यथाशक्ति ये साधर्मी लोग लगे हैं और अपनी शक्ति बुद्धि माफिक ये भी इन जैन शास्त्रों के विचार का भाव रख रहे हैं, मैं भी रख रहा हूं। एक ही धर्म के ये सब मानने वाले हैं। कोई किसी प्रकार से यदि धार्मिक बात रख रहा है चाहे उसमें थोड़ी गलती भी हो लेकिन साधर्मीजन ही तो हैं और वस्तुतः मेरे आत्मा से भिन्न आत्मा हैं। ये अपनी बुद्धि माफिक धर्माचरण में लगे हैं, मैं अपनी बुद्धि के अनुकूल धर्म मार्ग में लगा हूं। दुर्वचन अनादर यदि कोई समाज का व्यक्ति साधर्मी भाई कर देता है तो उसे भी समतापूर्वक सह लेने की प्रकृति गहस्थों को भी बनानी चाहिए। तीसरी बात है उपसर्ग की। गृहस्थों पर भी उपद्रव अनेक प्रकार के आते रहते हैं। मुनिजनों पर तो बड़ा ही कोई उपद्रव कभी आता है और गृहस्थजनों पर साधारणतया छोटे-मोटे सब किस्म के उपद्रव रोज ही आते रहते हैं। उनमें भी यह विचलित न हो, अपने आपके आत्मस्वरूप का यथार्थ चिन्तन रखे तो इसके भी कर्म निर्जरा बहुत हो सकती है।

रिण-मोयणं व मण्णई जो उवसग्गं परीसहं तिव्वं।
पाव-फलं मे एदं मया वि जं संचिदं पुव्वं।।११०।।

उपसर्ग परिषह आने पर ज्ञानी का चिन्तन व अभिप्राय—जब कभी इस विवेकी ज्ञानी साधक पुरुष पर उपसर्ग आता है, तीव्र परीषह आता है तो उस समय वह ऐसा चिन्तन करता है कि मेरे पूर्व जन्म में कमाये हुए पाप का यह फल है। जो मैंने पाप कमाया उसका फल यह स्वयमेव मिल रहा है और फल मिल करके पाप विदा हो रहे हैं। पाप के समय में घबराने से ही तो नुकसान है। पाप के उदय आने पर यदि संक्लेश न हों, अपना ज्ञान जागृत रहे तो उस पापोदय से हानि कुछ नहीं है बल्कि उससे लाभ ही है। क्योंकि वे पहले बंध हुए पापकर्म जल्दी ही उदय में आकर निकल रहे हैं। पाप का उदय बुरा नहीं है किन्तु पापात्मा होना बुरा है। किसी मुनिजन पर कोई बड़ा उपसर्ग आये तो उसे ऐसा तो नहीं कोई कहा जा सकता कि इनके पुण्य का उदय है। यही कहा जायेगा कि उन मुनिराज के भी ऐसा पाप का उदय आया कि तो पाप उदय आना बुरा नहीं है किन्तु पापात्मा होना बुरा है। पापात्मा कहते हैं अपना परिणाम रागद्वेष से मलिन होने को। सो रागी द्वेषी, कषायवान बनने के परिणाम में बुरा है। पाप का उदय आये, पाप का फल मिले इसमें कुछ बुरा नहीं है।

पापोदय में हानि नहीं, किन्तु पापात्मा होने में हानि का नियम—अब आप समझ लीजिए इस दृष्टि से कि कोई नारकी नरक में दुःख सह रहा है, सम्यग्दृष्टि नारकी है, एक तो उसकी स्थिति और एक यहां का पुण्यवान मनुष्य ऐसा जो कि विषयभोगों में लीन है और अपने विषय साधनों की वृद्धि के लिए, राजपाट शासन की वृद्धि के लिए अनेक राजाओं को सताता है, अन्याय करता है और अपने विषय भोगों में मस्त रहने की धुन रखता है, तो इन दो जीवों में बुरा कौन है? वह नारकी बुरा नहीं है, उसके तो पाप का उदय है पर आत्मा

पापी नहीं बन रहा, वह विवेकी है, सम्यग्दृष्टि है, आत्मतत्व का चिन्तन करता है। वह पापात्मा नहीं है और यह मनुष्य जो बहुत पुण्य के ठाठ में रहता, अपने विषय साधनों के बढ़ाने के लिए अन्याय भी करता है, यह पाप का आत्मा है। तो पापात्मा होने से हानि है, पाप का उदय भोगने से हानि नहीं है।

उपसर्ग परीषहों के अवसर पर ज्ञानी का ऋणमोचनवत् निर्भार होने की मान्यता—सकल तथ्य समझता हुआ यह विवेकी पुरुष यह जान रहा है कि यह तो ऋणमोचन है। जैसे किसी सेठ से कर्ज लिया तो हमें स्वयं उसके घर जाकर उसका कर्ज चुका आना चाहिए और यदि वह स्वयं हमारे घर पर आ रहा है लेने के लिए तो यह तो अच्छी ही बात है, हमको उस सेठ के घर तक जाने का कष्ट ही न करना पड़ा। मैं उसके घर जाता और समय प्रतीक्षा में लगाता, वह मेरा समय बचा तो यह तो ऋणमोचन की तरह है, मैं ऋणमोचन से मुक्त हो रहा हूं, इसी प्रकार जब पाप के उदय में ऐसे उपसर्ग परीषह का फल आया तो यह विवेकी चिन्तन करता है कि मुझे तपश्चरण करके इन पाप के फलों को निकालने का काम था, लेकिन अब ये उपसर्ग परीषह आदि आकर स्वयं ही ऐसी घटना मिल रही है कि पूर्वसंचित पापकर्म झट निकल जायें, यह तो उसके लाभ के लिए ही बात है। ऐसा जानकर यह जीव उपसर्ग और परीषह के सहने में संक्लेश नहीं करता। जिसका ऐसा चिन्तन चलता है, वही पुरुष अपने स्वरूप में लीन हो सकता है।

सत्य शान्ति के लिए धर्म पालन की अभी से आवश्यकता—मनुष्यों को जब कभी मरण काल की बात समझने पर कुछ अधीरता जगती है तो उन्हीं पुरुषों को तो अधीरता जगती है जिन्होंने अपने उद्धार का काम नहीं कर पाया। जिन पुरुषों ने आत्मोद्धार का काम कर लिया सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में यथाशक्ति निष्कपट प्रवृत्ति की उनको मरण की तो शंका नहीं रहती है। मरण की शंका उनको है जो आत्मकल्याण का कार्य नहीं कर पाया। ऐसे पुरुष दो प्रकार के होते हैं—एक तो अज्ञानी और एक कोई कुछ ज्ञानी पुरुष भी। अज्ञानी पुरुष तो मोह ममता करके दुःखी होते हैं—हाय मैंने इतना वैभव कमाया, इतनी सम्पदा जोड़ी, मेरे कैसे पुत्र, कैसी स्त्री, कैसा परिवार, कितने ठाठ बाट हैं, पड़ौसी गांव नगर प्रान्त के लोग भी मुझसे खुश रहते हैं। मैं सब में एक माना हुआ पुरुष बन गया हूं, लो अब मुझे यहां से जाना पड़ रहा है, ये सब छूटे जा रहे हैं, यों अज्ञान से लोग दुःखी होते हैं और जिन्हें कुछ विवेक मिला है ऐसे पुरुष यह सोचकर थोड़ा कष्ट समझते हैं कि मैंने मनुष्य पर्याय तो प्राप्त किया, लेकिन ऐसे अमूल्य भव को, ऐसे अमूल्य समागम को मैं उचित उपयोग में नहीं ला पाया, आत्मकल्याण की बात नहीं कर पाया। मोह ममता छोड़ करके विकल्पजाल, विषयवासना को तज करके मैं अपने इस चैतन्य मात्र निज स्वरूप को ही देखता रहता, इस ही में अपने उपयोग को बसाता और ऐसा विशुद्ध उपयोग वाला रहकर मैं अपने समय को बिताता तो यह मेरे लिए एक लाभ की बात थी, और इसके लायक मैंने सब कुछ पा लिया था। ज्ञान भी पाया था और सुविधा साधन भी पाया था, लेकिन उन सबका मैं लाभ न ले पाया और अब यह जन्म यों ही जा रहा, यों सोचकर कोई विवेकी भी दुःखी होते हैं। अतः जिनको दुःख न चाहिए, उनको अभी से आत्मकल्याण की बात की प्रधानता रखना चाहिए अन्यथा उनका जीवन बुरा बीतेगा और मरण समय कष्ट होगा। इन सब बातों के लिए हमें विवेक चाहिए और ऐसी कष्टसहिष्णुता प्रकृति बनाना चाहिए कि उन उपद्रवों के आने पर हम उन कष्टों से विचलित न हो सकें।

जो चिंतेइ सरीरं ममत्त-जणयं विणस्सरं असुइं।
दंसण णाण-चरित्तं सुह जणयं णिम्मलं णिच्चं।।११।।

शरीर और आत्मा के यथार्थ स्वरूप के परिचयी को स्वरूप परायण होने का अवसर—जो शरीर को यों विचारता है कि यह ममत्व को पैदा करने वाला है, विनश्वर है और अपवित्र है तथा जो अपने आत्मा को इस प्रकार समझता है कि यह दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूप है, यह शुभ अथवा शिवस्वरूप है, कल्याणमय है, हित को उत्पन्न करने वाला है, निर्मल है और अविनाशी है। ऐसा ज्ञानी ही अपने आत्मा के स्वरूप में लीन हो सकता है। कर्मों की निर्जरा करने का उपाय केवल अपने आत्मस्वरूप की संभाल है, अन्य और कुछ उपाय नहीं। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी उपाय किये जायेंगे उनका सम्बन्ध होगा पर पदार्थ से और परतत्व के विषय में कुछ भी उपयोग लगाये, कुछ भी लगाव रखे तो उनके कर्मबन्ध ही होगा, निर्जरा का उपाय नहीं होगा। तो यह आवश्यक है इन दुःखों की परम्परा बनाने वाले कर्मों का विनाश करने के लिए हम अपने आत्मस्वरूप को पहचानें और इस ही स्वरूप में लीन रहें। इस कार्य में जो साक्षात् बाधा देने वाले भाव हैं उनको हटाना है। सबसे अधिक बाधाकर परिणाम है शरीर के लगाव वाला परिणाम। जितना भी जीव का अनर्थ होता है वह सब शरीर के लगाव से होता है।

किसका यश और किसमें यश?—सबसे अधिक बाधायें हैं लोक में तो यश की चाह और काम की वासना। तो यश की चाह का सम्बन्ध शरीर के लगाव होने पर होता है। जो पुरुष मानता है यह शरीर को कि यह मैं हूं तब इसकी यह वाञ्छा जगती है कि इसका बड़प्पन रहना चाहिए और फिर भी यशो वांछा में बढ़ता ही जाता है, पर यश के सम्बन्ध में विचार करें तो यश की चाह व्यर्थ है और व्यर्थ ही नहीं, किन्तु अनर्थ भी है। व्यर्थ तो यों कि यश की बात बताओ—किसका यश? किसमें यश? कब तक यश? कहां तक यश? और यश भी क्या चीज है? क्रमशः इन ५ बातों पर विचार करें। मैं आत्मा हूं, एक ज्ञानदर्शन सामान्यात्मक चैतन्य पदार्थ कोई इसे जानता ही नहीं है। इसकी कोई चर्चा ही क्या करे, यश ही कोई क्या कर सकता है और इसका यश भी एक इस पद्धति का है कि इस चैतन्य स्वरूप का यश करने वाला स्वयं अपने आपमें लीन हो जायेगा, और फिर भी जिसका कि यश हो, एक सामान्यस्वरूप है, जहां सामान्यस्वरूप है वहां बड़प्पन की बात नहीं बनती। जैसे किन्हीं मनुष्यों का नाम न होता, ये सब मनुष्य ही मनुष्य कहलाते तो कोई मनुष्य अपने यश की चाह न करता। जब मनुष्यों के नाम जुदे-जुदे रखे गए हैं तब यश की चाह की बात चित्त में आती हैं तो देखो इस आत्मा का कोई नाम ही नहीं है। इस आत्मा का सामान्यस्वरूप है, उसका यश क्या? तो यश की बात बिल्कुल व्यर्थ हुई ना। अब विचारो किसमें यश? यह लोगों का समुदाय जो कि स्वयं कर्मप्रेरित है, स्वयं असहाय है, स्वयं बरबाद हो रहा है, जो कि मरेगा, जन्मेगा, संसार में दुःख पायेगा, ऐसा जो यह आज का दिखने वाला लोक समुदाय है उसमें यश की चाह की जा रही है। ये कोई मेरे प्रभु हैं क्या, इनसे मेरा पूरा पड़ेगा क्या? तो जिसमें यश चाहा जा रहा है, वह समुदाय स्वयं अशरण है, उसमें यश होने से मेरा किञ्चिन्मात्र भी लाभ नहीं है। तो जिसमें यश चाहा जा रहा है वह लोक समुदाय भी अपावन है, वे स्वयं बरबाद हो रहे हैं। तो इनमें यश चाहने की बात बिल्कुल व्यर्थ है।

कब तक और कहां तक यश?—अब विचारो कब तक यश? जो कल्पित भी है और सारहीन है, अवास्तविक है, असत्य है, यह भी यश कितने दिनों तक ठहर सकता है? कोई कोई ही तो स्वार्थी लोग जब तक कि उस लगाव से स्वार्थ साधता है तब तक ही तो यशगान करेंगे। सो यह काल कितना काल है? इस अनादि अनन्तकाल के सामने न कुछ चीज है। इतने काल के पीछे यश के लिए मरे जाना यह कितनी व्यर्थ की बात है। पहले से बड़े पुरुष हुए हैं जिन्होंने बहुत बड़े सांसारिक काम भी किए लेकिन उनका भी नाम न

रहा। नाम भी कब तक लिए जायेगा? आखिर समय गुजरेगा, वह बात भी भूली हो जायेगी और जो कोई भी नाम लेते हैं, यश करते हैं तो कोई स्वार्थ सिद्ध होता है तब करते हैं। किसी व्यक्ति के गुजर जाने पर उसके नाम की दुहाई से भी जब तक कुछ काम बनता है, लोगों में कुछ अपने स्वार्थ के लिए बात फूंकी जा सकती है तब तक ही उस ही समय तक कुछ यश भी गा लिया जाता है, लेकिन बहुत दिनों तक टिकने वाली बात तो किसी के भी नहीं होती। अनादि काल से अब तक अनन्त तीर्थंकर हो गए। किन्तु किसका नाम कौन जानता है। तो यश भी कितने दिनों की चीज है। यह व्यर्थ की बात है। अब विचारो—कहां तक यश? लोक है ३४३ घनराजू प्रमाण में। इस समस्त लोक के सामने यह परिचित दुनिया हम आपकी कितनी सी दुनिया है। यह परिचित सम्पदा कितनी-सी सम्पदा है। इतने से क्षेत्र में यश चाह लिया तो इससे क्या पूरा पड़ा? यह भी व्यर्थ की बात है।

क्या यश—यश के स्वरूप पर जब दृष्टि दें तो यह बिल्कुल ही सारहीन नजर आता है। यश मायने क्या? किसी स्वार्थी पुरुष ने अपनी स्वार्थ साधना के हेतु किसी भवमूर्ति की ऐसी प्रशंसा कर दी कि जिससे उसकी यह चेष्टा बने कि हम लोगों को सुख हो, इस प्रकार के भावों से किसी का कुछ गुणगान कर दिया। वह गुणगान भी जीव का नहीं, हम आपका नहीं, किन्तु एक मायामय मूर्ति का। और यश और मायामय है, यश क्या चीज है? एक वचन ही तो है। वह वचन मेरे आत्मा से क्या सम्बंधित है? किसी ने कुछ बात कह दिया, प्रशंसात्मक वचन कह दिया तो उस वचन से मेरे आत्मा को क्या लाभ मिलता है? भिन्न है। अचेतन है, उसका कुछ मेरे से सम्बन्ध नहीं है। तो यश भी क्या चीज है? कल्पित, मायामय, असत्य, जिसमें कुछ शक्ति भी नहीं है, ऐसा एक माना गया यश यह सारहीन बात है। तो ऐसे यश की चाह करना व्यर्थ ही है ना। व्यर्थ तो है ही, मगर साथ ही साथ अनर्थ भी है।

यशोवाञ्छा की अनर्थता—बड़े सुयोग से आज मन पाया, मनुष्य हुए, कुछ साधन ठीक जुटे, अब इस समय में भी हम यशोवाञ्छा के अन्धकार में रहें तो इसका फल क्या होगा? जैसे संसार में त्रसस्थावर के देह हैं, जन्म हैं उनमें रहना पड़ेगा, जन्म मरण करना पड़ेगा। तब सोचिये कि अनर्थ कितना हुआ है? ये सब बातें इस शरीर के समत्त्व के कारण हैं। देह को आत्मा न माना होता और जैसा कि चैतन्यमात्र मैं हूं इस प्रकार अपनी बुद्धि में लिया होता तो यह यश चाह की विडम्बना इसे न सताती और न संसार में रुलाती। तो ज्ञानी पुरुष इस शरीर के सम्बंध में चिन्तन करता है कि यह शरीर ममत्त्व का उत्पन्न करने वाला है। शरीर ममत्त्व को उत्पन्न नहीं करता, किन्तु उपचार से कहा जा रहा है। अज्ञानीजन शरीर का आश्रय करके शरीर को उपभोग में रखकर ममत्त्व किया करते हैं। तो ममत्त्व तो कर रहे ये अज्ञानी जीव किन्तु विषय हैं उसका शरीर इस कारण यह कहा जाता है कि शरीर ममत्त्व को उत्पन्न करता है। ऐसा कहने की आवश्यकता यहां यह पड़ी कि शरीर से जीव का लगाव अधिक हैं। तो किसी प्रकार शरीर से इसका लगाव छूटे एतदर्थ शरीर किन-किन अवगुणों का आश्रय है और हमारी बरबादी का किस प्रकार से कारण है, यह बताया जा रहा है।

कामवासना की व्यर्थता व अनर्थता—दूसरी व्यर्थ और अनर्थ की चीज है कामवासना। कामवासना क्या चीज है? एक मन की कल्पना भर। जो जीव उस समय में मन की कल्पना के वश हो जाते हैं वे अपने काबू में नहीं रहते और व्यर्थ की चेष्टायें करते हैं। इसका सम्बन्ध भी शरीर से है। सो शरीर कैसा है कि विनश्वर है और अशुचि है। जिस शरीर में कामी पुरुष की वासना जगती है वह शरीर क्या है? अपवित्र , राध, रूधिर, मल सबका यह एक पिण्ड है। ऐसे अपवित्र शरीर को ज्ञानी पुरुष अपवित्र देख रहा है। इसी कारण

उसको उस सम्बन्ध में वासना नहीं होती। तो यह शरीर विनश्वर है और अपवित्र है। विनश्वरता की बात तो बहुत स्पष्ट है। हम आप देखते ही हैं कि यह शरीर छूट जाता है, जला दिया जाता है। इसमें कुछ दम तो नहीं है। अशुचिता की बात यह है कि इसमें जो कुछ भरा है कुछ भी तो ऐसा नहीं है कि जो कुछ पवित्र हो। तो ज्ञानी जीव शरीर को ऐसा विनश्वर और अशुचि निहारता है जिससे आत्मा को इस परतत्त्व से पृथक कर आत्मा के स्वरूप का आश्रय किया जाये।

स्वरूपपरायण होने के पौरुष वाले ज्ञानी का स्वरूप के सम्बन्ध में चिन्तन—अब जिस आत्मा को देह से विभक्त करके समझना है उस आत्मा के सम्बन्ध में यह ज्ञानी समझता है कि यह दर्शन, ज्ञान, चारित्र का पिण्ड है, यह आत्मा अमूर्त है, इसमें दर्शन (श्रद्धान) दर्शन (सामान्य प्रतिभास), ज्ञान-जानना, और रमना, आनन्द पाना, निराकुल रहना, ये सब इसके गुण हैं, ये गुण सुख के जनक हैं शान्ति उत्पन्न करने वाले हैं, इनसे हित ही हित प्राप्त होता है, और ये सभी गुण आत्मा के निर्मल हैं। आत्मा स्वयं अपने आप जिस स्वरूप में है वह स्वरूप अविकार है, मल रहित है, वह स्वरूप नित्य है, इसका कभी वियोग नहीं होता। ऐसे पवित्र आत्म स्वरूप को यह ज्ञानी जानता है तभी तो उस शरीर से हटकर इस परम पावन अमूर्त चैतन्य मात्र हित स्वरूप अपने आत्मा के स्वरूप में लीन होता है। यह अपने गुणों के वैभवों को स्पष्ट जान रहा है। सम्यग्दर्शन निर्मल वह है जहां किसी प्रकार का मद नहीं, शंका आदिक दोष नहीं। २५ दोषों से रहित सम्यक्त्व आत्मा का भला करने वाला है। इसी प्रकार निर्दोष ज्ञान आत्मा का भला करने वाला है। इस प्रकार राग द्वेष से रहित आत्मा के ज्ञान स्वरूप में रमण करना यह अपना शुद्ध सहज आचरण आत्मा का भला करने वाला है और यह स्वरूप नित्य है, शाश्वत है। ऐसा अपने आत्मा को हितमय आनन्दमय पवित्र निहारता है, इसी कारण यह पर से हटकर अपने आपमें लौ लगाये हुए है। भव-भव संचित किए हुए कर्म झड़ सकते हैं तो स्वभाव के आश्रय से ही झड़ सकते हैं। इसका अन्य कोई उपाय नहीं है।

अप्पाणं जो णिंदइ गुणवंताणं करेइ बहमाणं।
मण इंदियाण विजई स सरूव-परायणो होउ।।११२।।

आत्मनिन्दन करने वाले ज्ञानी की स्वरूपपरायण पात्रता—ऐसा ही जीव अपने आनन्दमय स्वरूप में लीन हो सकता है जो अपने आपकी निन्दा करता है अर्थात् जैसे पर्याय रूप में यह आत्मा चलता रहा है वह इस समय अपने स्वभाव शील पर जमा हुआ नहीं है। यह विषयों में, कषायों में, विकल्पों में चल रहा है तो यह इसका अपराध है। आत्मा का अपराध क्या है? आत्मा अपने स्वभाव दर्शन से चिग जाये और बाह्य पदार्थों में नेह मोह उत्पन्न करे तो यह उसका अपराध है। इस अपराध की वह निन्दा करता है। आत्मा का अहित करने वाले ये विषय कषाय हैं, इनकी वह निन्दा करता है, इन्हें बुरा समझता है। निन्दा तब होती है जब दृष्टि में भली बात भी चल रही हो। अपने पाप की निन्दा कौन कर सकेगा, जिसकी दृष्टि में यह झलक होगी कि आत्मा तो पापरहित स्वरूप वाला है। आत्मा पाप न करे तो इसका बड़ा उत्कृष्ट स्थान है। इसे पाप न करना चाहिए, इस बात का जिसके बोध हो वही पुरुष तो पाप की निन्दा कर सकता है। तो ज्ञानी पुरुष अपने आपकी निन्दा करता है। अपने आपकी निन्दा करने का अर्थ है आपके द्वारा किये गये विषय कषाय इच्छा आदिक के परिणामों की निन्दा करता है। जो पाप परिणामों की निन्दा करता है वही उन परिणामों से हटकर शुद्ध आत्म स्वभाव में लीन हो सकेगा।

गुणवन्तो का बहुमान करने वाले ज्ञानी की स्वरूपपरायण पात्रता—ज्ञानी पुरुष गुणवन्तों का बहुत

मान करता है। जिसको गुणों की चाह है, अपने गुण विकास से प्रेम है वह जहां भी गुण विकास देखेगा उससे वह प्रीति करेगा, उनका बहुमान करेगा। लोक में ऐसी रीति ही है, नीति ही है—जो जिसका अर्थी है वह उसके आधारों से प्रीति करता है। और इस ज्ञानी को गुणग्रहण में प्रेम उपजा है। गुण हैं आत्मा के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। सम्यग्दर्शन—अपने आत्मा के सहज स्वरूप के श्रद्धान होने को कहते हैं। देखिये—कोई चीज होती है तो वह चीज अपने आप अपना कुछ स्वरूप तो रखती ही है अन्यथा चीज ही क्या। मैं अपने आपमें सहज अपना स्वरूप तो कुछ रख ही रहा हूं, जो मेरे सत्व के कारण ही मेरे में स्वयं प्राप्त है। ऐसा सहज स्वरूप क्या है? वह सहज स्वरूप है चैतन्य, ज्ञानदर्शन व रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित वह चैतन्य स्वरूप, यही मेरा स्वरूप है, स्वभाव है, इसकी दृष्टि में जो लगता है उसको उन सब गुणवानों में प्रेम जगेगा ही जिन-जिन ने अपने ऐसे आत्म स्वरूप में लगाव लगाया हैं। जो पुरुष ज्ञान का अर्थी है वह ज्ञान में बढ़े हुए पुरुषों से प्रीति करेगा ही, उनका बहुमान करेगा ही। जो ज्ञान के रुचिया नहीं हैं, अज्ञान अंधकार में डूबे हुए हैं, उन्होंने गुणों का महत्त्व ही न जाना, वे गुणवंतों का बड़प्पन कर ही क्या सकते हैं? पर जो गुण के अर्थी हैं, गुण का रहस्य जान चुके हैं वे गुणवन्तों का बहुमान करते हैं, जो पुरुष गुणवन्तों का बहुमान करते हैं वे अपना ही वास्तविक सम्मान करते है। वे ही अपने विशुद्ध स्वरूप में लीन हो सकने के पात्र हैं। गुण कहलाते हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इनमें अपनी प्रीति होनी चाहिए और सम्यक्त्व चारित्रवान पुरुषों में अपनी भक्ति उपासना होनी चाहिए। यों जो पुरुष गुणवन्तों का बहुमान करते हैं, वे अपने स्वरूप में परायण हो सकते हैं।

मन और इन्द्रिय के विजयी ज्ञानी जीव की स्वरूप परायण पात्रता—अब कहते हैं कि मन और इन्द्रिय का विजयी पुरुष ही अपने आत्मा के स्वरूप में लीन हो सकता है। मन और इन्द्रिय क्या हैं? यह आत्मा के वैभव नहीं, आत्मा के स्वरूप नहीं, किन्तु फंसे हैं शरीर में और फंसे हैं कर्मबन्धन में, तो ये मन और इन्द्रिय एक खिड़की जैसा काम कर रहे हैं। जैसे कमरे में खड़ा हुआ पुरुष खिड़कियों से बाहर की बातों को देख लेता है, लेकिन क्या उस खिड़की से इस पुरुष का कुछ सम्बन्ध है? खिड़की ही इस पुरुष की कुछ चीज है क्या? अथवा खिड़की ही देख रही है क्या? नहीं। इस बन्धन में चूंकि वह कमरे के भीतर है, उस पुरुष की परिस्थिति ऐसी है कि वह खिड़की से ही जान सकेगा, इसी प्रकार यह जीव आज शरीर के बन्धन में, अज्ञान दशा में, कर्म फंसाव में है सो यह ऐसी परिस्थिति में है कि इन इन्द्रिय और मन की खिड़कियों से जान और देख सकते हैं, लेकिन इनका सम्बन्ध नहीं है आत्मा से और न ये इन्द्रिय मन ही स्वयं जान रहे हैं। यह तो एक कलंक है। जब तक इन्द्रिय और मन का सम्बन्ध है, उपयोग है तब तक जीव को कैवल्य की प्राप्ति नहीं होती, यह सर्वज्ञ नहीं बन सकता। ये मन और इन्द्रिय अपने विषयों में लग रही हैं, यह व्यर्थ भी है और अनर्थ भी है। इन इन्द्रिय और मन की प्रेरणा से ही ये जीव संसार में भटकते हैं, कर्मबन्ध करते हैं और नाना देहों में जन्म लेते फिरते हैं। तो जो अपने आत्मा के रहस्य को जान चुके हैं कि आत्मा सहज ज्ञानानन्द स्वरूप है, वे मन और इन्द्रिय पर विजय करते हैं और ज्ञानस्वरूप आत्मतत्व की भावना करके अपने स्वरूप में लीन होते हैं। इस तरह पर से हटकर स्वरूप में लीन होने वाले पुरुषों के विपुल कर्मनिर्जरा होती है।

तस्स य सहलो जम्मो तस्स य पावस्स णिज्जरा होदि।
तस्स य पुण्णं वड्ढदि तस्स वि सोक्खं परं होदि।।११३।।

स्वरूपपरायण के श्रेयोलाभ के प्रकरण में मूल प्राप्त भेद विज्ञान की वार्ता का प्रारम्भ—उसका

जन्म सफल है और उस ही के पाप की निर्जरा होती है और उसके ही पुण्य बढ़ता है और उसके ही उत्तम सुख होता है जो मुनि परभाव से हटकर अपने स्वरूप में लीन होता है। जिस जीव ने तत्व निर्णय करके हेय और उपादेय का विवेक किया है। हेय क्या है, उपादेय क्या है? हेय हैं समस्त पर भाव और उपादेय है स्वभाव, उस स्वभाव की दृष्टि के लिए जिसने अपना अन्तः पौरुष किया है और समझा है कि दृश्यमान यह सब जो लौकिक दृष्टि से भी असम्बन्धित प्रकट भिन्न द्रव्य है वह तो अलग है ही, किन्तु जिन्हें अपनी कल्पना में मान रखा है ऐसे घर परिवार वैभव ये भी प्रकट भिन्न हैं और जिस देह से इस जीव का एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, जहां आत्म प्रदेश वहां देह स्कंध, जहां देह स्कंध वहां आत्मप्रदेश, इस प्रकार का जहां एक क्षेत्रवगाह बन्धन है ऐसे शरीर से भी मैं आत्मा न्यारा हूं और इससे और अन्तरङ्ग पहुंचकर चिन्तन करो कि यह कार्माण शरीर जो कर्मों का पिण्ड है उससे भी मैं निराला हूं, कर्म अचेतन हैं, मैं चेतन हूं। यद्यपि इन कर्मों का ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है जीव परिणाम के साथ कि क्रोधादिक कषायों का उदय आया तो जीव में कषायें जगें, ज्ञानावरण आदि का क्षयोपशम हो, उसके अनुसार जीव के ज्ञान कुछ प्रकट हुआ। ज्ञान का वहां पूर्ण विकास होता है जहां ज्ञानावरण का पूर्ण क्षय हो जाता है, जितने अंशों में ज्ञानावरण का उदय है उतने अंशों में जीव के अज्ञान भाव हैं। सातावेदनीय असातावेदनीय आदिक पुण्य पाप प्रकृतियों का उदय आने पर उस प्रकार जीव में शुभ-अशुभ सुख-दुःख आदि परिणाम उत्पन्न होते हैं। ऐसे कर्मों के साथ जीव परिणाम का निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी जीव इन कर्मों से अत्यन्त पृथक् है। तो त्रिकाल में भी कर्म अणुओं का जीव स्वरूप में मिलान नहीं होता। यों कर्मों से भी यह मैं आत्मा न्यारा हूं।

आत्मा में उत्पन्न हुए परिणमनों से विविक्तत्व की दृष्टि—अब तक अचेतन और अचेतन के परिणमनों से विविक्ता की बात कही, अब उससे और अन्तरङ्ग भाव पर पहुंचे तो देखा कि कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव में जो सुख-दुःख शुभ-अशुभ रागद्वेषादिक भाव उत्पन्न होते हैं, यद्यपि उन भावों रूप परिणमता यह जीव ही, तथापि ये जीव के स्वरूप नहीं हैं, जीव के निजी भाव नहीं हैं ये यद्यपि रागादि जीव के ही भाव लेकिन औपाधिक भाव हैं, पर पदार्थ का निमित्त पाकर हुए हैं इस कारण ये पर भाव हैं, ऐसा जानकर उन रागद्वेषादि भावों से ज्ञानी अपने को न्यारा समझता है। इससे और अन्तरङ्ग दृष्टि पहुंची, वहां यह चिन्तन करता है कि ज्ञानावरण के श्रयोपशय और रुचि के अनुसार जो आत्मा में कल्पनायें, विकल्प, छुटपुट ज्ञान जगते हैं ये भी यद्यपि हैं जीव के परिणमन किन्तु ये नैमित्तिक हैं। कर्मों की स्थिति का निमित्त पाकर ये हुए हैं अतएव ये भी मैं नहीं हूं। इस तरह मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिक के ज्ञान विकल्पों से भी अपने को न्यारा देख रहा है। इससे और अन्तःदृष्टि में पहुंचने पर यह निरखता है कि जो यह विशुद्ध ज्ञान है, जिसमें राग का मिश्रण भी नहीं है अथवा जो राग प्रेरित भी नहीं है ऐसे तत्व के सम्बन्ध में वस्तु विषयक जो कुछ ज्ञान चल रहा है वह ज्ञान भी चूंकि ऐसा जानन मात्र मेरा स्वभाव नहीं है, यह अधूरा ज्ञान है, ऐसा अपूर्ण ज्ञान होना मेरा स्वरूप नहीं है क्योंकि मैं अपूर्ण नहीं। तो यह भी मैं नहीं हूं। मैं इससे न्यारा हूं। अन्तः और दृष्टि में गए जहां पर यह एक कल्पना जगी, यह प्रकाश हुआ कि चलो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिक ज्ञान मेरा स्वरूप यहीं है, तो न रहो, लेकिन केवल ज्ञान तो जो समस्त विश्व का जाननहार है वह तो स्वरूप होगा। अन्तःदृष्टि में पहुंचे हुए ज्ञानी के यह अनुभव हो रहा है कि परिपूर्ण समस्त लोक अलोकवर्ती पदार्थों का जाननहार ज्ञान परिणमन भी मेरा स्वरूप नहीं है। यद्यपि स्वरूप के अनुकूल ही यह शुद्ध परिणमन है जो कि आत्मा के स्वरूप का समर्थन करता है, स्वरूप का दर्शन कराने में अधिक सहयोगी बनता है ऐसा यह केवल ज्ञान भी चूंकि पर्याय है, तथापि

यह प्रतिक्षण में नया-नया स्वभाविक एक समान ज्ञान परिणमन होता रहता है इस कारण यह ज्ञान भी मेरा स्वरूप नहीं है। तब मैं क्या हूं? मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान और केवलज्ञान, इन समस्त ज्ञान पर्यायों से विविक्त किन्तु इन ज्ञान परिणतियों का आधारभूत जो एक शाश्वत ज्ञान स्वभाव है, सहज ज्ञान है वह मैं हूं, इस प्रकार ज्ञानी अन्तः दृष्टि में चिन्तन कर रहा है। इस समय भी यदि कोई यह कहे कि चलो यह ज्ञान स्वभाव मेरा स्वरूप सही, तब यह एक ज्ञान स्वभाव तो मेरा स्वरूप है इस अन्तःदृष्टि में जो समाया है उसका लक्ष्य करके उत्तर दिया जाता है कि जिस स्वभाव के सम्बन्ध में यह एक मेरा स्वभाव है ऐसे एक रूप से भी जिसको बांधा जाये तो ऐसी सीमा निरखकर जो उसका क्षेत्र केन्द्रित किया गया, इस प्रकार का केन्द्र एक रूप एक संख्या में बद्ध भी मैं नहीं हूं किन्तु एक अनेक समस्त विकल्प जालों से रहित जो चैतन्य मात्र हूं वह मैं हूं, इस प्रकार का जिसने अनुभव कर लिया ऐसा जीव सर्वत्र समता भाव धारण कर रहा है।

ज्ञानी पुरुष के समता का पौरुष—कोई दुर्वचन कहता है तो क्या, साधर्मी जनों से अपमान हो रहा है तो क्या, ज्ञानी तो कषाय बैरियों को जीतकर अपने स्वरूप में परायण हो रहा है। कैसा ही कर्मफल आया तो क्या है? जो पहले पूर्वपाप कमाया है वे निकल रहे हैं भला है, मैं उन पापों से रहित बन रहा हूं, निर्भार हो रहा हूं। किसी भी विपत्ति उपसर्ग आदिक में ज्ञानी पुरुष अधीर नहीं होता। उसकी निरन्तर प्रतीति है कि मैं देह आदिक से भिन्न ज्ञान, दर्शन, चारित्र स्वरूप निर्मल नित्य चैतन्य ज्योति हूं। कभी अपने आपमें ऐसी दुर्बलता पाता है कि कोई दृष्टि से चलित होकर किन्हीं बाह्य वृत्तियों में लगता है वह प्रायः शुभ ही होता, अशुभ तो होता नहीं। कभी परोपकार आदिक के भाव से कोई शुभ वृत्तियां भी जगें तो उन वृत्तियों पर भी अपनी निन्दा करता है क्योंकि यह आत्मा स्वरूप से हटकर पर की ओर लगने को अपराध मानता। इस तरह जो अपने अपराध की निन्दा करता है और ऐसे शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूप की दृष्टि में निरत रहने वाले गुणवन्तो का बहुमान करता है वह अपने स्वरूप में परायण होता है। ऐसे स्वरूप परायण वाले जीव का जन्म सफल है।

ज्ञानभाव के अङ्गीकार में सर्वदा लाभ—यह मनुष्य भव मिला है जिसमें बहुत कुछ समझने की योग्यता है। इस समय हम चाहें तो अपने स्वरूप का यथार्थ निर्णय करके स्वरूप में लीन होने का पौरुष बना सकते हैं। यदि इस मौके को भी खो दिया और अनेक भवों की भांति परिजनों में, पर तत्वों में स्नेह मोह ममत्व करके यह समय गंवा दिया तो इस भूल की पूर्ति होना कठिन है। इस समय यह कर्त्तव्य है कि यथार्थ आत्म स्वरूप को जानकर इसमें ही नेह लगायें, इसके ही ध्यान में रहें तो कर्म निर्जरा होगी और उसका जीवन सफल है, ऐसी वृत्ति करते हुए में जो शुभ भाव होते हैं उन शुभ भावों के कारण पुण्यरस की वृद्धि होती है। लोक में सबमें अधिक पुण्यवान महाभाग वैभव वान यदि कोई हो सकता है तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष ही हो सकता है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को चक्री, तीर्थंकर जैसा वैभव प्राप्त नहीं होता और ज्ञान धर्म की साधना हुए बिना तो कोई जीव नारायण आदि के जैसे भवों को भी प्राप्त नहीं कर सकता। भले ही पूर्वजन्म में ज्ञान प्राप्त किया हो और उसके फल में अब नारायण प्रतिनारायण होकर चाहे सम्यक्त्व न रहे, चाहे शुद्ध अभिप्राय न रहे, लेकिन विशिष्ट ज्ञान ध्यान हुए बिना इस लोक में माना गया वैभव नहीं मिलता है तो धर्म का तो चहुं ओर प्रताप है। भीतर कर्म की निर्जरा हो रही है, मुक्ति के मार्ग में प्रगति हो रही है और जब तक संसार में रहना होता है तब तक बड़े वैभव और पुण्य ठाठ-बाट के साथ ज्ञानी का संसार में वास रहता है। यों इस ज्ञानी जीव के पुण्य की वृद्धि होती है और उत्तम सुख जो मोक्ष सुख है वह भी अपने स्वरूप में लीन होने वाले पुरुषों को ही प्राप्त होता है।

जो सम-सोक्ख-णिलीणो वारंवारं सरेइ अप्पाणं।
इंदिय-कसाय-विजई तस्स हवे णिज्जरा परमा।।११४।।

निर्जरा का फल अधिकार आदि जानकर अपने कर्त्तव्य के पालन का अनुरोध—जो समता के सुख में लीन होता हुआ बार-बार आत्मा का स्मरण करता है—वह इन्द्रिय कषाय पर विजय करने वाला महाभाग भव्य मुनि जीव शान्ति का अनुभव करता हुआ उत्कृष्ट निर्जरा को करता है। इस जीव ने पहले कषाय और योग के कारण अनेक कर्मबन्ध किया था। आज के समय में हम आपके जीव के साथ या जगत के किसी भी जीव के साथ कितने भवों के कर्म बंधे हुए लदे हैं, इसका उत्तर हजार लाख भव तक के कहने में भी नहीं बनता। अनगिनते भवों तक के भी बंधे हुए कर्म इस जीव के साथ लगे हुए हैं। उन उदय प्राप्त अनेक निषेकों का उदय तो आ रहा है एक साथ और जिनका उदय आ रहा हैं वे कर्म करोड़ों वर्षों से बंधे हुए हैं, तब जीव पर कषायों का बड़ा आक्रमण है निमित्त दृष्टि से कर्मों का और उस समय जीव जो अपने स्वरूप से च्युत होकर परभावों में लगता है यह आक्रमण इस जीव पर इस आत्म देव पर कितना भयंकर आक्रमण है जो संसार में जन्म-मरण कराने का कारण बनता है। तो उन कर्मों की निर्जरा किए बिना हम आपका भला नहीं हो सकता। यहां चार दिन की यह चांदनी दिख रही है, कुछ वैभव प्रसंग आ रहे हैं जिनमें अपने मन को स्वच्छन्द बनाया जा रहा है, हठ की जा रही है ऐसा यह समय तो स्वप्नवत् हो जायेगा यहां के किये हुए पाप के फल में इसे जन्म-मरण की परम्परा में बहना होगा। तो कर्त्तव्य यह नहीं है कि जैसा मन ने चाहा वैसी ही हठ करके अपना मन खुश रखना। कर्त्तव्य यह है कि ऐसे सुकृत करना जिन कार्यों से ये कर्मों के निषेक निर्जीर्ण हों।

कर्मनिर्जरा के कर्त्तव्यपालन में—ये कर्म खिर रहे हैं। ये कर्म अभी थे और अब नहीं हैं, ये कर्म यों जा रहे हैं, इस बात का तो हम आप तो नहीं परख सकते लेकिन विशिष्ट मुनि जिनके विशिष्ट अवधिज्ञान है ऐसे उत्कृष्ट अवधिज्ञान की धारी मुनि इस बात को साक्षात् समझ रहे हैं, ओह ये कर्म खिरे, इनकी निर्जरा हुई, इस तरह से दूर हुए, इस तरह उन रूपी सूक्ष्म कार्माण स्कंधों का ज्ञान उन विशुद्ध हृदय वाले उत्कृष्ट मुनिजनों के उत्कृष्ट अवधिज्ञान में संभव है। इन कर्मों की निर्जरा होने का हमें ज्ञान हो अथवा न हो। मतलब तो काम से है। देखने और गिनने से क्या मतलब है? जो जीव परभावों से विरक्त होकर अपने स्वरूप में लीन होता है वह चाहे शास्त्रों का विशेष ज्ञाता भी नहीं है, किन्तु प्रयोजनभूत आत्मीय शुद्ध तत्व का ज्ञाता है और अष्टप्रवचनमालिक की उपासना करने वाला है, ऐसा जीव इन कर्मों से छूटता है और मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

ज्ञानी के अकर्ता अभोक्त संसार मोक्ष कल्पना से विविक्त अन्तस्तत्व का चिन्तन—भैया! सब प्रकार की अशान्तियां दूर करने के लिए कर्त्तव्य है आत्मस्वरूप के अवलोकन का। सब कुछ काम कर रहे हैं। काम कुछ नहीं करते, केवल कल्पनायें ही बनाते हैं, जीव कितना है यदि उतने स्वरूप को निरखकर निर्णय करें तो आप स्वयं समझ लेंगे कि यह मैं आत्मा केवल अपने आपमें अपने भाव करता हूं। मैं अपने भावों में इच्छा बनाता हूं और जो इच्छा के कारण मेरे आत्म प्रदेश क्षुब्ध होते हैं, इनका परिस्पंद होता है। यों योग, इच्छा, ज्ञान इनके तो हम करने वाले हो सके, पर इनके बाहर मैं कुछ भी कर सकने वाला नहीं हूं। अन्य की तो बात जाने दो। मैं अपने इस हाथ को इस चौकी के खूंट से उठाकर दूसरे खूंट पर रख दूं, सो भी नहीं कर पाता, यद्यपि देख रहे हैं लोग ऐसा कि हाथ यहां से उठाकर वहां रख दिया! तिस पर भी मैं इस हाथ के रखने का कर्ता नहीं हूं। जो अन्तः अमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा है उस आत्मा में यह कर्त्तव्य न हो पायेगा कि इस

हाथ को इधर से उठाकर उधर रख दें, किन्तु हो तो रहा है ऐसा। हां हो रहा है, लेकिन किस प्रकार हो रहा है उसे तो जानो। यह सब निमित्त-नैमित्तिक भावों से हो रहा है, न कि आत्मा सीधा इस हाथ को उठाकर दूसरी जगह रखता है। हुआ क्या कि आत्मा ने तो एक इच्छा उत्पन्न की कि मैं यहां से हाथ उठाकर यहां रखूं और उस बलवती इच्छा के कारण आत्मा के प्रदेशों में उस प्रकार का योग हुआ, आत्मप्रदेशों में परिस्पंद हुआ, उस योग के निमित्त से चूंकि शरीर व आत्मा का एक क्षेत्रावगाह बन्धन है तो शरीर में उस प्रकार का हलन-चलन हुआ। शरीर के हलन चलन होने का मूल कारण बनता है वायु। उस प्रकार शरीर में वायु चलती और वात के अनुकूल ये अंग चले, तो एक खूंट से उठकर यह हाथ दूसरे खूंट में आ गया, पर इस स्थिति में भी जो आत्मा हूं, जिस स्वरूप को लिए हुए हूं उस आत्मा ने हाथ को उठाकर यहां से वहां नहीं रखा। अब आप सोचिये कि घर बनाना, धन कमाना और अनेक प्रकार के काम, जिन कामों में निरन्तर यह जीव विकल्प रखा करता है कुछ काम कर देना क्या इस आत्मा का कार्य है? नहीं है। तो ऐसा परिणाम, ऐसा निर्णय, ऐसा प्रकाश जिस जीव के है तब वह अपने को अकर्ता और अभोक्ता के रूप में अनुभव करता है। यहां तक कि संसार और मोक्ष इनके विकल्पों से भी रहित केवल शुद्ध चैतन्य मात्र अपने आपका अनुभव करता है। तो इस भव्य जीव के अन्तः पौरुष के प्रताप से संसार संकट नष्ट हो जाते हैं।

कर्मों से छुटकारा पाने का एक मात्र मूल उपाय—यह भव्य जीव जो दुःख के हेतुभूत कर्मों का विनाश कर रहा उसका वह मूल उपाय क्या है? वह मूल उपाय एक है, धर्म का स्वरूप एक है, धर्म करने की विधि एक है। भले ही कोई धर्मविधि में आगे बढ़ता है कोई धर्मविधि में पीछे रह रहा है, लेकिन उन सबकी विधि एक है। बड़े-बड़े ज्ञानी ध्यानी मुनिजन भी मोक्षमार्ग में जो बढ़ रहे हैं वे एक इस शुद्ध आत्मस्वभाव की दृष्टि से ही बढ़ रहे हैं, इस सहज ज्ञान स्वभाव के आलम्बन के प्रताप से ही बढ़ रहे हैं और जो साधारण मुनि मोक्ष मार्ग में चल रहे हैं वे भी इस शुद्ध चैतन्य मात्र अंतस्तत्त्व के आलम्बन से ही चल रहे हैं, जो गृहस्थ भी अपनी शक्ति के अनुसार मोक्ष मार्ग में चल रहे हैं वे भी इस निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य मात्र भाव के आलम्बन से ही चल रहे हैं। मोक्ष मार्ग में चलने की विधि एक है, धर्म एक है और कर्म निर्जरा होने का उपाय भी यह धर्म है, वह एक है, अपने स्वरूप का आलम्बन करना। क्योंकि कर्म आये हैं कषाय भावों का निमित्त पाकर। वे कषायें न जगें तो स्थिति क्या बनेगी? एक कषाय रहित। उस स्थिति में आलम्बन किसका लिए हुए हैं? इस ही अविकार ज्ञानानन्द स्वभाव अन्तस्तत्व का। तो जो पुरुष सर्व प्रकार से तत्व निर्णय करके पर भावों से हटकर इस ज्ञानानन्द मात्र आत्मस्वरूप में लगता है उसके परम निर्जरा होती है और निर्जरा का फल है मोक्ष। जब नये कर्म न आये, संवर भाव बन गया और संचित कर्म निर्जीर्ण हो गए, कर्मों से छुटकारा हो गया तब अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द प्रकट होगा, इस ही का नाम मोक्ष है। तो सत्य शान्ति प्राप्त करने के लिए यह उद्यम होना ही चाहिये कि हेय उपादेय का ज्ञान करें। हेय से छूटकर उपादेय भूत सहज ज्ञान मात्र आत्मा की उपासना में रहा करें।

●●●

अनुप्रेक्षा प्रवचन तृतीय भाग

लोकानुप्रेक्षा

सव्वायासमणंतं तस्स य बहु-मज्झ-संठिओ लोओ।
सो केण वि णेव कओ ण यह धरिओ हरि-हरादीहिं।।११५।।

लोकानुप्रेक्षा में सर्वप्रथम लोक के स्थान का निर्देश—अब इस अनुप्रेक्षा ग्रन्थ में लोक अनुप्रेक्षा का वर्णन किया जा रहा है। लोक क्या है, किस तरह की उसमें रचना है, कैसे जीव रहते हैं और लोक में कैसे भ्रमण होता है? उसके सब विषयों का वर्णन इस भावना में आया है। सर्वप्रथम यह जानना जरूरी है कि लोक है क्या? लोक शब्द का अर्थ है जहां समस्त पदार्थ देखे जायें। जहां जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये छहों द्रव्य पाये जाते हैं उसका नाम है लोक। यह लोक कहां है? यह समस्त आकाश के बीच में स्थित है। सारा आकाश कितना है? अनन्त। क्या आकाश का कहीं अन्त आ सकता है? जैसे कल्पना करो कि कोई अनगिनते वर्षों की उम्र वाला पुरुष हो और बहुत तेजी से गमन करता हुआ चला जाये तो क्या उसको कोई ऐसा स्थान मिलेगा कि जिसके बाद अब आकाश न हो? आकाश न हो तो क्या होगा? कोई पिण्डभूत चीज। तो पिण्डभूत चीज भी आकाश में रहती है और उस पिण्ड का पिण्ड अन्त है तो उसके बाद भी आकाश है। आकाश का अन्त नहीं आ सकता, मोटे रूप से भी यों परख लो कि आकाश है एक पोल जैसी चीज। तो पोल का कहीं अन्त आये तो क्या मिलेगा? कोई ठोस चीज। ठोस का तो नियम से अन्त होता है, उसके बाद भी पोल आयेगा, पर पोल का अन्त नहीं है। एक मोटी बात कह रहे हैं। आकाश कोई अभावात्मक वस्तु नहीं है। किन्तु सद्भावरूप अनन्तप्रदेशात्मक एक पदार्थ है। उस आकाश का अन्त नहीं है। ऐसे अनन्त आकाश के बीच यह लोक है। लोक कहीं भी हो, वह तो आकाश के बीच ही है। चारों ओर आकाश अनन्त पड़ा हुआ है। तो समस्त आकाश अनन्त है और उसके बहुत मध्यम में स्थित लोक है।

लोक का आकार व परिमाण—इस लोक का आकार एक इस तरह का है कि जैसे मानो ७ लड़के एक-सी ऊंचाई वाले हैं, एक के पीछे एक खड़ा हो जाये और वे ७ लड़के पैर पसारकर कमर पर हाथ धरकर खड़े हो तो यह लोक का आकार बनता है। उसमें मानो कि एक पैर से दूसरे पैर तक नीचे जितनी दूर है वह है ७ राजूप्रमाण और नीचे से लेकर ऊपर सिर की ग्रीवा तक वहीं तक ही लोक है। उसका परिमाण है १४ राजूप्रमाण। और नीचे से यह ७ राजू घटते-घटते जो कटिभाग तक घट गया है वहां है एक राजूप्रमाण। फिर इसके ऊपर जो कमर पर हाथ रखने से टेहुनियां फैली हुई हैं तो उनका क्षेत्र है ५ राजूप्रमाण। फिर वे टेहुनियां और सिकुड़कर सिर तक जो क्षेत्र रह गया वह है, एक राजूप्रमाण, लेकिन पीछे की तरफ सब जगह ७-७ राजू हैं, इसलिए ७ लड़कों का दृष्टान्त बताया है। कमर के पीछे देखो तो ७ राजू हैं, ७ लड़के हैं। पैर के अंगूठे की तरफ देखो तो ७ राजू हैं। बीच में कहीं भी निरखो सर्वत्र ७-७ राजू हैं। इस तरह गणित के अनुसार यह लोक

३४३ घनराजू प्रमाण बन जाता है। अब एक राजू का प्रमाण कितना बड़ा है? जिसको एक मध्य लोक के परिमाण के उदाहरण से बताया है। यह मध्यलोक जो कि कटि भाग पर है नक्शे में वह मध्यलोक है एक राजूप्रमाण सूची वाला, जिसमें कि असंख्याते द्वीप समुद्र समाये हुए हैं, जो एक-दूसरे को घेरे हुए हैं। उसमें जो प्रथम द्वीप है जम्बूद्वीप, उससे दूना है समुद्र, उससे दूने विस्तार का है द्वीप, इस तरह से एक ओर दूना विस्तार चला गया है। जम्बूद्वीप है एक लाख योजन प्रमाण। तब ध्यान में लाइये कि एक राजू कितना बड़ा होता है? ऐसे-ऐसे ३४३ घन राजू प्रमाण लोक है।

पदार्थसमूह की स्वयं सिद्धता होने से लोक की अकृतता—यह लोक क्या है, इस सम्बन्ध में चर्चा चल रही है। तो यहां यह बात हुई कि सारा आकाश अनन्त है, जिसकी सीमा नहीं, कहीं अन्त ही नहीं है, सीमा की कल्पना ही नहीं आ सकती। उस आकाश के बीच में लोक रचना है। यह लोक एक पुरुषाकार है। ३४३ घनराजू प्रमाण है। इस लोक को किसने रख रखा है? किसने कर रखा है? ये दो प्रश्न प्रायः सबके चित्त में आते हैं। इस दुनिया को साध किसने रखा है और इस दुनिया को बनाया किसने है? इन दो बातों के सम्बन्ध में लोगों की भिन्न-भिन्न धारणायें हैं और कुछ लोग न समझकर भी कुल परम्परा में चले आये पुराणों में लिखा है, इस कारण भी किसी रूप मानते हैं। कोई लोग मानते हैं कि इस लोक को किसी एक ईश्वर ने रचा है। यद्यपि आज के समय में इस तरह की अदृष्ट अकल्प्य कल्पना करने का रिवाज नहीं है, न प्रायः लोग मानते हैं, फिर भी बहुत से लोग ईश्वरभक्ति के नाम पर ऐसा सोचते हैं कि इस सारे लोक को ईश्वर ने रचा है, जब इस समूचे लोक को ईश्वर ने रचा है तो हम कुछ न रहे। हमें ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए अन्यथा वह दुःख देगा, ये सब बातें उनके गर्भ में पड़ी हुई हैं। ईश्वर ने यदि रचा तो मोटी-सी इतनी बात केवल विचार लीजिये कि उसने रचा क्यों? कारण ही पूछा जाये। क्या उस ईश्वर को कुछ बेचैनी थी जो रचा? क्या उस ईश्वर को जीवों पर दया आयी कि ये रचे जायें और अच्छी तरह रहें। क्या दया के वश होकर उसने सृष्टि रची या ईश्वर का ऐसा स्वभाव ही है कि वह रचता ही है या ईश्वर को कुछ ऐसा खेल ही मन में आया कि ऐसा खेल रच डालें कि इस तरह से दुनिया को बनायें? कुछ भी तो कारण कहो? यदि कहो कि ईश्वर को बेचैनी थी सो अपनी बेचैनी मिटाने के लिए जगत को रचा। तो जिसको बेचैनी हो वह क्या परमात्मा हो सकता है? जिसको बेचैनी है वह तो संसारी जीव है। और रच करके भी चैन क्या पाया होगा? और ज्यादा बेचैनी बढ़ा लिया होगा। जब घर में कुछ कुटुम्ब बढ़ता है सोचते तो हैं ये मनुष्य पहिले कि मेरे ऐसे बच्चे हों, ऐसा परिवार बढ़े, बहुत पुत्र हों तो शान्ति प्राप्त हो। पर उतने बच्चे प्राप्त हो जाने के बाद वे बजाय चैन के बेचैनी ज्यादा अनुभव करते हैं। कितने पदार्थ कितने जीव कहां पड़े, क्या कर रहे, सबका हिसाब मन में सोचते हैं, यह कहां चैन का कारण बन सकता है। यदि कहो कि उसने जीवों पर दया करके जीवों को बनाया है तो वाह री दया, न बनती यह दया तो ज्यादा अच्छा था। किसी को कुछ कष्ट ही न था। अब दुःखी हैं लोग, दुर्गति में पड़े हैं, कष्ट पाते हैं और दया का स्वभाव था तो दया ही अन्त तक निभानी चाहिए। फिर क्यों किसी को दुःखी किया जाता है? यदि कहो कि उस ईश्वर का खेलने का स्वभाव था, खेल-खेल में उसने यह सारी रचना बनायी, तो ऐसा खेल तो बिल्कुल नादान बच्चे किया करते हैं कि उनका तो खेल हो और यहां जीव भाड़ में भुने जायें। तो स्वभाव भी प्रभु का ऐसा नहीं कहा जा सकता जो दूसरे के दुःख का कारण बने।

ईश्वर का ऐश्वर्य और वैज्ञानिक युक्ति से लोक की अनादिनिधनता—तथ्य तो यह है कि ईश्वर

का ऐश्वर्य इस कारण नहीं है कि वह जगत की रचना करे और स्वयं बेचैन रहे। ईश्वर का ऐश्वर्य तो इस कारण है कि उसका ऐसा शुद्ध स्वरूप है वहां कि शुद्ध ज्ञान का विकास है, उसमें शुद्ध आनन्द है, पूर्ण निर्मल है, योगीजनों का ध्येय है, योगी पुरुष उस ज्ञान ज्योति स्वरूप तत्व को निहार कर अपने आपकी ज्योति प्राप्त करते हैं, कर्म नष्ट करते हैं। तो ईश्वर का ऐश्वर्य तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द से सम्पन्न होने से है, न कि यहां-वहां के किसी जीव को रचना। अब दूसरी बात दार्शनिक दृष्टि से देखा जाये तो चीज बनने में दो कारण हुआ करते हैं--निमित्त और उपादान। देख ही रहे हैं आप। कुम्हार यदि घड़ा बनाता है तो उसमें निमित्त है कुम्हार, दण्ड, चक्र आदिक और उपादान है मिट्टी। उपादान कारण उसे कहते हैं कि जो कार्यरूप बने और निमित्त कारण उसे कहते हैं कि जो कार्य से अलग रहे, कुम्हार घड़े में मिला है कि अलग है? अलग है। दंड, चक्र आदिक घड़े से अलग हैं, वे सब निमित्त कारण हैं। उपादान कारण तो मिट्टी है जिसका परिणमन घड़ा बना। तो प्रत्येक कार्य के निष्पन्न होने में दो कारण आते हैं—उपादान कारण और निमित्त कारण। सो ईश्वर उपादान कारण है या निमित्त यदि यह लोक बनाया तो बतलाओ कि इस सारी दुनिया का वह ईश्वर उपादान कारण? उपादान कारण यदि मानते हैं तो उसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर ही लोकरूप बन गया, ईश्वर ही इतने जीवों रूप बन गया। अब ये जीव जो भी पाप करते हैं तो वह ईश्वर का काम है। यदि दुःख-सुख पाते हैं तो ईश्वर का काम है। उपादान कारण की व्यवस्था नहीं बनती। यदि कहो कि ईश्वर निमित्त कारण है तो यह भी एक बहुत विचारणीय बात है, पर इस सम्बन्ध में इतना ही थोड़ा समझ लें कि कोई निमित्त कारण होता है तो हो, पर कार्य बनने में उपादान अवश्य होना चाहिये। यदि ईश्वर इस समग्र जगत का निमित्त कारण है सो यों कदाचित् मान भी लें लेकिन किस चीज से जीव बनाया, किस चीज से पुद्गल बनाया, वह चीज तो अलग ही है? जैसे घड़ा बनाने में कुम्हार निमित्त कारण है, लेकिन कुम्हार ने अपने आपको ही तो घड़ा नहीं बना दिया। मिट्टी उपादान को ग्रहण करके उस मिट्टी में ही तो परिणमन किया। इसी प्रकार यदि लोक का निमित्त कारण ईश्वर है तो ये सारे पदार्थ स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। ये हैं सब तब तो उनका कोई रूपान्तर किया ईश्वर ने, यह बात सिद्ध हो जायेगी। तो दार्शनिक दृष्टि से, युक्तियों से, अनुभव से यह बात युक्तिसंगत नहीं बनती कि इस लोक को किसी ने भी किया। यह लोक तो अनादि निधन है, जो है वह अनादि से है। अनन्त काल तक रहेगा। जो है वह कभी नष्ट नहीं हो सकता। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव तत्त्व की अनादि निधनता न जानकर व्यर्थ कल्पनायें करके दुःखी होते हैं, हाय मैं तो मर जाऊंगा, नष्ट हो जाऊंगा। अरे जगत में कोई पदार्थ है भी क्या ऐसा कि जो समूल नष्ट हो जाये? हो ही नहीं सकता। किसी में भी सामर्थ्य नहीं है कि अपने या पराये किसी का भी कोई समूल नाश कर सके। तो ये सब पदार्थ अनादि काल से हैं।

दुःखहेतु से हटकर सुखहेतु में लगने के लिये लोक का स्वरूप ज्ञान की अत्यावश्यकता—लोक क्या चीज है? पदार्थों के समुदाय का नाम का लोक है। "लोक्यन्ते अवलोक्यन्ते सर्वाणि द्रव्याणि यत्र स लोकः"। जहां पर सारे द्रव्य देखे जायें उसे लोक कहते हैं। कितने हैं पदार्थ? अनन्तानन्त जीव। अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश द्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य। इस प्रकार ६ जाति में विभक्त ये अनन्तानन्त पदार्थ हैं। पदार्थों का यह सब परिज्ञान करना यह अपने ज्ञान, शान्ति, ध्यान के लिए बहुत आवश्यक है। हम आपका इन सब पदार्थों में जो मोह लगा हुआ है, रागद्वेष जगता है यह क्या हितरूप

है, क्या सत्य है? यह दुःखरूप है। इससे हटना है। इसका उपाय कौन बतायेगा? और क्या उपाय है? सम्यग्ज्ञान। जिससे हटना है, उसके हेयपरे का, उसकी भिन्नता का, उसकी अकिञ्चित् कर्ता का जब तक बोध न हो तब तक उससे कोई हट कैसे सकता है? कोई पुरुष विषपान क्यों नहीं करता? वह जानता है कि यह विष अहित कर चीज है सो उससे हट जाता है। तो यों ही यदि इन पंचेन्द्रिय के विषयों से हटने का भाव है तो इन इन्द्रिय विषयों का यथार्थ स्वरूप परखना ही होगा, तब इससे हट सकते हैं। यदि सहज परम आनन्दमय निज स्वरूप में रमने का संकल्प हो तो अपने आपके सहज स्वरूप का ज्ञान करना ही होगा। तब आप अपने में रम सकते हैं। एतदर्थ सर्व पदार्थों का परिज्ञान करना बहुत आवश्यक है। ये सब पुद्गल हैं जो रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये इन्द्रिय के ५ विषय हैं। ये सब पौद्गलिक हैं, भिन्न हैं, इनसे मेरे आत्मा का सम्बन्ध नहीं है। इनकी प्रीति में आत्मा अपने आपके स्वभाव दर्शन से चिग जाता है। और संसार में जन्म-मरण प्राप्त करता है।

विषयों की असारता के परिचय में पदार्थ यथातथ्य के ज्ञान का सहयोग—देखो तो रूप क्या चीज है? केवल दूर से आंखों से देखने भर की बात है। उसका और क्या उपयोग हो सकता? उसे पकड़ नहीं सकते। उसे स्वाद नहीं सकते, उसे किसी अन्य काम मे ला नहीं सकते। बस एक दूर से देखने भर की चीज है और है भिन्न ही, जिससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं और उसमें यह अज्ञानी जीव रमता है, यों ही सभी विषयों की बात समझिये। रस क्या चीज है? जो एक रसना इन्द्रिय के जरा से सम्पर्क से कुछ स्वाद समझ में आ गया वही तो रस का ज्ञान है। वह रस आत्मा में नहीं आता। आत्मा अमूर्त है, केवल ज्ञान करता है और ज्ञान के साथ उसे लगी है आसक्ति। उसमें है वह मुग्ध, सो कल्पनायें करके आनन्द मानता है कि मुझे बड़ा मौज मिल रहा है। है क्या वहां? कर्मबन्ध और कहो अपने स्वास्थ्य को भी बिगाड़ ले। तो रस आत्मा के किस काम आता है? यों ही सारी बातें समझ लीजिये। गंध से आत्मा का क्या प्रयोजन बनता हैं लोग कहते हैं कि खूब अधिक सुगंधित वातावरण हो तो स्वास्थ्य अच्छा रहता है लेकिन अनुभव करके परख लोगे और वैद्यक शास्त्रों में भी बताया गया है कि कृत्रिम अति सुगंधित वातावरण से स्वास्थ्य पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि उससे हानि है। लोग तो मौज मानते हैं सुगंधित पदार्थों के सूंघने में, लेकिन नाक पर ही आप इत्र का फोवा धरे रहें तो उससे भी आप ऊब जायेंगे। यह चीज तो बहुत समय तक न मिले, फिर थोड़ी देर को मिले तो वह मौज का कारण बन पाती है सो वह भी कल्पित मौज का लगातार उसका सम्पर्क रहे तो उससे परिकल्पित मौज भी नहीं मिलती। हर एक विषय की यही बात है। भोजन करते ही रहें, तो उससे भी आप ऊब जायेंगे। बहुत कुछ त्याग के बाद फिर आप थोड़ा ग्रहण करेंगे तो कुछ परिकल्पित सुख पायेंगे, पर ग्रहण किए रहने में सुख न पा सकेंगे। यों ही रूप की बात है। किसी रूप को आप टकटकी लगाकर निहारते रहें, आपको स्वतंत्रता है, तो आप ऊब जायेंगे। और आपको फिर उससे मौज न मालूम होगा। न देखें बहुत दिनों तक, कभी-कभी ही देखें तो आपको उसमें सुख मालूम होगा।

त्याग का प्रसाद और वस्तु विज्ञान का प्रताप—देखो भैया! ये जरा-सी मौजें भी बहुत बड़े त्याग के बाद मिल पाती हैं। खाने का मौज भी देख लीजिए ६ घंटे अथवा १२ घंटे के त्याग के बाद मिल पाता है । राग-रागनी के शब्द खूब सुनते रहो, चार घंटे, ६ घंटे अथवा रात भर सुनते रहो तो आपको उसमें भी ऊब आ जायेगी। आप अधिक समय तक सुनते रहें तो फिर उसमें आप को मौज न मिल पायेगी। बहुत दिनों तक आप

उसका त्याग किए रहें, फिर सुनें तो आप मौज मानेंगे। तो इन विषयों का सुख भी त्याग से मिलता है। यदि कोई पुरुष ज्ञानबल से इन विषयों का सदा के लिए त्याग कर दे तो उसको तो आत्मीय शुद्ध सहज आनन्द जगेगा। ये सारी बातें हमको इन द्रव्यों के यथार्थ परिज्ञान से विदित होंगी इस कारण सबका जानना अति आवश्यक है। लोग यों कह देते हैं कि अजी! धर्म करने के लिए इतने बड़े ज्ञान की और इतने बड़े शास्त्रों की क्या आवश्यकता है? तो लोग यों ही कह तो डालते हैं और उनसे कहें कि अच्छा आप इनका आलम्बन न लीजिए, इनका आपको ज्ञान नहीं है, आपको कर्त्तव्य बता दिया जाता है कि धर्म कैसे किया जाता है, कैसे आत्मा में लीन होना, कैसे शान्ति पाना, यह कैसे बनेगी? आप ही दिखा दीजिये—तो नहीं किया जा सकता। जब पदार्थों का सर्वतोमुखी ज्ञान होगा तब वह स्पष्टता चित्त में आयेगी कि मैं सबसे निराला अमूर्त्त केवल चैतन्यस्वरूप हूं। यह मैं अपने आप में परिपूर्ण हूं। मेरा मैं ही सर्वस्व हूं। अपने में लीन होने का यत्न करेंगे और कर्मनिर्जरा कर लेंगे, मुक्ति प्राप्त कर लेंगे, शान्ति लाभ ले लेंगे। तो एतदर्थ इस लोक के इस विस्तृत स्वरूप का जानना भी अति आवश्यक है।

लोक की अनादि सिद्धता—इस लोक को किसी ने किया नहीं है, क्योंकि लोक नाम है समस्त पदार्थों के समूह का। जो पदार्थ है वह है, जो नहीं है वह नहीं है। कभी सत् का विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती, यह बात वस्तु-स्वरूप से ही सिद्ध है। प्रत्येक पदार्थ सत् है और सत् का लक्षण है—उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्। जो उत्पादव्ययध्रौव्य से युक्त हो वह सत् कहलाता है। तो वस्तु है, इस ही नाते से उसमें उत्पादव्यय पड़ा हुआ है। प्रत्येक पदार्थ इस ही लक्षण के कारण प्रति समय में नवीन पर्यायों से व्यक्त होता है और पुरानी पर्यायों से विलीन होता है। और ऐसे उत्पाद व्यय निरन्तर होते रहते हुए भी सदा उस वस्तु भूत पदार्थ का सत्व रहता है। तो जब उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मकता पदार्थ का स्वरूप है तो इससे सिद्ध है कि पदार्थ किसी के द्वारा किए गए नहीं हैं। इससे उत्पाद व्यय ध्रौव्य का विश्लेषण किया जाये तो यों समझना चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ में अनन्त शक्ति है और समस्त शक्तियों का प्रति समय कोई न कोई परिणमन रहता है। ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि मात्र शक्ति हो और उसका व्यक्त रूप कुछ नहीं हो तो जो शक्तियां हैं उनका नाम है गुण और जो शक्ति के व्यक्त परिणमन हैं उनका नाम है पर्याय। प्रत्येक पदार्थ गुण पर्याय रूप है। गुण तो है ध्रुव और पर्याय है अध्रुव। उन गुणों का जब भेददृष्टि से दर्शन करें तो उसका नाम है द्रव्य। यह सब भेद कथन समझने के लिए है। वस्तुतः द्रव्य तो अवक्तव्य है, लेकिन द्रव्यभूत उस स्वभाव को समझने के लिए भिन्न-भिन्न शक्तियों के रूप में व्यवहार है और यह व्यवहार समीचीन अनुरूप है व इसी कारण तथ्यभूत है।

इस लोक का किसी चेतन, प्रभु, कीली आदि के द्वारा धारण किये जाने का अभाव—इस लोक को किसी ने धारण नहीं किया। जैसे कुछ पुराने लोगों की मान्यता है कि इस लोक को किसी भगवान ने रख रखा है अथवा भगवान का कोई अवतार हुआ, जैसे सूकर का अवतार हुआ, उसने पृथ्वी को धारण किया, शेषनाग इस पृथ्वी को धारण किए हुए है ऐसा कुछ लोगों का ध्यान है, और आज के कुछ लोगों का ऐसा भी ध्यान गया है कि यह पृथ्वी एक कीली पर टिकी हुई है, लेकिन यह पृथ्वी यों किसी के आधार पर नहीं है। आधार है पृथ्वी का तो वातवलय आधार है, पर कोई मनुष्य चेतन, अवतार, ईश्वर, ये इस पृथ्वी के अधिकरण नहीं हैं। अब जैसे कुछ लोग कहते हैं कि इस पृथ्वी को शेषनाग धारण किए हुए हैं। इस शब्द में अर्थ यह

निकलता है कि पृथ्वी वायुबलय के आधार है। शेषनाग का वायु कैसे अर्थ निकला? नाग में तीन शब्द हैं—न-अ-ग, गच्छति इति ग; जो गमन करे, चले उसको ग कहते हैं। तो 'ग' का अर्थ हुआ वायु। हवा ही एक ऐसी है जो चलती रहती है, और न गच्छति इति अगः। जो न चले उसे अग कहते हैं अर्थात् अवायु। और न अग इति नागः अर्थात् अवायु नहीं। तो इसका अर्थ है वायु। शेष मायने बची हुई, या अन्त में पड़ी हुई अर्थात् सारे लोक में सर्वत्र हवा भरी हुई है—लेकिन लोक के अन्त में कोई खास हवा है जिसका नाम वातवलय है। इस पुरुषाकार लोक के चारों ओर घन बातबलय, घनोदधि वातवलय और तनु वातवलय नाम की तीन मोटी हवायें हैं जिनके आधार पर यह लोक टिका हुआ है, पर इसे किसी जीव ने अथवा किसी अवतार ने धारण किया हो, ऐसी बात नहीं है।

सर्व आकाश के अथवा लोक के मध्य भाग का कथन—अब इस लोक का मध्य स्थान कौन सा है? तो लोक है एक पुरुषाकार, जिसके बीच में है जम्बूद्वीप और उस जम्बूद्वीप के ठीक बीच में है मेरुपर्वत, जिस पर्वत पर भरत क्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र, पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह में उत्पन्न होने वाले तीर्थंकरो का अभिषेक किया जाता है। अब मेरुपर्वत की जड़ में उस पर्वत के ठीक नीचे बीच में, जड़ के नीचे ८ प्रदेश ऐसे हैं जो समस्त लोक का मध्य भाग पड़ता है। यदि ५ अंगुली हैं तो मध्य की अंगुली एक कहलायी और यदि चार अंगुली हैं तो मध्य की अंगुली २ कहलायीं। एक तो नहीं कह सकते। चार अंगुलियों के बीच में एक कौन सी अंगुली है सो तो बताओ? दो अंगुली बोली जायेंगी। तो यों समझिये कि जितना यह लोक है, इस लोक में कितने प्रदेश हैं? प्रदेश के मायने छोटे-छोटे स्थान, एक सूई की नोक कागज पर गड़ा दी जाये तो जितने में वह गड्ढा हुआ है उतने में अनगिनते प्रदेश हैं। यानि स्थान का ऐसा सूक्ष्म हिस्सा कि जो किया नहीं गया किन्तु कल्पना में समझा गया, जिसका कि दूसरा विभाग नहीं हो सकता। ऐसे-ऐसे आकाश के छोटे प्रदेश एक-एक प्रदेश में उस सुई की नोक के गड्ढे में अनगिनते हैं। तो इस तरह लोक में प्रदेश कितने हैं? अनगिनते। उनकी गिनती नहीं की जा सकती। जब एक अंगुली भर जगह के प्रदेशों में गिनती नहीं है तो फिर ३४३ घनराजू प्रमाण लोक के प्रदशों की क्या गिनती हो सकती है? तो गिनती तो नहीं है लेकिन सर्वज्ञ भगवान ने यह बताया है कि वे प्रदेश इतने हैं कि यदि दो का भाग दें तो नीचे कुछ न बचेगा। जिसे कहते हैं समसंख्या का भाग पूरा चला जाना। २, ४, ६, ८, १०, १२, ये कहलायें पूरे संख्या के प्रदेश तो ऐसे २-२ बढ़कर वे प्रदेश हैं अनगिनते, मगर दो संख्या में उनका भाग होता है। तो ऐसी समान संख्या है चारों ओर। तो जैसे २, ४, ६, ८ ऐसी कोई चीजें रखी हों तो उनका बीच क्या कहलायेगा? उनका बीच १ नहीं हो सकता, २ होंगे। विषम संख्यायें १, ३ ,५, ७, ९ आदि तो उन का बीच एक बन जायेगा। पर समान संख्या हो तो उनके बीच दो बनेंगे। तो अब लोक के चारों तरफ समान संख्या है, जब ऊपर से नीचे का बीच देखा गया तो क्या पड़ा? दो प्रदेश। और जब इस ओर पूरब से पश्चिम देखा गया तो उसका बीच क्या पड़ा? दो प्रदेश। जब दक्षिण से उत्तर में देखा गया तो बीच में क्या पड़ा? दो प्रदेश। तो चारों ओर से जब दो-दो प्रदेश बीच पड़ते हैं तो सारे लोक का मध्य ८ प्रदेश होगा। ऐसे बहुमध्य भाग में जब जीव का क्षेत्र परिवर्तन बताया जाता है तो प्रारम्भ किया जाता है। तो जो ८ प्रदेश लोक का मध्य है वही ८ प्रदेश सारे आकाश का मध्य है। अब देखो आकाश अनन्त प्रदेशी है और लोक असंख्यात प्रदेशी है, असंख्यात का तो अर्थ है गिनती नहीं, संख्या से परे, किन्तु अन्त है उसका। और अन्त का यह अर्थ है कि संख्या से तो परे है ही, मगर कहीं अन्त भी नहीं है। अन्त न

होने पर भी आकाश के प्रदेश सम संख्या में हैं, विषम संख्या में नहीं हैं, तो ऐसे समस्त आकाश के ठीक बीच में लोक है।

लोक की स्वयंसिद्धता का उपसंहार व लोकानुप्रेक्षा की प्रयोजकता–इस लोक को किसी ने धारण नहीं किया। न शेषनाग धारण किए है और न कोई ईश्वर का अवतार धारण किए है। यों न तो किसी ने किया है इस लोक को, न किसी ने इसका विनाश किया है और न कोई इसको धरे हुए है, संभाले हुए है, किन्तु पदार्थों में स्वयं उत्पाद्व्ययध्रौव्य का स्वभाव होने से सब पदार्थ व्यवस्थित बने हुए हैं। ऐसे सर्व आकाश के बीच ठहरे हुए लोक का विस्तार आपने जाना होगा ३४३ घनराजू प्रमाण है, जिसमें अनगिनते योजन समाये हुए हैं। ऐस महान् लोक में यह जीव प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त बार जन्मा और मरा। इतने बड़े लोक में जो पुद्गल ढेर है यह प्रत्येक जीव ने अनन्त बार भोगा और छोड़ा। यह सब बात बताने के लिए इस लोकानुप्रेक्षा का वर्णन है, जैसे हिन्दी कवि कहते हैं कि 'किनहू न करे न धरे को षट्द्रव्यमयी न हरे को।' यह लोक छः द्रव्यमयी है। इसको किसी ने किया नहीं और इसे कोई धारण किए हुए नहीं, 'सो लोक मांहि बिन समता। दुःख सहे जीव नित भ्रमता'। ऐसे इस लोक में समता के बिना यह जीव दुःख भोग रहा है। इसमें कैसे-कैसे जीवों के शरीर हैं, कैसे आयु होती है, किस तरह ये जीव जन्मते हैं, कहां कौन रहता है, कहां कौन जा सकता है, इन सब बातों का इस लोकानुप्रेक्षा में विस्तारपूर्वक वर्णन आयेगा।

अण्णोण्ण पवेसेण य दव्वाणं अच्छणं हवे लोओ।
दव्वाणं णिच्चत्तो लोयस्स वि मुणह णिच्चत्तं।।११६।।

लोक का स्वरूप–द्रव्यों का परस्पर में प्रवेश होते हुए अवस्थित रहने का नाम लोक है। प्रत्येक स्थान पर छहों जाति के द्रव्य पाये जाते हैं। जैसे लग रहा होगा कि यहां इस मकान के आंगन में जो आकाश पोल दिख रहा है, यहां तो कुछ भी अन्य चीज नहीं है, लेकिन इस जगह में छहों जाति के द्रव्य हैं। धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्य में सारे लोक में तिल में तैल की तरह पूर्णतया व्याप्त हैं। काल द्रव्य भी लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणुरूप अवस्थित है। आकाश सो यह है ही। अब रही दो द्रव्यों की बात–जीव और पुद्गल। सो लो स्पष्ट रूप से तो इस आंगन के आकाश प्रदेश में कोई जीव नहीं दिखता, न कोई पुद्गल दिखता। हां, यदि कोई मक्खी-मच्छर आदि उड़ता हुआ दिख जाये तो कह देंगे कि यहां मक्खी है अथवा मच्छर है, लेकिन व्याप्त तो कुछ नहीं दिखता। अतएव लोग शंका रखते हैं कि इस आंगन में तो कुछ भी नहीं है, लेकिन यह शंका निर्मूल है और यह उसका उत्तर है कि जैसे कोई घर का आदमी बाहर से आया, घर का दरवाजा भीतर से बन्द था, बाहर से आने पर उस आदमी ने दरवाजा खटखटाया तो घर का कोई बालक सांकल खोलने के लिए आता है तो सांकल खोलने से पहले वह पूछता है कि आप कौन हैं? तो वह कहता है कि कोई नहीं। खोलो दरवाजा। अरे कैसे कोई नहीं। वह खुद उस घर का मालिक ही तो है जो दरवाजा खटखटा रहा था। यद्यपि उसके कोई नहीं, ऐसा कहने का मतलब यह था कि कोई बाहरी गैर आदमी नहीं है, हम ही हैं पर वह यही शब्द तो बोलता है कि कोई नहीं। तो ऐसे ही समझ लो कि यहां आंगन के इस आकाश प्रदेश में दिखता क्या है? कुछ भी नहीं, लेकिन वहां भी अनन्त जीव और पुद्गल ठसाठस भरे हुए हैं। वहां सूक्ष्म निगोद जीव, सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव जो कि दिखते नहीं हैं पर ठसाठस भरे हुए हैं। तो ऐसे ही यह लोक जीवों से ठसाठस भरा हुआ है।

लोक में सर्वत्र अनेक द्रव्यों के अन्योन्य प्रवेश का प्रतिपादन–निगोद दो प्रकार के होते हैं–बादर और सूक्ष्म। निगोद कहते हैं ऐसे जीवों को जो कि एक श्वास में १८ बार जन्म मरण करते रहते हैं। उनमें बादर निगोद तो साधार होते हैं जैसे आलू, घुइयां शकरकंदी आदिक इनमें अनन्त निगोद जीव पाये जाते हैं। कुछ जीव होते हैं निराधार। इस आंगन में सूक्ष्म निगोद जीव भरे पड़े हैं। अब देखिये कि एक जीव के पीछे एक जीव के साथ कितने पुद्गल लगे हुए हैं? निगोद का जो एक शरीर है उस एक सूक्ष्म शरीर में भी अनन्त परमाणु हैं, जिनसे कि उनका शरीर बना है और दिख भी नहीं सकता। उस जीव के साथ शरीर के अणुओं से भी अनन्तगुने कर्म परमाणु लगे हैं जो कि सूक्ष्म हैं और दिख नहीं सकते। साथ ही तैजस परमाणु और कर्म एवं शरीर के विश्रसोपचय परमाणु जो अभी कर्म रूप तो नहीं हुए, शरीर रूप नहीं हुए मगर कर्म और शरीर रूप होने के उम्मीदवार हैं, इतना विशाल पुद्गल ढेर इस जीव के साथ लगा हुआ है। तब प्रत्येक प्रदेश पर लोकाकाश में सर्वत्र जीव पुद्गल ठसाठस भरे पड़े हैं तो जब ये सब पदार्थ भरे पड़े हैं तो वहीं जीव हैं, पुद्गल है, धर्म है, अधर्म है, आकाश है, काल है। सभी द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश पाये हुए है। लेकिन इस प्रकरण में यह बात समझ लीजिए कि भले ही यहां एक द्रव्य में अनेक द्रव्यों का प्रवेश भरा पड़ा है फिर भी किसी भी द्रव्य के स्वरूप में किसी भी दूसरे द्रव्य का स्वरूप प्रविष्ट नहीं होता है जैसे घर में ५-७ जीव रहे हैं परिवार के लोग और उनका परस्पर में एक दूसरे से दिल मिला हुआ न हो तो कहते हैं कि घर में तो रहते हैं पर न रहने की तरह हैं, दिल मिला ही नहीं। तो यों लोक के प्रत्येक प्रदेश पर एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य भरे पड़े हैं, मगर स्वरूप मिलता नहीं। चेतन हमेशा चेतन ही रहेगा, भले ही उस जगह में ५ जाति के द्रव्य और रखे हैं। पुद्गल सदा अचेतन रहेगा, भले ही पुद्गल के क्षेत्र में जीव समाये हैं लेकिन जिसका जो स्वरूप है वह स्वरूप अमिट है। यह किसी भी प्रकार भेदा नहीं जा सकता। तो यों स्वरूप से तो प्रवेश नहीं है किन्तु प्रदेश से एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का प्रवेश पड़ा हुआ है। यों द्रव्यों का जो रहना है उस ही का नाम है लोक।

लोक की शाश्वतता–अब देखिये द्रव्य में नित्यपना है ना? कोई भी पदार्थ कभी समूल नष्ट नहीं हो सकता। उसकी पर्यायें बदलती रहेंगी और वह द्रव्य सदा रहेगा। तो द्रव्यों के नित्य होने के कारण समझिये लोक में भी नित्यपना है। जब द्रव्यों के समूह का नाम लोक है और द्रव्य हैं नित्य तो इसका अर्थ यह हुआ कि यह लोक भी नित्य है। जो नित्य है, वह न किसी के द्वारा किया गया है और न किसी के द्वारा धारण किया गया है क्योंकि वह तो स्वयंसिद्ध है, अनादि निधन है। इस समस्त समुदाय को कोई है तो बनायेगा क्या, नहीं है तो बनायेगा क्या? अगर कुछ चीज नहीं है तो वह बन कैसे सकेगी? कोई रोटी बनाये तो आटा तो चाहिए। अब न हो आटा तो रोटी बनेगी ही क्या? तो चीज न हो कुछ और कुछ बन जाये, यह कभी नहीं हो सकता। तो नहीं है तो बन नहीं सकता और है तो बनने का प्रयोजन क्या? तो यों समस्त पदार्थ अपने स्वरूप में शाश्वत हैं और उनके समुदाय का नाम लोक है, अतः यह सिद्ध है कि लोक भी शाश्वत है, अनादि निधन है।

परिणाम-सहावादो पडिसमयं परिणमंति दव्वाणि।
तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणामं।।११७।।

लोक के नित्यत्व की भांति अनित्यत्व की भी सिद्धि–उक्त गाथा में यह बताया था कि चूंकि समस्त द्रव्य नित्य हैं–यानि जो सत् है वह अनादि से अनन्त काल तक शाश्वत है और द्रव्य का समुदाय ही लोक कहलाता है, इस कारण लोक भी नित्य है। अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि द्रव्य दृष्टि से द्रव्यों के

सत्व के कारण जैसे लोक को नित्य कहा गया है उसी प्रकार पर्याय दृष्टि से द्रव्यों के अनित्य होने के कारण लोक अनित्य है। प्रत्येक द्रव्य प्रति समय परिणामस्वभाव होने के कारण परिणमते रहते हैं, उनका परिणाम होने से लोक का भी परिणाम (परिणमन) जानना चाहिये। परिणमन करना वस्तु का स्वभाव है। अतः प्रत्येक द्रव्य प्रति समय परिणमन करते ही रहते हैं। एक कल्पना करो कि कोई वस्तु तो हो और किसी भी अवस्था रूप में परिणमन न करे या उसका कोई व्यक्त रूप नहीं है तो उस द्रव्य के अस्तित्व की कल्पना ही कहां हो सकती है? मान लो मिट्टी तो है पर न वह छितरी मिट्टी है न पिण्डरूप है, न घड़ा है न खपरियां हैं, व्यक्त रूप कुछ भी नहीं है। फिर वह मिट्टी क्या? जैसे जीव तो मान लिया कि है, पर वह न नारकी है, न तिर्यञ्च पर्याय में है, न मनुष्य पर्याय में है, न देवपर्याय में और न गति रहित है, तब फिर उस जीव का अस्तित्व क्या? अथवा मानो जीव तो है, पर वह न जानता है, न देखता है, न उसमें आनन्द का परिणमन है, कोई गुण परिणमन नहीं, तब फिर वह जीव क्या? तो जो भी वस्तु है उसका कोई न कोई व्यक्त रूप अवश्य है। जो व्यक्त रूप है उसी का नाम पर्याय है और वे पर्यायें प्रति समय में नवीन-नवीन होती हैं। तो यों परिणमन की दृष्टि से जो भी सत् है वह सब परिणमनशील है, परिणमता रहता है, अतएव अनित्य है। द्रव्य नाम ही उसका है कि जो पर्यायों के द्वारा प्राप्त किया जाता है या पर्यायें को प्राप्त करते हैं उन्हें द्रव्य कहते हैं।

द्रव्यपरिमाण व सकल द्रव्यों की परिणमनशीलता—वे द्रव्य हैं कितने? तो लोग उत्तर तो यह दे देते हैं अभ्यास के कारण कि द्रव्य ६ हैं लेकिन ये ६, जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये जातियां हैं। जाति में अर्थ क्रिया नहीं होती किन्तु व्यक्ति में अर्थक्रिया होती है। जैसे किसी ने कहा कि गाय का दूध लाओ तो वह न पीली गाय का लाये, न सफेद का, न चितकबरी का (यानि चार पैर वाली गाय का) दूध न लाये और गौ जाति से लाना चाहे तो गौ जाति से दूध कहां निकलेगा? गौ जाति तो अनेक गायों में जो एक सदृशता पायी जाती है उस कल्पना से सर्वसंग्राहक विकल्प का नाम है ना गौ जाति। दूध तो गाय देगी, गौ जाति न देगी। तो अर्थक्रिया सद्भूत में होती है। महासत्ता तो आवान्तर सत्ताओं में पाया जाने वाला जो एक सत्त्व सामान्य है उसका नाम है। द्रव्य अनन्तानन्त हैं, ६ नहीं। ये ६ जातियां हैं। उन अनन्तानन्त द्रव्यों में प्रत्येक द्रव्य याने प्रत्येक जीव, प्रत्येक पुद्गल परमाणु, धर्म, अधर्म, आकाश और प्रत्येक कालद्रव्य, ये प्रति समय परिणमते रहते हैं। इनमें से किन्हीं के परिणमन की बात बुद्धि में नहीं समा पाती हो तो भी युक्ति सिद्ध है यह बात कि यदि परिणमन नहीं है किसी में तो वह सत् भी नहीं है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य का परिणमन कौन समझ पा रहा है कि क्या हो रहा है? आकाश अब इस क्षण में किस रूप परिणम रहा, पहले किस रूप परिणमा था? कौन जानता है? इसे तो सर्वज्ञ भगवान ही साक्षात् जानते हैं कि शुद्ध द्रव्यों में भी प्रतिक्षण यह परिणमन चल रहा है, लेकिन यह नियम है कि परिणमन न हो तो वस्तु ही नहीं रह सकती। कल्पना में ही न आयेगी बात कि एक रूप ही कुछ रह सकता हो शाश्वत। रंच मात्र भी जिसमें व्यक्ति न आये, अवस्था न हो तो फिर वह वस्तु ही क्या है? जीव के सम्बन्ध में हम आपको स्पष्ट समझ में आ रहा कि यह परिणमता रहता है। अभी क्रोध रूप परिणमा था, अब मान रूप हुआ, माया रूप हुआ, अब व्याकुल है अब शान्त है, अब दुःखी है, अब कुछ मौज में है। यों बहुत से परिणमन जीव में चलते हुए समझ में आते है। उसे हम जानते हैं हम जीव हैं इसलिए जीव की इन परिणतियों को जान जाते हैं अन्यथा जीव तो अमूर्त है। रूप, रस, गंध, स्पर्श है नहीं, तो यह भी इसकी परिणति भी जानने में नहीं आ सकती थी। हम स्वयं जीव हैं और हमें इतनी बात

अनुभव में न आये यह हो ही नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थ का परिणमन उस पदार्थ में होता ही है। यह मैं हूं ज्ञानमय सो मुझमें परिणमन भी होता और उसको अनुभवता भी जाता हूं। तो मुझमें प्रत्येक क्षण बराबर परिणमन होते चले आ रहे हैं।

पर्यायदृष्टि से सकल पदार्थों की अनित्यता—पर्याय दृष्टि से यह मैं अनित्य हूं। पुद्गल परमाणु चूंकि वे दिखते ही नहीं, उनका भी परिणमन हम क्या जानें? लेकिन पुद्गल परमाणुओं का ढेर होने पर उनके पुद्गल स्कंध दशा में जो ये प्रत्यक्ष सामने नजर आ रहे हैं इनका परिणमन तो समझ में आता है। अभी यह कागज है, जल जाये, राख हो गया, यह गेहूं है, पिस गया, चून हो गया, रोटी बन गई। तो यह परिणमन ठीक समझ में आ रहा ना, यह तो है आकार का परिणमन। अभी गेहूं था, आकार बदल गया, चून बन गया, आकार बदल गया, रोटी हो गई। लेकिन इसके अन्दर जो रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि गुण हैं इनका भी परिणमन ज्ञान में आ जाता है। अब गेहूं का रूप कुछ है, चून का रूप कुछ है और रस में भी फर्क है। आटे का रस और है, रोटी का रस और है, गंध में भी अन्तर है, स्पर्श में भी अन्तर है। तो इन स्कंधों के गुणों के परिणमन और आकार के परिणमन ये समझ में आ रहे है। तब इन परमाणुओं के एकत्रित पिण्ड में जो कि दृश्य हो सकता है, परिणमन विदित हो रहे तो उससे भी सिद्ध कर सकते हैं कि प्रत्येक अणु में भी निरन्तर परिणमन होता है। एक बालक ८ वर्ष की उम्र का है, साल भर बाद देखते हैं तो वह बालक ५-७ अंगुल बड़ा हो जाता है। जो वह इतना बड़ा हो गया तो कहीं ऐसा नहीं है कि ११ महीने २९ दिन, २३ घंटे तो वह बढ़ा न था और अंतिम घंटे में एकदम बड़ा हो गया। वह प्रत्येक महीने में बढ़ता था, प्रत्येक दिनों में बढ़ता था, प्रत्येक घंटे में बढ़ता था, प्रत्येक मिनट में बढ़ता था, प्रत्येक सेकेण्ड में बढ़ता था, पर कौई इस एक सेकेण्ड का बढ़ावा समझ सकता है क्या? कल्पना करो कि प्रत्येक सेकेण्ड में वह बालक न बढ़ता था तो उन सेकेण्डों का समूह है मिनट, तो मिनट में भी न बढ़ा, उन मिनटों का समूह है घंटा, तो घंटे में भी न बढ़ा। अगर प्रति सेकेण्ड में न बढ़ा तो फिर दिन, महीना, साल आदि में भी कभी नहीं बढ़ सकता। प्रत्येक पदार्थ के प्रति समय परिणमन होते ही रहते हैं। इस दृष्टि से सब पदार्थ अनित्य हैं।

पदार्थों के परिणमन का रहस्य—पदार्थों के परिणमन का रहस्य भी अद्भुत है। जैसे अभी अंगुली टेढ़ी है और यह हो गयी सीधी तो अंगुली सीधी होने पर टेढ़ापन तो मिट गया ना कि टेढ़ापन भी अब अंगुली में है? अब यदि सीधी है तो यह बतलाओ कि वह टेढ़ापन गया किधर? वहां टेढ़ापन नजर नहीं आता तो वह टेढ़ापन कहां गया? पूर्व में पश्चिम में, कहां गया? देखो वहां हुआ क्या, कि वह पूर्व पर्याय नयी पर्याय में विलीन हो गई। यह विलीनता भी एक बड़े रहस्य जैसी बात हुई जिसे व्यय भी कह दो या उसके टेढ़ापन की परिणति अंगुली में तिरोहित हो गई, ऐसा भी कह दो, अब जो जिस दृष्टि को लेकर देखेगा उसे वैसा समझ आयेगा। एक बुढ़िया का रैंहटा था। सूत कातने में उसका तकुवा टेढ़ा हो गया। तो वह लौहार के पास गई, बोली—मेरे तकुवा की टेढ़ निकाल दीजिए...दो टका लेंगे!...हां देंगे। उसने ठीक कर दिया और कहा लाओ दो टके। हमने टेढ़ निकाल दिया है। तो बुढ़िया कहती है कि तुमने जो टेढ़ निकाल दी वह मुझे दे दो तब अपने दो टके ले लो। लौहार बड़ा हैरान हो गया कि टेढ़ निकाल दिया, अब इसे वह टेढ़ दूं कहां से? अगर वह लौहार तकुवा टेढ़ा करके बताता है कि यह है तेरे तकुवे की टेढ़ तो फिर वह दो टके क्यों दे, क्योंकि टेढ़ निकालने के ही तो उसने दो टके देने को कहा था। और टेढ़ निकलती है तो टेढ़ मिलती कहां? अब इस बात

को एक सिद्धान्त तो यों निरखता है कि वह टेढ़ी क्रिया नष्ट हो गयी अब सीधी क्रिया उत्पन्न हो गई। और कोई दार्शनिक यों निरखता है कि उस तकुवा में सब बातें हमेशा रहती हैं। अब इस समय तकुवा में टेढ़ापन तिरोहित है और सीधापन प्रकट है तो उस उत्पाद व्यय के सम्बन्ध में लोग अपनी-अपनी दृष्टि से निरखते हैं। स्याद्वाद, जैन शासन उन सब दार्शनिकों का समाधान करता है—भाई सब दृष्टि से विदित होने की बात है। तो इन सब द्रव्यों में पूर्व-पूर्व पर्याय तो नष्ट होती है और उत्तर-उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है और उनमें रहने वाला द्रव्य सदा रहता है। जैसे अंगुली में टेढ़ापन नष्ट हुआ, सीधापन प्रकट हुआ और अंगुली द्रव्यवस्तु वह जो पहिले थी सो अब भी है, वह सदा रहती है, इसी प्रकार भूत, भविष्य, वर्तमान काल में कितनी पर्यायें हो गई किसी भी पदार्थ की। प्रत्येक पदार्थ की अनन्त पर्यायें गुजर चुकीं। कितनी अनन्त गुजर चुकी जिनका अन्त ही नहीं। जब पदार्थ अनादि से ही सत् है, कोई उसका निश्चित काल ही नहीं कि यह पदार्थ किस दिन से है तो उसकी पर्यायों की आदि ही क्या हो सकती है? इसी प्रकार भविष्यकाल भी अनन्त है तो प्रत्येक पदार्थ की पर्यायें अनन्त होंगी। कितनी अनन्त जिनका कि अन्त भी नहीं है और प्रत्येक वर्तमान में एक पर्याय रहती है। इस प्रकार अनन्तपर्यायोंरूप से परिणमता हुआ प्रत्येक द्रव्य है।

परिणमनशीलता पदार्थों का तत्वभाव—परिणमनशीलता होना द्रव्य का स्वभाव है। जो परिणमनशील न होगा वह कभी सत् हो ही नहीं सकता। तब प्रत्येक पदार्थ नित्य होने पर भी चूंकि उसमें स्वभाव पर्याय विभाव पर्याय, जिसमें जैसी योग्यता है सदा होते रहते हैं। अतएव अनित्य हैं इनका स्वभव कहां गया है? उत्पादव्ययध्रौव्य से युक्त होना यह वस्तु का स्वभाव है। कोई वस्तु किसी अन्य पदार्थ को उत्पन्न नहीं करती। हां इसका मेल है निमित्तनैमित्तिक भाव से कि कैसा निमित्त मिलने पर वस्तु किस रूप से परिणम जाती है। आग का सन्निधान मिलने पर पानी गरम हो जाता है। तो पानी में जो गरमी आयी उस गर्मी को आग ने नहीं किया, किन्तु ऐसा मेल है कि आग के सामने पानी पड़ जाये किसी बर्तन के आधार में तो वह पानी अपनी शीत अवस्था को छोड़कर गरम अवस्था में आ जाता है। यों ही समझिये कि हम आपमें कर्म कितने बंधे पड़े हैं? अनन्त भावों के बांधे हुए कर्म आज भी पड़े हुए हैं और आज जिनका उदय आ रहा है वे कर्म अनगिनते भवों के बांधे हुए एक साथ उदय में आ रहे हैं। आ रहे उदय में, कर्म एक सूक्ष्म स्कंध है। जो आंखों नहीं दिखते, विदित भी नहीं होते, लेकिन युक्ति सिद्ध हैं।

जीव के साथ कर्म उपाधि के रहने की सिद्धि—कोई भी पदार्थ एक रूप परिणमता है, पचासों रंग-ढंग बदलता है तो समझना चाहिए कि इसके साथ दूसरा पदार्थ लगा है। यह नियम है। कोई भी वस्तु यदि एक रूप से नहीं परिणमती वह भिन्न-भिन्न रूप से परिणमती है, तो उसके साथ कोई दूसरा पदार्थ लगा है यह निश्चित बात है। जैसे पानी कम गर्म हुआ, उस पानी में गर्मी की नाना डिग्रियां बन जाती हैं। तो समझना चाहिए कि पानी में ये नाना कर्मों की डिग्रियां केवल पानी में ही हों, दूसरी चीज न लगी हो ऐसा नहीं हो सकता। किसी दूसरी वस्तु का मेल है, सम्बन्ध है तब उसमें नाना विभिन्न परिणतियां हुईं। ऐसे ही हम आप जीव अनुभव करते हैं कि एक ढंग में नहीं रह पाते। जैसे सिद्ध भगवान एक ढंग में रहते हैं, उनका ज्ञान पूर्ण प्रकट है। जैसे जाना वह निरन्तर वैसा ही जानते रहते हैं। उसमें अन्तर नहीं आता। वह निरन्तर आनन्द का अनुभवन करते रहते हैं। एक रूप से अनुभवन कर रहे हैं। जैसा आनन्द उन्होंने बहुत समय तक भोगा वैसा ही आनन्द दूसरे समय में भोगा। अनन्त समयों में वैसा ही आनन्द भोगते रहते हैं तो उनमें यह परिणमन एक

समान चल रहा है। उनके परिणमन में विभिन्नता नहीं है। तो परिणमन तो है, पर एक समान है, परन्तु हमारा परिणमन एक समान तो नहीं है। अभी शान्त हैं, थोड़ी देर में लोभ में आया, थोड़ी देर क्रोध में आया, थोड़ी देर माया में आया, थोड़ी देर मान में आया। अब दुःखी हो गया, कुछ मौज में आ गया। जैसी कल्पना बना ली उस रूप में परिणम गया। अभी कल्पना कर ली कि देखो हमारा धन घट गया तो लो दुःखी हो गया। कल्पना कर ली कि मैं पहले क्या था अब तो उससे हजार गुना हूं अथवा मुझसे गरीब लोग कितने ही हैं, उनसे तो मैं बहुत अच्छा हूं, लो ऐसी कल्पना बनाते ही सुखी हो गया, तो इस तरह की जो विचित्र परिणतियां हैं वे यह सिद्ध करती हैं कि इस जीव के साथ कोई दूसरी चीज लगी है, जिसके कारण इन नानारूपों में यह जीव अपना परिणमन किया करता है। जो दूसरी चीज लगी है बस वह है कर्म। तो मुझमें प्रति समय परिणमन होते रहते हैं ना। तो परिणमन होता रहना वस्तु का स्वभाव है। हां विभाव परिणमन होना वस्तु का स्वभाव नहीं, किन्तु परिणमन मात्र होते रहना यह वस्तु का स्वभाव है। तो यों जब समस्त पदार्थ परिणामी सिद्ध हो गए, अनित्य हो गए तो इन्हीं पदार्थों के समूह का नाम ही तो लोक है। तो यो लोक भी अनित्य हो गया। बताया गया है कि सिद्धान्त में कि एक पदार्थ में त्रिकाल सम्बन्धी जितनी अर्थ पर्यायें और व्यञ्जन पर्यायें हैं उतना ही द्रव्य है। इससे यह जाहिर किया है कि पदार्थ परिणमन किए बिना कभी अस्तित्व रख ही नहीं सकता।

पदार्थों की नित्यानित्यात्मकता में अविरोध—यहां यह शंका नहीं की जा सकती कि जो पदार्थ नित्य है वह अनित्य कैसे हो गया? जो वस्तु है सो ही है और वह किस प्रकार है? उसको जब हम द्रव्य दृष्टि से देखते हैं तो नित्य ज्ञान में आता है, पर्याय दृष्टि से निरखते हैं तो अनित्यपना ज्ञान में आता है। उनमें विरोध नहीं है। एक ही वस्तु में अपेक्षा भेद किए बिना यदि हम उन धर्मों को मान लें तो विरोध हो सकता है। जैसे एक पुरुष बैठा है और उसका परिचय देवें तो यही कहते हैं ना कि यह पिता भी है और पुत्र भी है। अब जिसका यह पिता है उस अपेक्षा से तो पिता है और जिसका यह पुत्र है उस अपेक्षा से पुत्र है। तो एक ही पुरुष में पितापन और पुत्रपन दोनों ही समाये हैं कि नहीं, क्योंकि उनमें अपेक्षा से कोई विरोध नहीं आता। तो इसी प्रकार एक ही पदार्थ द्रव्यदृष्टि से नित्य है, पर्यायदृष्टि से अनित्य है। यों अपेक्षा लगा करके देखते हैं तो नित्यपने और अनित्यपने में भी कोई विरोध नहीं आता। अच्छा यह बतलाओ कि यह एक अंगुली है। यह एक ही समान रहती है या अनेक प्रकार बदल भी संकती है? अभी सीधी है, कम टेढ़ी है, फिर गोल है, फिर मुट्ठी में बंधी हुई है, इस अंगुली के नानारूप हो गए हैं तो कह सकते हैं कि यह अंगुली एक रूप भी है, नानारूप भी है। जिस समय में यह नानारूप हो रही है उस समय में भी यह एक रूप है। अंगुली तो अंगुली ही है, उसकी पर्यायें अनेक हैं। तो एक वस्तु की अपेक्षा भेद करके निरखने पर उसमें अनेक धर्म दृष्ट होते हैं।

जैसे एक ही मकान का पूरब का चित्र है, दक्षिण का चित्र है, पश्चिम का चित्र, उत्तर का चित्र है, चार फोटों हैं। जैसे किसी से कहा गया कि यह किसका फोटो है? तो बताया कि यह फलाने के मकान का फोटो है। तो उसमें आकार भेद है, फिर भी उसी का ही बताया जा रहा। तो अलग-अलग दिशाओं के फोटों हैं सो नाना हैं पर फोटो है उस एक ही मकान का, यों प्रत्येक पदार्थ में जब हम द्रव्य दृष्टि से देखते हैं तो वह नित्य नजर आता है, जब हम परिणतियों की दृष्टि से देखते हैं तो अनित्य ध्यान में आता है। यों पदार्थ नित्यानित्यात्मक है और पदार्थ का समूह ही लोक कहलाता है, इसलिए यह समस्त लोक भी नित्यानित्यात्मक है।

पदार्थों की सत्ता व वस्तुता—यह लोक षड्द्रव्यात्मक है अर्थात् ६ जाति के द्रव्यों के समूह रूप है। वे

६ जातियां हैं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव हैं अनन्तानन्त, पुद्गल हैं, उनसे भी अनन्तानन्तगुने, धर्मद्रव्य एक है, अधर्म द्रव्य एक है और काल द्रव्य असंख्याते हैं। जितने लोकाकाश के प्रदेश में हैं उतने ही कालद्रव्य हैं। ये समस्त द्रव्य ६ साधारण गुणमय हैं, अतएव सत् कहलाते हैं। पदार्थ वही है जिसमें ६ साधारण गुण पाये जायें। ६ साधारण गुण हैं अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व और प्रमेयत्व। अस्तित्व गुण के कारण ये पदार्थ अस्तित्ववान हैं। 'हैं' इस प्रकार की जो बात है उसका नाम है अस्तित्वगुण। पदार्थ है लेकिन पदार्थ 'हैं' ही है रहे, यानि कुछ भी 'है' हो जाये तो पदार्थ का अस्तित्व नहीं रह सकता। जैसे घड़ा है, वह घड़ा ही रहे तब तो घड़ा है और घड़ा कपड़ा बन गया तो घड़ा क्या रहा? तो पदार्थ में अस्तित्व है लेकिन यह अस्तित्व तभी कायम है जब कि अपने स्वरूप से तो अस्तित्व हो और परस्वरूप से न हो। जैसे घड़ा अपने स्वरूप से है, कपड़े के स्वरूप से नहीं है अतएव घड़ा-घड़ा है। यों ही प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से है पर के स्वरूप से नहीं है, इस कारण वह है यह वस्तुत्व गुण है।

पदार्थों के परिणमन का नियम—अब पदार्थ में अस्तित्व व वस्तुत्व भी मानने पर कि पदार्थ है, अपने स्वरूप है, पर स्वरूप से नहीं, व्यवस्था नहीं बनती, क्योंकि पदार्थ है मगर क्या उसका कोई व्यक्त रूप तो होना चाहिए। अवस्था, परिणमन, व्यक्त दशा हुए बिना पदार्थ का अस्तित्व हो ही नहीं सकता इस लिए उसमें यह भी जरूरी है कि पदार्थ है, अपने स्वरूप से है, परस्वरूप से नहीं है, इतना होने के पश्चात् भी यह बात माननी आवश्यक है कि वह निरन्तर परिणमता रहता है। पदार्थ यदि परिणामी न हो तो पदार्थ ही नहीं है। उसका कोई रूप तो होना चाहिए। वर्तमान अवस्था भी तो कुछ होगी ही। जो वर्तमान अवस्था है वही तो वर्तमान परिणमन है, स्वभाव जिनका प्रकट हुआ है, शुद्ध है उनका परिणमन होगा एक सदृश और समान, और जो विभाव रूप परिणमते हैं उनका परिणमन होगा विभिन्न। तो हमें विभाव रूप परिणमन वाले पदार्थों की विभन्न परिणति तो स्पष्ट हो जाती है, पर जो शुद्ध परिणति है, जिसका शुद्ध परिणमन अथवा शुद्ध अणु धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्य में शुद्ध परिणमन विदित नहीं हो पाता। न भी प्रत्यक्ष विदित हो, लेकिन यह युक्तिसिद्ध बात है कि पदार्थ हैं तो उनमें प्रतिक्षण परिणमन है, इस ही का नाम है द्रव्यत्व गुण, जिस शक्ति के प्रताप से पदार्थ निरन्तर परिणमता रहे। अब पदार्थ निरन्तर परिणम रहा है लेकिन वह अटपट परिणमे तो भी अस्तित्व नहीं बनता, वह अपने ही स्वरूप से परिणमे, पर के रूप में न परिणमे तब उसका अस्तित्व कायम रह सकता है। इस शक्ति का नाम है अगुरुलघुत्व। प्रत्येक जीव अपने ही परिणमन से परिणमते हैं दूसरे जीव के परिणमन से नहीं, अन्य अचेतन आदिक पदार्थों के परिणमन से नहीं, तभी तो जीव का अस्तित्व है। इन पुद्गलादिक समस्त पदार्थों का अस्तित्व तभी है जब वे अपने स्वरूप से ही परिणमते हैं, पर के रूप से नहीं परिणमते।

पदार्थों की प्रदेशवत्ता व प्रमेयता—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व इतना सब कुछ होने पर भी एक आकार न हो, वस्तु में अपना विस्तार न हो, अपना फैलाव न हो, अपना क्षेत्र न हो तो वस्तु का अस्तित्व कहां कायम रहा? है वस्तु, उसमें परिणमन है, पर जिसमें है वह कुछ अपने स्वरूप विस्तार को तो लिए हुए है, बस इस ही शक्ति का नाम है प्रदेशवत्व, जिस शक्ति के प्रताप से वस्तु का कोई आकार रहता है। जैसे मैं जीव हूं तो कुछ बड़ा-छोटा फैला हुआ तो होऊंगा। जैसे वर्तमान में जितना हमारा शरीर है उतने प्रमाण में आत्मा है। कभी मरकर कोई मनुष्य चींटी के शरीर में पहुंच जाये तो उतने प्रमाण आत्मा रहता है। कोई मरकर

हाथी के शरीर में पहुंचे तो उतने प्रमाण रहता है। तो जीव का स्वयं का कोई प्रमाण, क्षेत्र, प्रदेश है, इसी प्रकार समस्त वस्तुओं में उनके अपने प्रदेश अवश्य हैं। जो एकप्रदेशी पदार्थ है, जैसे परमाणु, कालद्रव्य वह एक अपने प्रदेशाकार के लिए हुए है। तो प्रदेशवत्व गुण के प्रताप से समस्त पदार्थ अपने-अपने प्रदेश लिए हुए हैं। ऐसे ५ साधारण गुण हैं और यह हैं सही, पर ये जानने में नहीं आये किसी के। कुछ इस ही ढंग के हुए कि किसी के ज्ञेय हो ही न सके तब क्या! कोई व्यवस्था ही नहीं। अथवा उनका स्वरूप ही ऐसा है कि ये सब पदार्थ किसी न किसी आत्मा के ज्ञान में प्रमेय होते ही हैं। जो सर्वज्ञ हैं भगवान, उनके ज्ञान में तो समग्र सत् ज्ञेय रहा करते हैं। तो यह है समस्त पदार्थों में प्रमेयत्व गुण जिसके प्रताप से ये पदार्थ प्रमेय रहा करें। यों सब पदार्थों में ६ साधारण गुण होते हैं।

पदार्थों में ६ साधारण गुण तो हुए, यह तो एक साधारणता की बात है जो समग्र सत् में पाये जायें। किन्तु इतने से ही बात तो न बनेगी। कौन पदार्थ किस रूप परिणमता है? वह परिणमन की बात तब तक न बन पायेगी जब तक उनमें कोई असाधारण स्वरूप नहीं होता। मान लिया कि जीव द्रव्य में द्रव्यत्व गुण है इसलिए वह परिणमता रहता है। पर किस रूप परिणमता रहता है वह भी तो जानना चाहिए। जिसका रूप परिणमता है बस वही उसका एक असाधारण स्वरूप है। तो इन समस्त पदार्थों में असाधारण स्वरूप भी है। जैसे जीव का विशेष स्वरूप है, चैतन्य ज्ञानदर्शनमय होना। पुद्गल का स्वरूप है रूप, रस, गंध स्पर्शमय होना। धर्मद्रव्य का स्वरूप है—जो है वह अवक्तव्य है, पर इससे जाना जाता है वह स्वरूप कि जीव और पुद्गल के चलने में जो निमित्त हो वह धर्मद्रव्य है, जो जीव और पुद्गल के ठहरने में निमित्त हो, चलकर ठहरे उसे यहां ठहरना कहा गया है, ऐसे निमित्त भूत पदार्थ को अधर्म द्रव्य कहते हैं। जो समग्र पदार्थों के अवगाह में हेतु हो स्थान दे उसे आकाश द्रव्य कहते हैं। और जो समग्र पदार्थों का परिणमन में कारण हो उसका नाम कालद्रव्य है। यों सभी पदार्थ साधारण और असाधारण गुणोमय हैं। इनमें से प्रदेशत्व गुण के परिणमन में तो बनती है व्यञ्जन पर्याय और असाधारण समग्र गुणों के परिणमन में बनती है गुण पर्याय।

द्रव्यों में जीवद्रव्य की परख—अब सब द्रव्यों को उतनी निगाह से देखना। द्रव्य है, उसमें अनन्त गुण हैं और द्रव्य का परिणमन होता रहता है, तो द्रव्य के प्रदेश का जो परिणमन है, आकाश का जो होना है वह तो है व्यञ्जन पर्याय और जो शक्तियों का परिणमन है वह है गुण पर्याय। जैसे इस समय हम आप जीवों का जो यह आकार बना है मुनष्य जैसा, जो मुनष्य पर्याय मिली, यह तो है व्यञ्जन पर्याय। जिस आकार को देखकर हम परिचय करते हैं, व्यवहार करते हैं वह है व्यञ्जन पर्याय और जीव के ज्ञान दर्शन चारित्र आनन्द आदिक जो गुण हैं उन गुणों का को कुछ भी इस समय परिणमन चल रहा है वह है गुण पर्याय। जैसे श्रद्धान गुण का किसी का परिणमन मिथ्यात्व रूप है, किसी का परिणमन सम्यग्दर्शन रूप है, यह है गुण पर्याय। ज्ञान का परिणमन कोई कुछ समझ रहा है, कोई कुछ जान रहा है, यों जो जानकारी बन रही हैं वह हैं ज्ञान के परिणमन। चारित्र का परिणमन कोई किसी विषय में रम रहा है, कोई कहीं रम रहा है ऐसा जो रमण करने का परिणमन है वह है चारित्र का परिणमन। आनन्द गुण है, उसके परिणमन सुख-दुःख हो रहे हैं। कोई मनुष्य सुख मान रहा है, कोई मनुष्य दुःख अनुभव रहा है, ये हैं आनन्द गुण के परिणमन। सिद्ध भगवान में निरखिये सिद्ध प्रभु की व्यञ्जन पर्याय है शुद्ध एकरूप। जैसा अडिग आत्मा का आकार है, जिस शरीर से मोक्ष गए हैं, उस शरीर से किञ्चित न्यून आकार में वे लोक के ऊपर विराजमान हैं, वह हैं उनकी व्यञ्जन पर्याय और ज्ञान

उनका अनन्त है, केवल ज्ञान है। सो केवल ज्ञान है गुणपर्याय। केवल दर्शन है गुण पर्याय। अनन्त आनन्द है गुणपर्याय। गुण तो जीव में अनादि से अनन्त काल तक वही रहा करता है। इस तरह प्रत्येक पदार्थ द्रव्य, गुण, पर्याय रूप में जाने जाते हैं।

पुद्गल द्रव्य की परख–पुग्दल में पुग्दल की शुद्ध व्यञ्जन पर्याय एक परमाणु जब एक ही रह जाये, उसमें अन्य परमाणु का सम्बन्ध नहीं है तो उसकी यह स्वभाव व्यञ्जन पर्याय है। जो ये दिखते हैं घड़ा, चौकी, दरी, ईंट, पत्थर, शरीर आदिक पदार्थ ये हैं विभाव व्यञ्जन पर्याय। पुग्दल में ऐसी अनेक विभाव व्यञ्जन पर्यायें हैं जिनके विषय में लोगों को सहसा इस रूप से जानकारी नहीं होती। जैसे शब्द जो कानों से सुनाई देते हैं वे शब्द पुद्गल की विभाव व्यंजन पर्यायें हैं। पुराने शास्त्रों में कुछ दार्शनिकों ने यह लिखा है कि शब्द आकाश की परिणति है, लेकिन आज के विज्ञान से यह प्रकट सिद्ध हो रहा है कि शब्द पुद्गल का ही परिणमन है, उसे रिकार्ड में रख लेते हैं, टेपरिकार्ड में उसे ग्रहण कर लेते हैं और इतनी बात तो सर्वत्र दिखने में आती है कि कोई बंद कमरे में खूब किवाड़ टसकर लगे हों चारों ओर और वहां कोई कुछ बोले तो बाहर सुनाई न देगा, क्योंकि उसकी आवाज भींत और किवाड़ से रुक गई है। तो रुकता कौन है? पुद्गल ही। जीव अमूर्त है, वह रुक नहीं सकता। धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये सब अमूर्त हैं। अमूर्त पदार्थ किसी से छिद नहीं सकते। कभी कोई जोर से बोलता है तो कानों में धक्का लगता है। तो वह तीव्र वेग से जो शब्द आया है उस शब्द की ठोकर लगी है। तो इन सब बातों से सिद्ध होता है कि शब्द पुद्गल की विभाव व्यंजन पर्याय है। इसी प्रकार दो पदार्थों में जो बन्धन होता है वह बन्धन अवस्था भी पुग्दल की है। सूक्ष्म और स्थूल होना यह भी पुग्दल का परिणमन है। आकार बनना, जैसे किस भी पदार्थ ये आकार में दिखते हैं, गाटर लम्बा है, भींत मोटी है, किवाड़ फैले हुए हैं, ये सब आकार भी पुद्गल द्रव्य की विभाव व्यंजन पर्यायें हैं। मिले हुए पुद्गल स्कंध अगर टूट जायें तो ऐसा भेद होना भी पुद्गल की विभाव व्यंजन पर्याय है। अन्धकार, प्रकाश, छाया आदिक भी पुद्गल द्रव्य की विभाव व्यंजन पर्यायें हैं। इस तरह सभी पदार्थ नाना पर्यायों से परिणमते रहते हैं। तो यों प्रत्येक पदार्थ द्रव्य दृष्टि से नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य है। तो जब पदार्थ नित्यानित्यात्मक हैं तो उन पदार्थों का समूह यह लोक है ये भी नित्यानित्यात्मक हैं। इन्हें न किसी ने किया है, न इन्हें कोई धारण किए हुए है, अनादि सिद्ध यह लोक है। अनादि सिद्ध समस्त पदार्थ हैं। अब यह बतला रहे हैं कि ऐसा यह लोक जो षड्द्रव्यात्मक है, नित्यानित्यात्मक है वह किस आकार में, किस प्रमाण में है इस सम्बन्ध में बहुत से लोगों की विभिन्न धारणायें हैं। उन सब विवादों का निराकरण करने के लिए आचार्य कहते हैं–

सत्तेक्कं पंच इक्का मूले मज्झे तहेव बंभंते।
लोयते रज्जूओ पुव्वावरदो य वित्थारो।।११८।।

लोक का पूर्व पश्चिम की ओर का विस्तार–यह लोक पूर्व से पश्चिम दिशा में तो नीचे ७ राजूप्रमाण है और नीचे से ऊपर क्रम से घटकर मध्य लोक में एक राजूप्रमाण है। उससे ऊपर बढ़कर पंचम स्वर्ग के अन्त में ५ राजूप्रमाण है, फिर घटकर लोक के अन्त में एक राजू प्रमाण है। पर उत्तर दक्षिण की ओर सर्वत्र ७-७ राजूप्रमाण है। इस लोक का नक्शा ७ बालकों को एक के पीछे एक खड़ा करके लैन में देखने से स्पष्ट हो जाता हैं वे सभी बालक पैर पसारे हुए हों और कमर पर हाथ रखे हों तो यह लोक का आकार बन जाता है। अब वे सब बालक उत्तर को मुंह किए हुए हों तो उसमें निरख लीजिए सब। पूर्व से पश्चिम तक

नीचे विस्तार ज्यादा है क्योंकि पैर फैला हुआ है। इस तरह से लोक पूर्व से पश्चिम में नीचे ७ राजू है। फिर यहां से ऊपर घटता हुआ जा रहा तो एकदम कहां घट गया? उस कमर के हिस्से पर, वहां एक राजू का प्रमाण लोक में माना। मध्य में घटकर वहां एक राजू प्रमाण रह गया। अब उस मध्य लोक से ऊपर और बढ़े तो जहां कोहनियां एकदम परस्पर दूर हैं वहां है पंचम स्वर्ग, वहां है ५ राजू प्रमाण। बीच की फैली हुई टेहनियां पैरों के बराबर नहीं फैली हैं, वहां है ७ राजू और यहां रह गया ५ राजू। फिर ऊपर से घटकर लोक के अन्त में १ राजू प्रमाण रह जाता है, पर उत्तर से दक्षिण की ओर तकेंगे तो ठीक ७ बालक हैं तो प्रत्येक जगह ७-७ राजू प्रमाण विस्तार है लोक में। यह सब चित्रण जो लोक का किया गया है इस रूप में अवस्थित यह लोक है कहां? सो सर्वप्रथम बताया गया था कि सारा आकाश अनन्त है, उसके मध्य भाग में है। उसमें क्या-क्या रचनायें हैं, इन सब बातों का इस अनुप्रेक्षा में विस्तार से वर्णन होगा। तो यह तो लोक का पूर्व और पश्चिम की दिशा की ओर आकार बताया है। अब दक्षिण और उत्तर की ओर से यह लोक कितने परिमाण वाला है? इसके सम्बन्ध में कहते हैं।

दक्खिण-उत्तरदो पुण सत्त वि रज्जू हवंति सव्वत्थ।
उड्ढं चउदह रज्जू सत्त वि रज्जू घणो लोओ।।१९९।।

लोक का दक्षिण उत्तर दिशा में विस्तार, ऊर्द्धवविष्कम्भ व सर्व घनफल–दक्षिण और उत्तर दिशा में यह लोक सब जगह ७-७ राजूप्रमाण है, ऊंचाई इसकी १४ राजू प्रमाण है। नीचे से मध्यलोक तक ७ राजू और मध्य लोक से लोक के अन्त तक ७ राजू। इस तरह ऊंचाई १४ राजू के विस्तार से है। तब इस समग्र लोक का क्षेत्रफल कितना हुआ? ७ राजू का घन। ७ x ७ = ४९ x ७ = ३४३। यह किस तरह निकलता है, तो इसके लिए गणित विधि से निहारो। नीचे बताया गया ७ राजू और मध्य में आयेगा एक राजू, तो ७ में १ को जोड़कर बना ८। उसका आधा हुआ ४। अब इस ४ राजू को चूंकि दक्षिण उत्तर में विस्तार ७ है तो ७ का गुणा करने से ७ x ४ = २८ हुआ। यह तो अधोलोक की मोटाई हुई। अब इस सब जगह ७ राजू ऊंचा, पीछे भी ७-७ राजू ऊंचा है तो २८ में ७ का गुणा करने से २८ गुणा ७ = १९६ राजू प्रमाण है। १९६ अधोलोक का परिमाण हुआ। अब ऊर्द्धलोक के दो हिस्से कर लीजिये क्योंकि इसका आकार दो तरफ से बन गया। मध्य लोक से पंचमस्वर्ग तक का आकार कैसा है कि नीचे है १ राजू और ऊपर है ५ राजू। अब इस पंचमस्वर्ग से ऊपर का जो लोक है वह किस तरह है कि नीचे से ५ राजू और ऊपर है १ राजू। तो अब इन दो हिस्सों में अलग-अलग गणित लगाइये पहले वाले हिस्से में देखो मध्य लोक का १ राजू, ऊपर बीच में ५ राजू। ये ६ राजू हुए, ६ का आधा हुआ ३ और दक्षिण उत्तर में सर्वत्र हैं ७-७ राजू तो ३ x ७ बराबर २१ राजू हुए। और ऊंचाई है इसकी ३ सही १ बटा २ राजू, क्योंकि ७ राजू ऊर्द्ध लोक के दो हिस्सों में गणित कर रहे हैं। तो २१ का ३ सही १ बटा २ से गुणा करने पर हुआ (२१ x ७) बटा २ = १४७ बटा २ अर्थात् ७३ सही १ बटा २। और इतना ही परिमाण हुआ ऊपर के अधोलोक का। अब इस सबको मिला दीजिये तो लोक का पूरा घनफल हो गया। १९६ घनराजू है अधोलोक और १४७ घनराजू है ऊर्द्ध लोक। इस प्रकार कुल मिलाकर ३४३ घन राजू प्रमाण लोक का पूरा घन फल होता है। एक राजू के विषय में बताया ही गया था कि असंख्याते द्वीपसमुद्र जो एक दूसरे से दुगने-दुगने विस्तार वाले हैं, और मध्य में है जम्बूद्वीप १ लाख योजन के विस्तार वाला। इतना बड़ा विस्तार अभी पूरा एक राजू नहीं बना। वह भी विस्तार फैलाव वाला है। ऐसे-ऐसे ३४३ घन राजू प्रमाण

यह लोक है, इसके प्रदेश असंख्याते हैं। यहां यह जीव अज्ञान से सर्वत्र अनन्तों बार उत्पन्न हो हो कर मरा और अज्ञान में ऐसी परम्परा चलेगी।

मेरुस्स हिट्ठ-भाए सत्त वि रज्जू हवेइ अह-लोओ।
उड्ढम्मि उड्ढ-लोओ मेरु-समो मज्झिझमो लोओ।।१२०।।

अधोलोक का विस्तार–इस मध्य लोक के मेरु पर्वत के नीचे ७ राजू प्रमाण अधो लोक हैं। अधोलोक शब्द का अर्थ है नीचे का लोक। ऊर्द्ध लोक शब्द का अर्थ है ऊपर का लोक, और नीचे और ऊपर का विभाग करने वाला मेरु पर्वत। मेरु की जड़ से नीचे का क्षेत्र अधोलोक है। मेरु की चूलिका के ऊपर का क्षेत्र ऊर्द्ध लोक है। और मेरु बराबर का जो बीच का क्षेत्र रह गया वह मध्य लोक है। मेरु पर्वत जड़ से एक हजार योजन है और ऊपर में ९९ हजार योजन है। इससे ऊपर ४० योजन की चूलिका है। इस तरह एक लाख ४० हजार योजन प्रमाण क्षेत्र मध्य लोक का है। उससे नीचे अधोलोक है। उससे ऊपर ऊर्द्ध लोक इसीलिए इस पर्वत का नाम मेरु रखा गया है। जो तीनों लोकों का माप करे उसे मेरु कहते हैं। देखिये मेरु पर्वत के ही कारण तीन लोक का विभाग बना है। मेरु पर्वत के जड़ से नीचे अधो लोक है और इसमें ७ नर्कों की व्यवस्था है। जैसे पृथ्वी के जड़ में मेरु पर्वत है यह एक पहली पृथ्वी है। यह पहली पृथ्वी तीन भाग रखती है। पहले भाग में तो असुर व राक्षसों के अतिरिक्त शेष भवनवासी व्यंतरों का निवास है, द्वितीय भाग में असुर कुमार और राक्षस जाति के भवनवासी व्यंतरों का निवास है। तीसरे भाग में नारकी जीव रहते हैं। और इस पृथ्वी के नीचे कुछ छूटा हुआ स्थान है। वहां पृथ्वी कुछ नहीं है। उससे नीचे दूसरी पृथ्वी है। उसमें दूसरा नरक है। तीसरी पृथ्वी में तीसरा नरक है, चौथी पृथ्वी में चौथा नरक है। ५वीं पृथ्वी में ५वां नरक, छठी पृथ्वी में छठवां नरक और ७वीं पृथ्वी में ७वां नरक। सब पृथ्वियों के नीचे छूटा हुआ स्थान है, आकाश है–इससे नीचे तीन वातवलय हैं और, जैसे वातवलय लोक के चारों ओर है यों ही प्रत्येक पृथ्वी की तीन और वातवलय हैं। पृथ्वी के ऊपर भाग में नहीं है। जहां हम रहते हैं यह पहली पृथ्वी का ऊपरी भाग है। ७वीं पृथ्वी के नीचे भी बहुत सा क्षेत्र छूटा हुआ है। वहां निगोद स्थान है। यद्यपि निगोद इस लोक में सब जगह भरे पड़े हुए हैं। किन्तु बहुलता से निगोद स्थान ७वीं पृथ्वी के नीचे माना जाता है जो एक राजू प्रमाण क्षेत्र है। ये सभी पृथ्वियां घनोदधिवलय, घनावातवलय, तनुवलय से वेष्ठित हैं। यह तो हुआ मेरुपर्वत के नीचे का ७ राजू प्रमाण अधोलोक।

ऊर्द्धलोक का विस्तार–ऊर्ध्वलोक की बात देखिये। मेरुपर्वत की चूलिका के अन्त में जहां मेरु पर्वत समस्त समाप्त हो जाता है, उसके ऊपर केवल बाल बराबर पतले भाग के अन्तर के बाद प्रथम कल्प का इन्द्रक विमान है जिसका नाम है ऋजुविमान। उस ऋजुविमान के तल भाग से लेकर लोक के शिखर पर्यन्त ऊर्ध्व भाग है। जिसमें सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश, पांच अनुत्तर तथा सिद्ध शिला ये सब अवस्थित हैं। स्वर्गों की रचना अलग-अलग १, २, ३, ४ आदि के रूप से नहीं है, किन्तु मेरुपर्वत के ऊपर ६३ पटल हैं और उसमें समस्त रचना है। पटल का अर्थ यह है कि बीच में एक विमान होना और चार दिशाओं में पंक्तिबद्ध अनेक विमान होना और बीच विदिशा में भी पंक्तिबद्ध विमान होना और बीच की जगह में फैले हुए ।यत्र-तत्र विमान होना, इस रचना का नाम है एक पटल। इस तरह से ६३ पटल हैं ऊर्ध्वलोक में। अंतिम जो पटल है जिसे पंच अनुत्तर बोलते हैं वहां केवल बीच में एक विमान है और ४ दिशाओं में चार विमान हैं।

द्विचरम पटल जिसे अनुदिश बोलते हैं, यह ६२वां पटल है, इसके बीच में एक विमान है और चार दिशाओं में, चार विदिशाओं में एक एक विमान है। नौ ग्रैवेयक जिसे कहते हैं उसमें ९ पटल हैं। प्रथम के तीन पटलों का नाम है अधोग्रैवेयक, मध्य के तीन पटलों का नाम है मध्य ग्रैवेयक और अन्तिम तीन पटलों का नाम है अन्तिम ग्रैवेयक। इन ११ पटलों से पहले जो पटल हैं उनमें स्वर्गों का इस प्रकार विभाग है कि जैसे पहले ३१ पटलों में दक्षिण दिशा में, पहला स्वर्ग माना जाता जिसमें पूर्व दक्षिण पश्चिम में श्रेणि व इनके बीच के विमान हैं। उत्तर दिशा में दूसरा स्वर्ग माना जाता है जिसमें उत्तर श्रेणि व पास की दो विदिशा व उस सबके आस पास के विमान हैं। इस तरह का विभाग रखते हुए इन स्वर्गों की और ग्रैवेयक आदिक की रचना है।

मध्य लोक की नीचे से सात राजू के ऊपर आठवें राजू के प्रारम्भ में रचना—यहां कोई शंका कर सकता है कि लोक की ऊंचाई तो १४ राजू बतायी गई है। ७ राजू अधोलोक है, ७ राजू ऊर्ध्व लोक है। ऐसी स्थिति में मध्य लोक की ऊंचाई एक लाख ४० योजन किस में सम्मिलित है। जब राजू १४ ही हैं और ७ राजू अधो लोक में गए, ७ राजू ऊर्द्धव लोक में आ गए, तब मध्य लोक का क्षेत्र कहां रहा ऊर्ध्वलोक में अथवा अधो लोक में? उसका समाधान यह है कि मेरुपर्वत के जड़ से नीचे जो अधोलोक है और अधो लोक की समाप्ति के बाद ऊर्ध्व लोक है, तो मध्य लोक ८वें राजू के प्रारम्भ में है। तब अधोलोक पूरा ७ राजू है और ऊर्ध्व लोक एक लाख चालीस हजार योजन कम ७ राजू समझिये। इस तरह तीन लोकों में इस लोक का विभाग बना हुआ है।

दीसंति जत्थ अत्था जीवादीया स भण्णदे लोओ।
तस्स सिहरम्मि सिद्धा अंत-विहीणा विरायंते।।१२१।।

लोक का स्वरूप व सिद्ध परमेष्ठी का अवस्थान क्षेत्र—जहां पर जीवादिक पदार्थ देखे जाते है उसे लोक कहते हैं। उसके शिखर पर अनन्त सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं। लोक शब्द 'लुक्' धातु से बना है जिसका अर्थ यह निकला कि जहां समस्त पदार्थ पाये जायें, देखे जायें उसे लोक कहते हैं। इस लोक के अन्तिम भाग पर जहां कि तनुवातवलय है, तीन वलयों में जो अंतिम वातवलय है,जहां सूक्ष्म पतली हवा है वहां पर सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं ओर वे अन्तरहित हैं, जिनका कभी विनाश नहीं है। सिद्ध परमेष्ठी द्रव्य से भी अनन्त हैं। सिद्ध परमेष्ठी कितने हैं? तो उनका प्रमाण अनन्त है। क्षेत्र से वे असंख्यात प्रदेशों में हैं, काल से भी अनन्तकाल से हैं, अनन्तकाल तक रहेंगे। अनन्तकाल तक होते रहेंगे और भी अनेक सिद्ध। और भावदृष्टि से वे सिद्ध अनन्त हैं। उनका भाव, उनका ज्ञान, आनन्द ये सब कुछ अनन्त हैं, ऐसे सिद्ध भगवान कहां विराजमान हैं? उसका उत्तर दिया गया कि वे लोक के अन्त में हैं। सब जीवों में पूर्व उत्कृष्ट प्रभु हैं सिद्ध भगवान। तो कुछ मेल भी ऐसा मिल गया है कि वे उत्कृष्ट हैं तो लोक के उत्कृष्ट भाग पर ही रहते हैं। हम आप जब भी भगवान को याद करते हैं तो ऊपर सिर उठाकर ऊपर दृष्टि करके याद किया करते हैं। कोई पुरुष जमीन में नीचे दृष्टि गड़ाकर याद नहीं करता। कुछ प्रकृति भी ऐसी है। तो ये सिद्ध प्रभु लोक के अन्त में विराजमान हैं।

लोक भावना से प्राप्त शिक्षायें—लोक भावना में जो कुछ भी वर्णन चलेगा उससे बहुत शिक्षा मिलेगी। जैसे लोक के विस्तार का वर्णन आयेगा तो वहां हमें यह शिक्षा मिलती है कि इस लोक में कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहां यह जीव अनन्त बार जन्म-मरण न कर चुका हो। लोक में कोई पदार्थ ऐसा नहीं बचा जिसे इस जीव ने अनन्त बार भोगा न हो। लोक की रचना जानकर पुण्य का फल कहां विशेष मिलता है, पाप का

फल कहां विशेष मिलता है, यह स्पष्ट जानकारी रहती है। लोग कह तो देते हैं कि पाप करने का फल नरक गति में जन्म लेना है, पर नरक कहां है, किस प्रकार से नारकी जीव रहते हैं, यह सब वर्णन समझने के बाद यह बात ज्ञान में और स्पष्ट रहती है कि पाप के फल में नियम से नरक जाना पड़ता है। लोग तो कह देते हैं कि पुण्य का फल है स्वर्गों में जन्म लेना, पर स्वर्ग कहां है, किस प्रकार से स्वर्ग में रहने वाले जीवों की देह है, कैसी आयु है, कैसा उनका भोगोपभोग है, इन सब बातों का जब परिचय मिलता है तो यह बात ज्ञान में अधिक स्पष्ट हो जाती है कि पुण्य का फल स्वर्ग में उत्पन्न होना है, धर्म का फल सिद्ध होना है। धर्म है आत्मा के स्वभाव का अवलोकन करना और उस स्वभाव में ही रमना, और उसका फल है सिद्ध होना। तो वे सिद्ध कहां रहते हैं, कैसी उनकी स्थिति है? इसका परिचय होने पर धर्म का फल सिद्ध होना है और उन सिद्धों में ऐसा अनन्त आनन्द है ये सब बातें जानने में आसानी हो जाती है। अब आगे की गाथा में यह बतलाते हैं कि किन-किन जीवों से भरा हुआ यह लोक है?

एइंदिएहिं भरिदो पंच-पयारेहिँ सव्वदो लोओ।
तस-णाडीए वि तसा ण बाहिरा होंति सव्वत्थ।।१२२।।

लोक में जीवों के निवास का विवरण—यह लोक सर्व ओर से ५ प्रकार के एकेन्द्रियों से भरा हुआ है किन्तु त्रस जीव त्रसनाली में ही हैं, बाहर सर्वत्र नहीं हैं। लोक की ठीक रचना जानने के लिए ७ बालकों की लाइन पैर पसारकर, कमर पर हाथ रखकर चित्रण बताया गया था। तो ऐसे लोक में त्रसनाली किधर है, बीच में जो चौथा बालक है। (तीन आगे और तीन पीछे के बालकों को छोड़कर) मानो उस बालक का जितना मोटा कंठ है उतने ही प्रमाण दो लैन नीचे तक जमीन तक बनायें तो जो हिस्सा सामने विदित हुआ ऐसी ही चौकोर त्रसनाली है। मतलब यह है कि त्रसनाली इस लोक में किसी ओर से अपना व्यक्त भाग बनाये हुए नहीं है। उस त्रसनाली में जीव रहते हैं। इसके अतिरिक्त जितना क्षेत्र बचा त्रसनाली तो कुछ कम १३ राजू है। अब १३ राजू छोड़कर ३४३ राजू में जितना बचा वह सारा स्थावरों से भरा हुआ है। वे स्थावर ५ प्रकार के हैं—पृथ्वी कायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक। जिनका कोई आधार नहीं, (कोई शरीर नहीं, ऐसे जैसे कि स्थूल रूप में जैसा कि यहां के पृथ्वी, जल आदिक के देखा जाता है,) ऐसे भी स्थान हैं, उनमें ये सूक्ष्म जीव हैं। त्रस नाली से बाहर त्रस जीव जा तो सकते हैं मगर अपने इस शरीर को लेकर नहीं। कोई त्रसनाली से बाहर का एकेन्द्रिय जीव मरकर त्रसनाली में उत्पन्न होने जाये, त्रस बना तो मृत्यु के पश्चात् त्रसनाली में जो जन्म के लिए गमन करता है तो उस जीव का नाम त्रस हो गया। उस स्थान में जो चला वह विग्रह गति में तो वहां भी त्रस जीव रह गया लेकिन उसका समय प्रायः एक दो समय समझिये। इसी प्रकार कोई जीव त्रस नाली में त्रस है और उसे मरकर त्रस नाली से बाहर एकेन्द्रिय में जन्म लेना है तो जिसका मरण समुद्घात होगा तो मरण समुद्घात में यह स्थिति बनती है कि यह जीव पहले उस स्थान को छू आयेगा जहां कि इसे जन्म लेना है और फिर उस स्थान पर वापिस आयेगा, फिर मरण करके जायेगा तो मारणान्तिक समुद्घात में जीव का जो इतना समय लगा कि मरण से पहले जन्म स्थान के प्रदेश को छू आया और वापिस आकर शरीर में समा गया तो इस हालत में यह त्रस जीव त्रसनाली से बाहर स्थावर क्षेत्र में भी चला गया। इस प्रकार से त्रसनाली से बाहर त्रस जीव का पाया जाना सम्भव है। हां, बादर जीव जो स्थूल पृथ्वीकायिक आदि हैं और एकेन्द्रिय जीव व सभी त्रस जीव ये सर्वलोक में नहीं रहते हैं क्योंकि जो

स्थूल पृथ्वी है वह तो साधार हो गयी। बाहर तो पृथ्वी है नहीं। तो वहां पृथ्वी कायिक जीव सूक्ष्म हैं, बादर नहीं। जैसे कि जीव समास में एकेन्द्रिय के चार भेद किए हैं—तो ये चार प्रकार के जीव त्रसनाली में तो रह ही सकते हैं, पर त्रसनाली से बाहर पृथ्वी जल वगैरा सूक्ष्म पृथ्वी है, सूक्ष्म जल आदिक है वहां भी रहते हैं।

त्रसनाली के विस्तार का वर्णन—त्रसनाली सिद्धान्त में १४ राजू से कम कहा गया है। ऐसा कहने का कारण यह है कि ७वां जो नरक है, ७वीं पृथ्वी ८ हजार योजन की मोटी है और उसके ठीक मध्य में नारकियों की श्रेणीबद्ध पोल बनी हुई है। जिन पोलों की मोटाई पौन योजन की है। अब इस मोटाई का गणित बनाकर जो फल आता है उसे रक्खें और ऊपर से सर्वसिद्धि के विमान के ऊपर १२ योजन पर आठवीं पृथ्वी है, इसका नाम है सिद्धशिला या ईषत्प्राग्भार। यह ८ योजन मोटी है और उसकी चौड़ाई एक राजू, लम्बाई ७ राजू है। अब त्रस जीव कहां तक पाये जाते हैं इतनी निगाह रख करके त्रसनाली मानी जाये तो शेष का जो स्थान बचा वह त्रसनाली में न होने से कुछ कम १३ राजू प्रमाण त्रसनाली की बात कही गई है। इस तरह इस तीन लोक के रूप में विभक्त यह लोक है।

लोकानुप्रेक्षा से आत्म कल्याण के कर्त्तव्य की प्रेरणा—इस लोक में हम आप सब इस समय मध्य लोक में हैं, और इस मध्य लोक में भी बहुत बीच के स्थान पर हैं यानि जम्बूद्वीप में हैं। हां जम्बूद्वीप में हम एक किनारे हैं भरत क्षेत्र पर, जिसमें ६ खण्ड हैं, एक आर्य खण्ड, ५ म्लेच्छ खण्ड। उनमें से एक आर्य खण्ड में जन्म लिए हुए कहलाते हैं। म्लेच्छ खण्ड से बच गए, आर्य खण्ड में जन्म लिया है, और इस आर्य खण्ड में बहुत देश हैं जैसे रूस, चीन, अमेरिका, भारत आदि। अनेक देशों में तो केवल जल ही जल है, जहां अन्न पैदा ही नहीं होता। उन समस्त देशों में भारत देश भी है जिस देश में तीर्थंकरों का जन्म होता है और निर्वाण की बहुतायत जिस क्षेत्र से होती है उस क्षेत्र में हम आपने जन्म लिया, और जाति कुल भी तीर्थंकरों के वंश का ही है, तो ऐसी उत्तम जाति कुल में जन्म लेकर और जैन शासन पाकर हम स्व और पर पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करें, निर्णय बनायें और सबकुछ समझकर एक इस संकल्प में आ जायें कि हमें तो निज ज्ञान स्वरूप का ज्ञान बनाये रहकर आत्म कल्याण करना है। संसार के संकटों से, अष्टकर्मों के बन्धन से सदा के लिए छुटकारा पाना है। बस इस ही विशुद्ध परिणाम को बनाने के लिए यह लोकानुप्रेक्षा का वर्णन चल रहा है।

पुण्णा वि अपुण्णा वि य थूला जीवा हवंति साहारा।
छव्विह-सुहुमा जीवा लोयायासे वि सव्वत्थ।।१२३।।

बादर जीवों की साधारता व सूक्ष्म जीवों की निराधारता का वर्णन—ऊपर की गाथा में बताया गया था कि यह सारा लोक ५ प्रकार के एकेन्द्रियों से भरा हुआ है और त्रसनाली से त्रस रहते हैं, इससे बाहर त्रस जीव नहीं पाये जाते हैं। केवल उपपाद समुद्घात और मारणान्तिक समुद्घात की अवस्था में त्रसजीव त्रसनाली से बाहर पाये जाते हैं तो भी अति अल्प समय के लिए। इस गाथा में बता रहे हैं कि वे जीव पर्याप्तक हों तथा अपर्याप्तक हों, स्थूल जीव कितने हैं वे सब साधार होते हैं यानि जो बादर पर्याप्तक हैं, बादर अपर्याप्तक हैं वे सब किसी आधार में रहा करते हैं, जो कि आधार एक स्थूल शरीर है। बादर उसे कहते हैं जो बादर नामकर्म के उदय से निष्पन्न पर्याय हो। बादर नामकर्म के उदय से ऐसा शरीर उत्पन्न होता है कि जो अन्य पदार्थों से छिड़ रुक भिड़ सकता है। तो इस प्रकार के जो बादर जीव हैं वे पर्याप्तक हों अथवा

अपर्याप्तक हों, ये सभी प्राणी पृथ्वी आदिक आधार पा करके रहते हैं। आधार में वर्तमान शरीर से सहित जो जीव हैं वे सब बादर हैं। साधार जीव सभी बादर हुआ करते हैं और सूक्ष्म जीव वे कहलाते हैं जिनकी पर्याय सूक्ष्म नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई हो। ऐसे प्राणी ६ प्रकार के हैं—सूक्ष्म पृथ्वी कायिक, सूक्ष्म जल कायिक, सूक्ष्म अग्नि कायिक, सूक्ष्म वायु कायिक, सूक्ष्म नित्य निगोद वनस्पति कायिक, सूक्ष्म इतर निगोद वनस्पति कायिक। त्रस जीव सभी बादर होते हैं, इस कारण उनमें दो भेद नहीं कहे। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव ये कितने ही सूक्ष्म शरीर वाले हों वे सब बादर हैं। अतएव इनमें दो भेद नहीं कहे। जिनमें सूक्ष्म सम्भव हैं। उनके भेद बताये गए हैं। तो सूक्ष्म शरीर वाले जीव एकेन्द्रिय में ही हुआ करते हैं।

वनस्पति काय के भेद रूप नित्यनिगोद व इतर निगोद का विवरण—एक इन्द्रिय के ५ भेद बताये गए हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति। इनमें से वनस्पति काय के दो भेद हैं—एक प्रत्येक वनस्पति, दूसरा साधारण वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति तो जितनी हरी वनस्पति है, फूल, फल, पत्ते पेड़ आदि ये सब प्रत्येक वनस्पति कहलाते हैं। साधारण वनस्पति निगोद का नाम है। जिन प्रत्येक वनस्पतियों में अनन्त साधारण वनस्पति रहते हैं उन्हें कहते हैं सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जैसे आलू, मूली, गाजर आदिक ये साधारण वनस्पति नहीं हैं किन्तु साधारण वनस्पति सहित प्रत्येक वनस्पति हैं। तो चूंकि इनमें एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा अधिक है अतएव इन्हें भी साधारण वनस्पति कहकर प्रसिद्ध करते हैं। और बोलचाल में, लोक व्यवहार में कहते हैं कि आलू वगैरह साधारण हैं, पर ये साधारण नहीं, किन्तु साधारण सहित प्रत्येक हैं। तो इनमें यानि प्रत्येक वनस्पति में सूक्ष्म जीव नहीं होते। साधारण वनस्पति में भी दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। साधारण वनस्पति कहो अथवा निगोद कहो—दोनों का एक ही अर्थ है। तो निगोद जीव दो प्रकार के होते हैं—एक नित्य निगोद दूसरा इतर निगोद। नित्य निगोद उन्हें कहते हैं जो जीव अब तक निगोद से कभी नहीं निकले। नित्य निगोद भी दो प्रकार के हैं—एक वे जो भविष्य में कभी निगोद से निकलेंगे नहीं और एक वे जो भविष्य में कभी निगोद पर्याय से निकल जायेंगे लेकिन अब तक नहीं निकले। अभी कहलाते हैं। तो नित्य निगोद का जब लक्षण करेंगे तब यह न करना कि जो अब तक निगोद से नहीं निकले और भविष्य में कभी नहीं निकलेंगे, उन्हें नित्य निगोद कहते हैं। यह लक्षण ठीक नहीं है क्योंकि इस लक्षण से वे निगोद छूट जाते हैं जो अब तक नहीं निकले और आगे निकलेंगे। अतएव नित्य निगोद का यही लक्षण ठीक है कि जो जीव अब तक निगोदपर्याय से नहीं निकले वे नित्य निगोद कहलाते हैं। इतर निगोद वे कहलाते हैं जो निगोद पर्याय से निकल चुके थे, नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य या अन्य तिर्यञ्च हो गए थे और फिर वे निगोद बन गए तो उन्हें इतर निगोद कहते हैं।

लोक की सूक्ष्य जीवों से सर्वत्र निरन्तर निभृतता—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, नित्य निगोद, इतर निगोद ये छः प्रकार के काय सूक्ष्म भी होते और बादर भी होते। पृथ्वी जीव, जैसे यह आंगन में आकाश है, जहां कुछ भी नजर नहीं आता यहां पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और साधारण वनस्पति नाम के ये पांचों प्रकार के जीव हैं। ये सूक्ष्म हैं, इनको आधार की आवश्यकता नहीं है। तो ऐसे सूक्ष्म जीवों से यह सारा लोक ठसाठस भरा है। चाहे जल का स्थान हो, चाहे स्थल हो अथवा आकाश हो, सभी जगह निरन्तर ये सूक्ष्म जीव रहते हैं इनको आधार की अपेक्षा नहीं है। जल के कारण या पृथ्वी, पहाड़ के कारण इनके शरीर की गति आदि का प्रतिघात नहीं है। ये सूक्ष्म जीव आग से नहीं जलते, पीटने से नहीं पिटते, इनका प्रतिघात कोई दूसरा नहीं कर सकता, किन्तु यह जीव स्वयं ऐसे निकृष्ट हैं कि एक श्वास में १८ बार तो निगोद का जन्म-मरण होता है और अपनी

ही आयु के क्षय से इन सूक्ष्म पृथ्वी कायिक आदिक का जन्म-मरण होता रहता है। ये जीव सब सूक्ष्म हैं, निराधार हैं और निरन्तर हैं, ऐसी कोई लोक की जगह नहीं बची जहां कि कोई जीव न रह रहा हो, जीवों से यह लोक पूर्ण ठसाठस भरा हुआ है।

पुढवी-जलग्गिवायु चत्तारि वि होंति बायरा सुहुमा।
साहारण-पत्तेया वणप्फदी पंचमा दुविहा।।१२४।।

एकेन्द्रियों में बादर और सूक्ष्म जीवों का विवरण—ये जीव बादर भी होते और सूक्ष्म भी। जो दिखने में आ सकने वाली, छूने में आने वाली या इससे भी और बारीक जो अचाक्षुष भी है, उसमें जो जीव हैं वे बादर पृथ्वी कहलाते हैं। बादर उन्हें कहते जो दूसरे से छिड़ जायें, रुक जायें। सूक्ष्म शरीर वाले जीव वे कहलाते हैं जो दूसरे से छिड़ नहीं सकते। वे गति कर रहे हों तो भींत, पहाड़ कुछ भी आगे आयें, सबमें से वे निकल जाते हैं। तो जो सूक्ष्म जीव हैं उनका किसी का किसी से प्रतिघात नहीं होता, उनका कोई दूसरा घात नहीं कर सकता। अग्नि भी जलती हो तो अग्नि की गर्मी से भी जीव न मरेंगे लेकिन वे अपने आप ही निरन्तर मरते रहते हैं। तो पृथ्वी बादर पृथ्वी भी है, सूक्ष्म पृथ्वी भी। जल, अग्नि, वायु, साधारण वनस्पति सूक्ष्म भी है और बादर भी। एकेन्द्रिय जीवों में वनस्पति कायिक जो अन्तिम भेद है उसके दो भेद हैं—साधारण वनस्पति व प्रत्येक वनस्पति। इनमें से प्रत्येक वनस्पति बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं।

मिथ्यात्व, अविरति व कषाय भावों से हिंसा का महापाप—इस प्रसंग में अहिंसा धर्म के सिद्धान्त से यह बात जानें कि जीव को जो हिंसा का पाप लगता है वह अपने भावों से लगता है। कोई जीव मर गया किसी के शरीर से घात से तो उस द्रव्य घात से हिंसा नहीं लगी किन्तु उस जीव को मारने का भाव भी था इसलिए हिंसा लगी। जो भाव पूर्वक चल करके हिंसा की जाती है वह नियम से कषायपूर्वक ही है। तो कषाय है इसलिए हिंसा हुई, जीव मरा इसलिए हिंसा नहीं हुई। यहां कोई यह बहाना नहीं ले सकता है कि जीवों को मारते जाओ, हिंसा तो जीवों के मारने से नहीं लगती। यह बहाना यों नहीं लिया जा सकता कि यह भी तो देख लो कि जीवों को कोई मार रहा है तो कषायपूर्वक मार रहा, बिना कषाय के तो नहीं। मारने की प्रवृत्ति कषाय बिना नहीं हो सकती, अतएव कषाय नियम से होने के कारण उसको हिंसा है तभी तक निगोद से नहीं निकले इस बात के होने से वे नित्य निगोद कोई जीव मरे चाहे न मरे, लेकिन कषाय कर ली, किसी को मारने का भाव कर लिया तो उसे हिंसा अवश्य है। और मुनिराज ईर्यासमिति से चल रहे हैं और कदाचित् कोई कुन्थु, जीव, छोटा जीव जो कि आंखों से भी नहीं दिख सकता और निकट से ही उड़कर पैर के तले भागकर आ गया है तो उस जीव का घात भी हो जाये तो भी मुनिराज को हिंसा नहीं लगती क्योंकि न भाव था मारने का और न प्रमाद था। एक सबसे बड़ी विडम्बना तो यह बन जायेगी कि यदि जीव में द्रव्यघात से हिंसा होने लगे तो देखिये—शरीर में सब जगह जीव भरे हुए हैं, शरीर हम आपका है एक, लेकिन इसमें कीटाणु नाना जीव इस शरीर में बहुत भरे हैं। हम आप बैठते हैं तो बैठने से जो हिस्सा दब गया है वहां के जो जीव हैं उनको क्या पीड़ा न हुई होगी? जब शरीर में सब जगह जीव भरे हुए हैं तो आप क्या करेंगे, खड़े हों, बैठ जायें, लेट जायें तो उस अंग के दबने से क्या जीव हिंसा नहीं है, लेकिन जीव हिंसा का संकल्प नहीं है अतएव वहां हिंसा नहीं है। अन्यथा कोई मोक्ष जा ही न सकेगा। शरीर में जीव हैं और हर समय जीवों का घात होता रहता है तो मुक्ति कहां मिले?

संकल्पी हिंसा में महा दोष का वर्णन–प्रश्न–फिर तो जो मांसभक्षी लोग हैं वे कहेंगे कि हम तो मांस खाने के लिए जीवों का घात करते हैं–उनके मारने का भाव तो हम नहीं बनाते, फिर इसमें क्यों हिंसा का दोष लगा? उत्तर–खाना भी एक कषाय है, जो मांस खाकर मौज मानने का भाव है वह भी उतनी व उससे भी अधिक तीव्र कषाय है जितनी कि कोई बैर विरोध में आकर जीव का घात करता है। तो चूंकि जीव घात खाने के लिए किया और खाना कषाय है, तीव्र राग है, आसक्ति है, दूसरे जीव का तो प्राण जाये और खुद का जरा-सा कल्पित स्वाद मिल गया जो कि व्यर्थ का स्वाद है, जिससे कि कुछ कार्य भी नहीं बनता। तो यह कषाय से किया गया है अतएव हिंसा है। तो अपने प्रयोजन से, अपने विषय साधन से, अपने दिल बहलावा के लिए, अथवा कोई शत्रु आक्रमण कर रहा है उससे बचाव के लिए किसी भी प्रकार से हिंसा की जाती है तो उसमें हिंसा का दोष है। हिंसा ४ प्रकार की कही गई है–संकल्पी हिंसा, विरोधी हिंसा, उद्यमी हिंसा और आरम्भी हिंसा। संकल्पी हिंसा उसे कहते हैं कि इरादे से, भाव पूर्वक किसी जीव को मार डालना। विरोधी हिंसा उसे कहते हैं कि कोई शत्रु मनुष्य अथवा सिंह, सर्प आदिक जानवर अपने ऊपर आक्रमण करने को हो और उस आक्रमणकारी का हम प्रत्याक्रमण करें। उसके साथ संघर्ष करें और उसमें उस विरोधीजीव की हिंसा हो जाये उसे कहते हैं विरोधी हिंसा। तीसरी है आरम्भी हिंसा। रसोई बनाने में, चक्की चूल्हा आदि के कार्यों में बहुत-बहुत बचाव करते हुए भी, बचाव जीव हिंसा का यथाशक्ति रखते हुए भी जो हिंसा कहते हैं, ठीक न्यायपूर्वक रोजगार करते हुए भी, बचाव जीव का यथाशक्ति रखते हुए भी जो जीव हिंसा होती है उसे उद्यमीहिंसा कहते हैं। इन चारों प्रकार की हिंसाओं में पाप बंध तो है, लेकिन गृहस्थ की और साधु की स्थिति न्यारी-न्यारी है। गृहस्थ केवल संकल्पी हिंसा का त्यागी बना। आरम्भी, उद्यमी, विरोधी हिंसा का अभी यह घर में बसने वाला गृहस्थी त्याग नहीं कर पाया। तो त्याग न भी कर पाये, उससे कहीं हिंसा से बच न जायेगा। हिंसा वही लगेगी, लेकिन व्रत भंग की हिंसा नहीं लगी। उसने व्रत केवल संकल्पी हिंसा के त्याग का किया। जैसे यहां कोई ऐसा निर्णय करता कि हमने आलू का त्याग किया और मूली खा रहा तो जिसका त्याग किया उसे यदि खाने लगे तो उसकी निन्दा है। यद्यपि मूली भी खा रहा, उसमें भी अनन्तकाय हैं लेकिन त्यागे हुये आलू को खाये तो उसे लोग भला नहीं मानते। और मूली खाता रहे तो उसे कोई बुरा नहीं कहता कि यह गृहस्थ नहीं रहा। इस तरह ४ प्रकार की हिंसाओं में इस गृहस्थ ने संकल्पी हिंसा का त्याग किया और संकल्पी हिंसा का त्याग किए बिना वह जैन मात्र भी नहीं कहला सकता।

विवेकी के संकल्पी हिंसा के त्याग की अनिवार्यता–जैन कोई युद्ध में लड़े, कोई जैन मिलेटरी का सिपाही भी तो बन सकता है। वह अगर युद्ध करे, युद्ध में अनेक लोगों को मार भी सकता है लेकिन एक चलती हुई चींटी को वह यों ही मसल नहीं सकता। संकल्पी और विरोधी हिंसा में यही तो अन्तर है। एक बार की पुरानी घटना है कि टीकमगढ़ रियासत में राजा से किसी ने कह दिया कि जैन लोग हिंसा नहीं करते, परीक्षा करने के लिए वह राजा घोड़े से जा रहा था। रास्ते में एक बकरी जा रही थी। तो जैन से कहा कि इस बकरी को लाओ इसका अभी घात करना है। इसका मांस पकवाकर हम खायेंगे। तो वह जैन इतना निडर होकर बोला कि महाराज! यह काम तो एक जैन से नहीं हो सकता। बहुत-बहुत धौंस देने के बाद भी जब वह जैन हिंसा करने के लिए उस बकरी को लेने न चला तो वह राजा उस जैन पर बहुत प्रसन्न हुआ और बोला कि हमने जो सुना था कि जैन लोग हिंसा नहीं करते तो वह बिल्कुल सच था, क्योंकि हमने आज अच्छी तरह से परीक्षा कर लिया। तो हिंसा का दोष भावों से चलता है। तो ये पृथ्वी कायिक आदिक बादर जीव भी बहुत

भरे पड़े हैं। सूक्ष्म जीव तो ठसाठस भरे हैं। जीव हिंसा का दोष तो उनका घात करने का भाव होने पर ही लगेगा। एकेन्द्रियों में ५वां भेद है वनस्पति का। वनस्पति काय के दो भेद हैं—साधारण वनस्पति और प्रत्येक वनस्पति। जो साधारण वनस्पति कायिक जीव हैं वे नित्य निगोद अथवा इतर निगोद कहलाते हैं। उनमें तो भेद हैं—बादर और सूक्ष्म, किन्तु जो प्रत्येक वनस्पति कायिक जीव हैं वे बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं होते। अब साधारण वनस्पति काय के दो भेद हैं, इस बात को गाथा से भी दिखाते हैं।

साहारणा वि दुविहा अणाइ-काला य साइ-काला य।
ते विय बादर-सुहुमा सेसा पुण बायरा सव्वे।।१२५।।

साधारण वनस्पति काय के दो भेदों का गाथा में निर्देश—साधारण वनस्पति कायिक के दो भेद हैं, एक तो अनादि साधारण वनस्पति कायिक अर्थात् नित्य निगोद और एक सादिकाल साधारण वनस्पति कायिक अर्थात् इतर निगोद। ये दोनों प्रकार के जीव बादर भी होते और सूक्ष्म भी होते, किन्तु प्रत्येक वनस्पति बादर ही होते। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव बादर ही होते हैं। इनका शरीर इस किस्म का है कि दूसरे पदार्थ से छिड़ें, भिड़ें, रुकें, ये सूक्ष्म नहीं होते। ये साधारण वनस्पति काय कहलाते हैं। इनमें साधारणता क्या है कि उनमें एक जीव मरे तो उसी समय अनन्त जीव भी मरेंगे। एक निगोद जीव जन्मे तो उस ही समय वे अनन्त निगोद जीव भी जन्मेंगे। इनमें से अनन्ते निगोद जीवों का औदारिक शरीर एक होता है, जैसे हम आपके शरीर एक-एक न्यारे-न्यारे हैं इस तरह उन अनेक निगोद जीवों का शरीर न्यारा-न्यारा नहीं है। शरीर एक है और उसके आधार में उनका जन्म-मरण होता रहता है। ऐसे-ऐसे भी अनन्त निगोद शरीर हैं। वे एक साथ जन्मते हैं और एक साथ मरते हैं।

वर्तमान मनुष्य भव की उपयोगिता का ध्यान—हम आप सभी जीवों की सबसे पहली दशा निगोद थी, उस निगोद अवस्था से निकलकर आज मनुष्य पर्याय में आये हैं तो सोचिये कि हम कितनी घाटियां पार कर चुके हैं। निगोद से निकलना कठिन था, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति में आ गए, तो इसमें भी निकलना कठिन था, दो इन्द्रिय में आये तो उनसे भी निकलकर तीन इन्द्रिय , चार इन्द्रिय और अनेक पंचेन्द्रिय की अवस्थाओं को भी पार करके हम आप आज मनुष्य हुए हैं। मनुष्य होकर यदि मोह रागद्वेष में ही जीवन बिताया, दूसरा कोई उद्देश्य न बनाया, राग में ही मन भर करके यह आयु खत्म कर दी तो आप बतलाओ कि हम आप लोगों को लाभ की बात क्या मिली? कितना काल गुजर गया? अनन्त काल। इस अनन्त काल में अनन्त ही भव मिले, इससे भी अच्छे-अच्छे मनुष्य राजा, हुए जिसमें बहुत इज्जत प्राप्त की, लेकिन सब न कुछ। आज उनका हमें लाभ क्या है? तो इसी तरह १०-५ वर्ष गुजर जाने के बाद इस देह को छोड़कर तो जाना ही होगा। उस भविष्य के भव में फिर क्या लाभ मिल जायेगा? कुछ भी नहीं। तो इस भव को हम ज्ञानार्जन धर्म साधना में, वीतराग देव की उपासना में, संत साधुओं की सेवा में, ज्ञानार्जन में अगर बितायें तो उससे हम कुछ लाभ पा सकेंगे। विषय कषायों में ही रमे रहे तो फिर हम आपका जीवन व्यर्थ है। यह निर्णय करते समय कि यह मनुष्य जीवन मिला है तो धर्म साधना करके संसार के संकटों से सदा के लिए छुटकारा पाने का उपाय बनाने के लिए मिला है, अन्य कार्य के लिए नहीं। संकल्प के साथ अपने जीवन की चर्या बनायें तो उससे मनुष्य जीवन के भव पाने की सफलता है अन्यथा जैसे अनेक भव गुजर गए वैसे ही यह भव भी गुजर जायेगा और कहो ऐसा भव मिले कि पछताने तक की भी बुद्धि न रहे।

साहारणाणि जेसिं आहारुससास-काय-आऊणि।
ते साहारण-जीवा णंताणंत-प्पमाणाणं।।१२६।।

निगोद जीवों की साधारणता का कारण—निगोद जीवों को साधारण वनस्पति क्यों कहते हैं, उनमें साधारणता किस कारण से है इसका उत्तर इस गाथा में दिया है। जिन जीवों का आहार श्वासोच्छवास, काय, आयु, साधारण है उन्हें साधारण जीव कहते हैं। साधारण जीव अनन्तानन्त प्रमाण में हैं। कुल कर्म प्रकृतियां १४८ प्रकार की हैं, उनमें एक साधारण नामकर्म भी है। साधारण नाम कर्म के उदय से अनन्तानन्त जीवों का निगोदों का आहार, उच्छ्वास, काय और आयु साधारण होता है, सदृश एक समान काल में ये पाये जाते हैं, इस कारण इन जीवों को साधारण कहते हैं। एक जीव यदि आहार ग्रहण करता है तो अनन्तानन्त जीव उसी समय में ही साधारण समान सदृश आहार को ग्रहण करते हैं, यहां आहार का अर्थ है शरीर के परमाणुओं को शरीर में ग्रहण करना। एक जीव जब श्वास ग्रहण करता है तो अनन्तानन्त जीव साधारण (समान) श्वास को ग्रहण करते हैं, एक जीव जब शरीर को ग्रहण करता है, शरीर परमाणुओं को ग्रहण करने पर अनन्तानन्त जीव उस ही शरीर को ग्रहण करते हैं और छोड़ने पर ही छोड़ते हैं। जब एक जीव मरता है तो अनन्तानन्त जीव उस ही समय साथ मरते हैं, एक साथ जन्म लेते हैं। तो अनन्तानन्त जीव साथ ही साथ जन्म को ले लेते हैं, इसलिए उन्हें साधारण जीव कहते हैं।

निगोद जीवों की निकृष्टता—ये साधारण निगोद जीव बहुत निकृष्ट जीव हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, इनसे भी बहुत गये बीते जीव निगोद कहलाते हैं। एक श्वास में १८ बार जन्म लेना, मरण करना यह निगोदों की ही बात बतायी गई है। एक ग्रन्थ में कवि ने अलंकार में कहा है कि जो मनुष्य घर में रहकर अतीव आसक्त रहते हैं, मायने स्त्री पुत्रादिक से अत्यन्त अधिक प्रेम करते हैं, तो प्रेम में होता क्या है कि एक जीव के सुख में सुखी होते हैं और उसके दुःख में दुःखी होते हैं, यही तो प्रीति का अर्थ है। तो जो मनुष्य इतना आसक्त है उनको कवि ने बताया है कि वे मानो निगोद जीव बनने का अभ्यास कर रहे हैं, क्योंकि निगोद में यही करना पड़ेगा कि एक जीव जन्मे तो सब जन्में, एक जीव मरे तो सब मरें, एक जीव श्वास ले तो सभी जीव श्वास लें, निगोद बन जाने पर यही करना पड़ेगा तो उसका अभ्यास वे इस ही पर्याय में कर रहे हैं कि एक जीव के सुख में सुखी होते और उस ही के दुःख में दुःखी होते, उसके जिन्दा रहने तक ही जिन्दा रहते और उसके मरने पर तुरन्त वे भी मर जाते, इतनी तक आसक्ति देखी गई है। निगोद में यही साधारणता है कि एक जीव के जन्म लेने पर अनन्त जीव जन्म लेते, एक जीव के मरने पर अनन्त जीव मरते। ये सब उनके एक समान हैं। इस कारण उन्हें साधारण जीव कहते हैं।

निगोद में पर्याप्तियों की समकालता—एक इन्द्रिय में ४ पर्याप्तियां कही गई हैं—आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छास पर्याप्ति। आहार पर्याप्ति का अर्थ है जिन परमाणुओं से शरीर बनेगा, शरीर परमाणुओं को ग्रहण करने की शक्ति आना। शरीर पर्याप्ति का अर्थ है जिन परमाणुओं को ग्रहण करने की शक्ति आना। शरीर पर्याप्ति का अर्थ है जिन परमाणुओं को ग्रहण किया था उन परमाणुओं को शरीर आकार रूप परिणमन लेने की शक्ति आना सो शरीर पर्याप्ति है। इन्द्रिय पर्याप्ति का अर्थ है कि उन शरीराकार परिणमते हुए स्कंधों का स्पर्शन इन्द्रिय के आकार परिणमाने की शक्ति आना सो इन्द्रिय पर्याप्ति है। श्वासोच्छवास प्रर्याप्ति का अर्थ है कि जिन परमाणुओं को शरीर रूप परिणमाने के लिए ग्रहण किया था उनमें

श्वासोच्छवास उत्पन्न होने की शक्ति बनना श्वासोच्छवास प्रर्याप्ति है। तो ये सब पर्याप्तियां उन सब जीवों की एक साथ होती हैं। जब कोई जीव आहार वर्गणा रूप पुद्गल स्कंधों का खलरस भाग रूप परिणमन करता है तो सभी जीवों का वह परिणमन उस ही काल में सदृश होता है। इसी प्रकार जब एक निगोदिया जीव का शरीर बनता है, शरीराकार परिणमन होता है तो वही, साधारण सदृश सब जीवों का शरीर होता है। इस प्रकार इन्द्रियाकार परिणमन श्वासोच्छास पर्याप्ति इन सबकी एक साथ वृत्ति होती है, इस ही कारण इन जीवों को साधारण कहा गया है।

वनस्पति काय के भेदों का विवरण—वनस्पति कायिक, यह स्थावर जीवों का अन्तिम भेद है। उसके दो भेद हैं—एक प्रत्येक वनस्पति दूसरा साधारण वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति वह कहलाता है कि जिसके एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो और साधारण शरीर उसे कहते हैं कि जिस वनस्पति रूप शरीर के एक के बहुत से जीव स्वामी हों। जैसे सेम मटर आदिक प्रत्येक वनस्पति हैं, इनमें एक शरीर का एक जीव स्वामी है। (यद्यपि एक प्रत्येक वनस्पति के फल में जैसे आम खरबूजा वगैरह हैं वे असंख्यात प्रत्येक वनस्पति हैं, एक फल उदाहरण में लो जैसे कच्चा आम वृक्ष पर है, उस एक फल में असंख्यात प्रत्येक वनस्पति हैं। टूटने के बाद भी कुछ समय तक उसमें असंख्यात प्रत्येक वनस्पति है। अनगिनते हैं, लेकिन उन सबका शरीर न्यारा-न्यारा हैं वहां भी एक शरीर के एक ही जीव स्वामी हैं। ऐसे अनगिनते प्रत्येक वनस्पति हैं।) आलू, मूली आदिक की अब बात सुनिये— आलू में यद्यपि असंख्याते प्रत्येक तो हैं ही लेकिन वहां अनन्त शरीर भी है, तो उनमें जो असंख्याते प्रत्येक वनस्पति हैं उनके तो एक शरीर का एक ही जीव स्वामी है, किन्तु जो अनन्त साधारण जीव उसमें और हैं वहां यह व्यवस्था है कि एक शरीर में अनन्त जीव स्वामी हैं। तो ये सभी निगोद जीव एक साथ ही आहार ग्रहण करते, एक साथ ही श्वास लेते, एक साथ ही मरते और एक साथ ही जन्मते हैं। इन्हें चाहे साधारण जीव कहो अथवा निगोद जीव कहो, एक ही बात है। अब इन साधारण जीवों के यानि निगोद जीवों के भी दो भेद हैं—एक नित्य निगोद और दूसरा इतर निगोद। जो जीव अनादि काल से ही निगोद में पड़े हुए हैं अब तक कभी भी निगोद पर्याय को छोड़कर नहीं गए वे नित्य निगोद कहलाते हैं और जो निगोद से निकलकर अन्य भवों को धारण कर चुके, फिर निगोद में पहुंचे उन्हें कहते हैं इतर निगोद। ये दो प्रकार के वनस्पति हुए। अब प्रत्येक वनस्पति के दो भेद हैं—एक सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति, दूसरा अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति। जिस प्रत्येक वनस्पति में साधारण भी भरे पड़े हो, उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। जिस प्रत्येकवनस्पति में साधारण जीव नहीं है उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। एकेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में कुछ भेदों का वर्णन किया, अब उनमें सूक्ष्मत्व और बादरत्व बताया था उसका विवरण करते हैं।

ण य जेसिं पडिखलणं पुढवी—तोएहिं अग्गि वाएहिं।
ते जाण सुहुम-काया पुण थूल-काया य।।१२७।।

सूक्ष्म काय और बादरकाय जीवों का स्वरूप—जिन जीवों के देह का पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से प्रतिघात नहीं होता उन्हें सूक्ष्मकायिक जीव समझिये और जिन जीवों को काय का प्रतिघात होता है उन्हें बादर काय जीव जानो। जिसका शरीर पृथ्वी से छिड़ जाये वे बादर शरीर वाले हैं और जिनका शरीर पृथ्वी आदि से छिड़े ही नहीं उन्हें सूक्ष्म शरीर वाला कहते हैं। ये बादर और सूक्ष्म दो भेद हैं। एकेन्द्रिय जीवों में होते हैं। हम आपके शरीर बादर हैं। हम आप लोगों के सूक्ष्म नाम कर्म का उदय नहीं है। लेकिन बहुत से शरीर ऐसे सूक्ष्म

होते हैं कि हम लोगों को आंखों से भी नहीं दिख सकते, सूक्ष्म नामकर्म का को आंखों भी नहीं दिख सकते, किन्तु सूक्ष्म नामकर्म का उदय न होने से वे जीव भी बादर शरीर वाले कहलाते हैं। स्थावर जीवों में सूक्ष्म भी होते हैं इस कारण उनके बादर और सूक्ष्म ये दो भेद किए हैं। जल छानने की जो पद्धति है वह इसलिए है कि जल में इतने बारीक बादर त्रस काय के जीव हैं कि जो आंखों नहीं दिखते। लोग ये समझते हैं कि इस जल में जीव हैं कहां दिखाकर बताओ? नहीं दिखते इतने अल्प काय के जीव हैं लेकिन वहां बादर त्रस जीव हैं, अतएव उस जल को छानना होता है। आप कुछ मन में जिज्ञासा लायेंगे कि उस जल को छानने पर वे जीव कैसे रुक जाते हैं तो उसका प्रमाण सुनो—पानी जो छनने से छाना जाता है तो छन्ने के छेदों में से पानी नहीं निकलता। जब सूखा छन्ना होता है तो सूखे छन्ने से पानी नीचे न निकलेगा। जब वह छन्ना गीला होगा तो उससे पानी नीचे आयेगा। तो उस छन्ने के वे छेद जो सूखने से कुछ दिखने लगे थे गीले होने पर वे छिद्र बंद हो जायेंगे तब पानी नीचे गिरेगा। तो इससे यह सिद्ध होता है कि पानी छन्ना के छेदों से नहीं निकलता किन्तु छन्ना के तंतुओं से चूसा जाकर निकलता है। ऐसी स्थिति में जो ऐसे अति अल्पकाय के त्रस जीव हैं, जो आंखों नहीं दिख सकते वे वहां रुक जाते हैं। तो बादर जीव की हिंसा बचाने की बात बनती है। सूक्ष्म जीवों का हमारे शरीर से प्रतिघात भी नहीं होता और न उनके मारने का किसी को संकल्प भी होता है। सूक्ष्म जीव न पृथ्वी से रुकते हैं, न जल से रुकते हैं, न आग से जलते हैं, न हवा से टकराते हैं। वज्र पटल भी आड़े आ जाये तो उससे भी सूक्ष्म जीवों के शरीर का प्रतिघात नहीं होता। जीव समास जो १४ बताये गए हैं, उनमें एकेन्द्रिय जीव के ही दो भेद करके बताये हैं—बादर और सूक्ष्म। दो इन्द्रिय आदिक में बादर सूक्ष्म का भेद भी नहीं किया, इसका कारण यह है कि सूक्ष्म जीव केवल एक इन्द्रिय में ही होते हैं, दो इन्द्रिय आदिक में सूक्ष्म जीव नहीं होते, वे सब बादर ही होते हैं। तो एक ही प्रकार के होने से दो इन्द्रिय आदिक के भेद नहीं किए गए बादर और सूक्ष्म के रूप से। अब बादर कायिक जीवों की बात देखिये, उनका शरीर दीवार वगैरह से रुक जाता है। पानी के बहाव में वे जीव बह जाते हैं, अग्नि से भी जलते हैं, वायु से भी टकरा जाते हैं, ऐसे जीव बादर कायिक कहलाते हैं। अब वनस्पतिकाय के प्रत्येक वनस्पति नामक भेद का स्वरूप बतलाते हैं।

पत्तेया वि य दुविहा णिगोद-सहिदा तहेव रहिया य।
दुविहा होंति तसा वि य वि-ति-चउरक्खा तहेव पंचक्खा।।१२८।।

प्रत्येक वनस्पति व त्रस के भेद—प्रत्येक शरीर जीव उन्हें कहते हैं जिनके एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो। जैसे हम आपका। ये प्रत्येक कहलाते हैं। देखिये—जैसे प्रत्येक वनस्पति कायिक आम आदिक फलों में, वृक्षों में प्रत्येक वनस्पति का व्यवहार है यों दो इन्द्रिय आदिक में प्रत्येक शरीर का व्यवहार किया तो नहीं गया लेकिन हैं ये भी प्रत्येक शरीर। जैसे एक इन्द्रिय में बादर और सूक्ष्म दो भेद होने से उनके दो भेद बताये गए हैं ऐसे ही वनस्पति में प्रत्येक और साधारण ये दो भेद होने से दो भेद बताये गए हैं, (अब यहां दो इन्द्रिय आदिक में होते तो हैं कुछ जीव, ऐसे जो एक श्वास में अनेक बार जन्मते मरते हैं किन्तु उन्हें साधारण वनस्पति नहीं कहते।) तो प्रत्येक वनस्पति दो प्रकार के हैं—एक निगोद सहित, दूसरे निगोद रहित। जिन फलों में निगोद जीव पाये जाते हैं वे सप्रतिष्ठित हैं और जिनमें निगोद नहीं पाये जाते हैं अप्रतिष्ठित हैं। त्रस जीव भी दो प्रकार के हैं—एक विकलेन्द्रिय और एक सकलेन्द्रिय। विकलेन्द्रिय जीव उन्हें कहते हैं जिनकी इन्द्रियां पूरी न हुई हो, जैसे दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय इनके सब इन्द्रिया तो नहीं हैं इसलिए इनको विकलेन्द्रिय

कहते हैं। सकलेन्द्रिय मायने जिनके समस्त इन्द्रियां प्रकट हों। नारक, पशु, पक्षी, मनुष्य, देवादिक ये सकलेन्द्रिय कहलाते हैं।

प्रत्येक वनस्पतियों के संक्षिप्त सात प्रकार–वनस्पतियों के विवरण में गोमट सार में कहा गया है कि वनस्पतियां कुल ७ प्रकार की होती हैं– एक तो मूल बीज यानि जिन वनस्पतियों की जड़ ही बीज हो–जैसे अदरख, हल्दी वगैरा। इनमें फल तो नहीं होते, कोई दाना नहीं है जिसे बोया जाये। इनकी जड़ भी अंकुर को उत्पन्न करती है। कुछ होते हैं अग्रबीज–जिन वनस्पतियों का बीज उनका अग्रभाग होता है, जैसे नेत्रबाला आदि वनस्पति हैं कि जिसका आखिरी भाग ही अंकुर को उत्पन्न करता हो। कुछ वनस्पति होते हैं पर्व बीज जिनके पोर ही बीज बनते हैं जैसे गन्ना, बांस अथवा बेंत आदि। इनकी गांठ से ही अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ वनस्पतियां होती हैं कंद बीज–जिनका कंद ही बीज है, जैसे आलू, शकरकन्दी आदिक। ये ऐसे ही बो दिए जाते हैं और उनमें अंकुर उत्पन्न होते हैं। कुछ होते हैं स्कंध बीज, जिनका स्कंध ही बीज बनता है जैसे छेडला, पलास पेड़ वगैरा। कुछ होते हैं बीजरूह, जिनके बीज से अंकुर बनते हैं, जैसे धान, गेहूं, चना आदिक। और बादाम आम आदिक ये कुछ वनस्पतियां सम्मूर्छिम होती हैं यानि चारों ओर पड़े हुए पुद्गल स्कन्ध में उत्पन्न होते हैं। यद्यपि सभी एकेन्द्रिय सम्मृछिम जन्म वाले हैं, लेकिन यहां सम्मूर्छिम शब्द का विशेषार्थ यह है कि जो स्वयं ही उग जाती हैं, जिनके न बीज, न पोर, किसी का सम्बन्ध नहीं है उगने में, वे सम्मूर्छिम वनस्पति हैं। जैसे देखा होगा कि जब बरसात होती और जमीन में बहुत घास उग जाती है वह घास न बीज से हुई, न पोर आदिक से हुई, किन्तु स्वयं ही हो गई। इस तरह ७ प्रकार की वनस्पतियां सप्रतिष्ठित प्रत्येक भी हो सकती हैं और अप्रतिष्ठित प्रत्येक भी हो सकती हैं।

सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति व अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति का विवरण–जिस प्रत्येक वनस्पति की धारियां अदृश्य हों, जिस वनस्पति की गांठें अदृश्य हों, जिसकी गांठें दिखाई न दें, वे सब सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति हैं, अनन्तकाय हैं। जैसे बहुत छोटी ककड़ी होती है, जिस पर धार भी नहीं बन पाती है, तो वह सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है। यद्यपि बड़ी ककड़ी भक्ष्य है, उसमें निगोद नहीं है लेकिन दो-चार दिन का जो ककड़ी का फल होता है, जिस पर धारियां भी नहीं बन पातीं वह निगोद सहित है। उसमें आलू के समान दोष है। जिसके तोड़ने पर शीघ्र ही टुकड़े बराबर के हो जायें वे भी साधारण सहित प्रत्येक हैं जैसे पालक के पत्ते आदि। उन्हें मरोड़ने पर ऐसे समभंग हो जाते कि जैसे मानो चाकू से ही काटा गया हो। जिन फलों के, डंडियों की पत्तियों के तोड़ने पर उनके बीच में रंच मात्र भी तार जैसा कुछ न लगा रहे, कुछ न मिले वह भी साधारण सहित है। जिसके काट देने पर, टुकड़े कर देने पर भी फिर उग जायें वे भी साधारण कहलाते हैं। जैसे आलू के कितने ही टुकड़े कर दें और बोयें तो भी उत्पन्न हो जाते हैं। ये सब प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर हैं। प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर की व्युत्पत्ति हैं–"प्रतिष्ठितं साधारण शरीरैः आश्रितं प्रत्येक शरीरं येषां ते प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीराः" साधारण शरीर के द्वारा आश्रित है प्रत्येक शरीर जिनका उन्हें प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर कहते हैं। तो गूढ़ शिर, गूढ़ संधि, गूढ़ पर्व, सम्भंग, छिन्नरुह आदि प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति हैं और जो इनसे विपरीत हैं व्यक्त शिर, व्यक्त संधि आदिक वे सब अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति हैं तथा जिस वनस्पति के कंद की, छाल की, टहनी की या तनी की छाल मोटी हो वह सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है और जिस वनस्पति के कंद वगैरा की छाल पतली हो वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है।

त्रस जीवों में विकलेन्द्रिय के प्रकार–अब त्रस जीवों का वर्णन करते हैं। त्रस जीव दो प्रकार के होते हैं–विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय। त्रस जीवों का लक्षण है कि त्रस नाम कर्म के उदय से जो त्रस पर्याय पायी जाये वे त्रस जीव कहलाते हैं। विकलेन्द्रिय के तीन भेद हैं–दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, और चार इन्द्रिय। जिन जीवों के स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां पायी जाती हैं उन्हें दो इन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे लट, केचुवा, जोंक, शंख, कौड़ी सीप आदि। जिन जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां पायी जाती हैं उनको तीन इन्द्रिय जीव कहते हैं–जैसे चींटी, खटमल आदि। जिन जीवों के स्पर्शन रसना, घ्राण चक्षु ये चार इन्द्रियां पायी जायें उन्हें चतुरिन्द्रिय जीव कहते है–जैसे मक्खी मच्छर, टिड्डी वगैरा। इन सब जीवों के ज्ञानावरण का क्षयोपशम भी बढ़ गया है। एकेन्द्रिय में तो स्पर्शन इन्द्रिय ज्ञानावरण का क्षयोपशम था, अब जेसे-जैसे क्षयोपशम बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे ये पर्यायें भी कुछ ऊंची हो रही हैं। चार इन्द्रिय तक के जीव सब असंज्ञी ही होते हैं। इनके मन नहीं है और ये सभी सम्मूर्छन जन्म वाले कहलाते हैं। जिनकी उत्पत्ति माता-पिता से नहीं है किन्तु यहां वहां के पुद्गल संचय से है उन्हें सम्मूर्छन जीव कहते हैं। स्वयं ही कुछ स्कंध भेले हो गए और उनसे ही शरीर का निर्माण हो गया। कोई लोग शंका करते हैं कि चींटी-ततैया आदि तो अंडा देते देखे जाते हैं, पर उनके वे अंडे माता-पिता से होने वाले नहीं हैं, वे भी पौद्गलिक स्कंध हैं। और कदाचित उस स्कंध से शरीर उनका बन जाय फिर भी वे सम्मूर्छन हैं। बरसात के दिनों में एक ही रात में कितने केचुवे पैदा हो जाते हैं, मेढक के बहुत बच्चे उछलने लगते हैं। मेढक यद्यपि पंचेन्द्रिय हैं, उनमें सम्मूर्छन भी हैं। उनका जन्म माता-पिता से नहीं होता। चार इन्द्रिय तक के जीव नियम से सम्मूर्छन होते हैं।

त्रस जीवों में सकलेन्द्रिय के प्रकार–सकलेन्द्रिय के भी दो भेद हैं–संज्ञी पंचेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय। जिनके स्पर्शन, रसना घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियां पायी जायें उन्हें पंचेन्द्रिय कहते हैं। सकलेन्द्रिय का यह अर्थ है कि जिसके सब इन्द्रियां पायी जायें। उन पंचेन्द्रियों में दो तरह के जीव हैं। एक हैं मन रहित और दूसरे हैं मन सहित। असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की संख्या बहुत कम है और उनका उत्तर अब तक सुनने में आया है कि कोई-कोई जल में रहने वाले सांप असंज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं, जंगल में रहने वाले कोई-कोई तोते असंज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं। मन कहते हैं उसे जो आत्मा के हित अहित का विवेक करने में समर्थ हो। जो जीव अपने आत्मा के हित-अहित का विवेक कर सकते हैं उन्हें संज्ञी जीव कहते हैं। कोई ऐसी भी मन में शंका रखता है कि मन तो सभी जीवों के होगा, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय जीव भी तो खाना खाते हैं, खाना रखते हैं, खाना ढूंढते हैं, तो उनके भी मन कहलाना चाहिए, पर बात यह नहीं है। भोजन और विषय सेवन सम्बन्धी जो इच्छा है, जो प्रवृत्ति है वह तो संज्ञा से ही हो जाती है और हित-अहित का विवेक करने की जो बुद्धि है वह मन से ही सम्भव है। तो इस प्रकार विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय इन दो भेदों में त्रसजीव पाये जाते हैं। पंचेन्द्रियों में नारकी, मनुष्य, देव तो नियम से पंचेन्द्रिय होते हैं, तिर्यंचों में भी अनेक पंचेन्द्रिय पाये जाते हैं। अब पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के भेद बतलाते हैं।

पंचक्खा वि य तिविहा जल-थल-आयास-गामिणो तिरिया।
पत्तेयं ते दुविहा मणेण जुत्ता अजुत्ता य।।१२९।।

पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के भेद–पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीव उन्हें कहते हैं जो पंचेन्द्रिय नाम कर्म के उदय से और तिर्यंचगति नाम कर्म के सहकार से होते हैं। वे तीन प्रकार के हैं–जलचर, थलचर और नभचर। जो जल में

रहने वाले पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं उनको जलचर कहते हैं। जल से अलग होने पर उन जीवों के प्राण देर तक नहीं टिकते हैं। थलचर जीव वे कहलाते हैं जो जमीन पर चलने वाले हैं। (ये पंचेन्द्रिय तिर्यंच के भेद हैं। इसलिए मनुष्यों को थलचर यहां नहीं कहा है।) जो पंचेन्द्रिय तिर्यंच जमीन पर चलते रहते हैं उनको थलचर कहते हैं और जो जीव आकाश में विहार करते हैं उनको नभचर कहते हैं। यहां कोई विद्यार्थी लोग उत्तर देने में भूल कर जाते हैं, जब उनसे पूछा जाता है कि बतलाओ मक्खी कौन चर है? तो वे कोई-कोई झट कह देते हैं कि नभचर है। और अगर पूछो—मनुष्य कौन चर है? तो झट कह देते है कि थलचर है लेकिन ये सही उत्तर नहीं है, क्योंकि ये तीन भेद पंचेन्द्रिय तिर्यंच के किए गए हैं। पंचेन्द्रिय भी हों और तिर्यंच भी हो तब उनके इस भेद की छटनी करनी चाहिए कि कोई जीव जलचर है, कोई जीव थलचर है, कोई जीव नभचर है। नभचर जीव सुवा, कौवा, सारस, हंस, मोर आदिक पक्षी हैं। अब जो जलचर जीव हैं वे भी दो प्रकार के होते हैं संज्ञी और असंज्ञी। जलचर जीव भी दो प्रकार के हैं—संज्ञी और असंज्ञी। थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच भी दो प्रकार के हैं—संज्ञी और असंज्ञी। इसी प्रकार नभचर भी दो प्रकार के हैं—संज्ञी और असंज्ञी। इस तरह पंचेन्द्रियों के ६ भेद समझना चाहिये।

ते वि पुणो वि य दुविहा गब्भज-जम्मा तहेव संमुच्छा।
भोग-भुवा गब्भ-भुवा थलयर-णह-गामिणो सण्णी।।१३०।।

उक्त छः प्रकार के तिर्यंचों के प्रभेद—उक्त छः प्रकार के तिर्यंचों के भी दो भेद हैं—कोई गर्भ जन्म वाले हैं और कोई सम्मूर्छन जन्म वाले हैं। पंचेन्द्रिय भी जो हों और तिर्यंच भी हों उन जीवों की यहां चर्चा चल रही है। वे सभी पंचेन्द्रिय तिर्यंच कोई गर्भज होते हैं, कोई सम्मूर्छनज होते हैं। भोग भूमि में जितने भी तिर्यंच हैं वे सब गर्भज ही होते हैं। भोगभूमि में जलचर जीव नहीं होते। थलचर और नभचर ये दो प्रकार के भोगभूमियां ही पंचेन्द्रिय तिर्यंच पाये जाते हैं। उनमें सब गर्भज होते हैं। भोगभूमिज थलचर और नभचर होते हैं, जलचर नहीं होते हैं और सब संज्ञी ही होते हैं, असंज्ञी नहीं होते। गभज को जरायुज, अंडज और पोत के जन्म होता है। जो जीव जेर लेकर उत्पन्न होते हैं जैसे मुनष्य, पशु ये सब जरायुज कहलाते हैं। ये जेर में भिड़े हुए उत्पन्न होते हैं और इनकी जेर नाभि से भी लगी होती है, जब बच्चा उत्पन्न होता है तो उसकी नाल काटकर गाड़ते हैं ना। ये सब गर्भज कहलाते हैं। कुछ जो अंडज हैं वे भी गर्भज हैं, जैसे—पक्षी, इनमें जेर तो नहीं होती, परन्तु अंडा होता है उसमें जीव रहता है। अंडा बनने के बाद उस अंडे को पक्षी मां अपनी छाती की गर्मी से सेंकती रहती है और मां की छाती की गर्मी पाकर उस अंडे में बच्चा बढ़ता रहता है। उसका वही आहार है। तो ऐसे अंडे से उत्पन्न होने वाले जीवों को अंडज कहते हैं। ये भी माता-पिता के सम्बन्ध से हुए। तीसरे जीव होते हैं पोत, जिनके न जेर लिपटी रहती और न अंडे होते और उत्पन्न होते ही जल्दी भागने लगते हैं, जैसे हिरण, सिंह ये उत्पन्न होते ही कूदने लगते हैं, उनका भी गर्भज जन्म होता है। और कुछ यहां-वहां के पुद्गलस्कंध इकट्ठे हो गए और उन स्कंधों से जिन जीवों का शरीर बन गया वे कहलाते हैं सम्मूर्छनज जीव। सम्मूर्छन से जन्म लेने वाले जीव सम्मूर्छन जन्म वाले कहलाते हैं। भोगभूमिया तिर्यंच गर्भज ही होते हैं। उनका सम्मूर्छन जन्म नहीं होता है।

भोगभूमि में आजीविका के कष्ट का अभाव—भोगभूमिया के कोई तिर्यंच बनें और कोई मनुष्य बनें तो उन सबको वहां मन चाहा सुख रहता है। कल्पवृक्ष रहते हैं तो भोगभूमि में जो मनुष्य होते हैं वे वहां

मनमानी भोग सामग्री पाते हैं। यह तो है वहां के मनुष्यों की व्यवस्था, पर तिर्यंचों को भी उसी तरह का साधन है। बताया गया है कि चार अंगुल हरित अंकुर वहां ऐसा सदा बने रहते हैं, ऋतु वहां हमेशा एक-सी ही रहती हैं। न सर्दी, न गर्मी और वहां के पंचेन्द्रिय तिर्यंच भी मनचाहे भोग साधन प्राप्त करते हैं। कर्म भूमि के मनुष्यों को यहां की कल्पित लोक दृष्टि से सुख नहीं है। कोई खेती करेगा, कोई वाणिज्य करेगा, कोई सेवा, शिल्प आदि अनेक प्रकार के व्यवसाय करेगा तब वे उदर पूर्ति करेंगे, ठंड गर्मी की बाधा भी है, इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग भी है। यहां अनेक प्रकार के क्लेश हैं, लेकिन मोही जीव ऐसे क्लेशमय संसार में भी रम जाते हैं। तो कर्मभूमि में गर्भज भी होते हैं, पंचेन्द्रिय तिर्यंच और सम्मूर्छन जन्म वाले भी होते हैं। अब तिर्यंचों में जीव समास के भेद बतलाते हैं।

अट्ठ वि गब्भज दुविहा संमुच्छिणो वि तेवीसा।
इदि पणसीदी भेया सव्वेसिं होंति तिरियाणं।।१३१।।

तिर्यंचों के ८५ भेदों का विवरण—इस गाथा में कुछ प्रकारों में समस्त तिर्यंचों के भेद बताये जा रहे हैं। ८ ही गर्भजों में पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा १६ भेद होते हैं और २३ सम्मूर्छन जन्म वाले पर्याप्त लब्ध्य पर्याप्त आदिक के ६९ भेद होते हैं। इस तरह समस्त तिर्यंचों में ८५ प्रकार के भेद होते हैं। कर्मभूमिया गर्भज तिर्यंच जैसे जलचर मछली वगैरह, ये संज्ञी और असंज्ञी दो प्रकार के हैं—और कर्मभूमि के गर्भज तिर्यञ्च थलचर हिरण वगैरा ये भी संज्ञी असंज्ञी दो तरह के हैं। कर्म भूमियां नभचर, तिर्यंच भी दो प्रकार के हैं। इसी प्रकार भोगभूमिया तिर्यंच थलचर व नभचर संज्ञी ही होते हैं। यों ८ प्रकार के कर्मभूमिया और भोगभूमिया के ये गर्भजतिर्यंच पर्याप्त भी हैं, निवृत्यपर्याप्त भी हैं। यों गर्भज तिर्यंच के १६ भेद हैं। सम्मूर्छन जन्म वालों के २३ भेद हैं। एकेन्द्रिय में दो तरह के जीव होते हैं—सूक्ष्म और बादर। पृथ्वी भी दो तरह की है—सूक्ष्मपृथ्वी और बादरपृथ्वी। जो जमीन में सोना, चांदी, मणि, रत्न, पत्थर, मिट्टी, तांबा, लोहा आदिक अंश पड़े हुए हैं वे सब बादर पृथ्वीकाय हैं और यहां आकाश में जहां कुछ नजर ही नहीं आ रहा यहां भी सूक्ष्म पृथ्वी भरी पड़ी हुई है। सूक्ष्म जीव तो निराधार होते हैं और बादर पृथ्वी का ऐसा आधार है कि जो दूसरे से छिड़ भिड़ सकते। इसी प्रकार जलकाय जीव भी दो प्रकार के हैं—बादर जलकाय और सूक्ष्म जलकाय। पानी तो पीने में आ सकता, भिड़ सकता और दिख सकता। जिसका व्यवहार बने वह तो है बादर जलकायिक और जहां कुछ नजर ही नहीं आ रहा, ऐसा जंच रहा कि सूना ही सूना है। इस पोल में आकाश में कुछ भी नहीं है। यहां सूक्ष्म जलकाय के जीव भी भरे पड़े हैं।

ऐसे ही अग्निकायिक जीव भी दो प्रकार के हैं—बादर अग्निकाय और सूक्ष्म अग्निकाय। जिस अग्नि से रसोई बनती है, गर्मी होती है, चीजें जल जाती हैं ये तो सब बादर अग्निकाय हैं और जहां कुछ नजर ही नहीं आ रहा, यहां पर सूक्ष्म अग्निकाय भरे पड़े हैं, इसी तरह वायुकाय भी दो तरह के हैं। जो हवा लग सकती है, अपने को मालूम होती है कि हवा चली, जिस हवा की भींट आदिक से टक्कर लग जाती है वह तो है बादर वायुकायिक और जहां कुछ समझ ही नहीं आ रहा, जिस हवा का टक्कर ही नहीं होता ऐसी सूक्ष्म वायुकाय भी लोक में सर्वत्र भरी पड़ी है। वनस्पति काय के दो भेद हैं—प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति तो ये सब हरी, फल, पत्ते, अंकुर आदिक कहलाते हैं और साधारण वनस्पति निगोद जीव का नाम है। सो वे सूक्ष्म नित्य निगोद, बादर नित्य निगोद, सूक्ष्म इतर निगोद और बादर इतर निगोद ऐसे चार प्रकार के

साधारण वनस्पति के जीव हैं, (जो निगोद से अब तक नहीं निकले वे नित्य निगोद हैं और जो निकल चुके थे लेकिन अब फिर निगोद में आ गए वे जीव इतर निगोद कहलाते हैं) और प्रत्येक वनस्पति काय के दो भेद हैं—सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति और अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति, सो ये बादर ही होते हैं। इस प्रकार एक इन्द्रिय के १४ भेद हुए। अब विकलेन्द्रिय के तीन भेद हैं—कोई जीव दो इन्द्रिय हैं, कोई तीन इन्द्रिय हैं, कोई चार इन्द्रिय हैं और कर्मभूमिया, जलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय संज्ञी भी होते, असंज्ञी भी होते। कर्मभूमिया थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच संज्ञी भी होते, असंज्ञी भी होते, कर्मभूमिया नभचर संज्ञी भी होते असंज्ञी भी होते, ये कर्मभूमिया पंचेन्द्रिय तिर्यंच के ६ भेद हैं, इन सबको जोड़ेंगे तो २३ संख्या हैं। १४ एकेन्द्रिय, ३ विकलत्रय और ६ पंचेन्द्रिय, ये २३ प्रकार के सम्मूर्छन तिर्यंच तीन प्रकार के हैं—पर्याप्त, निवृत्य पर्याप्त और लब्ध्य पर्याप्त।

निवृत्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त का अर्थ— निवृत्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त का अर्थ क्या है? कोई जीव मरा और मरकर दूसरी जगह जन्म लेता है। तो जो जीव मरकर रास्ते में दिशाओं के अनुसार आता है, ऊपर से नीचे, पूरब से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण, इस प्रकार श्रेणियों के अनुसार जाता है। कोई जीव पूर्व दिशा में तो है और उत्तर दिशा में उत्पन्न होना है तो वह एक मोड़ ले करके जायेगा क्योंकि उसकी दिशा सीधी नहीं है, तो मोड़ा ले करके जो जीव जन्म स्थान पर जायेगा उसको विग्रह गति में कार्माण काययोग है, यह अपर्याप्त वहां भी है और जन्म स्थान पर आ गया और जिस पुद्गल को शरीर रूप से ग्रहण कर लिया। आया सो ग्रहण हो ही गया। अब उसकी जब तक शरीर रूप परिणमाने की शक्ति पूर्ण नहीं हो जाती तब तक वह निवृत्यपर्याप्त कहलाता है। यदि वह अपर्याप्त अवस्था में ही गुजर जाये, तो पर्याप्त बन ही न सके तो उसका नाम लब्ध्य पर्याप्त है। और जो अपर्याप्त में नहीं मर सकता है वह पर्याप्त नियम से होगा (पीछे कभी मरे) तो ऐसे अपर्याप्त जीव को निवृत्य पर्याप्त कहते हैं। हम आप जब गर्भ में आये तो आते ही दो एक सेकेण्ड निवृत्यपर्याप्त रहे थे। बाद में उस शरीर को ग्रहण करने का उसको अपनाने का, शरीर में बढ़ने का जब बल आ गया तब पर्याप्त हो गए। तो यों यह जीव पर्याप्त, लब्ध्य पर्याप्त और निवृत्य पर्याप्त ये तीन प्रकार के होने से ६९ हुए और १६ हुए गर्भज तिर्यंच। इस तरह ८५ भेद हुए।

तिर्यंचों के भेद प्रभेद आदि जानने से प्राप्तव्य शिक्षा—ये समस्त तिर्यंच जिनकी अवगाहना भी भिन्न-भिन्न प्रकार की है और भिन्न-भिन्न प्रकार के इनके वातावरण हैं, इन सबके समझने के बाद यह चित्त में प्रेरणा होती है कि हम सुयोग से आज मनुष्य हुए हैं तो ऐसे कर्त्तव्य न करें कि जिससे हमें ऐसे ही जीवों में जन्म लेना पड़े। जब देखते हैं कि कोई मनुष्य पक्षी के मांस का भक्षण करने के लिए उस पक्षी को खरीदकर अथवा पकड़कर लाता है तो वह उस पक्षी के दोनों पैर बांध देता है जिससे वह पक्षी कहीं उड़कर जा नहीं सकता। यों वह ढेला पत्थर अथवा साग-भाजी की तरह एक जगह पड़ा रहता है। उसका कत्ल होगा, उसके मांस खण्ड किए जायेंगे, वह पकाकर खाया जायेगा। उन अति रुद्र पुरुषों के द्वारा। इन समस्त बातों को जब विचारते हैं तो विदित होता है कि ओह! ये बेचारे पशु-पक्षी कितने पराधीन हैं। कितने दुःखी हैं। इनके दुःख के सामने हम आपको तो कुछ भी दुःख नहीं है। लेकिन यह मोही जीव अघाता नहीं है, अपने सुखों में और सोचता है कि मुझे इससे भी ज्यादा आराम मिले। अरे! इस जगत में रहकर आराम की इच्छा मत करो, इच्छा करो तो इस बात की करो कि हे प्रभो! मुझमें ऐसा स्वच्छ ज्ञान आये कि मैं कष्ट सहिष्णु बनूं। बस यह तो चाहो, पर आराम चाहने के लायक कुछ नहीं है।

अज्जव-मिलेच्छ-खंडे भोग-महीसु वि कुभोग भूमीसु।
मणुया हवंति दुविहा णिव्वित्ति-अपुण्णगा पुण्णा।।१३२।।

अब मनुष्यों में जीवों के प्रकार बतलाते हैं। मनुष्य क्षेत्र के भेद से चार प्रकार हैं—आर्ष खण्ड में उत्पन्न हुए मनुष्य, म्लेच्छ खण्ड में उत्पन्न हुए मनुष्य, भोगभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य और कुभोग भूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य। ये चारों ही प्रकार के मनुष्य पर्याप्त और निवृत्य पर्याप्त के भेद से दो प्रकार के होते हैं। आर्यखण्ड, म्लेच्छखण्ड, भोगभूमि और कुभोगभूमि ऐसे जो जुदे-जुदे प्रकार कहे गए हैं उनकी कुछ विशेषतायें हैं। भोगभूमि में, कुभोगभूमि में भी कुछ विशेषता है।

आर्यखण्ड व म्लेच्छखण्ड में जन्म हुए मनुष्य की चर्चा—इस ढाई द्वीप के अन्दर आर्यखण्ड १७० हैं। किसी समय जब सभी क्षेत्रों में एक-एक तीर्थंकर उत्पन्न हो रहे हों तो ज्यादा से ज्यादा एक समय में १७० तीर्थंकर पाये जा सकते हैं। जैसे कि यहां चौथे काल में कभी कोई एक तीर्थंकर हुआ करते थे, तो ऐसे ही ढाई द्वीप के अन्दर ऐसे एक समय में कहो १७० तीर्थंकर मौजूद हों। वे किस तरह? जैसे जम्बूद्वीप में ७ क्षेत्र हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, ऐरावत। इनमें से भरत और ऐरावत क्षेत्र में तो एक सी रचना है। १ आर्य खण्ड, ५ म्लेच्छ खण्ड भरत क्षेत्र में भी है। १ आर्य खण्ड ५ म्लेच्छ खण्ड ऐरावत में हैं और विदेह क्षेत्र में मेरुपर्वत के एक पूर्वभाग में तो १६ महादेश हैं, और प्रत्येक देश में ५-५ खण्ड हैं—१ आर्यखण्ड ५ म्लेच्छखण्ड। इसी प्रकार मेरु के पश्चिम भाग में भी १६ महादेश हैं। वहां भी १६ आर्यखण्ड हैं, तो एक विदेह में ३२ आर्यखण्ड हैं। उनमें एक साथ अनेक तीर्थंकर मौजूद रह सकते हैं। कम से कम ४ तीर्थंकर तो रहते ही हैं। जो २० तीर्थंकरों की पूजा है ना तो ५ विदेह के २० तीर्थंकर हैं। प्रत्येक विदेह में कम से कम ४ तीर्थंकर सदा रहते हैं और ज्यादा से ज्यादा विदेह में तीर्थंकर हुए तो प्रत्येक मेरुपर्वत सम्बन्धित ३२ तीर्थंकर हो सकते हैं। जम्बूद्वीप को घेरकर लवण समुद्र है उसको घेरकर दूसरा द्वीप है, उसमें दो मेरु हैं और प्रत्येक मेरु की वैसी ही रचना है जो जम्बूद्वीप में कही। इसी तरह दूसरे द्वीप को घेरकर एक समुद्र है और उसको घेरकर तीसरा द्वीप है। उस तीसरे द्वीप के ठीक बीच में गोल चारों ओर मानुषोत्तर पर्वत है, जिससे भीतर के आधे द्वीप में मनुष्य लोक है। बाहर में मनुष्य लोक नहीं है। वहां भी दो मेरुपर्वत हैं। तो यों १६० तो विदेह क्षेत्र के आर्य खण्ड है। और जम्बूद्वीप में भरत व ऐरावत के यों दो आर्यखण्ड हैं। फिर दूसरे द्वीप के आर्यखण्ड हैं। चार दो भरत के दो ऐरावत के। और अन्तिम पुष्कारार्द्ध के दो-दो भरत और ऐरावत के आर्य खण्ड, इस तरह १७० आर्य खण्ड में जो मनुष्य रहते हैं उन्हें कहते हैं, आर्यखण्ड में उत्पन्न हुए मनुष्य। कुछ लोग रूस, अमेरिका चीन आदि को म्लेच्छ खण्ड वाला कहते हैं, पर वे सब आर्य खण्ड में हैं। यों तो कुछ लोग हिन्दुस्तान के कोने के जैसे बंगाल आदिक के नाम लेकर कह देते हैं कि ये म्लेच्छखण्ड हैं, और भारत के जितने प्रान्त हैं वे तो तीर्थंकरों के जन्म लेने के विहार के प्रमुख स्थान हैं। अयोध्या में तो तीर्थंकरों का जन्म होता था। तो यों १७० तो आर्य खण्ड हैं, उनमें मनुष्य हो सकते हैं और प्रत्येक आर्य खण्ड के साथ एक म्लेच्छ खण्ड लगा हुआ है। तो ८५० म्लेच्छखण्ड हुए। उनमें उत्पन्न हुए मनुष्यों को कहते हैं म्लेच्छखण्ड में उत्पन्न हुए मनुष्य।

भोगभूमि का वर्णन—अब भोगभूमिया मनुष्यों की बात देखिये—ढाई द्वीप के अन्दर कुल ३० भोगभूमियां हैं जो शाश्वत हैं। सदा रहते हैं, भरत, ऐरावत क्षेत्र में तो भोगभूमि होती है, पर कभी-कभी। जैसे आदिनाथ भगवान हुए हैं उनसे पहिले यहां भोगभूमि थी, लेकिन यहां की भोगभूमि मिट जाती है। पर ये ३० भोगभूमि

शाश्वत हैं। जम्बूद्वीप में जो ७ क्षेत्र कहे हैं भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत, इनमें से हैमवत, हरि और विदेह के दो भाग—देवकुरु, उत्तरकुरु और रम्यक, हैरण्यवत इनमें हमेशा भोगभूमि रहती है। ये हुयी छः भोगभूमि जम्बूद्वीप में। तो ऐसे-ऐसे क्षेत्र जितने जम्बूद्वीप में हैं उससे दूने दूसरे द्वीप में और उतने ही यानि दूने आधे पुष्करार्द्ध में हैं तो यों एक मेरु सम्बन्धित छह-छह हो गए। यों ५ में ६ भोगभूमि पायी गई, तो ३० भोगभूमि हैं। ५ हैमवत, जिनमें जघन्य भोगभूमि है, वहां जो मनुष्य स्त्री उत्पन्न होते हैं वे एक साथ उत्पन्न होते हैं और उनके उत्पन्न होते ही माता-पिता का स्वर्गवास हो जाता है। उनके मरण को स्वर्गवास कह सकते हैं, क्योंकि भोगभूमिया मनुष्य मरकर देवगति में ही जाते हैं। जायेंगे वे दूसरे स्वर्ग तक ही, यह उनका नियम है। यहां तो कोई गुजर जाता तो कहते कि उसका स्वर्गवास हो गया, पर क्या पता कि स्वर्गवास हुआ या नरकवास हुआ? पर भोगभूमि के मनुष्यों का तो स्वर्गवास होता है, यह कहा जा सकता है, कोई खोटे देव भी हो जायें तो आखिर देव तो हैं। जघन्य भोगभूमि में एक पल्य की आयु है। पल्य का बहुत बड़ा परिमाण है, जिसमें अनगिनते वर्ष समा जाते हैं। भोगभूमिज मनुष्यों को थोड़ी भूख लगती है। जैसे कि आंवला प्रमाण और दिन में एक बार वे भोजन करते हैं, तृप्त हो जाते हैं किसी को और भी कम भूख लगती है व दो दिन में १ बार व कोई ३ दिन में एक बार खाते हैं। उनको आजीविका नहीं करनी होती। कल्पवृक्ष बहुत होते हैं, जो चाहे उनसे प्राप्त हो जाते हैं। आभूषण, संगीत के बाजे आदि जो जो भी मन बहलाने के लिए उन्हें जरूरी है वे सब कल्पवृक्षों से प्राप्त होते हैं। ५ हरिवर्ष और ५ रम्यक वर्ष, ये १० मध्यम भोगभूमियां हैं। वहां के मनुष्य और स्त्रियों की उत्पत्ति सब भोगभूमि में एक जैसी है। उत्पन्न हुए और उसी समय माता-पिता गुजर जाते हैं। आप सोचते होंगे कि यह तो कुछ विशेष पाप का उदय है कि बच्चे के मां-बाप तुरन्त गुजर जायें, पर यह पाप की बात नहीं है। वहां यह सुख का साधन है। माता-पिता बच्चे का मुख देखते ही नहीं तब उन्हें कोई इष्ट वियोग न होगा। माता-पिता बच्चे को देख लें, स्नेह से कुछ पाल पोष लें और बाद में मरें तो उन्हें दुःख होगा। जब देखा ही नहीं बच्चे को मां-बाप ने, तो उन्हें इष्ट वियोग की बात ही नहीं होती। वे बच्चे ७ दिन अंगूठा चूसकर पुष्ट होते हैं, उनके अंगूठे में अमृत जैसा तत्त्व भरा रहता है। बाद में फिर ४९ दिन में पूर्ण जवान हो जाते हैं। यों मध्यम भोगभूमि में भी मनुष्य सुखी रहते हैं और उनकी दो पल्य की आयु हैं, जघन्य भोगभूमि से भी कम भूख है। दो दिन में उनकी क्षुधा जगती है। और कल्पवृक्षों से वे सब मनमाने भोग प्राप्त कर लेते हैं। भोगभूमिया में जन्म बताया गया है मुख्यतया दान से और यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि दान का फल है भोगभूमि में उत्पन्न होना। उत्तम भोगभूमि देवकुरु उत्तरकुरु जैसे क्षेत्रों में है। वहां ३ दिन में कुछ क्षुधा जगती है और बहुत ही कम छोटे झरिया के बेर प्रमाण उनका आहार है, उससे वे तृप्त हो जाते हैं उनकी तीन पल्य की आयु है, विशालकाय है। ऐसे इन भोगभूमियों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों को भोगभूमिज कहते हैं। भोगभूमि में आजीविका, खेती, व्यापार आदि कुछ भी नहीं करना होता। देव देवियों की तरह सारा समय उनका हास्य विनोद में अथवा विवेकी सम्यग्दृष्टि हुए तो धर्मचर्चा में व्यतीत होता है।

कुभोगभूमि का वर्णन—अब कुभोगभूमि कहां है जहां कि मनुष्य उत्पन्न तो होते हैं कुछ दान आदिक के भाव से, किन्तु कुछ खोटे भाव हो गये कुछ कुपात्रों को दान किया इस कारण से वहां उत्पन्न होते हैं। लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र इनके बीच में ९६ अन्तर्द्वीप है। २४ अन्तर्द्वीप तो जम्बूदीप से जो पर्वत गया है, दोनों ओर से, कुछ वह समुद्र में बढ़ गया वहां हैं और २४ अन्तर्द्वीप धात की खण्ड और जम्बूद्वीप की ओर के समुद्र में हैं, ४८ अन्य द्वीप में तो यों लवण समुद्र में ४८ और ४८ अन्तर्द्वीप कालोदधि समुद्र में हैं, इनमें

कुभोगभूमि होती है। यद्यपि यहां भी उत्पन्न हुए मनुष्यों को लौकिक सुख विशेष रहते हैं, आजीविका वगैरा कुछ नहीं करनी पड़ती पर कुछ ऐसा पाप का उदय है कि उनका भोजन भी है तो साधारण, पर कहो मिट्टी का ही भोजन कर लें। उनके अंगोपाङ्ग बहुत विडरूप हैं। किसी के कान बड़े हैं, इतने बड़े हैं कि कहो कान पर ही सो जायें। किसी के कुछ टांग में फर्क है। ऐसे कुछ खोटे अंग वाले कुभोगभूमिज मनुष्य हैं। ये सभी मनुष्य निवृत्य पर्याप्त और पर्याप्त ऐसे दो-दो प्रकार के होते हैं। यों मनुष्यों के ८ भेद समझिये। पर्याप्त और निवृत्य पर्याप्त का अर्थ है कि कोई जीव मरकर मनुष्य में जन्म लेता है तो जिस क्षण वह गर्भ में आया उसी क्षण में वह निवृत्य पर्याप्त कहलाने लगा, अर्थात् शरीर के परमाणु पर कब्जा तो पा लिया, शरीर को ग्रहण तो कर लिया, मगर शरीर की पूर्णता करने की शक्ति अभी उत्पन्न नहीं हुई। तो यों वे निवृत्य पर्याप्त कहलाते हैं और वे जीव नियम से पर्याप्त बनेंगे, पर्याप्त हुए बिना उनका मरण होगा ही नहीं। जब शरीर बनने की शक्ति पूर्ण आ जाती है जीव में तो वह पर्याप्त कहलाता है। तो इस तरह यहां ८ भेद मनुष्यों के हुए। अब लब्ध्य पर्याप्तक मनुष्य कैसे होते हैं, उनका वर्णन करते हैं।

संमुच्छिया मणुस्सा अज्जव-खंडेसु होंति णियमेण।
ते पुण लद्धि-अपुण्णा णारय-देवा वि ते दुविहा।।९३३।।

सम्यमुच्छनज लब्ध्यपर्याप्त मनुष्यों का वर्णन व विविध मनुष्य वर्णन से प्राप्तव्य शिक्षा–सम्मूर्छन मनुष्य नियम से आर्य खण्ड में होते हैं, उन्हें लब्ध्य पर्याप्त कहते हैं। वे होते हैं कफ, नाक, कान का मल, और शरीर की आंख आदिक गंदे प्रदेशों में। वे नाम के तो हैं मनुष्य, लेकिन उनका शरीर दिखने तक में नहीं आता। उन्हें निगोद जैसे मनुष्य समझिये कि पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती और मरण हो जाता है, ऐसे असंख्याते मनुष्य पड़े हुए हैं। गिनती जो बतायी गई है वह पर्याप्त मनुष्यों की गिनती है। तो उन लब्ध्य पर्याप्तक मनुष्यों का जीवन ही क्या? उससे तो अच्छे ये पशु पक्षी दिखने में आते हैं। कुछ विवेक रखते हैं, सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं, व्रत भी ले सकते हैं। वे तो नाम मात्र के मनुष्य हैं, पर उनके ऐसा तीव्र पाप का उदय है कि वे लब्ध्य पर्याप्तक हैं। लब्ध्य पर्याप्तक होना बहुत ही पाप प्रकृति का फल है। अब आप इस वर्णन से यह समझ सकते हैं कि हम आप कितनी श्रेष्ठ मनुष्य पर्याय में आये हुए हैं। मनुष्य भी होते और लब्ध्य पर्याप्तक होते तो क्या था? वह कुछ जीवन ही नहीं। कुभोगभूमि में उत्पन्न होते तो जीवन विडम्बना का था। भोगभूमि में भी होते तो भी मूढ़ता, वे तो जीवन भर विषय सुखों में रत रहते हैं और विवेक की बात इतनी तो है वहां, सो सहज है कि कोई किसी पर निगाह बुरी नहीं रखता, लड़ाई झगड़ा नहीं करते। कुछ तो वातावरण ठीक है मगर विषय सुखों में अतीव आसक्त रहते हैं। देखिये हम आप आर्य खण्ड में मनुष्य हुए, म्लेच्छ खण्ड में होते तो कुछ ठीक न था। आर्य खण्ड में हुए, उत्तम जाति कुल आदिक में हुए, श्रेष्ठ शासन पाया। सब कुछ पाकर भी यदि विषय और कषाय के साधनों के लिए ही बने रहे तब यह जीवन यों ही चला जायेगा जैसे कि अनेक जीवन खत्म हो गए। यह जीवन एक बड़ी जिम्मेदारी का जीवन है। हमें अपने आप पर बड़ी जिम्मेदारी समझना है। यों हंसी खेल में या मन की स्वच्छन्दता में इस जीवन को नहीं गंवाना है, यह बात मनुष्यों के इन प्रकारों को सुनकर हमें अपने चित्त में लाना चाहिए और इस कर्त्तव्य को निभाना चाहिए कि हम सम्यक्त्व पैदा करें और यथा शक्ति संयम साधना करके आत्मानुभव का ज्यादा से ज्यादा लाभ उठायें, जिसके प्रताप से सदा के लिए संसार के संकट टल सकते हैं।

नारकी और देवों के जीवसमास तथा जीवसमाज वर्णन का उपसंहार–अब तक तिर्यंच व मनुष्य गति के जीव समासों का वर्णन किया गया। अब नरक गति व देव गति के जीवसमासों का वर्णन करते हैं। नरक गति नामकर्म के उदय से नरक भव में जिनका जन्म होता है वे नारकी कहलाते हैं। नारकी जीवों का अशुभ वैक्रियक शरीर होता है, वे एक-दूसरे से लड़ते ही रहते हैं, एक-दूसरे के देह के तिल-तिल बराबर खण्ड कर देते हैं, फिर भी वे आयुक्षय से पहले मरते नहीं हैं, तिल-तिल बराबर खण्डित देहखण्ड भी पारे की तरह मिल जाते हैं। नारकियों के दुःखों का संसार भावना में वर्णन किया गया है। अति घोर दुःखी वे नारकी निवृत्यपर्याप्त व पर्याप्त दो प्रकार के होते हैं। निवृत्यपर्याप्त तो जन्म समय ही अन्तमुहूर्त रहते हैं, फिर सारे जीवन भर वे पर्याप्त रहते हैं। नारकी जीवों में लब्ध्यपर्याप्त नहीं होते हैं। इसी प्रकार देवगति के भी जीव, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक चारों प्रकार के देव निवृत्यपर्याप्त व पर्याप्त दो प्रकार के होते है। निवृत्यपर्याप्त तो जन्म समय में ही अन्तर्मुहूर्त होते हैं, बाद में सारे जीवन भर पर्याप्त रहते है। इस प्रकार नारकी जीव के जीवसमास दो हुए और देवों के भी जीव समास दो हुए। यों तिर्यंचों के ८५, मनुष्यों के ९, नारकी के २, देवों के २ कुल मिलाकर ९८ जीवसमास होते हैं। इन ९८ जीव समासों में सब संसारी जीव आ जाते हैं। जीवसमास के भेद अन्य प्रकार से भी किये जा सकते हैं, परन्तु करना चाहिये इस प्रकार कि सब संसारी जीव उसमें आ जायें। लोक भावना में संसारी जीवों की दशायें बताई जा रही हैं।

सत्य ज्ञान से ही शान्ति प्राप्त किये जाने की शक्यता–हम आप जितने भी जीव हैं उन सबकी एक ही चाह है कि सुख शान्ति हों और प्रयत्न भी इसी के अर्थ करते हैं कि जिससे सुख-शान्ति प्राप्त हो। अब तब खूब प्रयत्न किया, पर सुख-शान्ति तो न मिली, इसका कारण क्या है इस पर कुछ विचार करना चाहिए। देखिये सुख-शान्ति का कारण परिवार, धन, वैभव, इज्जत आदिक का मिलना नहीं है, किन्तु सुख-शान्ति का कारण है शुद्ध ज्ञान का मिलना। आप अंदाज कर लेंगे कि कोई मनुष्य सुखी होता है तो उसकी बुद्धि स्वच्छ हो, ज्ञान सही हो तो वह सुखी हो पाता है। जितने भी सुख मिलते हैं वे भी ज्ञान के किसी किस्म से मिलते हैं और सुख मिलना है तो वह भी ज्ञान की किस्म से ही मिलता है। जैसे किसी की दुकान में ५ हजार का टोटा पड़ गया, दूर कहीं दुकान है और उसे खबर मिल जाये कि इस वर्ष दुकान में १० हजार का फायदा हुआ है तो वह तो सुख मानेगा। टोटा तो पड़ा है पर उसके ज्ञान में यह बात है कि हमें लाभ हुआ है तो वह सुख मानेगा और कहीं लाभ भी हुआ हो और खबर यह हो जाये कि इस वर्ष दुकान में बड़ी हानि हुई है तो इस खबर को सुनकर बड़ा दुःख मानेगा। तो ज्ञान के आधार से ये सुख-दुःख होते हैं। यह है लौकिक बात, मगर सदा के लिए दुःख मिटे और पूर्ण सुख-शान्ति मिले, यह बात तो सही ज्ञान से ही हो सकता है।

झूठ परिज्ञान में क्लेश की पात्रता–देखो जितने भी ये समागम हैं–घर, परिवार, वैभव, इज्जत आदिक ये सब विनाशीक हैं ना, किसी दिन इन्हें अवश्य बिछुड़ना है। मुझे इनसे कभी बिछुड़ना ही होगा। जब यह शरीर तक भी अपना नहीं तो फिर और कुछ तो अपना होगा ही क्या? यहां की समस्त चीजें नष्ट हो जाने वाली हैं ना, और उनको मानें कि ये घर, धन, वैभव, परिजन आदिक मेरे हैं, ये सदा रहेंगे, तो ऐसा मानना यह तो झूठा ज्ञान हुआ। तो इस झूठे ज्ञान से दुःख होता है। और अगर सही ज्ञान हो जाये कि ये सब विनाशीक हैं और कभी नष्ट होंगे, तो जब नष्ट होंगे तो यह जीव दुःखी न होगा। वह समझेगा कि मैं तो जानता ही था कि ये नष्ट होने वाली चीजें हैं। तो सच्चे ज्ञान से सुख हुआ ना? मानते हैं ये मोही लोग कि मेरे लिए मेरा बाबा

शरण है, स्त्री पुत्रादिक शरण हैं, पर शरण होते नहीं, जब चाहे प्रतिकूल परिणम जाते हैं और इसे क्लेश होता है। तो जो चीज शरण नहीं उसे मान रहे शरण तो यह झूठा ज्ञान हुआ इससे ही दुःख है। और सच्चा ज्ञान जान जायें कि मेरे आत्मा का अन्य कोई शरण नहीं है। मेरा तो एक धर्म ही शरण है, मैं सच्चा ज्ञान बनाऊं, आत्मा का विश्वास करूं और मैं सच्चे मार्ग पर आऊं, पाप न करूं, ऐसी बात मेरे ज्ञान में है तो शरण है अन्यथा कोई शरण नहीं है। तो सच बात के जान लेने से सुख होता है। संसार सारा दुःखमय है। इसमें कोई सोचे कि मुझे स्त्री पुत्रादिक से सुख मिलेगा, धन वैभव से सुख मिलेगा, इस प्रकार का झूठा ज्ञान बनाने से दुःख होता है। अगर यह ज्ञान बना लें कि यह सारा संसार तो दुःखमय है, यहां किसी भी बात में सुख नहीं है, मेरा सुख तो मेरे आत्मा के स्वरूप में ही बसा हुआ है, मैं खुद आनन्द का पिण्ड हूं, तो मुझे आनन्द मिलेगा। सभी चीजें हमसे निराली हैं। घर न्यारा है कि नहीं? है, क्योंकि हम-आप यहां बैठे हैं, घर घर की जगह है। देह भी अपना नहीं और उसे मानें कि यह मेरा है तो दुःख होगा। और अगर मान लिया जाये कि यह देह भी मेरा नहीं है, मेरा तो केवल मेरा आत्मा है जो कि ज्ञान और आनन्द स्वभाव से भरा है तो मुझे सुख शान्ति का रास्ता मिल जायेगा। मतलब यह है कि सच्चा ज्ञान बने तो सुख हो, मिथ्याज्ञान बने तो दुःख हो। इससे पहले निर्णय यह करना कि हमको सुख-शान्ति मिल सकती है तो सच्चे ज्ञान से ही मिल सकती है।

स्वयं को संसार संकटों से छुटाने की भावना–अब अपने बारे में सोचिये कि देखो दुनिया में कितनी तरह के जीव हैं–पृथ्वी, आग, पानी, हवा, पेड़-कीड़ा, पंखी-मच्छर, पशु-पक्षी आदिक, और यहां उनको कितने क्लेश हैं, सो सबको पता ही है। ऐसी योनियों में हम और आप भी थे। उन सबसे निकल करके आज मनुष्य हुए हैं, ज्ञान मिला है, बात सुन सकते हैं और जैन धर्म का शरण मिला है। प्रभु अरहंत देव निर्दोष वीतराग सर्वज्ञ देव का शरण मिला है। जिनमें रागद्वेष छोड़ने की बात लिखी है। ऐसे शास्त्र हैं, जो रागद्वेष से दूर रहते हैं, अपने आत्मा की साधना में रहते हैं वे गुरु मिले हैं। तो ऐसा सुन्दर समागम भी पाया, ज्ञान भी पाया, दुर्लभ मानव जीवन भी पाया, अब इस मनुष्य जीवन को किस तरह बिताना चाहिए तो विवेक से सोचिये। बाहरी बातों की कोई कीमत नहीं। धन मिला तो क्या, न मिला तो क्या? लोगों ने इज्जत कर दिया तो क्या, न किया तो क्या? कोई ये अपने प्रभु तो हैं नहीं, अपना काम तो अपने को ही करना होगा। तो ऐसे सुन्दर समागम मिले हैं। इन समागमों को पाकर यह मन में निर्णय रखें कि हमें तो धर्म पालन करके अपना जीवन सफल करना है। बाहरी पापों की बातों में, अटपट बातों में नहीं लगना है किन्तु धर्म करके जीवन सफल करना है।

आत्मोद्धार के कर्त्तव्य की ओर विशेष ध्यान–आवश्यक काम हैं आप (गृहस्थ) लोगों के दो–एक तो न्यायपूर्वक आजीविका करना, दूसरे धर्मधारण करके अपने आत्मा का उद्धार करना। इनमें भी मुख्य है अपने आत्मा के उद्धार की बात। साधुसंतजन, ऋषिजन तो इस आत्मोद्धार के कार्य में ही लगे रहते हैं, पर आप सब गृहस्थों को तो गृहस्थ होने के कारण आजीविका करनी पड़ रही है, यह आजीविका का काम तो गौण काम है, पर मुख्य काम है धर्म पालन का। धर्म पालन कैसे हो, उसका साधन यह ही है–भगवान का रोज जाप जपना, दर्शन करना, रात्रि का भोजन न करना, जल छानकर पीना, दिन में शुद्ध भोजन करना, सो यह परम्परा आप लोगों के चली आ रही है। इससे यह साबित है कि आप बड़ी पवित्र परम्परा के कुल में आये हुए हैं। अब ऐसा सुन्दर मौका पाकर अपने जीवन को सफल करने की बात बनाइये। देवदर्शन–अपने आत्मा को क्या बनाना है? शुद्ध परमात्मा! तो ऐसा बनने के लिए हमें उस शुद्ध परमात्मा के दर्शन भी तो करना है जिसका

स्वरूप देखकर, जिनकी शान्त मुद्रा को निरख-निरखकर हम अपने में सन्तोष पायेंगे और अपने आत्मा के सच्चे स्वरूप के दर्शन करेंगे। आत्मा को शुद्ध बनाने के लिए देव दर्शन की आवश्यकता है। रात-दिन के प्रायः २४ घंटे गृहस्थ के कहां जाते हैं? व्यापार, पालन-पोषण आदिक में। तो उनमें से आध पौन घंटा मंदिर में बैठकर प्रभु की मूर्ति निरखकर स्तवन करें, जाप जपें तो इससे अपने आत्मा को शान्ति मिलती है और मार्ग मिलता है कि हमको क्या करना चाहिए? यही करना चाहिए जैसा कि प्रभु ने किया—इस भावना से प्रति दिन देव दर्शन करना और प्रतिदिन एक जाप जप लेना। जाप जपने के मंत्र अनेक हैं मगर बहुत सीधा यह है कि नाम ही जप लिया जाये—"अरहंत सिद्ध" माला में १०८ बार। तो यों देव दर्शन करके जाप जप करके, कुछ स्वाध्याय करके धर्म साधना में कुछ समय बितायें तो इससे ज्ञान बढ़ेगा और अपने आप कर्म खिरेंगे, पाप दूर होंगे, पुण्य बढ़ेगा। तो ऐसे ही सभी काम देवपूजा गुरुजनों की संतों की सेवा करना, कुछ थोड़ा बहुत स्वाध्याय करना, व्रत पालन करके संयम से रहना, इच्छाओं को शान्त करना, दान करना आदि आवश्यक कार्यों से अपने को पवित्र बनाना चाहिये।

पर्वों में विशेषतया धर्मसाधन का प्रयत्न—पर्वों में एक दशलक्षण पर्व है जो कि भादों के अन्तिम १० दिन अर्थात् पंचमी से लेकर पूर्णिमा तक मनाया जाता है। उनमें क्षमा करना, घमंड न करना, छल-कपट न करना, तृष्णा न करना, झूठ न बोलना, व्रत संयम करना, तपश्चरण करना, त्याग करना, अपने को अकेला निरखना, ब्रह्मचर्य का पालन करना आदि कार्य किए जाते हैं। इसी प्रकार तीन अष्टाह्निका पर्व हैं जो कि फागुन के अन्तिम ८ दिन, अषाढ़ के अन्तिम ८ दिन तथा कार्तिक के अन्तिम ८ दिनों में मनाये जाते हैं। प्रत्येक अष्टमी चतुर्दशी को एकासन करना, ब्रह्मचर्य से रहना आदि ये सब काम करके अपना जीवन सफल कीजिए। एकाशन का अर्थ है एक बार खाना, वह भी यदि अल्पाहार हो तो और भी ठीक है, तो ऐसे व्रत का पालन करना और अपनी शक्ति माफिक दान करना, किसी भूखे को खिलाना, कोई साधुसंत आयें तो उन्हें आहार कराना, औषधि दान, शास्त्र दान, अभय दान आदि देना। किसी को कोई चिन्ता है तो जिस प्रकार उसकी चिन्ता दूर हो उसका प्रबन्ध करना, ये सब गृहस्थ के कर्त्तव्य हैं। तो ऐसे काम करके अपना जीवन सफल करना, इस पद्धति में धर्म प्राप्त होता है। धर्म इसीलिए किया जाता है कि हमारा आत्मा संसार के दुःखों से सदा के लिए छूट जाये और ऐसा मार्ग अरहंत ने जैन शासन में कहा है। इस जैन शासन में कितने पवित्र पर्व हैं। इस जैन शासन में प्रभु की ऐसी मूर्ति है कि जिसे देखकर शान्ति मिले। यहां सभी अहिंसक पर्व हैं। सब जीवों का समान स्वरूप जान करके सबके प्रति दया भाव करना। जहां जो उपदेश किया गया है वह कितना पवित्र मार्ग है, उस मार्ग से चलकर अपना जीवन सफल करना।

पंच पापों के त्याग से जीवन सफल करने का अनुरोध—पांच प्रकार के त्यागों का नाम व्रत है। हिंसा न हो, मन से, वचन से, काय से किसी जीव के मारने का इरादा न हो, सो यह परम्परा आपके कुल में चली आ रही है—उसे निभाना और विशेषतया पालन करना। झूठ न बोलना, जो एक-दो बार भी झूठ बोलता उसकी आदत बिगड़ जाती, फिर उसे तकलीफ मिलती है, उस पर कोई विश्वास नहीं करता, तो अपना सत्य जीवन रखना। पहले समय के जैनों को, श्रावकों को सरकारी लोग भी बड़ी प्रमाणता से देखते थे कि ये जैन हैं—झूठ न बोलेंगे और उनका फैसला उन जैनों श्रावकों के वचन पर ही कर देते थे। अब भी जो सरकारी कैदी होते हैं उनमें कैद का दण्ड पाने वाले व्यक्ति जैन सबसे कम होते हैं। तो यह परम्परा पापों के त्याग की चल

रही है। और उसको अपना धर्म समझकर निभाना जिससे कि अपने आत्मा का उद्धार हो। चोरी न करना सो इस गांव के आसपास के क्षेत्रों में यह बात स्वभाव से बनी हुई है कि घर के किवाड़ भी खुले रहते हैं और प्रायः करके यहां कोई किसी की कोई चीज चुराने का यत्न भी नहीं करता। ऐसा भी भाव होना चाहिए, पर की वस्तु डले माफिक है, उससे क्या पूरा पड़ेगा? जो उदय में है, कर्म में है उसके अनुसार ही सांसारिक बात होगी। अपना भाव क्यों बिगाड़ा जाये? चौथा पाप है कुशील, परस्त्री अथवा परपुरुष पर दृष्टि न करना उन्हें मां-बाप, भाई-बहिन-बेटी आदिक की तरह मानना। तो यों ब्रह्मचर्य का पालन करना, और तृष्णा लालच न करना, परिग्रह का परिमाण रचना, सो भी आदत आप सबकी है। तो यों ५ प्रकार के पापों का त्याग करना और अपने जीवन को सफल करना।

धर्म पालन में गृहस्थों के प्रारम्भिक मुख्य कर्त्तव्य–मुख्यतया आप सबके लिए तीन बातें बतला रहे हैं, जिनमें प्रमाद न करना, उन तीनों बातों का पालन करना। पहली बात है देव दर्शन–नित्य मन्दिर जाकर भगवान के दर्शन करना तब खाना, खाना, यह नियम रहे। कुछ विनतियां याद कर लें, णमोकार मंत्र चत्तारिमंगलं, ये सब पाठ रोज जरूर कर लें और सबको याद करना चाहिए। एक माला जाप जप लेना, "अरहंत सिद्ध" ॐ नमः सिद्धेभ्यः या पूरे णमोकार मंत्र का १०८ बार जाप जपना, और जल छानकर पीना। हमने यहां बहुत से लोगों से महिलाओं से पूछा तो प्रायः करके यहां सभी लोग जल छानकर पीते हैं। यह एक अहिंसा की परम्परा है। इससे यह साबित होता है कि आपके पूर्वज जैन धर्म के बड़े-बड़े संत हुए हैं। तीसरी बात है–रात्रि भोजन त्याग। अगर कोई यहां रात्रि को खाता भी हो तो उसे रात्रि भोजन त्याग देना चाहिए। दिन में एक-दो बार का खाना शरीर के लिए पर्याप्त है। उससे ही जीवन अच्छी तरह चल सकता है। रात्रिभोजन में कितनी जीव हिंसा है। और, फिर दिन में खाये, रात में भी खाये, यों खाने खाने की सदा फिकर रहे तो ऐसे चित्त में धर्म की बात नहीं आती। तो रात्रि भोजन त्याग आवश्यक है। इन तीन बातों पर बहुत अधिक आपको ध्यान रखना है, और इस तरह आप अपने व्रत का धर्म का पालन करते हुए अपने जीवन को सफल बनायें तो आपका मनुष्य जीवन सार्थक हो गया समझिये।

आहार-सरीरिंदिय–णिस्सासुस्सास-भास-मणसाणं।
परिणइ-बावारेसु य जाओ छच्चेव सत्तीओ।।१३४।।

जन्म-मरण मय संसार में एक स्थूल शरीर के त्याग से व नवीन स्थूल शरीर ग्रहण करने के बीच की स्थिति–संसार में दुःख जन्म-मरण का है। सारे क्लेश जन्म-मरण से ही संबंधित हैं। जन्म हुआ, शरीर मिला तो भूख-प्यास, ठंड-गर्मी आदि के दुःख हुए। शरीर के अहंकार से कि शरीर मैं हूं इस बुद्धि के कारण यह पद-पद पर संकल्प करके दुःख मानता है। किसी ने गाली दी तो यह सोचता है कि इसने मेरा अपमान किया। पर यहां मेरा मायने यह पर्याय, यह शरीर। तो इस शरीर में आत्मबुद्धि करने पर अपमान आदिक दुःख होते हैं। तो जितने भी क्लेश हैं वे सब शरीर से सम्बन्धित हैं। शरीर मिलना जन्म लेने पर ही होता है और जब शरीर मिला तो मरण होता है। मरण में भी क्लेश, और फिर जन्म हुआ फिर वे ही क्लेश शुरू हो गए। तो यों संसार के सारे क्लेश जन्म-मरण में ही गर्भित हो जाते हैं। अब यहां कुछ जन्म-मरण की बात समझना है कि जीव जब मरण करता है, तो मरण करने पर वह शरीर तो छूट गया औदारिक शरीर या वैक्रियक शरीर, जो ग्रहण किए हुए थे वह तो छूट गया। अब जीव के साथ क्या-क्या रहा? कई लोग कहते हैं

कि जीव के साथ दो शरीर लगे हैं—एक सूक्ष्म शरीर, दूसरा स्थूल शरीर। तो मरने पर स्थूल शरीर तो छूट जाता है। सूक्ष्म शरीर उसके साथ रहता है। तो जहां यह जन्म लेने के लिए जायेगा सूक्ष्म शरीर उसके साथ ही रहेगा। वह सूक्ष्म शरीर क्या है? कार्माण शरीर और तैजस शरीर। जो जीव के साथ कर्म लगे हैं और उन कर्मों का जो एक शरीररूप बन गया है वह तो है कार्माण शरीर और जिस शरीर को यह ग्रहण करता है, करेगा उस शरीर में तेज आने का कारणभूत है तैजस शरीर। तो तैजस शरीर और कार्माण शरीर इनको सूक्ष्म शरीर कहा है। ये जीव के साथ अनादि काल से लेकर अब तक का बराबर निरन्तर साथ रहे हैं। औदारिक शरीर तो आयु के क्षय होने पर छूट जाता है। दूसरे आयु का उदय हुआ तब दूसरा शरीर मिला, ऐसे ही वैक्रियक शरीर भी छूट जाता है। यह स्थूल शरीर है, पर सूक्ष्म शरीर एक समय को भी नहीं छूटता। यदि सूक्ष्म शरीर एक समय को भी छूटा तो अनन्त काल के लिए छूट गया। उस ही का नाम मुक्ति है कि जीव के साथ सूक्ष्म शरीर भी न रहे। केवल जीव-जीव रहे। और मोक्ष होने के बाद फिर जन्म-मरण होता नहीं। तो यह जीव एक भव के शरीर को छोड़कर जब नये भव का शरीर ग्रहण करने के लिए जाता है तो रास्ते में विग्रहगति में तैजस शरीर और कार्माण शरीर रहता है।

जन्मस्थान पर पहुंचने पर पर्याप्तियों का आरम्भ व आहार पर्याप्ति की पूर्णता—अब यह जीव पहुंच गया उस स्थान पर जहां कि इसको शरीर मिलता है। वहां पहले से ही उस शरीर के बीजभूत कुछ पुद्गल ढेर रहते हैं, उन पर जीव पहुंच गया। तो अब यहां यह बतला रहे हैं कि उस जगह जीव के पहुंच जाने पर फिर वह नया शरीर किस-किस प्रकार से शरीर रूप बनता है? क्योंकि जीव के पहुंचने से पहले तो वे एकदम छितरे-बिखरे एक पुद्गल पिण्ड थे। अब वे पुद्गल परमाणु शरीर रूप में आ जायें यह बात होने में कुछ देर लगेगी, सो किस-किस तरह से वे शरीर रूप बनेंगे? इस बात का वर्णन यहां पर्याप्तियों के स्वरूप को बताते हुए कह रहे हैं। इस जीव ने उस शरीर के बीजभूत पुद्गल संचय का ग्रहण किया था। अब जिस पुद्गल संचय का इस जीव ने ग्रहण किया, मरण के बाद पूर्व शरीर छोड़कर नया शरीर जिससे बनेगा उस ढेर पर यह जीव आया, आने के बाद हुआ क्या कि उस जीव की पर्याप्तियां सब एक साथ प्रारम्भ होती हैं। पर्याप्ति कहते हैं पूर्णता को। अब यहां आहार यानि शरीर ग्रहण की पूर्णता होगी, शरीर के निर्माण की पूर्णता होगी, इन्द्रिय बनने की पूर्णता होगी, श्वासोच्छवास की शक्ति भी पूरी बनेगी, भाषाशक्ति भी बनेगी और मन से विचार करने की शक्ति भी बनेगी। ६ बातें बनती हैं। उन ६ बातों का प्रारम्भ तो एक साथ हो जाता है, किन्तु उनकी पूर्ति क्रम से होती है। अब वह पूर्ति किस तरह से होती है इस बात को बतला रहे हैं। शरीर के बीजभूत के पुद्गल पिण्ड पर यह जीव आया तो प्रथम उन पुद्गल स्कंधों में से कुछ को कठिन अवयवरूप परिणमावने की आवश्यकता है और कुछ को रस रूप, द्रवरूप अवयव परिणमाने की आवश्यकता है, क्योंकि शरीर में दो प्रकार के अवयव होते हैं—कुछ होते हैं कठोर और कुछ होते हैं नम। जैसे खून, यह रसरूप है और हड्डी आदिक ये कठिन हैं। तो वैक्रियक शरीर में वैक्रियक ढंग से दो प्रकार के अवयव होंगे—खलरूप और रसरूप। औदारिक शरीर में औदारिक के ढंग से इसके अवयव होंगे—खलरूप व रसरूप। तो अब प्रथम उन शरीर वर्गणाओं को कठिन अवयवरूप परिणमाने की और रसरूप परिणमाने की शक्ति पूर्ण हो जाय उसे कहते हैं आहार पर्याप्ति। नये शरीर को ग्रहण किया जीव ने तो सबसे पहले वहां क्या बात बनेगी? उन परमाणुओं में यह विभाग बनेगा कि इतने परमाणु तो कठोर अंग बनेंगे और इतने रस रूप बनेंगे—तो इस तरह

परिणमाने की जीव में शक्ति पूर्ण आ जाये उसे कहते हैं आहार पर्याप्ति। चूंकि जीव मरकर आया है और नये शरीर पर आया है, तो उस जीव में तो अभी कुछ नहीं है ना। सूक्ष्म शरीर है साथ में। अब ऐसा भी जीव जो स्थूल शरीर वाला नहीं है और नये शरीर को शरीर बनायेगा तो उसका काम सारा प्रारम्भ से ही तो चलेगा। **यह आहार पर्याप्ति किस कर्म के कारण से बनती है। तो वहां जिस जीव को औदारिक शरीर मिलता है उसके** औदारिक शरीर नाम कर्म का उदय है। किसी के वैक्रियक शरीर नाम कर्म का उदय है। तो वैक्रियिक शरीर बनता है उसको उस जाति के शरीर नामकर्म का उदय है। और, साथ ही पर्याप्ति नाम कर्म का उदय है। पर्याप्ति के, सम्बन्ध में दो प्रकृतियां हैं—एक पर्याप्त नामकर्म और एक अपर्याप्त नामकर्म। बिना कर्म तो जो जीव मरकर नया शरीर ग्रहण करेगा और उस शरीर की पर्याप्ति पूरी हुए मरेगा नहीं, उसके तो पर्याप्त नामकर्म का उदय है, और जो पर्याप्ति पूर्ण किए बिना ही मर जाएगा उसके अपर्याप्त नाम कर्म का उदय है। तो पर्याप्त नामकर्म उदय से आत्मा में आहार यानि शरीर वर्गणा का ग्रहण करने की शक्ति हो जाना सो आहार पर्याप्ति है।

शरीर पर्याप्ति व इन्द्रिय पर्याप्ति की पूर्णता—देखिये—अब तक क्या काम हुआ उस शरीर में कि उस शरीर के परमाणुओं में कुछ तो कठिन अंगरूप बन रहे और कुछ रसरूप बन रहे। अब आगे दूसरा काम क्या होगा कि जो परमाणु कठिन अवयवरूप परिणमाने के पात्र हैं वे हड्डी आदिक रूप परिगामने में समर्थ हो जायें, **और जो वर्गणा रस रूप परिणमाने को हुई वह खून आदिक रूप परिणम सके, ऐसी शक्ति की पूर्णता होने का** नाम है शरीर पर्याप्ति। अब इसके बाद तीसरा काम क्या होना है कि उस शरीर में इन्द्रिय की शक्ति आनी चाहिये। जब शरीर में इन्द्रिय बनने की शक्ति जीव में आ जाये तब इन्द्रिय पर्याप्ति होती है। इसमें कारण क्या पड़ता है? ज्ञानावरण का क्षयोपशम। क्योंकि इन्द्रिय के द्वारा यह ज्ञान ही तो करेगा। इन्द्रिय से ज्ञान की उत्पत्ति हुई, विकास हुआ निमित्त हैं इन्द्रियां। तो इन्द्रिय बनने के लिए ज्ञानावरण के क्षयोपशम की जरूरत है। अभी एकेन्द्रिय में केवल स्पर्शनेन्द्रियावरण का क्षयोपशम है और दो इन्द्रिय में स्पर्शनेन्द्रियावरण व रसनेन्द्रियावरण का क्षयोपशम है और हम आपके पांचों इन्द्रियावरण का क्षयोपशम है और मन का आवरण करने वाले कर्म का भी क्षयोपशम है। देखो अन्य सब जीवों से हम आप जीवों की योग्यता बढ़ी-चढ़ी है। तो ज्ञानावरण का क्षयोपशम भी चाहिये। वीर्यान्तराय कर्म उसे कहते हैं जो शक्ति को प्रकट न होने दे। अब यहां शक्ति प्रकट होगी, तो ज्ञानावरण व वीर्यान्तराय दोनों के क्षयोपशम होने पर और जातिनाम कर्म का उदय होने से जो इन्द्रिय होने की शक्ति पूरी होती है उसे इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं।

श्वासोच्छवास, भाषा व मनः पर्याप्ति की पूर्णता का कथन—अब तक यहां इसके तीन काम हुए—आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति और इन्द्रिय पर्याप्ति अब इसके बाद काम होगा श्वासोच्छवास लेने की शक्ति पूरी होने का। जितने पर्याप्तक जीव हैं वे सब श्वास लेते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़ा, मकौड़ा, जिन-जिन में जीभ है यानि मुख है वे श्वास लेते हैं, यह तो हम आसानी से जान जाते हैं लेकिन पेड़, पृथ्वी, पानी, आग, हवा आदि ये भी श्वास लेते हैं, यह जरा कठिनाई से जाना जाता है। तो पहले यह समझिये कि श्वास केवल मुख से ही नहीं ली जाती। शरीर के प्रत्येक हिस्से से श्वास ली जाती है। यह तो एक मोटे रूप से समझ लिया लोगों ने कि मुंह और नाक से हवा का छोड़ना लेना इसका नाम श्वासोच्छवास है। शरीर के प्रत्येक हिस्से में जितने रोम हैं, जितने छिद्र हैं उन सबसे श्वास लिया जाता है। तो आप यह समझ लीजिए कि

श्वास पूरा कहां से ग्रहण किया जाता है—पृथ्वी, जल आदिक के भी शरीर हैं तो वे भी अपने पूरे शरीर से श्वासोच्छवास करते हैं और वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध भी किया है कि पेड़ श्वास लेते हैं। रात की हवा और दिन की हवा जो पेड़ से निकलती है उसमें अन्तर भी इसी आधार पर है। किसी छोटे अंकुर के ऊपर यदि कोई चीज ऐसी ढक दी जाये कि हवा न मिल सके तो वह अंकुर मुरझा जायेगा, खत्म हो जायेगा। तो इससे सिद्ध है कि एकेन्द्रिय तक के जीवों में श्वास होती है। आहार, शरीर, इन्द्रिय पर्याप्ति के बाद अब श्वास पर्याप्ति पूर्ण होती है। तो इस पूर्णता में कारण क्या है? उच्छवास नामकर्म का उदय। तो जिन वर्गणाओं को शरीर रूप से ग्रहण किया था उनको उच्छच्वासरूप से परिणमाने की जीव में शक्ति पूर्ण हो जाये इसे कहते हैं श्वासोच्छवास पर्याप्ति। यहां तक चार काम हुए। ये चारों काम साधारण हैं। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सबमें पाये जाते हैं, किन्तु इनके बाद के दो काम भाषा और मनःपर्याप्ति—ये एकेन्द्रिय के नहीं होते। भाषापर्याप्ति तो दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक और मनः पर्याप्ति केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के ही होती है। सो इन दो पर्याप्तियों को यह जीव किस तरह पूर्ण करता है? स्वर नामकर्म के उदय से तो भाषा पर्याप्ति पूर्ण होती है। मनः पर्याप्ति पूर्ण होने की क्या विधि है—अंगोपाङ्ग नामकर्म का उदय होने से और ज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेष होने से मन की रचना होती है और विचार करने की शक्ति पूरी होती है। इस तरह जीव ६ पर्याप्तियों को पूर्ण करता है। अपने-अपने योग्य समस्त पर्याप्तियों का प्रारम्भ तो एक साथ होता है यानि जन्म स्थान पर पहुंचते ही अथवा शरीर नाम कर्म के उदय के प्रथम समय में ही पर्याप्तियों का प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु उन पर्याप्तियों की पूर्तियां अन्तर्मुहूर्त के क्रम से हुआ करती है। फिर भी वे सब अन्तर्मुहूर्त एक ही अन्तर्मुहूर्त में गर्भित हैं।

तस्सेव कारणाणं पुग्गल-खंधाण जा हु णिप्पत्ती।
सा पज्जत्ती भण्णदि छब्भेया जिणवरिंदेहिं।।१३५।।

पर्याप्तियों की कारणरूपता व कार्यरूपता से वर्णन—कोई जीव मरण करके जब दूसरे भव में जन्म लेता है तो चूंकि उस जीव के साथ स्थूल शरीर तो नहीं रहा, वह तो वहीं छूट गया। अब वह जीव अकेला सूक्ष्म शरीर से सहित उस जन्मस्थान पर पहुंचता है तो वहां स्थूल शरीर ग्रहण करता है। जिस स्कंध से शरीर की निष्पत्ति प्रारम्भ होगी वह स्कंध पहले से पड़ा हुआ है। जैसे जो जीव सम्मूर्छन जन्म वाले हैं, जिनका जन्म माता-पिता के निमित्त से नहीं है जैसे कीट पतंगा आदि, तो इनके शरीर बनने के पुद्गल ढेर सब मौजूद हैं। जब कुछ योग्य विशेष वे स्कंध बन जाते हैं और वहां कोई जीव आता है तो उसे वह शरीर रूप से ग्रहण करता है और जो माता-पिता के निमित्त से उत्पन्न होता है ऐसे शरीर के बीजभूत रजवीर्य पर पहुंचता है तो उसे शरीर रूप ग्रहण करता है। नया शरीर बनता है तो नया शरीर बनने के लिए उस जीव में शक्ति आने की आवश्यकता है, क्योंकि वह जीव तो स्थूल शरीर के बिना है ना। तो जब तक उस जीव में शरीर के बनने की शक्ति नहीं आ पाती तब तक उसे निवृत्य पर्याप्त कहते हैं और जब शरीर बनने की शक्ति उस जीव में आ जाती है तो वह पर्याप्त कहलाता है। इस विषय का पहली गाथा में तो जीव की शक्ति की मुख्यता से वर्णन किया था। अब इस गाथा में यह बतलाते हैं कि जैसे नया शरीर बनने के लिए जीव में शक्ति की पूर्णता होनी आवश्यक है उसी प्रकार उस पुद्गल ढेर में भी शरीर रूप बनने की शक्ति आ जानी आवश्यक है। बात तो दोनों तरफ है ना, जीव में शक्ति आ जाये उस निमित्त से शरीर बनता है, पर शरीर स्कंधो में भी तो वह

योग्यता आ जानी चाहिए कि जिससे वह शरीर बन सके। तो इस गाथा में पुद्गल में शक्ति पूर्णता आ जाने के रूप से पर्याप्तियों का वर्णन किया है। उस जीव शक्ति के कारणभूत पुद्गल स्कंधो में जो समर्थता आती है उसे पर्याप्ति कहते हैं।

संसारी जीवों के पर्याप्तियों की पात्रता का वर्णन–ये पर्याप्तियां ६ प्रकार की हैं–आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छवास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति। यानि जीव जब नये शरीर को ग्रहण करता है तो सर्वप्रथम शरीर को ग्रहण करने की ताकत बनती है। फिर उसको कुछ कठिन और नरम अवयव बनाने की ताकत आती है, फिर इन्द्रिय बनने की शक्ति आती है, फिर श्वास लेने की शक्ति आती है, फिर वचन बनने की शक्ति आती है, फिर मन की और विचारने की शक्ति आती है। इस तरह नये शरीर को पाने में ६ पर्याप्तियां आती हैं। यदि कोई जीव एकेन्द्रिय में उत्पन्न होता है–पृथ्वी, जल, अग्नि, पेड़ ऐसे शरीरों में आता है तो उसके चार पर्याप्तियां होंगी–आहर, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छवास। भाषा उस जीव के नहीं हो सकती, क्योंकि उसके सिर्फ एक ही इन्द्रिय है स्पर्शन। खाली शरीर शरीर है, जिह्वा नहीं है और जिह्वा हुए बिना भाषा की शक्ति नहीं आती। जो जीव दो इन्द्रिय में जन्म लेगा उसके ५ पर्याप्तियां बनेंगी–आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास और भाषा। चूंकि दो इन्द्रिय जीव में जिह्वा आ गई, मुख बन गया, चाहे कैसे ही हो, केचुवों के भी मुख पाया जाता है और वे मुख से मिट्टी का आहार भी करते हैं उन जीवों के भी भाषापर्याप्ति है। कुछ बोल सकें, किसी भी तरह की आवाज निकले, पर आवाज तो हो सकती है। तो दो इन्द्रिय जीव में ५ पर्याप्तिया हैं–तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव में भी ५ पर्याप्तियां हैं। छठी पर्याप्ति है मनःपर्याप्ति। संज्ञी पंचेन्द्रिय के छहों पर्याप्तियां होती हैं। जब तब जीव के मन नहीं होता तब तक मनः पर्याप्ति नहीं बनती। यों जिस जीव में जितनी योग्यता है उसमें उतनी पर्याप्तियां हुआ करती हैं। इतने कथन में इतनी बातों का विचार किया गया कि एक शरीर छोड़कर जीव जब दूसरे शरीर का ग्रहण करता है तो दूसरे शरीर में जब तक शरीर रूप बनने का पूर्ण शक्ति नहीं आ जाती तब तक यह जीव निर्वृत्यपर्याप्तक कहलाता है अर्थात् शरीर की निष्पत्ति की पूर्णता नहीं होती। बाद में यह पर्याप्त कहलाया मायने शरीर बनने लायक पूर्ण शक्तिमान कहलाया, उसे पर्याप्त कहते हैं। अब अगली गाथा में यह कहते हैं कि निर्वृत्यपर्याप्त कितने समय तक रहता है।

पज्जतिं गिण्हंतो मणु-पज्जतिं ण जाव समणोदि।
ता णिव्वत्ति-अपुण्णो मण-पुण्णो भण्णदे पुण्णो।।१३६।।

निर्वृत्यपर्याप्त व पर्याप्त के काल के विभाग का वर्णन–यह जीव जब जन्म स्थान पर पहुंचता है तो जिसके जितनी पर्याप्तियां हुई हैं उन सब पर्याप्तियों का प्रारम्भ तो उस ही समय में कर लेता है परन्तु उन पर्याप्तियों की पूर्णता क्रम-क्रम से होती है। पहले आहार पर्याप्ति हो जायेगी फिर शरीर पर्याप्ति पूर्ण होती है, फिर इन्द्रियपर्याप्ति, फिर श्वासोच्छवास पर्याप्ति, फिर भाषा पर्याप्ति। इसके बाद मनः पर्याप्ति सम्पूर्ण बनती है। तो पर्याप्तियों का ग्रहण करते हुए यह जीव जब तक मनः पर्याप्ति को समाप्त नहीं करता तब तक वह जीव निर्वृत्य पर्याप्त है और जहां मनः पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है तब यह पूर्ण पर्याप्त कहलाता है। किन्हीं ग्रन्थों में ऐसा भी कहा है कि शरीर पर्याप्ति जब तक पूर्ण नहीं होती तब तक वह निर्वृत्यपर्याप्त कहलाता है। शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने पर पर्याप्त कहलाताहै। शरीर पर्याप्ति है दूसरे नम्बर की पर्याप्ति। तो यह कथन भेद इस

अपेक्षा से समझना कि जो जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय बनता है उसकी अपेक्षा से तो इस गाथा में कथन है कि मनः पर्याप्ति पूर्ण हो तो पर्याप्त है और अन्य ग्रन्थों का कथन शरीर पर्याप्ति की पूर्णता की अपेक्षा से है, क्योंकि कोई जीव एकेन्द्रिय होता है, कोई दोइन्द्रिय आदिक होता तो शरीर पर्याप्ति की पूर्णता होने पर वह पर्याप्त होगा, यह सबमें घटित करना है। निर्वृत्यपर्याप्त को भी पर्याप्ति नामकर्म का उदय है और पर्याप्त के भी पर्याप्ति नामकर्म का उदय है। यह पर्याप्त ही है क्योंकि पर्याप्त होने से पहले इसकी मृत्यु नहीं होती। तो पर्याप्त नामकर्म का उदय होने पर एकेंद्रिय जीव अपनी चार पर्याप्तियों को पूरा करने की शक्ति से युक्त होता है और उन्हें पूरा कर लेता है। अपर्याप्त शब्द से तो मुख्यतया लब्ध्यपर्याप्त का व्यपदेश होता है। दो इन्द्रियां आदिक अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करते हैं और जब तक पूर्ण नहीं कर पाते तब तक उन्हें निर्वृत्यपर्याप्त कहते हैं। निर्वृत्ति का अर्थ है शरीर की निष्पत्ति। शरीर बनने का काम पूरा नहीं हो पाया तो उन्हें निर्वृत्यपर्याप्त कहते हैं। जैसे कोई जीव मरकर मनुष्य गति में जन्म लेता है तो मां के गर्भ में वह जीव आया। आते ही वह दो एक सेकण्ड निर्वृत्यपर्याप्त रहा। जब तक उस शरीर में कुछ भी वृद्धि, गठन नहीं बनता तब तक निर्वृत्य पर्याप्त है, बाद में पर्याप्तक बनता है और जब तक मरण नहीं होता तब तक वह जीवपर्याप्त कहलाता है। यहां निर्वृत्यपर्याप्त का इतना ही अर्थ है कि शरीर में कुछ भी वृद्धि और गठन होने की शक्ति आ जाये तो लो पर्याप्त हो गया वह। उससे पहले निर्वृत्य पर्याप्त है। शरीर बनेगा अच्छी प्रकार से ६-७ महीने में, लेकिन—६-७ महीने तक निर्वृत्य पर्याप्त नहीं है। निर्वृत्य पर्याप्त रहना तो दो-एक सेकेण्ड का ही काम है। उसमें शरीर बनने की शक्ति पूरी तो आ गई। अब उसके अंगोपाङ्ग बनने प्रारम्भ होंगे कोई चौथे या ५वें महीने से लेकिन पर्याप्त वह अन्तर्मुहूर्त बाद ही हो जाता है। कुछ लोग जब गर्भ से निकले बालक, तब कहते हैं कि इसका जन्म हुआ लेकिन जन्म तो तभी माना जायेगा कि जिस क्षण में वह गर्भ में आया। जैसे किसी बालक की उम्र पूछने पर कहते हैं कि यह बालक आज से ८ वर्ष का हो गया, पर वह बालक ८ वर्ष और करीब ९ महीने का हुआ है। गर्भ के जो दिन हैं वे भी आयु में शामिल हैं। तो यों जीव अनेक शरीरों में जन्म लेता रहता है, मरण करता रहता है और जन्म-मरण के संकटों को सहता रहता है।

मरण जीवन की विडम्बना और उसका कारण—उक्त कथन से आप यह अंदाज कर गए होंगे कि मरण और जीवन कितनी बड़ी विडम्बना है? यह जीव मरा और सूक्ष्म शरीर वाला हो गया, फिर नये शरीर पर आयेगा। कैसा उसका ग्रहण, कैसी उसकी वृद्धि, कैसा उसमें रम जाना, एक क्षेत्रावगाह हो जाना, यह सब इस भगवान आत्मा की विडम्बना ही तो हो रही है। कहां तो यह भगवान आत्मा अनन्त चतुष्टय का धनी, अपने ज्ञान से तीन लोक और अलोक को जानता रहे, अपने ही विशुद्ध आनन्द से आनन्द को भोगता रहे, कहां तो इसका ऐसा पवित्र स्वरूप और कहां इसकी यह विडम्बना हो रही है कि नया शरीर ग्रहण किया फिर वहां संकट सहे। इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग, रोग शोक आदिक अनेक प्रकार के कष्ट सहता है। इन सब कष्टों के पाने का मूल कारण है एक मात्र मोह। इस जीव को अपने शरीर में जो मोह हो गया है कि यह मैं हूं, इस शरीर को देख-देखकर खुश होता है, शरीर निर्बल हुआ तो रंज मानता है। शरीर के विषय साधनों में यह बड़ा उत्सुक बना रहता है, ये सब हैं जीव पर आपत्तियां। मानता है यह मोही जीव मौज की बातें, वे तो इस जीव को गिरा देने की बातें हैं। तो इन मोह राग द्वेषादिक परिणामों के कारण यह जीव संसार में जन्म-मरण करता है और घोर संकट सहता है। इस प्रकरण में यह बताया जा रहा है कि मरण के बाद यह जीव जब दूसरे शरीर को ग्रहण करता है यानि जन्म लेता है तो जब तक शरीर पर्याप्ति नहीं बनती तब तक निर्वृत्य पर्याप्त है, यानि

एक समय कम शरीर पर्याप्ति काल तक जीव निर्वृत्य पर्याप्त कहलाता है, पश्चात पर्याप्त बनता है। अब कहते हैं कि लब्ध्य पर्याप्त का क्या स्वरूप है? लब्ध्य पर्याप्त जीव उसे कहते हैं कि उसकी पर्याप्ति पूर्ण न हो और मरण कर जाये।

उस्सासट्ठारसमे भागे जो मरदि ण य समाणेदि।
एक्को वि य पज्जत्ती लद्धि-अपुण्णो हवे सो दु।।१३७।।

लब्ध्य पर्याप्त का स्वरूप–जो जीव श्वास के १८वें भाग में मर जाता है और एक भी पर्याप्ति को समाप्त नहीं कर पाता उस जीव को लब्ध्य पर्याप्त कहते हैं। अब आप अंदाज करते होंगे कि लब्ध्य पर्याप्त जीव कितना निकृष्ट जीव है? मरण हुआ, नया शरण ग्रहण किया, उसके शरीर में कुछ भी वृद्धि नहीं हो पाती और मरण हो जाता। एक श्वास में १८वें भाग में मरण होता है यानि एक श्वास में १८ बार मरण कर जाता है। मरण करना, जन्म लेना वह एक ही बात है। एक भव के मरण का ही नाम दूसरे भव का जन्म है। जैसे सीधी अंगुली है, अब इसे टेढ़ी की तो सीधी का मिटना और टेढ़ी का होना, दोनों का एक ही मतलब है ना, जिस समय में टेढ़ी हुई उसी समय में सीधी मिटी, जिस समय में सीधी मिटी उसी समय में टेढ़ी हुई, कोई दो समय नहीं हैं। यह है उत्पाद व्यय का स्वरूप। कोई भी चीज जब उत्पन्न होती है तो नवीन बात की उत्पत्ति होने का ही नाम पुरानी बात का मिटना कहलाता है। तो जैसे कोई मनुष्य यहां मरा–मान लो ८ बजकर एक समय पर मरा और वह देवगति में जन्म लेता है तो मनुष्य आयु का विनाश उसका कब कहा जायेगा? ८ बजकर एक समय पर और देव आयु का उदय कब कहा जायेगा? ८ बजकर १ समय पर। वही समय है नई आयु के उदय का और वही समय है पुरानी आयु के विनाश का तो उस देव का जन्म कब हुआ? उस ही जगह से जिस जगह मनुष्य मरा और जिस स्थान से वह चला। तो जहां से जा रहा है जीव नया शरीर लेने को वहीं से उसी समय देव आयु का उदय है और वह देव कहलाता है। जैसे मान लो कोई जीव (मनुष्य) चांडील नगर में तो मरा और पुरुलिया में घोड़ा होना है तो मनुष्य आयु का विनाश तो वहीं हो गया और तिर्यञ्च आयु का उदय भी वहीं आ गया। तो रास्ते में जो जीव आता है वह आता तो है झट एक दो समय में, पर उस बीच में भी वह तिर्यंच कहलायेगा और जन्मस्थान पर आ गया तो भी तिर्यंच कहलायेगा। अनेक लोग ऐसा भ्रम करते हैं कि मरने के बाद १३वें दिन जीव अन्य जगह जन्म लेता है और तब तक अनेक नेगचार करते रहते हैं, पर एक भव के जीव के मरते ही उसी क्षण नये भव का जन्म हो जाता है और अपनी करनी के अनुसार वह सब समागम पा लेता है।

लबध्य पर्याप्तकों के अन्तर्मुहूर्त के भवों का पांचों जातियों में विभाग–लब्ध्य पर्याप्तकों के सम्बन्ध में बताया है कि लब्ध्य पर्याप्त जीव अन्तर्मुहूर्त में ६६३३६ बार जन्म-मरण करता है । अन्तर्मुहूर्त होता है एक समय कम ४८ मिनट तक का। सो ४८ मिनट के हिसाब से जन्म-मरण निकालिये लब्ध्य पर्याप्त के। ६६३३६ में ४८ का भाग दीजिये ६६३३६ ÷ ४८ = १३८२ आये। इसका अर्थ यह हुआ कि एक मिनट में १३८२ बार जन्म-मरण करता है। जन्म ही नाम मरण है। नये भव का जन्म हुआ उसी का नाम पूर्व भव का मरण है, सो एक मिनट में १३८२ बार जन्म है और इतने ही बार मरण है। अब १३८२ में ६० का भाग देने से एक सेकेण्ड में कितने बार जन्म-मरण होना है यह निकल आयेगा १३८२ ÷ ६० = २३ सही २ बटा ६० यानि एक सेकेण्ड में २३ बार जन्म-मरण हो जाता है। अब इन ६६३३६ भवों को सर्व प्रकार के जाति के जीवों में किस

तरह विभक्त करते हैं सो सुनिये–इनमें से ६६१३२ बार तो लब्ध्य पर्याप्त एकेन्द्रिय जीवों के जन्म मरण हैं, ८० बार दो इन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्त के जन्म-मरण हैं, ६० बार तीन इन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्तों के जन्म-मरण हैं, ४० बार चतुरिन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्त के जन्म-मरण है व २४ बार पंचेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्त के जन्म-मरण हैं। पंचेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्त के जो २४ बार के जन्म-मरण बताये हैं उनमें ८ तो लब्ध्य पर्याप्त के मनुष्य के हैं। और शेष १६ अन्य पंचेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्त के है। इन १६ पंचेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्त के जन्म-मरण का भी यह विभाग है कि ८ तो असंज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्त के हैं और ८ मनुष्य लब्ध्य पर्याप्त को छोड़ कर अन्य संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्त के हैं। एकेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्त के निरन्तर क्षुद्र भवों की संख्या जो ६६१३२ बताई है उसका भी विभाग सुनिये– एकेन्द्रिय जीव के ये ११ प्रकार हैं–१ बादर पृथ्वीकाय, २ सूक्ष्म पृथ्वीकाय, ३ बादर जल काय, ४ सूक्ष्म जलकाय, ५ बादर अग्निकाय, ६ सूक्ष्म अग्निकाय, ७ बादर वायुकाय, ८ सूक्ष्म वायुकाय, ९ बादर साधारण वनस्पतिकाय, १० सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय, ११ प्रत्येक वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति बादर ही होता है। अतः उसमें कोई भेद नहीं दिखाया। अब ६६१३२ में इन ११ का भाग दीजिये ६६१३२ ÷ ११ = ६०१२ हुए। मरने ११ प्रकार के उक्त एकेन्द्रियों में प्रत्येक लब्ध्य पर्याप्त में ६०१२ बार जन्म-मरण होता है। देखिये लब्ध्य पर्याप्त जीव एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक में भी पाये जाते हैं। जो निगोद जीव हैं वे इन सबसे पृथक् जीव हैं, किन्तु हैं साधारण वनस्पतिकाय। यों ये जीव पर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर पाते हैं और मरण कर जाते हैं ऐसा ही इनके अपर्याप्ति नामकर्म का उदय है। अब पर्याप्तियों की संख्या का कथन करते हैं–

लद्धियपुण्णे पुण्णं पज्जत्ती एयक्ख-वियल-सण्णीणं।
चदु पण छक्कं कमसो पज्जतीए वियाणेह।।१३८।।

पांचों जाति के जीवों में पर्याप्तियों की संख्या का विवरण–लब्ध्य पर्याप्त जीव के किसी भी पर्याप्ति की पूर्णता नहीं हो पाती है। अतः उसकी पर्याप्ति नहीं हैं पर्याप्ति प्रारम्भ तो की, किन्तु पूर्णता नहीं हुई इससे उसके अपर्याप्ति कहना चाहिये और प्रारम्भ की अपेक्षा जिस जीव में जितनी योग्यता है उतनी अपर्याप्ति कहना चाहिये, जैसे लब्ध्य पर्याप्त एकेन्द्रिय के ४ अपर्याप्ति। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय व असंज्ञी पंचेन्द्रिय, लब्ध्य पर्याप्त के ५ अपर्याप्ति, संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्त के ५ अपर्याप्ति। पर्याप्तों के पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है। पर्याप्ति पूर्ण होने पर ही उनका तद्भवमरण हो सकता है। पर्याप्त एकेन्द्रिय जीव के आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास ये ४ पर्याप्तियां हैं। पर्याप्त दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय व असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास व भाषा ये ५ पर्याप्तियां हैं। रसना होने के कारण इनमें भाषा पर्याप्ति और बढ़ जाती है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा और मनः ये छहों पर्याप्तियां होती हैं। संज्ञी होने के कारण इनके द्रव्यमन की निष्पत्ति होती है। जब तक ये संसारी जीव हैं तब तक इनमें पर्याप्तियों का पूर्णता अथवा अपूर्णता के रूप में यह सिलसिला बना रहता है। जो जीव कर्मरहित हैं, मुक्त हैं, सिद्ध हैं, उनके पर्याप्तियों का अभाव हो गया, वे पर्याप्तियों से अतीत हो गये हैं। सिद्ध भगवतों के कर्म बीज न होने के कारण न तो शरीर है अतएव पर्याप्तियां भी नहीं हैं।

मण-वयण-काय-इंदिय-णिस्सासुस्सास-आउ-उदयाणं।
जेसिं जोए जम्मदि मरदि विओगम्मि ते वि दह पाणा।।१३९।।

प्राण का लक्षण व उसके भेद–इस गाथा में संसारी जीवों के प्राणों का वर्णन है। जीवों के प्राण

व्यक्ति को यों ही कहीं कुछ मिट्टी में दबाकर छोड़ देते हैं और कुछ दिन बाद वह जीवित आ जाता है, तो उसके प्राण नष्ट नहीं हुए थे। श्वास बराबर थी, आयु बराबर थी और इन्द्रिय बल भी था, मगर ये सब अव्यक्त थे। इन दसों प्राणों का वियोग हो जाये तो फिर ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि पुनः वह जीवित हो सके। कभी आप यह भी जिज्ञासा कर सकते हैं कि बरसात के दिनों में एक ही रात में एक-एक बालिश्त के मेढक इधर-उधर उछलते-कूदते नजर आने लगते हैं, तो वे कहां से पैदा हो गए? वे इतनी जल्दी उतने बड़े कैसे हो गए? ये तो मेढकों की जातियां हैं। जो छोटे मेढक हैं वे छोटे ही रहते हैं, वे कहीं बढ़ नहीं जाते। और जो मेढक मर चुके वे कहीं फिर से जीवित नहीं हो जाते। वहां होता क्या है कि मरे हुए मेढ़कों की खाल पड़ी रहती है। मेढक मर जाते हैं तो उनके शरीर की खाल इतनी पतली और पिचकी होती है कि लोग यह नहीं जान पाते हैं कि यहां मेढक है। तो वह मरा हुआ मेढक एक सम्मूर्छन स्कंध बन गया। जब वह कुछ गीला हुआ, उसमें योग्यता हुई। किसी-किसी जीव ने आकर उसको ग्रहण किया तो वह शरीर बहुत जल्दी बन जाता है। मेढक सम्मूर्छन जन्म वाले हैं, पर उस खाल में जो जीव आया वह वही जीव भी आ सकता है जो उस खाल में पहले था। दूसरा कोई जीव भी उसमें आ सकता है, किन्तु जीवन व प्राण सबका नया है तो प्राण उसे ही कहते हैं जिसके रहने पर जीवन माना जाये और जिसका वियोग होने से मरण समझा जाये।

प्राण वर्णन के प्रसंग में धर्म धारण के प्रयोजन का दिग्दर्शन–जीव का लक्षण व्यवहारनय से तो यह किया गया कि जो दस प्राणों से जीता था, जी रहा है अथवा जीयेगा उसको जीव कहते हैं। सिद्ध भगवान में ये दसों प्राण नहीं रहते। लोग तो प्राणों को तरसते हैं लेकिन ये प्राण ही इस जीव के दुःख के कारण हैं। ये प्राण न रहें, जीव खाली जीव रह जाये तो वह अनन्त आनन्दमय है। उसको किसी प्रकार का क्लेश नहीं है। यही तो करना है धर्म करके। धर्म हम किसलिए करते हैं, किसलिए करना चाहिए, इसका सही निर्णय रखना। धर्म करना है जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए। जन्म है दस प्राणों से, मरण है दस प्राणों के वियोग से। तो यही अर्थ निकला कि धर्म करना है इन प्राणों से छुटकाना पाने के लिए। जीव का स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्द मात्र है। इसको इन प्राणों की दरकार नहीं है। आयु, श्वास, इन्द्रियां आदि मिलें इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। बल्कि ये जब तक जीव के साथ रहते हैं तब तक जीव को क्लेश भोगना पड़ता है। मरे जन्मे, मरे जन्मे यही परम्परा अनादि काल से चली आ रही है और यही जीव का मुख्य क्लेश है। तो इन प्राणों से छुटकारा पाने के लिए, जन्म-मरण से मुक्ति पाने के लिए धर्म करना है। अब सोचिये कि ऐसा धर्म हमें किस प्रकार मिलेगा? छूटना है हमें जन्म-मरण से, तो अपने आपके स्वरूप को ऐसा अवश्य जानना होगा कि मेरा स्वरूप जन्म-मरण से रहित है। हम बनना चाहते हैं जनम मरण से रहित और अपने आपको जानें कि मैं तो ऐसा ही बुद्ध हूं, मैं यह ही हूं, अमुक नाम वाला, इस देह वाला इन प्राणों वाला यह ही मैं हूं। तो बतलाओ जन्म-मरण से छुटकारा कैसे मिले? इसके लिए यह श्रद्धान करना आवश्यक है कि मैं जन्म-मरण से रहित केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूं, ऐसी दृष्टि लाइये, भीतर में इस तरह से अपने को देखने का प्रयत्न करिये, ऐसी धुन बनाइये, एक भी क्षण, एक भी सेकेण्ड यदि आपको अपने आत्मा में ऐसे सहज चैतन्य स्वरूप अपने आपके दर्शन हुए तो सम्यक्त्व हुआ समझिये और आपका मनुष्य जन्म सफल हो गया। एक ऐसे निज सहज स्वरूप का दर्शन यदि नहीं हो पाता तो कोई बड़ा राजा भी हो जाये कोई बड़ा चक्री भी हो जाये, बड़ा वैभव भी हो जाये, एक जगत सेठ भी बन जाये कोई, फिर भी उसका जीवन सफल नहीं है।

आत्मोद्धार का उपाय बनाने में ही मानव जीवन की सफलता–मनुष्य हम विषयों के आराम के लिए नहीं बने, यह निर्णय रखना। ये सब विनाशीक हैं। इनको भोगकर जीव का पूरा नहीं पड़ता है। कुछ दिन के लिए यह जीवन है। मरण होगा। मरण के बाद जैसे इस जीव ने पुण्य-पाप कमाया है उसके अनुसार इसे दूसरे भव में शरीर लेना होगा। विषयों **के लिए यह मानव जीवन नहीं, किन्तु संसार के संकटों से सदा के लिए** छुट्टी मिल जाये। मैं केवल आत्मा ही आत्मा रहूं, परमात्मा होऊं, ऐसी स्थिति पाने के लिए यह मानव जीवन है। तो इन उपायों में सर्वप्रथम चाहिए सम्यग्दर्शन। देह से निराला हूं मैं। मुझमें रूप, रस, गंध, स्पर्शादिक कुछ भी नहीं हैं, मुझमें रागद्वेष मोहादिक विकार भाव भी नहीं हैं। मेरा स्वरूप तो एक शुद्ध ज्ञान ज्योतिमात्र है। यों ज्ञान ज्योतिमात्र स्वरूप में अपने आपका दर्शन हो, अनुभव हो, ज्ञानमात्र ज्ञान के स्वरूप का जाननहार हो रहा हो, ऐसा जब आपका ज्ञान बनेगा उस समय सम्यक्त्व होगा और सम्यक्त्व हो तो आपका मानव जीवन सफल है। और सम्यक्त्व न हो मिथ्यात्व में ही रहें, मोह रागद्वेष में ही रहें तो रहे आयें उससे इस जीव का उद्धार सम्भव नहीं है। जीव में वास्तविक प्राण तो चेतन है। चेतन प्राण से यह जीव शाश्वत जीव कहलाता है। और १० प्राणों से जीवने की बात व्यवहार से है। इन प्राणों से अतीत जो सिद्ध पुरुष हैं वे ही परम आनन्दमय हैं। उनका ध्यान करें और विकार रहित निज स्वरूप का ध्यान करें तो संसार के संकटों से दूर हो सकते हैं।

एयक्खे चदु पाणा बि-ति-चउरिंदिय-असण्णि-सण्णीणं।
छः सत्त अट्ठ णवयं दह पुण्णाणं कमे पाणा।।१४०।।

एकेन्द्रिय जीव के प्राण–एक इन्द्रिय आदिक जीवों में कितने प्राण होते हैं? इस बात का वर्णन किया जा रहा है। जिस जीव में जितने अधिक प्राण हैं उस जीव के मारने के लिए मारने वाले को अपने आपको अधिक उत्तेजित करना ही होता है, इस कारण उसके वध में अधिक दोष हैं। जैसे आलू अरबी आदिक फल हैं, उनमें अनन्तकाय की हिंसा है, पर वे हैं सब एकेन्द्रिय जीव, जिनकी हिंसा होती है। गोभी का फूल अथवा कोई चींटी चांटी इनमें दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव भी होते हैं। तो इनके घात में उससे अधिक हिंसा है। आलू के भक्षण में अनन्त एकेन्द्रिय की हिंसा होने पर भी एक चींटी को ही मार दिया जाये तो उसमें हिंसा विशेष बताते हैं, कारण यह है कि अधिक प्राण वाले जीव को मारने में मारने वाले को कितना विशेष उत्तेजित होना पड़ता है। तो प्राणों का समझना भी बहुत आवश्यक है कि किस जीव में कितने प्राण होते हैं? एकेन्द्रिय जीव में, जो कि पर्याप्त हो गए हैं, जिनका शरीर बढ़ने लगा है ऐसे एकेन्द्रिय जीव में चार प्राण होते हैं–(१) स्पर्शनइन्द्रिय (२) कायबल, (३) श्वासोच्छवास और (४) आयु। एकेन्द्रिय जीव में चार इन्द्रियां नहीं हैं–रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण, इसलिए चार प्राण ये कम हो गए। मन भी नहीं है, अतः मनोबल नहीं है। रसना इन्द्रिय न होने से वचन भी नहीं है सो वचन बल भी नहीं है। दोइन्द्रिय जीव में, जो कि पर्याप्तक हो गया है, ६ प्राण होते हैं–दोइन्द्रिय, वचन बल, कायबल, श्वासोच्छवास और आयु। लट, केचुवा, जोंक, शंख, कोड़ी, सीप आदिक ये दोइन्द्रिय जीव हैं। इनमें दो इन्द्रियां हैं, वे स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा ठंड गर्मी का ज्ञान कर सकते हैं। रसना इन्द्रिय द्वारा वे रस का ज्ञान कर लेते हैं। इसके छह प्राण है, क्योंकि वचनबल भी है।

संज्ञाओं व मन का कार्य–देखिये–जिनके मन नहीं है ऐसे जीवों के भी आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञायें हैं। कोई यह संदेह न करे कि इन दोइन्द्रिय आदिक जीवों में मन नहीं है तो ये आहार कैसे ढूंढते और करते हैं? आहार आदिक के करने के लिए मन की आवश्यकता नहीं है। मन होगा जिसके तो वह जरा

कलापूर्वक आहार आदि कर लेगा, इतना ही अन्तर होगा। पर मन का काम आहार कराना नहीं, यह तो संज्ञाओं का काम है। मन का काम तो असली हित और अहित का विवेक कराना है। यह काम करने योग्य है, इस प्रकार का हेय उपादेय का विवेक कराना मन का काम है। अब यदि कोई मन वाला जीव मन का शुद्ध उपयोग नहीं करता और इन्द्रिय विषयों में ही मन को लगाकर अशुद्ध उपयोग करता है तो इसमें उसका ही दोष है। मन तो कहते हैं कि जिसके द्वारा हित-अहित का विवेक किया जा सके। करे अथवा न करे, यह उसकी कषाय के अनुसार है।

तीन इन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय जीव के प्राण–तीन इन्द्रिय जीव जैसे जूं, खटमल, बिच्छू वगैरह हैं ये पर्याप्तक होने पर ७ प्राण पाते हैं। तीन इन्द्रिय–स्पर्शन, रसना और घ्राण, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छवास और आयु। तीनइन्द्रिय जीव के तीन इन्द्रियां हैं, उनको स्पर्शन इन्द्रियावरण, रसना इन्द्रियावरण, घ्राणेन्द्रिया वरण का क्षयोपशम है और इस ही प्रकार के वीर्यान्तराय का क्षयोपशम है। जिससे वे तीन इन्द्रिय जीव हुए। इनके रसना होने के कारण वचनबल भी है। कायबल तो सभी के होता ही है। जितने संसारी जीव हैं ये कोई भी काय से रहित नहीं हो पाते। श्वासोच्छवास और आयु ये भी सभी पर्याप्तक जीवों के होते हैं। चार इन्द्रिय जीव में ८ प्राण हैं–४ तो इन्द्रिय प्राण स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु, इन जीवों का चार इन्द्रियावरणों का क्षयोपशम है। रसना इन्द्रिय होने के कारण वचनबल भी है। कायबल तो होता ही है, श्वासोच्छवास और आयु ये सब मिलाकर ८ प्राण हैं। जितने भी संसारी जीव हैं और वे अपने-अपने प्राप्त शरीर में रहते हैं तो जब तक उनके आयु का उदय है तब तक वे उस भव में जीवित हैं। आयु का क्षय होने पर उनका मरण हो जाता है। सो उस मरण से लाभ क्या कि जिसके बाद फिर जन्म लेना पड़े। मरण प्रशंसनीय अरहंत भगवान का है इसी कारण उनके मरण को मरण नहीं कहते, निर्वाण कहते हैं। असल में उनके मरण का नाम है पंडित-पंडित मरण। सो मरण के बाद उनका जन्म नहीं होता इस कारण निर्वाण नाम प्रसिद्ध है। मरण नाम की प्रसिद्धि नहीं हैं। तो इस दृष्टि से देखें तो मरण तो हितकारी है, पर जनम कभी भी हितकारी नहीं है। मरण के बाद तो मोक्ष मिलता है पर जन्म के बाद मोक्ष नहीं मिलता। मरण तो विशिष्ट समाधिपूर्वक बन जाता है, पर जन्म विशिष्ट समाधिपूर्वक नहीं है। तो जन्म की अपेक्षा से मरण में अधिक खासियत है लेकिन मरण से लोग भयभीत रहते हैं। विपरीत चीज तो जन्म है। मरण में परिणाम संभल जाये तो भविष्य के समय में उसको आनन्द ही रहता है।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के प्राण–असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के ९ प्राण हैं। चूंकि यह पंचेन्द्रिय जीव है अतएव पांचों इन्द्रियां हैं–स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण। रसना इन्द्रिय प्रकट हो गई है अतएव वचनबल भी है, कायबल तो होता ही है। इन असंज्ञी पंचेन्द्रिय के मन नहीं है अतएव मनोबल नहीं है। श्वासोच्छवास और आयु ये दो प्राण भी हैं। यों असंज्ञी पंचेन्द्रिय में ९ प्राण होते हैं–केवल एक मनोबल नहीं होता। अब यहां देखिये कि इतनी ऊंची पर्याय में आ गया असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव कि जिससे नीचे असंख्याते चार इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, दो इन्द्रिय हैं। और एकेन्द्रिय तो अनंत जीव हैं, फिर भी एक मन प्राप्त न होने से वे कुछ उद्धार का काम नहीं कर सकते। अपने को यह शिक्षा लेनी है कि आज जो साधन पाया है वह इतना ऊंचा पाया है कि हम अपने मन को व्यवस्थित और विशुद्ध बनायें तो इस मनुष्य भव का हम इतना ऊंचा लाभ उठा सकते हैं कि संसार के संकटों से सदा के लिए छुट्टी पा जाने का उपाय बना सकें। सम्यक्त्व ऐसा दुर्लभ रत्न है कि

जिसके बिना यह जीव संसार में जन्म-मरण करता रहा और करता रहेगा। वर्तमान में भी यह जीव सुखी नहीं हो रहा, क्योंकि इस पर मिथ्यात्व लदा है। स्वरूप है और भांति, समझता है और भांति, तो कैसे उद्धार हो? जिस वैभव में, परिवार में यह जीव मुग्ध हो रहा है इतना मोह कि जिन परिजनों के लिए सारे जीवन यह कष्ट सहता है और इतना मोह रखता है कुटुम्ब में कि उसका तन, मन, धन, वचन सर्वस्व सब कुछ उन कुटुम्बीजनों के लिए ही है। दूसरी बात चित्त में नहीं समाती। इतना तीव्र व्यामोह जब जीव के लदा हुआ है तो उसे शान्ति कहां से आ सकती है? जीव स्वयं शांत है। उसके स्वभाव में क्लेश और अशान्ति है ही नहीं, लेकिन जिस किसी भी प्रकार हुआ है, मिथ्या जो ज्ञान बना, मिथ्या श्रद्धान बना, जिसके कारण विषयों में ही यह जीव रम रहा तो पराधीन सपनेहु सुख नाही। लोग तो अपनी वर्तमान स्थिति में पराधीनता इतने में ही समझते हैं कि हम पिता के आधीन हैं, हम अपने मालिक के आधीन हैं, हम अमुक के आधीन हैं लेकिन यह कोई बड़ी आधीनता नहीं, वास्तविक पराधीनता इस जीव की क्या है कि यह कर्मों से बंधा है। जैसा कर्म का उदय है उसके अनुसार इसका जन्म-मरण है, सुख-दुःख है, इसका परिणमन हैं तो यों विभव विपदायें जो इस जीव पर मंडरा रही हैं उस पराधीनता को देखो—वास्तविक पराधीनता वह है और जब तक यह जीव संसारी है, चाहे वह चक्रवर्ती भी हो जाये, इन्द्र हो जाये तो भी पराधीन है—व्याकुल है। तो इस पराधीनता का क्लेश मिटाने का उपाय है एक सम्यग्दर्शन, ये जड़ पदार्थ क्या चीज है? यह वैभव इस आत्मा के लिए क्या मूल्य रखता है? अपनी उस सम्पदा और विपदा को तो देखो—जिस सम्यक्त्व सम्पत्ति के मिलने पर अनंत भवों के कष्ट दूर हो जाते हैं अर्थात् आगे कोई भव न लेना पड़े, तो सारे कष्ट दूर हुए ना, वह सम्यक्त्व का प्रताप है। यद्यपि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इनकी एकता में ही संसार कटता है, यह बात सत्य है फिर भी सम्यक्त्व के सम्बन्ध में अधिक यों कहना पड़ता है कि सम्यक्चारित्र भी सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता। तो सबकी जड़ तो सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व पाने के लिए अपने हृदय को विशुद्ध बनाने की आवश्यकता है। धनी हो, गरीब हो, मनुष्य हो पशु हो, नारकी हो, देव हो, कोई भी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव अपने हृदय को विशुद्ध बनाकर अपनी दृष्टि निर्मल कर सकता है। तो मन के बिना यह जीव असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक हो गया, लेकिन उद्धार का कोई रास्ता न मिला।

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के प्राण—संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव में १० प्राण होते हैं। ५ इन्द्रिय और मन होने के कारण मनोबल भी, वचनबल और कायबल, श्वासोच्छवास और आयु ये सब मिलाकर १० प्राण संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के होते हैं। इन सब प्राणों के मिलने के कारण क्या हैं? इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से तो इन्द्रिय प्राण मिलते हैं और नो इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से मनोबल प्राण मिलता है। शरीर नामकर्म का उदय होने पर कायबल प्राण मिलता है और श्वासोच्छवास मिलता है। शरीर नामकर्म का और स्वर नामकर्म का उदय होने पर वचनबल मिलता है। सबके साथ वीर्यान्तराय का क्षयोपशम लगा हुआ है। आयुकर्म का उदय होने पर आयुप्राण मिलता है। इस तरह इस पर्याप्त एकेन्द्रिय आदिक जीवों में प्राणों की संख्या जानना चाहिए। यह तो हुई पर्याप्तक जीवों के प्राणों की बात। अब जो जीव अपर्याप्त है अर्थात् किसी भव से मरकर नये शरीर को ग्रहण करने आया है। जब तक उस शरीर को ग्रहण करने की पूरी शक्ति जीव में नहीं आती तब तक वह अपर्याप्त है, और ऐसी स्थिति में अपर्याप्त जीवों के कितने प्राण होते हैं इस विषय को अगली गाथा में कह रहे हैं।

दुविहाणमपुण्णाणं इगि-वि-ति-चउरक्ख-अंतिम-दुगाणं।
तिय चउ पण छः सत्त य कमेण पाणा मुणेयव्वा।।१४१।।

अपर्याप्त जीवों के प्राणों की संख्या के प्रकरण में एकेन्द्रिय अपर्याप्त के प्राणों का वर्णन–अपर्याप्त जीव दो प्रकार के होते हैं–निर्वृत्य पर्याप्त और लब्ध्य पर्याप्त। कोई जीव पूर्व भव के शरीर का त्याग कर अगले भव के शरीर पर आया है तो उस शरीर को शरीर रूप परिणमाने की शक्ति जब तक नहीं आ पाती है तब तक वह अपर्याप्त कहलाता है। उसमें जो शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं कर पाते और मर जाते हैं उन्हें लब्ध्य पर्याप्तक कहते हैं। ये जीव एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण करते हैं और जो जीव शरीर पर्याप्ति पूर्ण करने से पहले मरते तो नहीं हैं, पर्याप्ति पूर्ण करके ही मरेंगे लेकिन जब तक पर्याप्ति पूरी नहीं हुई है तब तक वे निर्वृत्य पर्याप्तक कहलाते हैं। हम आप सब जीव जो बंधु बैठे हैं, ये जिस समय गर्भ में आये उस क्षण दो-चार सेकेण्ड को निर्वृत्य पर्याप्त थे, बाद में पर्याप्त बने। लब्ध्य पर्याप्त जीव आंखों नहीं दिखते, उनका शरीर आंखों से दिखने योग्य नहीं है, वे एक बार नाड़ी के उचकने में जितना समय लगता है उतने समय में १८ बार जन्म ले लेते हैं और मरण कर जाते हैं। तो यहां दोनों प्रकार के पर्याप्तकों के प्राण कहे जा रहे हैं। एकेन्द्रिय जीव जब निर्वृत्य पर्याप्त है या जो कोई लब्ध्य पर्याप्त है उसके तीन प्राण हैं–एकइन्द्रिय स्पर्शन इन्द्रिय, एक बल कायबल और आयु। उसके श्वासोच्छवास प्राण नहीं बन पाता। जिसके पर्याप्ति पूर्ण नहीं हैं उसके श्वास और उच्छवास का काम नहीं चलता। लब्ध्य पर्याप्तक जीव हजारों बार जन्म-मरण कर जाते हैं उनको श्वासोच्छवास मिल ही नहीं पाता। श्वासोच्छवास पर्याप्त होने के बाद ही सम्भव है। तो यों एकेन्द्रिय जीव जिसके पर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है उसके तीन प्राण हैं, और पर्याप्ति पूर्ण हो जाने पर एकेन्द्रिय के चार प्राण होते हैं, सो पहली गाथा में बताया ही है। इस वर्णन से हम उन जीवों की दशायें जानें और जानकर यह शिक्षा लें कि हम ऐसी-ऐसी खोटी दशाओं से निकलकर आज श्रेष्ठ मनुष्य हुए हैं तो हमको आत्मोद्धार के काम में प्रमाद न करना चाहिए।

वि-ति-चउरक्खा जीवा हवंति णियमेण कम्म-भूमीसु।
चरिमे दीवे अद्धे चरम-समुद्दे वि सव्वेसु।।१४२।।

विकलत्रिक जीवों का आवास क्षेत्र–लोक का आकार एक पुरुषाकार है और उसमें भी ७ पुरुष समान कद वाले एक के पीछे एक खड़े हों पैर फैलाकर कमर पर हाथ रखकर तो वह लोक का आकार बनता है। तो उस लोक के ठीक बीच में ऊपर से नीचे यों समझिये कि जो चौथे नम्बर का पुरुष है उसके ग्रीवा बराबर चौड़ा, लेकिन हो नीचे तक ऐसी बड़ी १४ राजू लम्बी एक नाली है, उसमें त्रस जीव रहते हैं। तो अब यहां यह प्रश्न है कि त्रस जीव क्या त्रसनाली में सब जगह रहते हैं? और उसमें भी विकलत्रय जीव कहां रहते हैं, इन सब बातों की जानकारी के लिए अब यह प्रकरण चल रहा है। प्रथम तो यह नियम है कि दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव कर्मभूमि में ही होते हैं। भोगभूमि में ये जीव नहीं पाये जाते। और अन्त के आधे द्वीप में और अन्त के सारे समुद्र में होते हैं। ढाई द्वीप के अन्दर ५ भरत, ५ ऐरावत, ५ विदेह, ये १५ कर्मभूमि माने गए हैं। कर्मभूमिया के ही जीव मोक्ष जाते हैं। अर्थात् कर्मभूमिया में उत्पन्न हुए मनुष्य ही मोक्ष जाते हैं। मोक्ष तो चाहे वह भोगभूमि के स्थान से भी प्राप्त कर ले, पर होना चाहिए कर्मभूमि का उत्पन्न हुआ मनुष्य। भोगभूमि में भोग के साधन बहुत हैं। जब जैसा चाहा तैसा कल्पवृक्ष से उन्हें वस्त्र, आभूषण, भोजन आदिक सभी प्राप्त हो जाते हैं। पुरुष, स्त्री एक साथ उत्पन्न होते हैं और मरण पर्यन्त एक साथ रहते हैं। उनकी बराबर

की आयु होती है। कभी उनका वियोग नहीं होता। ऐसे भोग और सुखों से भरे हुए भोगभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्यों को वैराग्य उत्कृष्ट नहीं जग सकता। जहां दुःख नहीं है वहां वैराग्य भी उत्कृष्ट नहीं हैं। थोड़ा अंदाज भी यों कर लो कि यदि जीव में कभी दुःख न आये, खूब सुख ही सुख रहे, तो उस जीव का उत्थान नहीं होता। जीव का उद्धार वहां ही सम्भव है जहां दुःख आपत्ति उपसर्ग भी आते रहते हैं। तो यों समझिये कि जीवन में संकटों का आना लाभदायक है, नुकसान करने वाला नहीं है। देखिये—कर्मभूमि में ही संकट आया करते हैं। इष्ट वियोग हो गया, पुत्र, स्त्री कोई सामने मर जाते हैं तो कितना क्लेश इस जीव को सहना होता है। तो जहां अनेक प्रकार के क्लेश हैं, उपसर्ग आते हैं, विपदायें हैं वहां बुद्धि भी व्यवस्थित रहती है। और जहां केवल सुख ही सुख रहा करता है वहां बुद्धि व्यवस्थित नहीं रहती। तो कर्मभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य ही मोक्ष जा सकते हैं। भोगभूमि में या स्वर्गादिक में उत्पन्न हुए जीव मोक्ष नहीं जा पाते। तो कर्मभूमियां १५ हैं। ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ विदेह—इन १५ कर्मभूमियों में दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव होते हैं भोगभूमि में नहीं होते। भोगभूमि में केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ही होते हैं ऐकेन्द्रिय भी होते हैं किन्तु उन एकेन्द्रियों को भोगभूमिज नहीं कहते। वे तो एकेन्द्रिय ही हैं। इसके अतिरिक्त साधारण वनस्पतिकाय भी है। पृथ्वी, जल, अग्नि आदिक सभी प्रकार के स्थावर जीव हैं, लेकिन उनका नाता तो स्थावर से ही है। तो ये कीट मकोड़े आदिक विकलत्रय जीव कर्म भूमि में हैं और कुछ अन्दाज भी किया होगा कि आजकल कीड़ा-मकोड़ा, मच्छर पतंगा आदि ये सब बढ़ से रहे हैं। बहुत समय पहले इन विकलत्रयों की संख्या इतनी अधिक यहां न थी। ज्यों-ज्यों समय गुजर रहा है त्यों-त्यों ये विकलत्रय जीव बढ़ रहे हैं। इससे पहले चौथा काल था। उस चौथे काल से २४ तीर्थंकर हुए थे। उस समय में भव्य पुरुष मोक्ष जाया करते थे। वह भी कर्मभूमि थी मगर आदिनाथ भगवान से पहले यहां भोगभूमि थी। कल्पवृक्षों से सम्पदा प्राप्त होती थी। मनमाने मस्त रहा करते थे, वह अस्थायी कर्मभूमि थी। तो कर्मभूमि इन १५ क्षेत्रों में है। इनके अलावा अंत का जो स्वयं प्रभद्वीप है उसमें भी बीच में जो स्वयं प्रभ पर्वत पड़ा है, जिससे उसके दो भाग हैं। तो आखिरी भाग में भी दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव पाये जाते हैं। हर जगह ये विकलत्रय नहीं पाये जाते हैं। इसके अलावा स्वयंभूरमण समुद्र में भी जलचर जीव और ये विकलत्रय जीव पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त विकलत्रय कहीं नहीं हैं, स्वर्गों में देव और देवियां हैं, वहां लट, कीट, पतंगा आदि नहीं हैं। नरकों में भी नारकी जीव हैं, वहां पर भी लट, कीट, पतंगा आदि नहीं होते। ये सब कर्मभूमि में ही होते हैं। अब मनुष्य क्षेत्र से बाहर रहने वाले जो तिर्यंच हैं उनकी आयु, उनके शरीर आदिक की बात कहते हैं।

माणुस खित्तस्स बहिं चरिमे दीवस्स अद्धयं जाव।
सव्वत्थे वि तिरिच्छा हिमवद–तिरिएहिं सारिच्छा।।१४३।।

मनुष्य क्षेत्र और मनुष्य लोक के सर्व स्थानों से मुक्तिगमन—यह मनुष्यलोक ढाई द्वीप क्यों कहलाता है कि तीसरा जो द्वीप है उस द्वीप के बीच में गोल-गोल चारों ओर एक मानुषोत्तर पर्वत पड़ा है, उसकी वजह से जो भीतर का आधा द्वीप है वहां तक मनुष्य लोक माना है। इस मनुष्य लोक में मनुष्य रहते हैं, उससे बाहर फिर मुनष्य नहीं। मनुष्य ढाई द्वीप से ही मुक्त होते हैं। ढाई द्वीप का क्षेत्र जितने लम्बे-चौड़े विस्तार में है ठीक उतना ही क्षेत्र ऊपर सिद्ध भगवान के रहेगा, क्योंकि जहां से मोक्ष जायेंगे उसके सीध में ही वह आत्मा जायेगा और लोक का जो आखिरी भाग है वहां जाकर वह आत्मा ठहर जाता है। तो वे सिद्ध कहां हैं? जहां से मोक्ष गए हैं उसके ठीक ऊपर लोक में अन्त में हैं। तो ढाई द्वीप से सब जगह से मोक्ष जा सकते हैं। अब आप

सोचेंगे कि इतने बड़े-बड़े समुद्र हैं, उन समुद्रों से कैसे जीव मोक्ष जायेंगे? तो समुद्र से मोक्ष जाने का प्रकरण यह बनता है कि किसी देव आदि का किसी मुनि से पूर्व भव का बैर हुआ तो बैर विरोध से उस मुनि को पकड़कर समुद्र में पटक दिया। अब समुद्र में गिरने का समय और वहीं मुनि के शुक्लध्यान का ऊंचा भाव बना, घातिया कर्म नष्ट हुए और वहीं वह मुनि अरहंत प्रभु बना और थोड़ी ही देर में चार अघातिया कर्म दूर हुए, सब कर्मों के नष्ट होने से वह मुनि मोक्ष गया। तो जिस जगह पटक दिया उस जगह से भी उस जीव का मोक्ष हुआ, तो उसके सीध में भी मोक्ष प्राप्त करने वाले जीव हैं। जहां कर्मभूमि नहीं है ऐसे ढाई द्वीप के अन्दर जो भोगभूमि का क्षेत्र है वहां से भी जीव मोक्ष जाते हैं। कर्मभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य मुनि होकर विहार करते हुए जा रहे, आकाश में भी विहार करते, ऋद्धिबल से भी विहार करते, वहीं कहीं ध्यान करने बैठ गए और वहीं उनकी आयु पूरी हुई, वहीं समस्त कर्म उनके नष्ट हो गए तो वहां से भी मोक्ष जाते हैं। सब जगह से ढाई द्वीप से जीव मोक्ष गए। जहां हम आप बैठे हैं यहां से भी अनन्त सिद्ध हुए। जिन्हें निर्वाण क्षेत्र माना है शिखर जी वगैरह तो यह तात्कालिक एक विशेषता के कारण माना है। वैसे तो निर्वाण क्षेत्र ढाई द्वीप के अन्दर प्रत्येक प्रदेश है। एक शंका यह कर सकते हो कि मेरु पर्वत का जो ठीक बीच का हिस्सा है, जिससे ऊपर मेरु पर्वत की चोटी है और चोटी के ऊपर स्वर्ग का विमान है, जिसके अन्दर केवल एक बाल की मोटाई भर है। तो उस चोटी के ठीक नीचे पर्वत में वहां भी जीव मोक्ष गए तो वे किस तरह मोक्ष गए? तो उसकी बात यह है कि कोई ऋद्धिधारी मुनि जो अपनी ऋद्धि के बल से उस पर्वत के भीतर की ओर गमन कर रहा और ठीक उस जगह थोड़ा रुककर ध्यान हो गया तो वहीं से सीधा मोक्ष जायेगा। तो ढाई द्वीप के अन्दर कोई ऐसा क्षेत्र नहीं बचा जहां से जीव मोक्ष नहीं गए। मनुष्य क्षेत्र में मनुष्य भी रहते हैं, तिर्यंच भी हैं, पर मनुष्य क्षेत्र से बाहर मनुष्य नहीं हैं।

मनुष्य लोक से बाहर मनुष्य की अगति व नन्दीश्वर द्वीप का वर्णन–ढाई द्वीप से बाहर जितना मध्य लोक पड़ा हुआ है उसमें मनुष्य रहते ही नहीं, न किसी प्रकार मनुष्य जा सकते हैं, अष्टाह्निका के दिनों में जो नंदीश्वर द्वीप की पूजा करते हैं वह ८वां द्वीप है। ढाई द्वीप में तो तीन द्वीप आ गए, उसके आगे चौथा, पांचवां, छठवां, ७वां और उतने ही समुद्र व्यतीत करने के बाद ८वां द्वीप आता है। उस ८वें द्वीप में चार दिशाओं में अकृत्रिम जैन मंदिर हैं। उन जिन मंदिरों को किसी ने कभी बनाया ही नहीं। पृथ्वी की ऐसी ही आकृति है कि वे निरन्तर प्रतिबिम्बरूप बने हुए हैं और अनादि से बने हैं, अनन्त काल तक रहेंगे। भले ही उसमें कुछ परमाणु आते हैं कुछ थोड़े चले गए, लेकिन वह मुद्रा ऐसी ही रहेगी। तो नन्दीश्वर द्वीप में चार दिशाओं में १३-१३ जिन मंदिर हैं। इस तरह कुल ५२ मंदिर हुए। वहां केवल देव लोग ही पूजन के लिए पहुंच सकते हैं, मनुष्य नहीं पहुंच सकते। सो उन ८ दिनों में रात-दिन बराबर वहां वंदना चलती रहती है। वहां रात-दिन का भेद नहीं है, यह अपने यहां के रात-दिन की अपेक्षा से कह रहे हैं। मायने ८ दिन के ६४ प्रहर तक यानि १९२ घंटे निरन्तर वहां पूजा चलती रहती है और वहां चारों प्रकार के देव पूजक होते हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। तो जैसे पूर्व दिशा में भवनवासी देवों का जत्था प्रभु वंदन कर रहा है तो वे दो प्रहर बीतने के बाद दूसरी दिशा में चले जायेंगे। वहां व्यंतरों का जत्था आ गया। फिर दो-दो प्रहर बीतते जायेंगे, वहां चारों प्रकार के देव क्रमशः आते जायेंगे। चारों प्रकारों के देव दो-दो प्रहर एक-एक दिशा में पूजन वंदन करते-करते हैं। इस तरह वहां १९२ घंटे निरन्तर पूजा होती है। उस ही भाव को लेकर ये मनुष्य भी पूजन करते हैं। मनुष्यों की गति तो वहां नहीं है लेकिन उसका भाव उसका आकार सब कुछ स्थापित करके पूजन वंदन करते हैं।

नन्दीश्वर द्वीप में मनुष्यों की अगति–एक सेठ-सेठानी किसी नगर में रहते थे। तो सेठजी ने कहा सेठानी से कि मैं तो नन्दीश्वर द्वीप की वंदना को जाऊंगा। वह सेठ था विद्याधर। अर्थात् उसे विद्या सिद्ध थी। सेठानी बोली कि आप नंदीश्वर द्वीप में नहीं पहुंच सकते। वहां मनुष्यों की गति नहीं है। सेठ ने कहा कि हम तो विद्या सिद्ध है। इस अपने विद्या के बल से बराबर चले जायेंगे। सेठ चला अपने विमान में बैठकर। जहां मानुषोत्तर पर्वत पर पहुंचा कि वहां से विमान गिर गया, विमान भी टूट गया और सेठ भी गुजर गया। सेठ को नंदीश्वर द्वीप की वन्दना का भाव था, उस ही में चित्त था, सो वह मरकर देव हुआ और देव होकर नन्दीश्वर की वन्दना करने गया। नन्दीश्वर की वन्दना करने के बाद उसके कुतूहल हुआ, अवधि ज्ञान तो था ही सो उसने किया कि पूर्व भव की मेरी स्त्री ने ठीक ही कहा था कि आप नन्दीश्वर द्वीप नहीं जा सकते। सो वह देव अपनी पूर्व भव की स्त्री के दृढ़ श्रद्धान से प्रसन्न होकर उस ही पूर्व भव के सेठ का रूप धारण कर उस स्त्री से मिलने आया। उस सेठानी से बोला कि तुम तो कहती थी कि नन्दीश्वर द्वीप नहीं जा सकते, और देखो, मैं तो नन्दीश्वर द्वीप की वंदना कर आया। तब वह स्त्री कहती है कि यदि आप नन्दीश्वर द्वीप की वंदना कर आये तो आप मनुष्य नहीं हैं, देव हैं। तब उस देव ने अपना सही रूप प्रकट करके कहा कि ऐ सेठानी, तुम्हारे श्रद्धान को धन्य है। तुमने जो बात कही थी वह बिल्कुल सत्य थी। मैं गया बड़े वेग से विमान में चढ़कर, लेकिन मानुषोत्तर पर्वत से टकराकर प्राणान्त करके मैं देव हुआ और देव होकर नन्दीश्वर की वन्दना कर सका। वास्तव में नन्दीश्वर द्वीप मनुष्य भव में नहीं पहुंच सकते। आप के दृढ़ श्रद्धान से प्रसन्न होकर हम यहां आये हैं।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों का निवास क्षेत्र व इस वर्णन से शिक्षा–मतलब यह है कि मनुष्य क्षेत्र के बाहर मनुष्य न रहा। फिर मनुष्य लोक से बाहर कौन रहता है। ढाई द्वीप के बाहर और अन्तिम द्वीप के आधे भाग से पहले सब जगह पंचेन्द्रिय तिर्यंच रहते हैं। और वे सब हैमवत क्षेत्र के यानि जघन्य भोगभूमि की तरह से रहते हैं। यों समझिये कि ढाई द्वीप के बाहर अंन्तिम द्वीप के आधे भाग तक जघन्य भोगभूमि है, मगर है वह तिर्यञ्चों की, मनुष्यों की। देखिये–जगत में सब पुण्य पाप के फल हैं। कोई कहीं उत्पन्न होता है, कोई कैसे ही सुख-दुःख भोगता है। इस जगत में यह जीव कर्मोदयवश नाना गतियों में जन्म लेता है, सो जन्म मरण आदिक सभी दुःख यही हैं। थोड़ी भोग सम्पदा मिल गई तो उससे क्या पूरा पड़ता है? चाहिए यह कि ऐसा उपाय बनाये कि जनम-मरण के संकट सदा के लिए समाप्त हो जायें। वह उपाय है सम्यग्दर्शन, सो अपने पर यदि दया हो तो ज्ञानार्जन करके इस सम्यग्दर्शन को पैदा कर लें तो आपका यह दुर्लभ मानव जीवन सफल हो जायेगा।

लवणोए कालोए अंतिम जलहिम्मि जलयरा संति।
सेस-समुद्देसु पुणो ण जलयरा संति णियमेण।।१४४।।

जलचरों के निवास स्थान भूत समुद्र–यहां लोक आकार, प्रमाण बताया जा रहा है। लोकानुप्रेक्षा में लोक का परिमाण जानकर लोक में रहने वाले जीवों की दशायें जानकर यह शिक्षा ली जाती है कि सम्यग्दर्शन पाये बिना यह जीव इस लोक में प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त बार उत्पन्न हुआ है और मरा है। जब तक सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन में वृत्ति (चारित्र) न होगी तब तक जीव को संसार में रुलना पड़ेगा। इस वर्णन से सम्यक्त्व लाभ के लिए प्रेरणा मिलती है और जो भाव संसार में जन्म-मरण कराने के कारण हैं उन कारणों से विरक्त होने की प्रेरणा मिलती हैं लोक में जीवों की दशायें जानकर कितने प्रकार के जीव हैं, वे कैसी स्थिति

में रहते हैं यह जानकर भी यह शिक्षा मिलती है कि सम्यक्त्व लाभ बिना संसार में ऐसी-ऐसी योनियों में उत्पन्न होना होता है। उस ही सिलसिले में यहां यह बतला रहे हैं कि जलचर जीव किन-किन समुद्रों में रहते हैं और किन में नहीं रहते। इस मध्यलोक में असंख्याते समुद्र हैं—एक-एक द्वीप को घेरे हुए एक-एक समुद्र है। और यों असंख्याते द्वीप हैं, उनको घेरे हुए असंख्याते समुद्र हैं। उन समुद्रों में कहां जलचर हैं और कहां नहीं हैं यह वर्णन इस गाथा में किया है। जम्बूद्वीप को घेरकर जो लवण समुद्र है, जिसके एक तरफ का विस्तार २ लाख योजन का है। सभी तरफ इस समुद्र का विस्तार दो-दो लाख योजन का है। उस लवण समुद्र में जलचर जीव रहते हैं। यहां जलचर से मतलब केवल तिर्यंच पंचेन्द्रिय जलचर से नहीं है किन्तु दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव जो जल में रहते हैं जिनका जल में रहकर ही जीवन बनता है उन जलचरों की बात कही जा रही है। लवण समुद्र को घेरकर दूसरा द्वीप है, उस दूसरे द्वीप को घेरकर कालोदधि समुद्र है। उस कालोदधि समुद्र का परिमाण एक तरफ ८ लाख योजन है, ऐसे चारों तरफ ८-८ लाख योजन विस्तार वाले कालोदधि समुद्र में जलचर जीव हैं। और अंतिम समुद्र में जिसका नाम स्वयंभूरमण समुद्र है, जिसका परिमाण असंख्याते योजन का है, यों चारों ओर असंख्यात गुने योजन परिमाण वाले अन्तिम समुद्र में जलचर जीव हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव जो जल में ही अपना जीवन पाये हुए हैं, रहते हैं। इन तीन समुद्रों को छोड़कर शेष के जितने असंख्याते समुद्र हैं उनमें जलचर जीव नहीं हैं।

समुद्रों के जल का स्वाद व लोकानुप्रेक्षण में प्रकृत चिन्तन—असंख्याते समुद्रों में किस समुद्र के जल का कैसा स्वाद है, त्रैलोक्य सार में बतलाया है कि लवण समुद्र के जल का स्वाद नमक की तरह है, वारुणीवर समुद्र के जल का स्वाद शराब जैसा है, घृतवर समुद्र के जल का स्वाद घी जैसा है, क्षीरवर समुद्र के जल का स्वाद क्षीर अर्थात् दूध जैसा है, कालोद पुष्करवर और स्वयं भूरमण समुद्रों के जल का स्वाद जल के जैसा है और शेष समुद्रों का स्वाद गन्ने के रस के जैसा है। ऐसे-ऐसे असंख्याते समुद्रों से भिड़ा हुआ यह मध्य लोक है, यह तो अभी समस्त द्वीप समुद्र मिलाकर केवल एक प्रस्तार रूप में एक राजू भी पूरा नहीं है, फिर जितना चौड़ा यह मध्य लोक है उतना ही चारों तरफ चौड़ा परिमाण हो उसे कहते हैं एक घनराजू। ऐसे-ऐसे ३४३ घन राजू प्रमाण यह लोक है। इस लोक में जीव अब तक प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त बार जन्म ले चुका और मरण कर चुका। लेकिन मोह की छाया अब भी जीव पर इतनी घनिष्ट है कि जहां यह जीव उत्पन्न होता है उस क्षेत्र को ही अपना मानता है। यह मेरा है, जितने खेत, घर जमीन आदि मोहियों की व्यवस्था के अनुसार सरकारी रजिस्ट्री में दर्ज है, उन्हें यह मानता है कि ये मेरे हैं। लेकिन जब यह जीव लोक में सर्वत्र जन्म ले चुका तो जब वह जमीन अपनी न रही तो यह जमीन, यह जायदाद क्या अपनी रह सकेगी? अब भी नहीं है। वस्तु स्वरूप ही यह बताया है कि मेरे आत्मा का मेरे सहजानन्द स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, लोक भावना के चिन्तन से ऐसा ही ज्ञान प्रकाश मिलता है और इस ज्ञान प्रकाश के प्रताप से जीव मुक्ति पधारे और इस ही ज्ञान के प्रताप से जीवों को मुक्ति प्राप्त होगी।

पाताल लोक में बसने वाले जीवों के विवरण का संकेत—अब मनुष्य और तिर्यंचों का निवास स्थान बताकर पाताल लोक में किन-किन का निवास है यह बताते हैं। पाताल लोक अथवा अधोलोक मेरु पर्वत की जड़ से नीचे का क्षेत्र है वह सब अधो लोक कहलाता है। मेरुपर्वत की जड़ से लेकर मेरुपर्वत की चूलिका के अन्त तक जितना क्षेत्र है वह मध्यलोक कहलाता है और मेरुपर्वत के शिखर के ऊपर लोक के अन्त तक जितना भी क्षेत्र है उसे उर्द्धलोक कहते हैं। देखिये—तीन लोक के परिमाण को बताने वाला मेरु पर्वत

है। मेरु पर्वत की जड़ से नीचे मेरु पर्वत की चोटी के ऊपर और मेरु पर्वत के बराबर यह कहकर ही तीन लोक की सीमा जानी जाती है, इसी कारण इसका नाम मेरु पर्वत है। जो तीन लोक का माप बताने वाला हो उसे मेरु कहते हैं। अब पाताल लोक में किन-किन जीवों का निवास है, इस नियम को बताते हैं।

खरभाय-पंकभाए भावण-देवाण होंति भवणाणि।
विंतर-देवाण तहा दुण्हं पि य तिरिय-लोयम्मि।।१४५।।

प्रथम पृथ्वी के तीन भाग–जिस जमीन पर हम आप चलते हैं यह जमीन बहुत मोटी है। इस पृथ्वी की मोटाई १ लाख ८० हजार योजन है। इतनी मोटी इस जमीन के नीचे कुछ पृथ्वीरहित आकाश के बाद दूसरी जमीन है। उसके कुछ पृथ्वी रहित आकाश के बाद फिर तीसरी पृथ्वी है। इस तरह ७ पृथ्वियां हैं। इन पृथ्वियों में जो दूसरी तीसरी आदिक पृथ्वी हैं उनमें तो नारकी जीव रहते हैं, नारकी जीवों का निवास पृथ्वी पर नहीं है किन्तु उस मोटी पृथ्वी में बीच में लाखों पोलें हैं, जिनका मुंह पृथ्वी के किसी ओर ही नहीं है। जैसे कोई एक फिट लम्बा, चौड़ा, मोटा काठ का टुकड़ा हो और उस काठ में भीतर ही भीतर अनेक छिद्र हों, जिनका ऊपर से कुछ पता ही न पड़े, तो जैसे वे छिद्र किसी ओर अपना मुख नहीं बनाये हैं इसी तरह नारकियों के जो निवास पोल हैं। उनकी पृथ्वी के किसी ओर मुख नहीं है, अतएव कोई भी नारकी आकाश को नहीं देख सकता जो पृथ्वी से ऊपर है। तो यह पहली पृथ्वी जिसके ऊपर हम आप चल फिर रहे हैं यह तो पृथ्वी का ऊपर का स्थान है। यह पृथ्वी है १ लाख ८० हजार योजन मोटी। एक योजन होता है दो हजार कोस का। और करीब पौने तीन मील का एक कोस होता है। ऐसे १ लाख ८० हजार योजन परिमाण इस मोटी पृथ्वी के तीन भाग–पहले भाग का नाम खरभाग, दूसरे भाग का नाम पंक भाग और तीसरे भाग का नाम अब्बहुल भाग है। तीन भाग के ये तीन नाम किस आधार पर दिए हैं? यद्यपि जो आधार बताया गया वह आधार उनका नहीं है लेकिन यहां मनुष्यों के आधार से तीन हिस्से प्राप्त करते हैं। कभी कोई कुआं खोदता तो पहले कुछ हिस्सा खर पृथ्वी का निकलता है। जो सूखी मिट्टी है उसे कहते हैं खर। दूसरा पर्त निकलता है तो उसमें कीचड़ मिला हुआ सा निकलता है। पंक कहते हैं कीचड़ को। इसके बाद तीसरा पर्त निकलता है तो वह पानी से भरा हुआ है। उसे कहते हैं अब्बहुल। अप् कहते हैं पानी को उससे बहुल यानि व्याप्त। तो यहां की कलाओं के आधार से जो तीन नाम मिलते हैं वे ही नाम इन तीन भागों के रखे गए हैं।

प्रथम पृथ्वी के तीन भागों में निवास करने वाले जीवों का विवरण–इस पहली पृथ्वी के तीन भागों में पहले भाग का नाम है खर भाग। खर भाग में कौन रहता है? तो वहां कुछ भवनवासी और कुछ व्यन्तर देव रहते हैं। भवनवासियों में असुरकुमार जाति के देवों को छोड़कर शेष ९ प्रकार के भवनवासी देव रहते हैं। और व्यन्तरों में राक्षस नाम के व्यन्तरों को छोड़कर शेष ७ प्रकार के व्यन्तर रहते हैं। तो इस पृथ्वी के तीन भागों में जो ऊपर का भाग है वहां ये भवनवासी और व्यन्तर जाति के देव रहते हैं। यह पहला भाग जिसमें बहुत से भवनवासी और व्यन्तर रहते हैं, यह १६ हजार योजन प्रमाण मोटा है। भवनवासी और व्यन्तरों के उस भाग में बहुत सुन्दर भवन हैं, और उन भवनों में व उनके निकट चैत्यालय भी हैं। दूसरे भाग का नाम है पंक भाग। पंक भाग ८४ हजार योजन प्रमाण मोटा है। उसमें असुर कुमार जाति के भवनवासी देव और राक्षस जाति के व्यन्तर रहते हैं। तीसरा भाग है, अब्बहुल नाम का, जिसका प्रमाण ८० हजार योजन मोटा है। उस अब्बहुल भाग में नारकी जीव रहते हैं। ये तीन भाग मिलकर १ लाख ८० हजार योजन मोटे हैं। इस प्रकरण में यह भी जान लेना चाहिए कि भवनवासी देवों के निवास स्थान मुख्यतया ये ही हैं जो बताये गऐ हैं

कुछ योग्य स्थान मध्य लोक में भी हैं। किन्तु व्यन्तर देव के निवास स्थान पाताल लोक में भी हैं यहां भी है और मध्य लोक में आकाश में निराधार भी हैं। जैसे पुराणों में जगह-जगह वर्णन आता है कि अमुक पर्वत पर एक चैत्यालय है उसके निकट भी भवन है ऐसे ही मध्य लोक में भी भवन हैं और इसके अतिरिक्त टूटे-फूटे खंडहरों में भी व्यन्तर देव रहते हैं। इसके अलावा इस मध्य लोक में कुछ हजार योजन पर कोई और ऊपर इस तरह आकाश में भी उनके आवास के स्थान बने हुए हैं। व्यन्तरों का निवास पाताल लोक के अतिरिक्त अन्य जगह भी है, मगर भवन वासियों का निवास पाताल लोक में ही है।

पाताल लोक के इन्द्रों द्वारा वन्दित होने से प्रभु की पाताललोक वासियों द्वारा वन्दितता की सिद्धि–जब भगवान की वंदना में कहते हैं कि १०० इन्द्रों के द्वारा आप वन्दनीय हैं तो ऐसे १०० इन्द्र कौन हुए? भवनवासी के ४० इन्द्र प्रतीन्द्र होते हैं, व्यन्तर देवों के ३२ इन्द्र प्रतीन्द्र होते हैं, कल्पवासियों में २४ और एक चन्द्र, एक सूर्य, एक सिंह और एक चक्रवर्ती। यह चक्रवर्ती तो हुआ मनुष्यों का इन्द्र, सिंह हुआ तिर्यंचों का इन्द्र और देवों के शेष इन्द्र, ये सब मिलकर १०० इन्द्र कहलाते हैं। तो भवन वासी के ४० और व्यन्तरों के ३२, ये ७२ इन्द्र प्रतीन्द्र तो पाताल लोक के हैं और यह भी कहा गया है कि हे भगवान आप तीन लोक द्वारा पूज्य हैं तीन लोक के समस्त जीव आपको पूजते हैं। तो परिणमन यहां यह होता कि तीन लोक के जीव सब कैसे पूजने आयेंगे? पाताल लोक के जीव सब कैसे यहां आ सकते? तो उसका उत्तर यह है कि जब इन्द्रों ने भगवान को पूजा तो इन्द्रों के पूजने का अर्थ यह है कि जिस लोक के वे इन्द्र हैं उस लोक के सब जीवों के द्वारा पूजे गए हैं। चक्रवर्ती ने यदि प्रभु को नमस्कार किया तो जिसका अर्थ यह है कि सभी मनुष्यों ने नमस्कार किया, क्योंकि वे मनुष्यों के चक्रवर्ती अथवा इन्द्र हैं। इस तरह पाताल लोक में भवनवासी व्यन्तरों के निवास हैं उनके इन्द्रों ने नमस्कार किया तो वहां सबने नमस्कार किया और पहली पृथ्वी के तीसरे भाग में नारकियों का निवास है। इसके नीचे की शेष छहों पृथ्वियों के नारकियों का ही निवास है। पाताल लोक में कहीं दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चार इन्द्रिय, जीव कीट पतंगा आदि न मिलेंगे। ये दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीव कर्मभूमि के क्षेत्र में ही रहते हैं।

जोइसियाण विमाणा रज्जू-मित्तेवि तिरिय-लोए-वि।
कप्प-सुरा उड्ढम्मि य अह-लोए होंति णेरइया।।४६।।

देवों और नारकियों के निवास क्षेत्र का वर्णन–इस गाथा में ज्योतिषी देव, कल्पवासी देव और नारकियों के स्थान बताये हैं। ज्योतिषी देवों के विमान १ राजू प्रमाण तिर्यक लोक में हैं। मेरु पर्वत के चारों ओर असंख्याते द्वीप समुद्र हैं और वे दूसरे से क्रमशः दूने-दूने विस्तार वाले हैं। प्रथम जम्बूद्वीप एक लाख योजन के विस्तार में हैं इस तरह असंख्यात उत्कृष्ट संख्यात से भी अधिक द्वीप और समुद्र हैं, जिनमें अन्तिम समुद्र कितना बड़ा होगा, उसके असंख्यात भी अंदाज बहुत बड़ा है। इतने समस्त द्वीप समुद्र जितने क्षेत्र में फैले हुए हैं उतने को तिर्यक लोक कहते हैं। यह एक राजू प्रमाण है, इसके विस्तार में ज्योतिषी देवों के विमान रहते हैं, ये विमान यद्यपि ऊपर बताये गए हैं आसमान में लेकिन वह भाग भी मध्य लोक में है। मेरुपर्वत की चूलिका के अन्तिम भाग तक मध्य लोक है, इससे ऊपर उर्ध्व लोक शुरू होता है। तो मेरु पर्वत की चूलिका से ऊपर ऊर्ध्व लोक है और वहां कल्प वासी देव निवास करते हैं। नारकी जीव अधोलोक में रहते हैं।

ज्योतिषी देवों का निवास क्षेत्र–अब यहां ज्योतिषी देवों का स्थान इस तिर्यक लोक में किधर है?

इसका वर्णन सुनो–यहां मध्य लोक अथवा तिर्यक लोक कहो एक राजू प्रमाण के विस्तार का है। इसमें चित्रा पृथ्वी से ऊपर ७९० योजन तक तो ज्योतिषी विमान नहीं है। इसके बाद ज्योतिषी विमान प्रारम्भ हो जाते हैं। सो यहां ७९० योजन ऊपर से तारों के विमान हैं। उसमें भी १० योजन और ऊपर जाकर सूर्य के विमान हैं। सूर्य इस तिर्यक लोक में अनगिनते हैं। जम्बूद्वीप में दो हैं। आगे-आगे के द्वीप समुद्र में प्राय: दुगने-तिगुने प्रत्येक में बढ़ते चले गए हैं। मध्य लोक में जितना हिस्सा मनुष्य लोक का है उतने में सूर्य चन्द्र घूमते हैं, अन्य तारागण भी घूमते हैं। केवल कुछ ही ध्रुव हैं, किन्तु मनुष्य लोक से बाहर जितने ज्योतिषी देवों के विमान हैं वे सब स्थिर हैं। तो सूर्य चन्द्रादिक की संख्या भी असंख्याते हैं। तो इस चित्रा भूमि से ऊपर ८०० योजन ऊपर सूर्यों के विमान हैं, उससे ८० योजन ऊपर चन्द्रमाओं के विमान हैं। तो इस पृथ्वी से ८८० योजन ऊपर चन्द्र विमान है। चन्द्र विमान के स्थान से ४ योजन और ऊपर अश्विनी आदिक नक्षत्रों के विमान हैं, यानि इस पृथ्वी से ८८४ योजन ऊपर नक्षत्रों के विमान हैं। उससे ४ योजन और ऊपर अर्थात् ८८८ योजन ऊपर बुध नामक ग्रहों के विमान हैं, और उससे तीन योजन और ऊपर अर्थात् ८९१ योजन ऊपर जाकर शुक्र नामक ग्रहों के विमान हैं। उससे ३ योजन और ऊपर जाकर अर्थात् ८९४ योजन ऊपर वृहस्पति नामक ग्रहों के विमान हैं। उससे तीन योजन ऊपर यानि पृथ्वी से ८९७ योजन ऊपर मंगल नामक ग्रहों के विमान हैं। उससे भी तीन योजन ऊपर अर्थात् पृथ्वी तल से ९०० योजन ऊपर शनि नामक ग्रहों के विमान हैं। यों पृथ्वी से ७९० योजन **ऊपर से ज्योंतिष्क देवों का निवास क्षेत्र शुरू होता है और ९०० योजन तक वे ज्योतिषी देवों के विमान हैं। तो** ये कुल ११० योजन मोटे क्षेत्र में एक राजू तक ज्योतिषयों के विमान पाये जाते हैं। ये सब ज्योतिषी देव इस मध्य लोक में ही हैं।

वैमानिक देवों के निवास क्षेत्र का प्रतिपादन–मेरुपर्वत की चूलिका से ऊपर ऊर्ध्व लोक शुरू होता है। सो सुमेरू पर्वत की चूलिका का विस्तार नीचे १२ योजन, मध्य में ८ योजन और ऊपर ४ योजन है। जो चूलिका की मोटाई है। किन्तु इस चूलिका की ऊंचाई ४० योजन है। इस चूलिका के ऊपर केवल एक बाल की मोटाई प्रमाण ही अन्तर है। और वह भी उत्तम भोगभूमि के मनुष्य के बालों की मोटाई बराबर है। इतना अन्तर देकर ऊपर ऋजु नामक विमान है। यह विमान प्रथम कल्प के प्रथम पटल का इन्द्रक विमान है। उस ऋजु विमान से नीचे चूलिका सहित मेरु की ऊंचाई है १ लाख योजन। इतना कम करके लोक के केन्द्र क्षेत्र से ऊपर डेढ़ राजू प्रमाण आकाश पर्यन्त सौधर्म और ईशान नामक स्वर्ग के युगल हैं। इन दो स्वर्गों को प्रथम कल्प कहते हैं। स्वर्गों की रचना पटलों के हिसाब से है। जेसे प्रथम कल्प में ३१ पटल हैं। उन ३१ पटलों में जितने स्वर्गों के विमान हैं वे इन्द्रक और श्रेणी के हिसाब से फैले हुए हैं। जैसे प्रथम पटल में बीच में इन्द्रक विमान है और चार दिशाओं में श्रेणीबद्ध ६३ विमान हैं और विदिशाओं में ६२-६२ श्रेणीबद्ध विमान हैं, और उसके बीच अन्तर में यहां-वहां फैले हुए अनेक विमान हैं। उतने विमानों के विस्तार को एक पटल कहते हैं। उसके ऊपर थोड़ा सा आकाश निकलने पर दूसरा पटल शुरू होता है। तो इन ३१ पटलों में प्रत्येक पटल के दक्षिण पूरब और पश्चिम दिशा के विमान और इसके बीच की विदिशाओं और प्रकीर्णक विमान ये सब प्रथम स्वर्ग कहलाते हैं। और उत्तर दिशा के श्रेणी बद्ध विमान और दोनों विदिशाओं के तथा बीच में प्रकीर्ण विमान हैं ये सब द्वितीय स्वर्ग के विमान कहलाते हैं। तो ये प्रथम द्वितीय स्वर्ग युगल डेढ़ राजू प्रमाण में हैं। इस राजू प्रमाण में मेरु पर्वत की ऊंचाई और चूलिका कम की गई है क्योंकि लोक का मध्य तो मेरु पर्वत की जड़ है।

वहां से ७ राजू ऊपर ७ राजू नीचे स्थान है। लेकिन उस ऊपर के प्रथम राजू में मेरु पर्वत के बराबर और चूलिका प्रमाण मध्य लोक माना है।

लोक मध्य क्षेत्र से ऊपर डेढ़ राजू से ऊपर डेढ़ राजू तक सनतकुमार और माहेन्द्र नामक स्वर्ग युगल है। ये दोनों स्वर्ग भी एक कल्प में हैं और यह दूसरा कल्प है। उससे ऊपर आधा राजू आकाश पर्यन्त ब्रह्मब्रह्मोत्तर नाम का स्वर्ग युगल है। यह तृतीय कल्प है, उससे और ऊपर आधा राजू तक लान्तव और कापिष्ठ नाम का स्वर्ग युगल है। उससे ऊपर आधा राजू पर्यन्त शुक्र और महाशुक्र नाम का स्वर्ग युगल है। उससे ऊपर आधा राजू पर्यन्त आनत और प्राणत नाम का स्वर्ग युगल है। उससे ऊपर आधा राजू पर्यन्त आरण और अच्युत नाम का स्वर्ग युगल है। इन सोलह स्वर्गों के ऊपर एक राजू प्रमाण लोक बचता है जैसे १ राजू में ९ राजू अनुदिश और ५ अनुत्तर विमानों में रहने वाले देव हैं।

अनुत्तर विमानों से १२ योजन ऊपर, किन्तु है उस ही एक राजू के भीतर, (सर्वार्थसिद्धि के विमान से १२ योजन ऊपर) ८ योजन की मोटी सिद्धशिला है, जिसका विस्तार मनुष्यलोक के बराबर है। यह ठीक उस स्थान पर है जिस स्थान पर ठीक नीचे मनुष्यलोक है। निकट भव्य जीव मनुष्यलोक से ही मुक्त होते हैं। और ऋजु गति से लोक के अन्त में जाकर उस ही के सीधे ऊपर विराजमान होते हैं। तो चूंकि उन सिद्धों के निवास के नीचे ही ८वीं पृथ्वी है इस कारण इसका नाम सिद्धशिला कहा गया है। सिद्ध जीव तो शिला पर नहीं रहते हैं, इससे बहुत ऊपर हैं लेकिन सिद्धजीवों के निवास से अनन्तर पहले यह सिद्धशिला नाम की पृथ्वी है। उसके ऊपर घनोदधिवातवलय, धनवातवलय और तनुवातवलय नाम की तीन हवाओं का मंडल है। उसमें से अन्तिम जो तनुवातवलय है उसमें अन्तिम भाग में सिद्ध भगवान विरामजान हैं। यों ऊर्ध्व लोक में वैमानिक देवों का निवास बताया गया है।

वैमानिक देव ऊर्ध्व लोक में हैं और ये ज्योतिषी देव मध्यलोक में हैं, किन्तु नारकी जीव अधोलोक में हैं। अधोलोक माना गया है मेरु पर्वत की जड़ से नीचे। सो जो मेरु पर्वत के आधारभूत पहली पृथ्वी है, जिसका नाम धम्मा है और रत्नप्रभा भी है, उसके तीन भाग हैं। उनके प्रथम दो भागों में भवनवासी और व्यन्तर देवों के निवास हैं, जिनका पहले वर्णन किया और तीसरे भाग में ८० हजार योजन मोटे वाले भाग में प्रथम नरक के नारकियों का निवास है। उस तीसरे भाग में १३ पटल हैं और १३ पटलों में कुल ३० लाख बिल हैं। बिल नाम इसलिए दिया गया है कि इस बिल का मुख पृथ्वी के किसी ओर नहीं है। यद्यपि ये हजारों लाखों योजन के विस्तार वाले, परन्तु पृथ्वी के अन्दर ही ये स्थान हैं। किसी भी दिशा में इनका मुख नहीं है। पृथ्वी के ऊपर इस कारण इनका नाम बिल रखा गया है। उन बिलों में जो नारकी रहते हैं वे प्रथम नरक के नारकी कहलाते हैं। उसके नीचे दूसरी पृथ्वी है। जिसका वंशा नाम है। उस नरक में ११ पटल हैं और इन पटलों में २५ लाख बिल हैं। उन बिलों में जो नारकी रहते हैं वे दूसरे नरक के नारकी कहलाते हैं। उसके नीचे मेघा नाम की तीसरी पृथ्वी है उसमें ९ पटल हैं और उन पटलों में १५ लाख बिल हैं। उनमें नारकी रहते हैं। फिर नीचे अंजना नाम की चौथी पृथ्वी है, उसके ७ पटलों में १० लाख बिल हैं। उन बिलों में रहने वाले नारकी चौथे नरकवासी कहलाते हैं। उसके नीचे अरिष्टता नाम की ५वीं पृथ्वी है। उसमें ५ पटल हैं और उन पटलों में ३ लाख बिल हैं, उन बिलों में नारकी रहते हैं। इसके नीचे छठीं मघवी पृथ्वी है। उसमें तीन पटल हैं, और उन पटलों में ५ कम एक लाख बिल हैं। उसके नीचे माधवी नामक सातवीं पृथ्वी में एक पटल में पांच बिल है, उन बिलों में सप्तम नरक के नारकी रहते हैं। यों नारकियों का निवास अधो लोक में है। ये सब पृथ्वियां

तीन वातवलयों से घिरी हुई हैं। इन नरकों में जो नारकी निवास करते हैं वे अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित हैं, जिनका वर्णन संसार भावना में किया गया है। अब अग्नि व वायुकायिक जीवों की संख्या कहते हैं।

बादर-पज्जति-जुदा घण-आवलिया-असंख-भागा दु।
किंचूण-लोय-मित्ता तेऊ-वाऊ जहा-कमसो।।१४७।।

अग्निकायिक बादर पर्याप्त जीव धनावली के असंख्यात भाग हैं। आवली असंख्यात समयों की होती है और ऐसी एक आवली में जितने समय होते हैं उन समयों को दो बार गुणा करने से उतने ही समय घनरूप रखने से जो लब्ध हो उसे घनावली कहते हैं। यानि उस घनावली में असंख्याते असंख्यात का गुणा करने पर जो लब्ध होता है उसमें फिर असंख्यात का गुणा कीजिए। उतने को घनावली कहते हैं। जैसे तीन का घन २७ होता है। ३ को ३ से गुणा करने से ९ लब्ध हुआ और उसे ३ से गुणा करने पर २७ हुए तो यों ही आवली के समयों का जो घनफल है उसे घनावली कहते हैं। उस घनावली के असंख्याते भाग प्रमाण बादर पर्याप्त अग्निकायिक जीव हैं और बादर पर्याप्त वायु कायिक जीव कुछ कम लोक प्रमाण हैं। अब यह तो समस्त बादर अग्निकायिक जीवों का प्रमाण है। इसको बादर अग्निकाय के जीवों की संख्या में से कम कर दिया जाये तो वह बादर अपर्याप्त अग्निकायिक व जीवों का परिमाण होता है। इसी प्रकार समस्त जितने वायुकायिक जीव हैं उनमें से बादर पर्याप्त वायुकायिक जीव कम कर दिए जायें तो बादर अपर्याप्त वायु कायिक जीवों की संख्या आती है। यों बादर पर्याप्त वायुकायिक जीव घनावली के असंख्याते भाग हैं और बादर पर्याप्त वायुकायिक जीव कुछ कम लोक प्रमाण हैं, यानि लोक के प्रदेशों की जितनी संख्या बतायी गई है असंख्यात, उसमें से कुछ ही कम है।

पुढवी-तोय-सरीरा पत्तेया वि य पइट्ठिया इयरा।
होंति असंखा सेढी पुण्णापुण्णा य तह य तसा।।१४८।।

पृथ्वी कायिक, जल कायिक, प्रत्येक वनस्पति कायिक, प्रतिष्ठित, प्रत्येक वनस्पति कायिक–ये ५ एकेन्द्रिय जीव पर्याप्त भी और अपर्याप्त भी होते हैं। यों इन १० प्रकार के जीवों की संख्या असंख्यात जगत श्रेणी प्रमाण जानना और इसी प्रकार दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ये भी पर्याप्त अपर्याप्त दो प्रकार के होते हैं। यों १० प्रकार के त्रस जीव भी असंख्यात जगत श्रेणी प्रमाण हैं। जगत श्रेणी कहते हैं १४ राजू प्रमाण, ऊंचे एक प्रदेश पंक्ति में जितने प्रदेश आ सकते हैं उन प्रदेशों की जो संख्या है, है वह असंख्यात। उसे जगत श्रेणी कहते हैं। तात्पर्य दोनों कथनों में उनकी संख्या असंख्यात है, यह कहा है, किन्तु उन सब असंख्यात प्रमाणों में भी परस्पर यह जानने के लिए कि कौन असंख्यात प्रमाण जीव किससे ज्यादा है? भिन्न-भिन्न रूप में यह सब असंख्यातों का प्रमाण बताया जा रहा है।

बादर-लद्धि-अपुण्णा असंखा-लोया हवंति पत्तेया।
तह य अपुण्णा सुहुमा पुण्णा वि य संख-गुण-गणिया।।१४९।।

अब प्रत्येक वनस्पति कायिक बादर लब्ध्य पर्याप्त जीव असंख्यात लोक प्रमाण हैं और सूक्ष्म लब्ध्य पर्याप्त जीव भी असंख्यात लोक प्रमाण हैं, किन्तु सूक्ष्म पर्याप्त जीव उनसे भी संख्यात गुणे हैं। सूक्ष्म कायिक जीवों में प्रायः यह वर्णन आता है कि सूक्ष्म अपर्याप्त जीव सूक्ष्म पर्याप्तों के कई गुणे हैं इसका कारण यह है कि अपर्याप्त जीवों की आयु होती है अल्प तो ये सूक्ष्म जीव पर्याप्त आयु में अधिक होने के कारण इनका संचय अधिक हो जाता है, और इस दृष्टि से इनकी संख्या सूक्ष्म अपर्याप्तकों से कई गुनी हो जाती है।

सिद्धा संति अणंता सिद्ध हिंतो अणंत गुण गुणिया।
हांति णिगोदा जीवा भागमणंत अभव्वा य।।१५०।।

सिद्धों से अनन्त गुण निगोद जीवों की गणना का कथन–इस प्रकरण में यह बताया जा रहा है कि कौन जीव कितने प्रमाण है? सिद्ध जीव अनन्त हैं। अनन्त काल में ६ महीने ८ समय में ६०८ जीव मुक्त होते आये। तो जब काल अनन्त व्यतीत हो गया तो ६ महीने भी अनन्त व्यतीत हो गए। तो यों मुक्त हुए जीव अनन्त हैं। और उन सिद्धों से भी अनन्त गुने जीव निगोद जीव हैं। संसार में कितने जीव पाये जाते हैं गतियों के हिसाब से, सो मोटे रूप में यह समझ लीजिए कि सबसे कम जीव मनुष्य गति में हैं, उससे असंख्यात गुने जीव नरक गति में हैं, उससे असंख्यात गुने जीव देव गति में हैं। देव गति में इतने अधिक जीव होने का क्या भाव है कि देव होते हैं चार प्रकार के–भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। इनमें से खोटे देव है तीन प्रकार के हैं–भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी। तो इनमें ज्योतिषी देवों की संख्या बहुत अधिक है। वैसे ज्योतिषी विमानों में भी अगर देखा जाये तो जम्बूद्वीप में दो सूर्य दो चन्द्र हैं, और ताराओं की तो गिनती ही नहीं है। जब कभी आप अंधेरी रात्रि में ऊपर निगाह करके देखते हैं तो एक ही जगह में कितने तारे नजर आते हैं। थोड़े से ही हिस्से में तारों की आप गिनती नहीं कर सकते। जम्बूद्वीप में ही इतने अधिक तारे हैं, लवण समुद्र में इससे भी दूने तिगुने तारे हैं। उसके बाद के द्वीप में उससे भी दूने तिगुने अधिक तारे हैं। यों सभी द्वीपों में बढ़ते जाइये, प्रत्येक में दूने, तिगुने, चौगुने आदि रूप में तारों की संख्या बढ़ती जायेगी। द्वीप हैं असंख्यात। यों विमान भी बहुत अधिक हो गए। और एक-एक विमान में ज्योतिषी देवों की संख्या अत्यन्त अधिक है। जो छोटे से छोटे तारे यहां से दिखते हैं, वे भी तीन कोस से कम के कोई नहीं हैं। ये सूर्य चन्द्र करीब पौने दो हजार कोस के विस्तार वाले हैं। तो इसमें अनेक देवों की संख्यायें हैं। यों देवगति में नरकगति से भी अधिक जीव हैं। देवगति से अधिक जीव हैं। देवगति से अधिक जीव हैं तिर्यञ्च गति में और तिर्यञ्च गति में भी अल्पबहुत्व देखो तो पंचेन्द्रिय, चौइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, दो इन्द्रिय और इनसे कितने ही गुने अधिक एकेन्द्रिय जीव हैं और एकेन्द्रिय जीवों में वनस्पति कायिक जीव अनन्तानन्त हैं। उनमें निगोद राशि है अनन्तानन्त। तो सिद्ध से अनन्तानन्त गुने निगोद राशि है। शास्त्रों में बताया है कि एक निगोदिया जीव के शरीर में इतने निगोदिया जीव के शरीर में निगोदिया जीव हैं कि उसके अनन्तवें भाग हैं वे समस्त सिद्ध जो आज तक सिद्ध हुए। जैसे कि यहां हम एक शरीर में हैं, आप एक शरीर में हैं, तो एक-एक शरीर के स्वामी एक-एक जीव हैं। तो इसे कहते हैं प्रत्येक शरीर। और साधारण शरीर कहते हैं उसे कि यह स्थूल शरीर तो एक हो और उसके अधिकारी अनन्त जीव हैं। उन अनन्त जीवों का एक साथ जन्म और एक साथ मरण होता है। कर्म फिर भी सब जीवों के अलग-अलग हैं, केवल शरीर यह स्थूल एक है। इसे कहते हैं साधारण शरीर। तो उस एक निगोद शरीर में जीव सिद्ध से अनन्तगुने पाये जाते हैं। अब इतने ये सब जीव हैं इन समस्त संसारी जीवों में भव्य कितने हैं और अभव्य कितने हैं इस पर दृष्टिपात कीजिए।

निगोद जीवों की दशा–यहां एक प्रश्न हुआ कि एक निगोद शरीर में जितने जीव हैं उनका जन्म-मरण अलग-अलग होता या एक साथ होता? उत्तर यह है कि उन सब जीवों का जन्म-मरण सबकुछ एक साथ होता है। निगोद जीव, साधारण जीव कहते ही उसे हैं कि जिसके जन्म-मरण आदिक एक साथ हों। पंडित आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत ग्रन्थ के प्रसंग में मोही जीवों का एक चित्रण खींचा है कि जो मोही जीव घर में इतना मुग्ध होते हैं कि अपने प्रेमी के सुख में सुख मानते हैं, उसके दुःख को दुःख मानते, उसके

सन्तोष में अपने को सन्तुष्ट मानते, ऐसा जो किया करते हैं, मोह में तो मानो निगोद में यह करना पड़ेगा ना, कि एक साथ जन्मेंगे, एक साथ मरण करेंगे, फिर एक ही जन्म लेंगे तो मानो ये मोही मानव उसका अभी से अभ्यास कर रहे हैं। तो इस तरह का अभ्यास सा करने वाले ये मोही प्राणी निगोद में जन्म लेने के पात्र हैं ऐसा बताया है। कहना तो यह था, मगर इसको एक अलंकार रूप में कवि ने बताया है। तो निगोद जीवों का जन्म-मरण एक साथ होता है। स्थूल शरीर एक है परन्तु तैजस कार्माण शरीर सब जीवों का अपना निराला-निराला है। यहां भी जो यह कहा करते हैं कि हम दो-चार जीव एक साथ सुख भोगते, इनके सुख से हम सुखी होते हैं, इनके दुःख से हम दुःखी होते हैं, यह कहना गलत है। जितने जीव सुखी हो रहे हैं उन सबका उदय न्यारा-न्यारा है। किसी एक काम में दो-चार आदमी एक साथ सुखी हो रहे हैं तो एक के कारण से नहीं, किन्तु सबका अपना-अपना उदय है, इस उदय के कारण वे अपने आपमें सुखी हो रहे हैं तो सुख-दुःख होने का जो कारण है वह सबका अपना-अपना न्यारा-न्यारा है। एक ही घर में देख लीजिए छोटे-बड़े १०-१५ जीव हैं लेकिन सबका आनन्द, सबका ज्ञान, सबकी तृप्ति ये सब जुदे-जुदे हैं। जैसे सबकी भूख अपने-अपने खाने से मिटती है, कोई खाये और उससे दूसरे का पेट भर जाये यह तो नहीं हो सकता तो ऐसे ही आप यह अंदाज लगा लीजिए कि किसी एक के सुखी दुःखी होने से कोई सुखी-दुःखी नहीं हो सकता। सबका अपना-अपना परिणाम है, सभी अपने-अपने परिणाम से सुखी-दुखी होते हैं। यों सभी संसारी अपने-अपने भाव व उदय से अपना-अपना परिणमन करते रहते हैं। निगोदों का भी परिणमन जुदा-जुदा है।

भव्य और अभव्यों की गणना—यह बात सुनो कि समस्त संसारी जीवों में भव्य जीव कितने हैं और अभव्य जीव कितने हैं। भव्य जीव कहते उसे हैं जिसके रत्नत्रय की प्राप्ति होना शक्य है और अभव्य जीव उसे कहते हैं कि जिसके रत्नत्रय की प्राप्ति होना शक्य नहीं अर्थात् रत्नत्रय प्राप्त हो नहीं सकता। जिसमें सम्यक्त्व उत्पन्न करने व मुक्त होने की योग्यता है उन्हें कहते हैं भव्य जीव और जो जीव मुक्ति प्राप्त कर सकने में अयोग्य हैं उन्हें कहते हैं अभव्य जीव। यद्यपि भव्य जीव भी सब मोक्ष न जा पायेंगे, क्योंकि अगर सब भव्य मोक्ष जायें ही, ऐसानियम होता तो आज यहां कोई भी जीव संसार में न दिखना चाहिए। क्योंकि अनन्त काल गुजर गया। सो सब भव्य जीव मुक्ति में जा चुके ही होते, किन्तु दिख तो रहे हैं अनन्तों सो भव्य जीव भी सब मोक्ष न जायेंगे अनन्तानन्त काल तक। इसके बाद बहुत दूर दृष्टि के काल में भी यहां अनन्तानंत भव्य रहेंगे अर्थात्! अनन्तभव्य ऐसे हैं जो कभी भी मोक्ष जा ही न सकेंगे, लेकिन भव्य क्यों कहते हैं कि उनमें उस जाति की योग्यता है। न जा सकें यह बात अलग है। जैसे दृष्टान्त लीजिए तीन प्रकार की महिलायें हैं—एक तो बंध्या जिनके कभी पुत्र होता ही नहीं, एक सुशील विधवा, विधवा है मगर सुशील है, और एक सामान्य महिला। तो जैसे इन तीन प्रकार की महिलाओं में तीन बातें सोची जा सकती हैं कि बंध्या के तो पुत्र पैदा होने की योग्यता ही नहीं है और सुशील विधवा के पुत्र पैदा होने की योग्यता तो है मगर कभी पुत्र होगा ही नहीं क्योंकि सुशील है और सामान्य स्त्रियों के पुत्र होते ही हैं तो ऐसे ही बंध्या की भांति अभव्य जीव के मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता ही न समझिये और सुशील विधवा की भांति दूरनातिदूर भव्य के मोक्ष होगा ही नहीं। योग्यता होकर भी मुक्ति होगी ही नहीं, और सामान्य, जो निकट भव्य जीव हैं वे कभी मुक्ति पा लेंगे। तो इसमें अभव्य जीव तो भव्य के अनन्तवें भाग हैं अर्थात् भव्य जीव जितने हैं प्रति अनंत भव्यों में से एक दो अभव्य जीव निकलेंगे, यानि अभव्यों की संख्या बहुत कम है फिर जघन्य युक्तानन्त अनंत हैं। जैसे मूंग के ढेर में जो कुरुड् जाति के मूंग के दाने हैं, जो कितना ही आग में पकाये जाने पर भी नहीं पकते, वे बहुत बड़े ढेर

में कोई एक दो ही दाने होते ही हैं ऐसे ही अनन्त भव्य जीवों में से कोई एक दो अभव्य होते हैं। लेकिन उन भव्यों में भी अनंत भव्य ऐसे हैं जो कभी मुक्त जायेंगे ही नहीं।

अभव्य जीवों के सम्यक्त्व की पात्रता का अभाव–अब अभव्य जीवों के सम्बन्ध में यह सुनो कि वे कितना धर्मसाधन कर सकते हैं? तो बताया है कि अभव्य जीव मुनिधर्म साधन करके नवग्रैवेयक तक भी उत्पन्न होगा, मगर उसे सम्यग्ज्ञान न होगा, मिथ्यादृष्टि भव्य भी और अभव्य भी। तो धर्मसाधन के प्रकरण में इन जीवों को ज्ञान भी बहुत हो जाता है। ११ अंग ९ पूर्व का ज्ञान होने पर भी अज्ञानी रहता है। मिथ्यादृष्टि रह सकता है, सम्यक्त्व न जग सका। तो इतनी धर्मसाधना करने वाला जीव यत्र-तत्र पहुंच जाये, समवशरण में भी पहुंच जाये तो पहुंच सकता है, वहां जो प्रकट अभव्य हैं, अर्थात् उद्दण्ड हैं, विपरीत हैं वे नहीं जा सकते। चाहे वे भव्य भी हों, चाहें अभव्य भी हों, लेकिन वहां के द्वारपाल देवों को यह विदित हो जाये कि यह जीव उद्दण्ड है, यह लड़ने के ध्येय से आयेगा, यह दोष बकवाद करने के लिए आयेगा, ऐसे उद्दण्डों को देवता लोग नहीं जाने देते। फिर जो प्रकट उद्दण्ड मिथ्यादृष्टि जीव हैं वे तो जा ही नहीं सकते, लेकिन जिनका व्यवहार व्यवहारसम्यक्त्व के अनुकूल है, व्यवहार सम्यग्दर्शन हैं, धर्म के द्वेषी नहीं हैं, विनयपूर्वक आ रहे हैं, वे चाहे मिथ्यादृष्टि भी हो तो भी समवशरण में पहुंचते हैं।

समुच्छिमा हु मणुया सेढ़ियसंखिज्ज-भाग-मित्ता हु।
गब्भज-मणुया सव्वे संखिज्जा होंति णियमेण।।१५१।।

मनुष्यों की संख्या–अब मनुष्य गति के जीवों की संख्या बताते हुए कहते हैं कि मनुष्य बताये गए हैं दो प्रकार के –एक सम्मूर्छन मनुष्य और दूसरे गर्भज मनुष्य। गर्भज मनुष्य तो ये ही सब हैं जो दिखते हैं। माता-पिता से जिनका शरीर निष्पन्न हुआ है वे हैं गर्भज जीव और सम्मूर्छन मनुष्य वे कहलाते हैं जो थूक, कफ, कांख आदिक खोटे अंगों से उत्पन्न होते रहते हैं। उनका शरीर दिखता नहीं है, पर हैं वे संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य। ये सब संमूर्छिम मनुष्य हैं। ये कितने हैं? तो बताते हैं कि श्रेणी के असंख्याते भाग प्रमाण, अर्थात् लोक के नीचे से लेकर लोक के ऊपर तक जो १४ राजू लम्बी श्रेणी है जो एक प्रदेश मोटी, एक लैन है १४ राजू की। उसमें जितने असंख्याते प्रदेश हैं उसके भी असंख्याते भाग प्रमाण सम्मूर्छिम मनुष्य हैं। तो ये असंख्याते मनुष्य सम्मूर्छन जन्म वाले पाये जाते हैं, लेकिन गर्भज मनुष्य संख्याते ही हैं। उनकी संख्या बतायी गई है २९ अंक प्रमाण यानि ७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६। २९ अंक प्रमाण का अर्थ है कि जैसे १०० तीन अंक प्रमाण है, १००० चार अंक प्रमाण है, इस तरह बढ़ते जाइये लाख, १० लाख, करोड़, १० करोड़, अरब, १० अरब, खरब, १० खरब, नील, १० नील, पदम, १० पदम, शंख, १० सख, महा शंख आदि। यहां तक तो अभी १९ अंक हुए। अब इनमें एक-एक अंक बढ़ने से १०-१० गुना प्रमाण बढ़ता है। यों २९ अंक प्रमाण गर्भज मनुष्य पाये जाते हैं। इन चार गतियों में सबसे कम जीव ये मनुष्य गति के हैं और उनमें भी ये गर्भज मनुष्य तो और भी कम हैं जिनकी गिनती भी बांध ली गई है। मनुष्यों से असंख्याते गुने हैं नारकी। नारकी से असंख्ययाते गुने हैं देव। देवों से असंख्याते गुने हैं दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यंच, उनसे भी असंख्याते गुने हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति और इन सब जीवों से अधिक हैं यानि अनन्त हैं सिद्ध जीव और सिद्ध जीवों से भी अनन्त गुने हैं निगोद जीव। इन जीवों का आदि स्थान निगोद रहा और इनका बहुत काल तक निवास कर सकने योग्य स्थान तो मोक्ष है। यों समझिये कि निगोद और मोक्ष इन दोनों का समय लम्बा होता है। निगोद में कोई जीव तो ऐसे हैं कि निगोद से निकल आयेंगे पर मुक्त जो हो जाते हैं

उनमें यह बात सम्भव नहीं है कि वे मोक्ष से निकलकर फिर संसार में जन्म-मरण करेंगे। यों इन जीवों की संख्या का परिमाण बताया गया है। इस गाथा में मनुष्य गति के जीवों का परिमाण कहा गया है। इनमें लब्ध्य पर्याप्त मनुष्य तो जगतश्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं तथा पर्याप्त मनुष्य २९ अंक प्रमाण हैं। निवृत्य पर्याप्त मनुष्य भी पर्याप्त श्रेणी में हैं, क्योंकि उनके जन्म से ही पर्याप्त नाम कर्म का उदय है। पर्याप्त मनुष्यों से पर्याप्त मनुष्यिणी का परिमाण तीन गुना है।

देवावि णाएया वि य लद्धियपुण्णा हु संतरा होंति।
सम्मुच्छिया वि मणुया सेसा सव्वे णिरंतरया।।५५२।।

सान्तर मार्ग का वर्णन—अब यह बतलाते हैं कि कौन से जीव ऐसे हैं कि किसी भी समय जगत में ऐसे कोई हों ही नहीं, इसको कहते हैं सांतर मार्गणा। होते थे, बीच में नहीं हुए और फिर होने लगे ऐसा अंतर किन-किन जीवों का पड़ता है? बतलाते हैं कि देव, नारकी, लब्ध्य पर्याप्तक सम्मूर्छिम मनुष्य ये सांतर हैं। बाकी के सब जीव निरंतर हैं। देव और नारकियों में उत्पत्ति सांतर हैं। देव तो हमेशा ही रहते हैं, उनकी बहुत सी आयु और ये असंख्यात जीव हैं। वे भी सदा रहेंगे। नारकी भी असंख्याते हैं और उनकी भी बड़ी आयु है, वे भी सदा रहेंगे, मगर ऐसा सम्भव हो सकता है कि कुछ समय एक भी देव पैदा न हो रहा हो, और कुछ समय एक भी नारकी उत्पन्न न हो रहा हो। तो देव और नारकियों के जन्म-मरण का अन्तर है। करणानुयोग के ग्रन्थों में बताया है कि सम्मूर्छन जन्म वाले लब्ध्य पर्याप्तक मनुष्यों का उत्कृष्ट अंतर पल्य के असंख्याते भाग हैं। ऐसे मनुष्य जो कांख, नाक, आंख आदिक जगहों से उत्पन्न होते हैं जो दिखते नहीं हैं, सम्मूर्छनज हैं, लब्ध्य पर्याप्तक हैं। ऐसे मनुष्य दुनिया में कहीं भी पैदा न हो रहे हों ऐसा भी समय आ सकता है, और यह समय पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण हो सकता है। अर्थात् असंख्याते करोड़ों, अरबों वर्ष भी गुजर जाते हैं कि जहां लब्ध्या पर्याप्तक मनुष्य एक भी उत्पन्न हो रहा हो, सो उत्पन्न भी नहीं हो रहा और इसकी आयु भी बहुत थोड़ी है, तो इसके सम्बंध में यह कह सकते हैं कि एक भी लब्ध्य पर्याप्तक मनुष्य न रहे, ऐसा समय पल्य में असंख्यातवें भाग तक गुजर सकता है बाकी एकेन्द्रिय आदि जीव तो सदा रहते हैं।

उपशम सम्यक्त्व और सूक्ष्म साम्पराय संयम का उत्कृष्ट अन्तर काल—उपशम सम्यग्दृष्टि जीव का अंतर काल दिन ७ है। सम्यग्दर्शन ३ प्रकार से होता है। सम्यग्दर्शन का घात करने वाली सात प्रकृतियां हैं। तो उन ७ प्रकृतियों का उपशम होवे तो ये ७ तरह के प्रकृति कर्म दब जायें तो उससे उपशम सम्यक्त्व होता है। ये सम्यग्दर्शन की घातक ७ प्रकृतियां नष्ट हो जायें तो क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। अथवा इन ७ प्रकृति कर्मों का क्षयोपशम कुछ उदयाभावी क्षय रहे, कुछ उपशम रहे व सम्यक्त्व प्रकृति नामक ७वीं प्रकृति का उदय रहे तो उसे कहते हैं क्षयोपशम सम्यक्त्व। इन तीन प्रकार के सम्यक्त्व में उपशम सम्यक्त्व होने की बात कह रहे हैं कि ऐसा भी समय गुजर सकता है और वह ७ दिन तक का समय हो सकता है कि जहां इन तीनों लोकों के अन्दर कोई भी जीव उपशम सम्यक्त्वी न हो। लेकिन ७ दिन के बाद नियम से कहीं न कहीं कोई उपशम सम्यग्दृष्टि बनेगा ही। १०वां गुण स्थान है सूक्ष्म साम्पराय। मुनिजन कषायों को नष्ट करते-करते जब सभी कषायों का नाश कर देते हैं, केवल एक संज्वलन सूक्ष्म लोभ बाकी रहता है, उसको भी नाश करने का वह मुनि श्रेणी में उद्यम करता है तो उस स्थिति का नाम है सूक्ष्म साम्पराय। सूक्ष्म साम्पराय संयम का अन्तर काल ६ महीने तक का है। ६ महीने के बाद कोई न कोई जीव सूक्ष्म साम्पराय संयमी अवश्य होगा। इनका अर्थ यह भी समझना कि ऐसा भी समय आ सकता है कि ६ महीने तक कोई भी जीव मुक्ति न प्राप्त कर रहा

हो, मुक्ति प्राप्त करने का विरह काल ज्यादा से ज्यादा ६ महीने तक का है। ६ महीने के बाद कोई न कोई जीव मुक्ति प्राप्त करेगा, सूक्ष्म सम्पराय बनेगा, श्रेणियों में आयेगा, यह सब एक ही बात है क्योंकि ६०८ जीव ६ महीने में श्रेणी में प्रवेश करते हैं और मुक्ति प्राप्त करते हैं। कोई ऐसा समय आ सकता है कि ६ महीने तक कोई जीव मुक्ति प्राप्त न कर रहा हो तो उसके बाद ६ महीने में ही ६०८ जीव मोक्ष चले जायेंगे। तो अंतर काल बताया जा रहा कि ६ महीने का ऐसा समय आता है कि जिस समय कोई जीव दुनिया में सूक्ष्म साम्पराय संयमी न रहेगा।

आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग, वैक्रियकमिश्रकाययोग लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य, सासादन सम्यक्त्व व सम्यक्त्व मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अन्तरकाल–१ शरीर होता है आहार का, जो छठे गुण स्थानवर्ती मुनि के मस्तक से निकलता है। जब उन्हें तत्व में कोई शंका होती है तो उसका समाधान पाने के लिए आहारक ऋद्धि वाले मुनि के मस्तक से एक बहुत सुन्दर एक हाथ के प्रमाण का श्वेतरंग का सूक्ष्म शरीर निकलता है जो इतना सूक्ष्म होता है कि उसे देखने की बात तो दूर रही, बीच में पर्वत भी आयें तो उनसे भी नहीं छिड़ता। वह पुतला जाता है वहां जहां तीर्थंकर भगवान कहीं विराजे हों। उनका दर्शन करता है और दर्शन करके वह शरीर वापिस लौट आता है और मुनि के मस्तक में प्रवेश करके समाप्त हो जाता है। उसे कहते हैं आहारक शरीर। उस मुनि के आहारक काययोग, आहारक मिश्र काययोग होता है। तो इस काययोग का उत्कृष्ट अन्तर वर्ष पृथकत्व है। पृथकत्व कहते हैं तीन से लेकर ९ तक। जैसे गिनती में कभी कोई कह देते ना १०–५, इसी तरह ३–९। तीन से अधिक, ९ से कम संख्या का नाम है पृथकत्व यानि यों ४ से ८ वर्ष तक का भी समय गुजर सकता है कि जिन वर्षों में दुनिया में कहीं भी आहारक शरीर वाला नहीं बनता। फिर इतने काल के बाद कोई आहारक काययोग वाला अवश्य बनेगा। वैक्रियक मिश्रकाय योग का उत्कृष्ट अन्तर १२ महीना है। वैक्रियक शरीर देव और नारकियों के होता है। मनुष्य और तिर्यञ्चों का जो शरीर है उसका नाम है औदारिक शरीर। वैक्रियक मिश्रकाय कब होता है कि कोई जीव मरकर देव या नारकी में उत्पन्न होने चला, उस स्थान में पहुंच गया जहां कि देव या नारकी बनना है। वहां पहुंचने के बाद उसके वैक्रियक मिश्रकाययोग होता है। वैक्रियक मिश्रकाययोग के मायने यह हैं कि जब तक वहां वैक्रियक शरीर बनने की शक्ति पूरी नहीं आ जाती तक तक वैक्रियक मिश्रकाययोग है। इसका सीधा अर्थ यह लगाओ कि देव और नारकी का जन्म लेना। तो दुनिया में कहीं भी कोई देव या नारकी जन्म न ले रहा हो ऐसा समय यदि गुजरेगा तो ज्यादा से ज्यादा १२ मुहूर्त। उसके बाद देव या नारकियों में कोई न कोई जीव अवश्य जन्म ले लेगा। अब लब्ध्य पर्याप्तक मनुष्य की बात कह रहे हैं, वहां भी पल्य के असंख्यातवें भाग तक का अन्तर है। सासादन गुणस्थानवर्ती जीव का भी पल्य के असंख्यातवें भाग का अन्तर है। इसी तरह तीसरे गुण स्थान वाले जीव का भी उत्कृष्ट अन्तर पल्य के असंख्यातवें भाग है, पर इसका जघन्य अन्तर एक समय है।

उपशम सम्यक्त्व सहित अणुव्रत या महाव्रत धारण करने वालों का उत्कृष्ट अन्तरकाल–अब इस बात को बतलाते हैं कि कोई जीव सम्यग्दर्शन पैदा कर रहा है और सम्यग्दर्शन के साथ ही साथ अणुव्रत या महाव्रत भी धारण कर रहा है। दोनों बातें यदि एक साथ धारण कर रहा हो तो ऐसा जीव दुनिया में यदि न हो तो कितने दिन तक न हो? सो प्रथम बतलाते हैं कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व सहित अणुव्रत धारण करने वाले जीव ज्यादा से ज्यादा काल तक लोक में न होंगे तो १४ दिन तक न होंगे। उसके बाद तो अवश्य ही ऐसे जीव होंगे जो प्रथमोपशम सम्यक्त्व भी धारण कर रहे हों और अणुव्रत भी धारण कर रहे हों। उपशम सम्यक्त्व

बताया है कि जो सम्यक्त्व को घातने वाले कर्म हैं वे दब जायें तो जीव को उपशम सम्यक्त्व होता है। सम्यक्त्व मायने हैं देह से मैं न्यारा हूं, अमूर्त हूं, ज्ञान स्वरूप हूं, ऐसा साक्षात् अनुभव बन जाये, ऐसी दृढ़ प्रतीति बन जाये, उसे कहते हैं सम्यग्दर्शन। ऐसा सम्यग्दर्शन यदि कर्मों के उपशम से हुआ है तो जो चीज किसी के दबने से होती है वह चीज प्रकट हो जाती है, दबी न रहेगी। तो ऐसा सम्यक्त्व कुछ देर के लिए होता है। बाद में सम्यक्त्व नहीं रहता। तो कोई जीव मिथ्यादृष्टि है और उसके बाद उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न कर रहा है, साथ ही अणुव्रत, श्रावक का व्रत भी धारण कर रहा है ऐसा जीव लोक में अधिक से अधिक दिनों तक न होगा तो १४ दिन तक न होगा। इसके बाद में ऐसा जीव होगा जो कि प्रथमोपशमसम्यक्त्व और अणुव्रत दोनों एक साथ धारण करेगा। अब प्रथमोशम सम्यक्त्व सहित मुनिव्रत धारण करने वाले जीव का अन्तर बताते हैं। कोई आचार्य तो १५ दिन का अन्तर कहते हैं, कोई २४ दिन का । ऐसा जीव जो प्रथमोपशम सम्यक्त्व और महाव्रत दोनों को एक साथ धारण करे, लोक में यदि न हो तो ज्यादा से ज्यादा १५ या २४ दिन तक न होगा, बाद में होगा ही। इस तरह कुछ जीव दुनिया में न रहें, ऐसा भी समय आता है और कितना समय आता है, उसका यह अन्तर बताया गया है।

मणुयादो णेरइया णेरइयादो असंख-गुण गुणिया।
सव्वे हवंति देवा पत्तेय-वणप्फदी तत्तो।।१५३।।

मनुष्य, नारकी, देव और प्रत्येक वनस्पति का तुलनात्मक पद्धति से परिमाण—अब उपसंहार रूप में कुछ स्थूल पद्धति से बतलाते हैं कि जगत में कौन जीव कितने हैं? मनुष्यों से नारकी जीव असंख्यातगुने हैं। जितनी समस्त मनुष्यों की संख्या है उससे अनगिनते गुने नारकी जीव हैं। नारकियों की संख्या मनुष्यों से असंख्यातगुनी है और नारकियों से असंख्यातगुने सब देव हैं। देवगति में चार प्रकार के जीव हैं। उन सब को मिलाया जाये तो वह संख्या नारकियों से असंख्यात गुने से गुणित होती है यानि कितने ही असंख्यात गुने हैं। और उन देवों से असंख्यात गुने हैं प्रत्येक वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति हरी वनस्पति को कहते हैं। चाहे वह सप्रतिष्ठित हो या अप्रतिष्ठित हो, यानि आलू, अरबी आदिक कंद अनन्तकाय भी प्रत्येक वनस्पति में आ गई, और जो खाने योग्य हो सकती हैं ऐसी वनस्पति भी प्रत्येक वनस्पति में हैं। अभी प्रत्येक वनस्पति में रहने वाले साधारण जीवों को नहीं कह रहे। जैसे आलू आदिक कंदों में प्रत्येक वनस्पति तो थोड़े हैं मगर साधारण वनस्पति अनंत हैं। तो साधारण वनस्पति की संख्या नहीं बता रहे हैं। ये प्रत्येक वनस्पति देवों से भी असंख्यातगुने हैं। मनुष्यों से असंख्यातगुने नारकी बताये हैं। तो पहले मनुष्यों की संख्या सुनो, कितनी है? यद्यपि सामान्य रूप से बता दिया गया कि सम्मूर्छिममनुष्य तो पल्य के असंख्याते भाग हैं और पर्याप्तक मनुष्य २९ अंक हैं। किन्तु इसे दूसरी पद्धति से सुनो—सामान्य मनुष्य राशि कितनी बड़ी है? सारे मनुष्य कितने हैं? उनका प्रमाण करणानुपयोग ग्रन्थ में बताया है कि सूच्यंगुल के प्रथम और तृतीय वर्गमूल से भाजित जगत श्रेणी प्रमाण तो सामान्य मनुष्य राशि है। इसका तात्पर्य यह है कि एक अंगुल लम्बी एक रेखा खींचिए और वह रेखा अत्यन्त पतली हो, उसके भी असंख्यातवें भाग पतली जो रेखा है उसे कहते हैं सूच्यंगुल। अब वह कितनी सी रेखा रही? उस सूच्यंगुल में असंख्याते प्रदेश हैं। प्रदेश कहते हैं ऐसी सबसे छोटी जगह को कि जिससे छोटी जगह और कुछ न हो सके। तो इतने छोटे-छोटे प्रदेश इतनी-सी पतली लकीर में अनगिनते भरे हैं। अब इस सूच्यंगुल में जितने प्रदेश हैं उन प्रदेशों का प्रथम वर्गमूल, वर्गमूल उसे कहते हैं जो समान संख्या से गुणा करने पर लब्ध हो जैसे ८१ का वर्गमूल हुआ ९, क्योंकि ९ का ९ से गुणा करने पर ८१ संख्या बनी।

और द्वितीय वर्गमूल–उस प्रथम वर्गमूल में जो द्वितीय वर्गमूल हुआ, (जैसे ३ गुणा ३ बराबर ९) अर्थात् जो ३ वर्गमूल हुआ वह कहलाया द्वितीय वर्गमूल फिर उस द्वितीय वर्गमूल का भी जो वर्गमूल किया जाये वह है तृतीय वर्गमूल। यों सूच्यंगुल के प्रथम वर्गमूल और तृतीय वर्गमूल का भाग करें जगत श्रेणी में। जगत श्रेणी कहते हैं ऐसी १४ राजू लम्बी पतली रेखा को जिसमें असंख्यात प्रदेश भरे हैं। उनमें भाग देने से जितना लब्ध हो वह निकलेगा मनुष्य राशि का प्रमाण। यह भी है पल्य के असंख्यातवें भाग। अब जान लीजिए कि मनुष्य भी अनगिनते होते हैं। लेकिन गर्भज मनुष्य नहीं। गर्भज मनुष्य तो २९ अंक प्रमाण हैं, मगर ऐसे सम्मूर्छिम मनुष्य भी मिला लो, जो आंख, नाक, कांख आदिक से उत्पन्न होते हैं, सारे लब्ध्य पर्याप्तक मनुष्य भी मिला लो तो मनुष्य अनगिनते हैं। उनसे भी अनगिनते गुने नारकी जीव हैं। नारकी जीवों का प्रमाण बताया है कि एक घनांगुल के द्वितीय वर्गमूल से जगतश्रेणि का भाग दें, फिर जो लब्ध हो उतने हैं नारकी। एक प्रदेश मात्र पतली एक अंगुल की रेखा सूच्यंगुल है और घनांगुल होगी उतनी ही मोटी, उतनी ही चौड़ी, उतनी ही लम्बी। इस घनांगुल में सूच्यंगुल से केई गुने प्रदेश हैं, उनका भाग दें, उसके द्वितीय वर्गमूल का भाग दें जगत श्रेणी में तो नारकी जीवों की संख्या निकलेगी और नारकी जीवों से असंख्याते गुने हैं सारे देव। यों तीन गतियों के जीवों की संख्या बतायी गई है।

पंचक्खा चउरक्खा लद्धियपुण्णा तहेव तेयक्खा।
वेयक्खा वि य कमसो विसेस-सहिदा हु सव्व-संखाए।।१५४।।

लब्ध्यपर्याप्त पंचेन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व द्वीन्द्रिय जीवों का तुलनात्मक पद्धति से परिमाण–संसार में जीव नाना प्रकार के हैं–एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। ये तो इन्द्रिय के हिसाब से भेद हैं। अब इनमें भी कुछ लब्ध्य पर्याप्तक होते हैं, कुछ पर्याप्तक होते हैं। लब्ध्यपर्याप्त का अर्थ यह है कि कोई जीव मरकर जन्म लेने के लिए आया। जिस शरीर को वह ग्रहण करेगा उस शरीर पर आ गया। अब जो जीव आया है वह पहले का शरीर तो छोड़कर आया है, नया शरीर ग्रहण करेगा तो उस जीव में आते ही तुरन्त यह शक्ति नहीं हो पाती कि उस शरीर को शरीर बना ले। उस शरीर को शरीर रूप बनाने में कुछ दो-चार-छः सेकेण्ड विलम्ब लगता है। तो जब तक शरीर बनाने की शक्ति जीव में पूरी नहीं आती तब तक वह जीव कहलाता है अपर्याप्त और जब शक्ति पूरी आ गई तो कहलाता है पर्याप्त। अपर्याप्त और पर्याप्त ऐसी दो बातें सामान्यतया सब जीवों में हैं, किन्तु अपर्याप्त दो तरह के होते हैं–एक तो ऐसे कि उस शरीर बनने की शक्ति पूरी आने से पहले मरेंगे नहीं, पूरे बन कर मरेंगे और कुछ जीव ऐसे होते हैं कि पर्याप्ति से पहले ही मर जायेंगे तो जो पहले मर जायेंगे उन्हें लब्ध्य पर्याप्त कहते हैं। तो हम आप लोग निर्वृत्य पर्याप्त थे। जिस क्षण से जन्म हुआ है गर्भ में आये तुरन्त दो चार सेकेण्ड निर्वृत्य पर्याप्त थे। लब्ध्य पर्याप्त जीव खोटे जीव हैं। जन्मे और तुरन्त मर गए। शरीर शक्ति भी पूरी नहीं आ पायी और मर गए, तो उनके पाप का उदय है। तो लब्ध्य पर्याप्त भी देवनारकी को छोड़कर सब जाति के होते हैं और निर्वृत्य पर्याप्त भी प्रत्येक जाति में होते हैं। निर्वृत्य पर्याप्त जीव बाद में पर्याप्त हो जाते हैं।

एकेन्द्रियादि जीवों में पर्याप्ति विवरण सहित लब्ध्य पर्याप्तों के परिमाण का निदेश–एकेन्द्रिय जीव के चार पर्याप्तियां हैं, लेकिन कोई एकेन्द्रिय जीव यदि लब्ध्य पर्याप्त है तो पर्याप्ति पूरी होने से पहले ही मर जायेगा उसके आहार, शरीर, इन्द्रिय श्वासोच्छवास–ये चार पर्याप्तियां प्रारम्भ तो होती हैं, किन्तु पूर्णता से पहले वह मर जाता है, और जो पर्याप्तक एकेन्द्रिय हो गए उनके चार पर्याप्तियां पूरी होंगी। तो लब्ध्य पर्याप्त

जीव के एकेन्द्रिय में चार पर्याप्त अधूरी बनेंगी। पर्याप्त एकेन्द्रिय में चार पर्याप्ति पूरी होंगी, यानि चारों पर्याप्तियों को एकेन्द्रिय ने ग्रहण किया, मगर लब्ध्य पर्याप्तक पूरी नहीं बन सकती है। पर्याप्त एकेन्द्रिय के पूरी बन जायेगी। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय में ५ पर्याप्तियां हैं, उनके मन नहीं है। वे लब्ध्य पर्याप्तक होंगे तो पांचों अधूरे रहेंगे और मर जायेंगे। पर्याप्त होंगे तो पांचों पूरे हो जायेंगे। पर्याप्ति का ग्रहण तो एक साथ में है किन्तु पूर्णता क्रम से होगी। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के छहों पर्याप्ति हैं तो वे जन्म स्थान पर आकर छहों पर्याप्तियों को ग्रहण तो एक साथ करेंगे, पर पूर्णता क्रम से होगी। तो यहां लब्ध्य पर्याप्तक जीवों में यह बतला रहे हैं कि किस जाति के लब्ध्य पर्याप्तक थोड़े हैं और किस जाति के लब्ध्य पर्याप्तक अधिक हैं? पंचेन्द्रिय जीव लब्ध्य पर्याप्तक सबसे थोड़े हैं, उनसे अधिक लब्ध्य पर्याप्तक चौइन्द्रिय जीव हैं, उनसे अधिक तीन इन्द्रिय जीव लब्ध्य पर्याप्तक हैं, उनसे अधिक दो इन्द्रिय जीव लब्ध्य पर्याप्तक हैं। पंचेन्द्रिय जीवों में भी लब्ध्य पर्याप्तक होते हैं, मनुष्य भी लब्ध्य पर्याप्त होते हैं। जो कांख आदिक स्थानों से उत्पन्न होते हैं और तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय भी लब्ध्य पर्याप्त होते हैं। तो समस्त पंचेन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्त होकर भी अन्य सब प्रकार के लब्ध्यपर्याप्तकों से थोड़े हैं। हैं यद्यपि अनगिनते, थोड़े के मायने संख्या में नहीं पर अनगिनते में और की अपेक्षा कम हैं। उनसे अधिक हैं चार इन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्त और उनसे अधिक हैं तीन इन्द्रिय लब्ध्य पर्याप्त और उनसे भी अधिक हैं दो इन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त।

चउरक्खा पंचक्खा वेयक्खा तह य जाण तेयक्खा।
एदे पज्जत्ति-जुदा अहिया अहिया कमेणेव।।१५५।।

पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, दो इन्द्रिय जीवों का तुलनात्मक विधि से परिमाण--चौइन्द्रिय जीव, पंचेन्द्रिय जीव, तीनइन्द्रिय, दो इन्द्रिय जीव ये पर्याप्त उत्तरोत्तर क्रम से अधिक-अधिक हैं। एकेन्द्रिय जीवों में निगोद भी हैं और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु प्रत्येक वनस्पति भी हैं और सभी में लब्ध्यपर्याप्त भी हैं और पर्याप्त भी हैं। एकेन्द्रिय का वर्णन अधिक है। इस कारण इस कथन में एकेन्द्रिय की बात संक्षेप में न बताकर अलग से बतायी गई है। इस गाथा में पर्याप्त जीवों में अल्पबहुत्व बता रहे हैं। कौन जीव अल्प हैं और कौन जीव बहुत हैं? पर्याप्त उन्हें कहते हैं कि जिनकी पर्याप्तियां पूरी हो गईं और पर्याप्त के बाद भी तभी मरण होगा जब जिसका समय आये। तो ऐसे पंचेन्द्रिय जीवों के चार इन्द्रिय पर्याप्त जीव सबसे थोड़े हैं। चार इन्द्रिय पर्याप्तक जीव सब प्रकार के पर्याप्तकों से थोड़े हैं। उनसे अधिक पंचेन्द्रिय पर्याप्त हैं। अब इन पंचेन्द्रियों में देव, नारकी, मनुष्य पर्याप्त तो सब आ ही गए और तिर्यंच पंचेन्द्रिय भी। ये सब मिलकर चार इंद्रिय पर्याप्त से अधिक हैं, इससे अधिक हैं दो इन्द्रिय पर्याप्त। अब यहां जानें कि जिनके स्पर्शन और रसना ये दो ही इंद्रिया हैं, ऐसे जीव पंचेन्द्रिय से भी अधिक हैं और उनसे अधिक तीन इंद्रिय हैं। चींटा चींटी आदि जिनके चार से अधिक पैर हैं ऐसे जीव प्रायः तीन इंद्रिय में मिलेंगे जैसे कान खजूरा गुम्ही, चींटी, चींटा, बिच्छू आदि ये सब तीन इंद्रिय जीव हैं, जो दो इन्द्रिय पर्याप्तों से भी अधिक हैं।

परिवज्जिय सुहुमाणं सेस-तिरिक्खाण पुण्ण-देहाणं।
इक्को भागो होदि हु संखातीदा अपुण्णाणं।।१५६।।

सूक्ष्मतिरिक्त शेष तिर्यञ्चों में पर्याप्त व अपर्याप्त का परिमाण--सूक्ष्म जीवों के अलावा बाकी जितने तिर्यञ्च हैं--मायने बादर तिर्यञ्च उन सब तिर्यञ्चों में पर्याप्त ज्यादा होते हैं या अपर्याप्त ज्यादा होते हैं, यह बात इस गाथा में दिखाई जा रही है। जो जीव बादर हैं ऐसे तिर्यञ्चों में पर्याप्त जीव कम हैं और अपर्याप्त

जीव अधिक हैं। पर्याप्त जीव तो एक भाग प्रमाण हैं और अपर्याप्त जीव असंख्यात बहुभाग प्रमाण हैं। सूक्ष्म जीव कहां-कहां होते हैं? पृथ्वीकाय में सूक्ष्म होते हैं।

सूक्ष्म जीव उसे कहते हैं कि जो गमन करें तो उनका शरीर किसी से भी छिड़ नहीं सकता। वज्र पटल भी आगे हो और वह जीव आगे बढ़ रहा है, उसकी गति हो रही है तो उससे भी छिड़ नहीं सकता ऐसा शरीर जिन जीवों के होता है उनको सूक्ष्म जीव कहते हैं। सूक्ष्म जीव का अग्नि से, जल से, हवा से, वज्र पटल से, किसी से भी घात नहीं होता। अग्नि से वे मरते नहीं, लेकिन उनकी आयु बहुत थोड़ी होती है सो वे तुरन्त मरते जाते हैं अपनी आयु के क्षय से। सूक्ष्म जीवों को जो दुःख है वह अपने कर्मोदय से अपने आप हो रहा है। उनको कभी मारे, छेड़े, सो तो होता नहीं, इस विधि से उन्हें क्लेश नहीं हैं, पर क्लेश इससे भी अधिक उनके कर्म के कारण से रहता है। भला बतलाओ कि जो जीव एक श्वास के १८वें भाग में मरते रहते हैं उनके इस जन्म-मरण के दुःख का कौन वर्णन कर सकता है? जन्म-मरण से बढ़कर इस जीव को अन्य कुछ भी दुःख नहीं है। लोग तो मरण को ही बड़ा दुःख समझते हैं क्योंकि मरण दूसरों का देखते हैं और उस मरण में उनका क्लेश समझा जाता है उस खुद का भी। अगर कोई मरण की शंका बना दे कि तुम्हारा तो मरण होने वाला है तो वह सुनने वाला बड़ा क्लेश मानता है, किन्तु मरण में जो क्लेश होता है उससे भी अधिक क्लेश जन्म के समय में है। लोग जन्म समझते हैं यहां के गर्भ से। मनुष्य निकला, अथवा पशु निकला तो उसे देखकर लोग कहते हैं कि अब इसका जन्म हुआ है और इसको बड़ा कष्ट है। ऐसे जन्म के समय दुःख बच्चे को होता है इसको सभी लोग जानते हैं। वह बच्चा बड़ी कठिनाई से निकलता है। उसके अत्यन्त कोमल अंग होते हैं। गर्भ से निकलकर भी उसको बहुत समय तक छटपटाहट रहती है, मगर वह जन्म नहीं कहलाता है। जन्म तो मनुष्य का उस समय कहलायेगा जबकि वह गर्भ में आया, वह उससे भी पहले जन्म कहलायेगा। गर्भ में अभी आ पाया लेकिन जहां से मरकर आया है वह स्थान छूटा कि जन्म कहलाने लगा। विग्रहगति में ही जन्म नहीं कहलाने लगता है। गर्भ में आया कि जन्म के बाद गर्भ में कोई जीव यदि मोड़ा लेकर गर्भ स्थान पर नहीं आता। सीधी गति से आता है तो उसका जन्म व जन्म स्थान पर होना पहले ही समय में हो जाता है। जीव जब मोड़ा ले करके जन्म स्थान पर आया तो उसको दो समय लगते हैं। मोड़ा लेने में एक समय लग जाता है। तो जो जीव सीधी गति में जन्म लेगा उसका १ समय में जन्म होता है, यानि एकदम फैला, स्थान पर पहुंचा और सिकुड़ गया। उसे दो समय नहीं लगते। यहां सूक्ष्म जीवों की बात कह रहे हैं कि सूक्ष्म जीव कौन-कौन होते हैं?

एक शंका समाधानपूर्वक बादर पर्याप्तों अपर्याप्त के परिमाण का उपसंहार—यहां प्रश्न यह किया जा रहा है कि जीव जब जन्म लेता है तो उस स्थान पर पहुंचने से पहले क्या वह नियत स्थान हो जाता है? स्थान वह यों है कि जहां वह जायेगा, जहां जन्म लेगा, वह बात सर्वज्ञ देव के ज्ञान में ज्ञात है या अवधि ज्ञानी मुनि संतों के ज्ञान में ज्ञात है (लेकिन इस किसी भी अल्पज्ञ जीव को ज्ञात नहीं है कि मैं कहां जन्म लूंगा?) तो उस अपेक्षा से वह स्थान नियत है। आखिर जहां कहीं भी जीव जायेगा वह तो वहां जायेगा और उसे ज्ञानी संतों ने जान लिया है अतएव वह स्थान नियत है। दूसरे जब जीव कर्मबंध करता है तो कर्म नाना प्रकार के बंधते हैं। उन कर्मबन्धों की जाति के हिसाब से भी उसके स्थान का नियतपना ज्ञात होता है।

सूक्ष्म जीव होते कितने हैं? यह बात यहां चल रही है। पृथ्वीकायिक सूक्ष्म हैं। जो पत्थर, कंकड़, मिट्टी, आदि दिख रही हैं ये सूक्ष्म नहीं हैं। सूक्ष्म तो इतने शरीर होते हैं कि वे किसी से भिड़ भी नहीं सकते। ऐसे

सूक्ष्म पृथ्वीकाय इस आंगन के आकाश में भी खूब ठसाठस भरे पड़े हुए हैं। जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय भी सूक्ष्म जीव होते हैं। त्रस जीवों में सूक्ष्म शरीर नहीं होता है, चाहे कितना ही बारीक शरीर हो, फिर भी त्रस जीवों के बादर कर्म का ही उदय रहता है। तो इन सूक्ष्म जीवों को छोड़कर बाकी जो बचे हुए बादर पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक हैं ये एकेन्द्रिय तिर्यञ्च हैं, इनमें एक भाग प्रमाण तो पर्याप्त जीव हैं और असंख्यात बहुभाग प्रमाण अपर्याप्तक हैं। यानि बादर जीवों के पर्याप्त थोड़े होते हैं और अपर्याप्त बहुत ही हैं। यह एक इन्द्रिय की बात कही जा रही है। एकेन्द्रिय में जो बादर एकेन्द्रिय है उनमें पर्याप्त जीव यानि ऐसे बादर एकेन्द्रिय जीव जो शरीर बनने की शक्ति पूरी कर सकेंगे ऐसे पर्याप्त जीव कम हैं और जो पर्याप्ति पूरी किए बिना ही मरण कर जायेंगे ऐसे अपर्याप्त जीव बहुत पाये जाते हैं (तो थोड़े हैं भी पाये जा रहे हैं कहा है लेकिन ये भी असंख्याते हैं) असंख्यात के मायने किसी भी विधि से जो कुछ भी संख्या सोची जा सकती है उस संख्या से भी परे जिनकी गिनती जानना अशक्य है। तो संख्या उत्कृष्ट क्या होगी? जो असंख्यात है जधन्य, उसमें एक कम कर दिया तो वह उत्कृष्ट संख्यात है, (उत्कृष्ट संख्या हम संख्या में ला ही नहीं सकते।) वह भी बहुत बड़ी, उससे भी अधिक जो होती है उसे असंख्यात कहते हैं।

गति की अपेक्षा जीव संख्या का अल्पबहुत्व कहकर बादर काय तिर्यञ्चों में पर्याप्त अपर्याप्तों का अल्प बहुत्व—इस प्रकरण में सबसे पहले यह बताया था गति के हिसाब से कि चार गतियों में सबसे कम जीव हैं मनुष्य, उससे असंख्यात गुने जीव हैं नारकी। नारकियों से असंख्यात गुने हैं देवगति के जीव और देवगति के जीवों से असंख्यात और अनन्तगुने हैं तिर्यञ्च गति के। अब आगे की गाथा में इन्द्रिय के हिसाब से जीवों में संख्या बतायी जायेगी कि कौन जीव कम हैं और कौन जीव अधिक हैं। उनमें यह वर्णन पर्याप्त अपर्याप्त के विभाग से किया गया है। इस गाथा में यह बताया है फिर सूक्ष्म जीवों को छोड़कर जितने शेष तिर्यञ्च हैं उनमें एक भाग तो पर्याप्त है और असंख्यात बहुभाग अपर्याप्त है। इस गाथा में यह दिग्दर्शन कराया है कि सूक्ष्म पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और सूक्ष्म वनस्पति, इनमें तो पहले बताया गया था कि अपर्याप्त जीव थोड़े हैं और पर्याप्त जीव बहुत हैं। उसका कारण है कि अपर्याप्त जीवों का काल है थोड़ा और पर्याप्त जीवों का काल है अधिक, इसलिए संचित हो होकर ये सूक्ष्म पर्याप्तक जीव गणना में अधिक हो जाते हैं। लेकिन यहां बादर जीवों की बात कह रहे हैं कि बादर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये एकेन्द्रिय तिर्यञ्च पर्याप्तक तो थोड़े हैं और अपर्याप्त अधिक हैं। इससे अपर्याप्त जीवों का प्रमाण लोक के असंख्यातवें भाग हैं और अपर्याप्त जीव असंख्यात लोग बहुभाग प्रमाण है। इसमें अपर्याप्त जीव अधिक होते हैं।

सुहुमापज्जत्ताणं इक्को भागो हवेदि णियमेण।
संखिज्जा खलु भागा तेसिं पज्जति-देहाणं।।१५७।।

सूक्ष्म अपर्याप्त जीव नियम से एक भाग प्रमाण होते हैं और सूक्ष्म पर्याप्त जीव संख्यात बहुभाग प्रमाण होते हैं। यह एक सामान्य से कथन किया गया है। इसको पृथ्वी कायिक आदि भेदों में विवरण सहित कहा जाये तो उसकी संख्या इस प्रकार होगी कि इन समस्त एकेन्द्रिय जीवों में सबसे कम जीव अग्निकायिक के हैं। अतएव सबसे पहले अग्निकायिक जीवों को परिमाण समझ लेना चाहिए। और उससे यह भी अंदाज होगा कि जब अग्निकाय जीव की इतनी बड़ी गणना है जो बहुत अधिक असंख्याते विदित होगी तो समझ में आयेगा कि पृथ्वी आदिक जीवों की गणना कितनी विशेष है? अग्निकायिक जीवों की संख्या बताई गई है लोकराशि

का ३ सही १ बटा २ बार परस्पर में गुणा करने से जो लब्ध हो उतने प्रमाण। ३ सही १२ बटा २ बार लोकराशि का परस्पर गुणा करने का भाव यह है कि लोक के जितने प्रदेश होते हैं वे सब असंख्यात हैं, उतने प्रमाण विरलन देय सलाका राशि बनाकर गुणा करते हैं इसको कहते हैं एक बार लोक राशि का परस्पर में गुणा। यों ३ सही १ बटा २ बार गुणित होने से जितना लब्ध आयेगा उतने असंख्यात अग्निकायिक जीवों का परिमाण है। विरलन देय सलाका का अर्थ सुनो–जैसे ४ संख्या का विरलनदेय सलाका पद्धति का परिमाण जानना है तो इसका अर्थ यह है कि ४ जगह १-१ लिखिये। फिर उस १-१ के नीचे ४-४ लिखिये और उनको परस्पर गुणा कीजिए। ४ गुणा ४ बराबर १६, १६ गुणा ४ बराबर ६४, ६४ गुणा ४ बराबर २५६ लब्ध आते हैं। अब ४ में से १ नष्ट कर दिया जाये, अर्थात् एक बार गुणा हो चुका, अब दूसरी बार विरलन देय सलाका पद्धति से गुणा कीजिए, यानि २५६ बार १-१ रखना और उसके नीचे २५६-२५६ लिखते जाना। इस २५६ बार लिखे गए २५६ का परस्पर में गुणा कीजिए। जितना हो–लब्ध होंगे कई अरबों, खरबों प्रमाण। तब एक सलाका कम कर दिया जाये यानि दो बार गुणा हो गया। अब जो लब्ध आया उतनी बार, फिर उनका विरलन करके परस्पर गुणा किया जाये तो आप यह अंदाज करें कि केवल ४ संख्या का ३ बार विरलन देय सलाका भी संख्या में जुड़ नहीं सकती। तब समझिये कि लोक के प्रदेश हैं असंख्यात प्रमाण और उन सब प्रदेशों का विरलन देय सलाका पद्धति से ३ सही १ बटा २ बार गुणा करना है। तब जितने लब्ध आये उतने असंख्याते प्रमाण अग्नि काय के जीव हैं तो तीन बार इस तरह लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेश को विरलन देयसलाका पद्धति से जो महाराशि उत्पन्न की गई है उस महाराशि प्रमाण हुए विरलन और देय राशि रखी जाये और पहली बार, दूसरी बार, तीसरी बार रखी हुई सलाका राशि को छोड़कर जितना प्रमाण हो उतना उस राशि में से कम करने पर जो शेष रहे उसको सलाका राशि में से घटाकर जो उत्पन्न हो उतने प्रमाण अग्निकायिक जीव हैं। इससे केवल एक अंदाज ही बनायी जा सकती है कि अग्निकायिक जीवों की इतनी विपुल संख्या है। अब अग्निकायिक जीवों की राशि में असंख्यात लोक का भाग देने से जो लब्ध हो उतना मिला देने पर पृथ्वीकायिक जीवों का प्रमाण होता है। और, पृथ्वीकायिक जो संख्या के असंख्यात लोक का भाग देने से लब्ध हो उतना और मिला दिया जाये तो जलकायिक जीव होते हैं और इससे असंख्यात लोक का भाग देने से जो लब्ध हो उतना और मिलाने पर वायुकायिक जीवों का प्रमाण होता है। अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव असंख्यात लोक प्रमाण हैं इनसे असंख्यात लोक गुणे सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव हैं। प्रतरांगुल के प्रदेशों में आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण संख्या का भाग देने से जो लब्ध हो उससे भाजित जगत प्रतर के प्रदेशों प्रमाण त्रसंजीव हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति व त्रस काय के जीवों का प्रमाण समस्त संसारी जीवों से कम कर देने पर जो लब्ध हो उतने साधारण वनस्पति कायिक जीव हैं जो अनन्तानन्त हैं। छह काय के जीवों की दृष्टि से यह प्रमाण रहा–सबसे कम अग्निकायिक जीव हैं (जो कि साढ़े तीन बार विरलनदेय सलाका विधि से लोक राशि गुणित है) उनसे अधिक पृथ्वी कायिक जीव हैं। उनसे अधिक जल कायिक जीव है। उनसे अधिक वायुकायिक जीव हैं। उनसे अधिक पृथ्वीकायिक जीव हैं। उनसे अधिक जलकायिक जीव हैं। उनसे अधिक वायुकायिक जीव हैं। उनसे अधिक त्रस जीव हैं। उनसे अधिक प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव हैं। उनसे अधिक सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कायिक जीव हैं, ये अनन्तानन्त हैं। इन्द्रियजाति की अपेक्षा इनका प्रमाण इस प्रकार है–पंचेन्द्रिय जीव इन्द्रिय गति में सबसे कम है। उनसे अधिक चतुरिन्द्रिय हैं। उनसे अधिक त्रीन्द्रिय है। उनसे अधिक द्विन्द्रिय हैं। उनसे अधिक एकेन्द्रिय हैं, ये अनन्तानन्त हैं।

संखिज्जगुणा देवा अंतिम पडलादु आणदं जाव।
तत्तो असंख-गुणिदा सोहम्मं जाव पडिपडलं।।५५८।।

अन्तिम पटल से लेकर आनत स्वर्ग पर्यन्त प्रत्येक भागों में देव संख्यात गुने हैं। आनत स्वर्ग से नीचे सौधर्म स्वर्ग पर्यन्त देव प्रत्येक पटल में असंख्यात गुने हैं। अन्तिम पटल है अनुत्तर का, उसमें अहमिन्द्र रहते हैं, उन देवों की गणना पल्य के असंख्यात भाग प्रमाण है। अनुत्तर पटल से अनुदिश में संख्यात गुने हैं। अनुदिश से ऊर्द्ध ग्रैवेयकत्रिय में संख्यातगुने हैं। उनसे मध्यमग्रैवेयकत्रय में संख्यातगुने हैं। उनसे अधोग्रैवेयकत्रय में संख्यात गुने हैं। उनसे अच्युत आरण स्वर्ग में संख्यातगुने हैं। उनसे आनत प्राणत स्वर्ग में संख्यातगुने हैं। किन्तु पल्य के असंख्यातवें भाग से ज्यादा ये कोई नहीं है। आनत प्राणत के पटल से नीचे प्रत्येक पटल में असंख्यात असंख्यातगुने देव हैं। १६ स्वर्गों में देवों का प्रमाण जो कहा है उसमें देव और देवियां सब मिलाकर हैं। यह सब प्रमाण उत्कृष्टता की अपेक्षा से है। इस प्रकार वैमानिक देवों की गणना है।

सत्तमणारयहिंतो असंख-गुणिदा हवंति णेरइया।
जाव य पढमं णरयं बहु-दुक्खा होंति हेट्ठिट्ठा।।५५९।।

सातवें नरक से लेकर ऊपर पहले नरक तक नारकियों की संख्या असंख्यात असंख्यातगुनी चली गई है। इनमें सप्तम नरक के नारकियों की गणना सबसे कम है। लेकिन ये भी असंख्यात हैं। यानि जगत श्रेणि के दूसरे वर्गमूल से भाजित जगत श्रेणि प्रमाण हैं। छठे नरक के नारकी जगत श्रेणि के तीसरे वर्गमूल से भाजित जगत श्रेणिप्रमाण हैं। पांचवें नरक के नारकी जगतश्रेणि के छठे वर्गमूल से भाजित जगत श्रेणि प्रमाण हैं। देखिये ११वें व १२वें स्वर्ग के और ९वें १०वें स्वर्ग के देव देवियों की संख्या छठे नरक के नारकियों की संख्या से ज्यादा है और पांचवें नरक के नारकियों की संख्या से कम है, क्योंकि शतार सहस्रार स्वर्ग के वासियों की संख्या जगतश्रेणि के चतुर्थ वर्गमूल से भाजित जगतश्रेणि प्रमाण है और शुक्र महाशुक्र स्वर्ग के वासियों की संख्या जगत श्रेणि के पंचम वर्गमूल से भाजित जगतश्रेणि प्रमाण है। चौथे नरक के नारकियों की संख्या जगत श्रेणि के आठवें वर्गमूल से भाजित जगत श्रेणिप्रमाण है। देखिये लान्तवकापिष्ट स्वर्ग के वासियों की संख्या पांचवें नरक के नारकियों से ज्यादा है, किन्तु चौथे नरक के नारकियों से कम है। क्योंकि लान्तवकापिष्ट स्वर्गवासियों की संख्या जगत श्रेणि के सातवें वर्गमूल से भाजित जगत श्रेणि प्रमाण है। तृतीय नरक के नारकियों की संख्या जगत श्रेणि के दसवें वर्गमूल से भाजित जगत श्रेणि प्रमाण है। देखिये ब्रह्मब्रह्मोत्तर नामक स्वर्ग के वासियों की संख्या चौथे नारक नारकियों की संख्या से अधिक है, किन्तु तीसरे नरक के नारकियों की संख्या से कम है क्योंकि ब्रह्मब्रह्मोत्तरवासियों की संख्या जगत श्रेणि के नवम वर्गमूल से भाजित जगत श्रेणि प्रमाण है। द्वितीय नरक के नारकियों की संख्या जगत श्रेणि के बारहवें वर्गमूल से भाजित जगत श्रेणि प्रमाण है। देखिये तीसरे और चौथे स्वर्ग के वासियों का प्रमाण द्वितीय नरक के नारकियों की संख्या से कम है और तृतीय नरक के नारकियों की संख्या से अधिक है। क्योंकि सनतकुमार माहेन्द्र स्वर्ग के वासियों की संख्या जगत श्रेणि के ११वें वर्गमूल से भाजित जगत श्रेणि प्रमाण है। प्रथम नरक के नारकियों की संख्या द्वितीय नरक के नारकियों से असंख्यातगुनी है। समस्त नरक के नारकियों की संख्या घनांगुल के दूसरे वर्गमूल से गुणित जगत श्रेणि प्रमाण है। इन समस्त नारकियों की संख्या में से दूसरे से सातवें नरक तक के नारकियों की संख्या कम करने से जो लब्ध हो उतना प्रमाण प्रथम नरक के नारकियों का होता हैं। इन सातों नरकों में ऊपर से नीचे के नरकों में अधिकाधिक दुःख है।

कप्प-सुरा भावणया विंतर-देवा तहेव जोइसिया।
बे हुंति असंखगुणा संख-गुणा होंति जोइसिया।।१६०।।

कल्पवासी देवों से असंख्यातगुने भवनवासी देव हैं। भवनवासी देवों की संख्या से असंख्यातगुणे व्यन्तर देव हैं। व्यन्तर देवों की संख्या से संख्यातगुने ज्योतिष्क देव हैं। प्रथम स्वर्ग से लेकर १६वें स्वर्ग तक के देव कल्पवासी कहे जाते हैं, किन्तु यहां सर्व वैमानिकों को कल्पसुर कहा है। इनकी संख्या घनांगुल के तीसरे वर्गमूल से गुणित जगत श्रेणी प्रमाण है। भवनवासी देव घनांगुल के प्रथम वर्गमूल से गुणित जगत श्रेणि प्रमाण हैं। तीन सौ योजन के वर्ग से भाजित जगत प्रतर के प्रदेशों प्रमाण व्यन्तर देव हैं। दो सौ छप्पन घनांगुल के वर्ग का जगत प्रतर में भाग देने से जो प्रदेश लब्ध आवे, उतने ज्योतिषीदेव हैं। इस प्रकरण में स्थूल रूप में यह समझलें कि वैमानिक देवों से अधिक समस्त नारकी जीव हैं। समस्त नारकी जीवों से अधिक भवनवासी देव हैं। भवनवासी देवों से अधिक व्यन्तर देवों की संख्या है। व्यन्तर देवों से अधिक ज्योतिषी देवों की संख्या है। इस प्रकार देवगति आदि में जीवों का अल्प बहुत्व बताकर एकेन्द्रियादि जीवों की उत्कृष्ट आयु तीन गाथाओं में कहेंगे।

पत्तेयाणं आऊ वास-सहस्साणि दह हवे परमं।
अंतो-मुहुत्तमाऊ साहारण-सव्व-सुहुमाणं।।१६१।।

प्रत्येक वनस्पति, सभी साधारण वनस्पति और सूक्ष्मकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु–प्रत्येक वनस्पतियों की उत्कृष्ट आयु १० हजार वर्ष की है। प्रत्येक वनस्पति जैसे ताड़ वृक्ष, नारियल वृक्ष, इमली, पीपल आदिक इनमें से जो प्रत्येक वनस्पति रहते हैं इनकी अधिक से अधिक आयु १० हजार वर्ष की है। जैसे मनुष्य की आयु है ऐसे ही उनकी भी आयु होती है, जब आयु पूर्ण होती है तो मरण होता है। तो जैसे एक भव में इस समय जो प्रत्येक वनस्पति जीव है वह अपने शरीर में अधिक से अधिक १० हजार वर्ष तक रह सकता है। और कोई अनेक जगह बहुत पुराने वृक्ष खड़े हुए अब भी मौजूद हैं जिनका कि कोई अंदाज हजार दो हजार वर्ष का अब भी करते हैं–तो इनकी उत्कृष्ट आयु १० हजार वर्ष है। निगोद जीवों की उत्कृष्ट आयु अन्तर्मुहूर्त की है, निगोद जीव चार तरह के होते हैं। पहले तो दो भेद यों कहे नित्यनिगोद और इतरनिगोद। जो जीव निगोद से आज तक नहीं निकले उनका नाम है नित्यनिगोद और जो जीव कभी निगोद से निकल गए थे और फिर निगोद में आये उनका नाम है इतरनिगोद। नित्यनिगोद जीव दो प्रकार के होते हैं एक अनादि अनन्त नित्यनिगोद और दूसरे अनादिसांत नित्यनिगोद। जो कभी निकले नहीं और कभी निकलेंगें भी नहीं उन्हें अनादिअनन्त नित्यनिगोद कहा है। जैसे अब तक जो जीव नहीं निकले निगोद से उन्हें भी तो अनन्तकाल व्यतीत हो गया और ऐसे बहुत से काल के बाद भी चर्चा आयेगी नित्यनिगोद की तो यही आयेगी कि जो अब तक नहीं निकले। तो दो प्रकार के निगोद हुए–नित्यनिगोद और इतरनिगोद, और ये दोनों दो-दो प्रकार के हैं–सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म नाम है उनका जिनका शरीर अग्नि, जल, वायु या वज्र किसी से भी नहीं छिड़ सकता। और जिन जीवों के शरीर का पर से आघात होता है उन्हें कहते हैं बादर जीव। तो सूक्ष्म नित्यनिगोद, बादर नित्यनिगोद, सूक्ष्म इतरनिगोद, बादर इतरनिगोद, इन सबकी उत्कृष्ट आयु अन्तर्मुहूर्त की होती है और सूक्ष्म पृथ्वीकाय, सूक्ष्य जलकाय, सूक्ष्म अग्निकाय, सूक्ष्म वायुकाय, इन जीवों की उत्कृष्ट आयु भी अन्तर्मुहूर्त की होती है। गाथा में पहिले जीवों की संख्या का वर्णन था और संख्या रूप से निश्चित किए गए ये जीव किस-किस प्रकार की आयु वाले होते हैं–वह वर्णन अब प्रारम्भ हो रहा है।

बावीस-सत्त-सहसा पुढवी-तोयाण आउसं होदि।
अग्गीणं तिण्णि दिणा तिण्णि सहस्साणि वाऊणं।।१६२।।

पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय व वायुकाय जीवों की उत्कृष्ट आयु–पृथ्वीकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु २२ हजार वर्ष की है। पृथ्वी के नीचे जो हीरा रत्न आदिक पत्थर पड़े हैं वे सब पृथ्वीकाय हैं। तो उनमें अनेक पृथ्वी जीव ऐसे हैं कि वे अपने शरीरों को २२ हजार वर्ष तक रखे रहते हैं। हां पृथ्वियों में जो कोमल पृथ्वी है उसकी उत्कृष्ट आयु १२ हजार वर्ष है किन्तु जो कठोर पृथ्वी है हीरा रत्न आदिक रूप में उसकी उत्कृष्ट आयु २२ हजार वर्ष तक मानी गयी है। जलकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु ७ हजार वर्ष की है। जैसे बड़े-बड़े समुद्रों में जो जलकायिक जीव हैं वे स्वयं एकेन्द्रिय जीव हैं, वे अपने शरीर को अधिक से अधिक ७ हजार वर्ष तक टिकाये रह सकते हैं, फिर उनमें मरते रहते हैं और नये जीव पैदा होते रहते हैं। जो जल का सारा समूह है, इतना बड़ा जो समुद्र है वह एक जल नहीं है, जल की छोटी से छोटी बूंद जो सुई से टपकायी जा सके उससे भी बहुत अधिक छोटी बूंद वह जल का एक शरीर होता है। उसमें जो जीव रहता है एकेन्द्रिय जलकाय जीव उसकी उत्कृष्ट आयु ७ हजार वर्ष की है। समुद्र तो अनादि निधन है, पर उसमें जलकायिक जीव मरते रहते हैं, पैदा होते रहते हैं पर जलकायिक जीव अपने एक शरीर में अधिक से अधिक ७ हजार वर्ष तक रह सकते हैं। अग्निकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयु तीन दिन की हैं। आग भी स्वयं एक जीव है और वह अपने शरीर में उस जलती हुई अग्नि के रूप में तीन दिन तक रह सकती है। कोई अग्नि इतने बड़े ईंधन वाली हो कि ८-१० दिन तक भी जले, लेकिन एक-एक अग्नि कायिक जीव अधिक से अधिक तीन दिन तक टिक सकेगा। वायुकायिक जीव की उत्कृष्ट आयु ३ हजार वर्ष की है। वायु का जीव अपने शरीर में तीन हजार वर्ष तक रह सकता है। इसके बाद मरेगा यों अनेक वायु के जीव उत्पन्न होते रहते हैं, मरते रहते हैं।

बारस-वास वियक्खे रग्गुणवण्णा दिणाणि तेयेक्खे।
चउरक्खे छम्मासा पंचक्खे तिण्णि पल्लाणि।।१६३।।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च उत्कृष्ट आयु–दो इन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु १२ वर्ष की है। अब दो इन्द्रिय में लट, केचुवा, जोंक आदिक हैं सो यहां भी अधिक आयु संभव नहीं है। स्वयंभूरमण समुद्र के अनन्तर पूर्व में जो आखिरी द्वीप है उसके उत्तरार्द्ध में वहां जो दोइन्द्रिय तिर्यञ्च रहते हैं उनकी उत्कृष्ट आयु १२ वर्ष की हो सकती है। कहीं भी हों लोक में वे दो इन्द्रिय जीव तो वे १२ वर्ष से अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकते। तीन इन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु है ४९ दिन। चींटा, चींटी, बिच्छू, आदि जो जीव हैं वे ४९ दिन से अधिक जीवित नहीं रह सकते। चार इन्द्रिय जीव जैसे मक्खी, ततैया, मच्छर, भंवरा आदि इनकी उत्कृष्ट आयु ६ माह की है। पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है, लेकिन यह तिर्यंञ्चों की बात बतायी जा रही है। पञ्चेन्द्रियों में नारकी भी हैं, देव भी हैं, उनकी आयु सागरों पर्यन्त की हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जैसे गाय, बैल, घोड़ा, हाथी, सिंह आदिक यहां के नहीं किन्तु भोगभूमिया में जो हैं उनकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की है। इस तरह इन जीवों की उत्कृष्ट आयु का वर्णन किया। अब सभी तिर्यञ्च और मनुष्यों की जघन्य आयु और देव और नारकियों की उत्कृष्ट आयु को दो गाथाओं में बतायेंगे।

सव्व-जहण्णं आऊ लद्धि-अपुण्णाण सव्व जीवाणं।
मज्झिम-हीण-मुहुत्तुं पज्जत्ति-जुदाण णिक्किट्ठं।।१६४।।

सर्व लब्ध्यपर्याप्त जीवों की व पर्याप्त जीवों की जघन्य आयु–लब्ध्यपर्याप्तक जितने भी जीव हैं उन सब जीवों की जघन्य आयु मध्यम हीन मुहूर्त है यानि अन्तर्मुहूर्त आयु में जो सबसे छोटी आयु अन्तर्मुहूर्त की हो सकती है वह है। और पर्याप्त सब जीवों की जघन्य आयु भी मध्यम हीन मुहूर्त होती है। लब्ध्यपर्याप्तक के मायने पर्याप्ति पूरी न हो सके, शरीर बनने की शक्ति जीवों में पूरी न आ सके और मरण हो जाये, उन जीवों को लब्ध्य पर्याप्तक कहते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवों की आयु अन्तर्मुहूर्त है और वह है एक श्वास के १८वें भाग प्रमाण काल की। स्वस्थ पुरुष की नाड़ी एक बार उचकने में जो समय लगता है उतने समय में १८ बार जन्म-मरण होता है। तो एक लब्ध्य पर्याप्तक एकेन्द्रिय के भी यह श्वास के १८वें भाग प्रमाण आयु है। लब्ध्यपर्याप्तक दोइन्द्रिय जीव, लब्ध्य पर्याप्तक तीन इन्द्रिय जीव, लब्ध्यपर्याप्तक चार इन्द्रिय जीव, लब्ध्यपर्याप्तक असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव और लब्ध्यपर्याप्तक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव यानि जितने भी लब्ध्यपर्याप्तक हैं एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक, सबकी जघन्य आयु एक श्वास के १८वें भाग प्रमाण है। जैसे कि करुणानुयोग के ग्रन्थों में भी बताया है कि लब्ध्यपर्याप्त की जघन्य आयु एक श्वास में १८वें भाग प्रमाण है अर्थात् ४८ मिनट में ६६३३६ बार जन्म-मरण होता है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, एकेन्द्रिय पर्याप्तक, दोइन्द्रिय पर्याप्तक, तीन इन्द्रिय पर्याप्तक, चारइन्द्रिय पर्याप्तक और गाय आदिक कर्मभूमिया पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्यों में ६३ शलाका के पुरुष और चरमशरीरी मनुष्यों को छोड़कर बाकी कर्मभूमिया मनुष्य इन सब की भी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। यह अन्तर्मुहूर्त भी मध्यम अन्तर्मुहूर्त है। एक-दो मिनट में भी मर जायें। जो हम आप मनुष्य हैं इनकी भी आयु कम से कम कुछ सेकण्डों की हो सकती है। जीव गर्भ में आया, पर्याप्त तो बन गया। पर्याप्त से पहले तो मरण होगा नहीं, मगर पर्याप्त बनने में करीब दो-चार सेकेण्ड लगते हैं। कहीं मनुष्य एक आध मिनट ही जिन्दा रहे और मरण हो जाये तो यह मनुष्य की जघन्य आयु है।

जीवों की आयु आदि वर्णन से गृहीतव्य शिक्षा–उक्त सब आयु के कथन से अपने लिए इतनी बात शिक्षा की मिलती है कि कैसे-कैसे ये जीव हैं, जिनकी कैसी संख्या, कैसी आयु और उन देहों से हम आप निकल आये और आज मनुष्य हुए और मनुष्यों में भी मान लो जघन्य आयु होती, अन्तर्मुहूर्त होती या दो-चार वर्ष की ही आयु होती और बीच में ही मर जाते तो क्या यह सब संभव न था? बल्कि अब तक जो जीवित हैं इसमें आश्चर्य होना चाहिए। मरण का आश्चर्य संसार में नहीं है। जैसे बरसात में ऊपर से जल की बूंदें गिरती हैं तो बबूले बन जाते हैं। उन बबूलों के फूट जाने में आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य तो इसमें है कि वे अधिक समय तक टिक जायें। ऐसे ही हम आप अभी तक जीवित हैं इसमें आश्चर्य समझें और साथ ही यह सोचें कि कल का भी अपना कुछ पता नहीं है। न जाने यह मृत्यु किस बहाने हो जाये? एक कवि ने बताया है कि इस यमराज का नाम समवर्ती है। आयुक्षय को ही यमराज बोलते हैं, परेतराट् भी उस यमराज को कहतेहैं। परेत कहते हैं श्मशान को और उसका राट मायने राजा। श्मशान का राजा अर्थात् यमराज, आयुक्षय, मरण । तो यह महाराज यमवर्ती है। इसके समता का परिणाम है। कैसे कि, चाहे बच्चा हो, बालक हो, जवान हो, बूढ़ा हो, सबको वह एक गिनती में रखता है। यानि वह यह न सोचेगा कि यह बच्चा है, इसे न मारना चाहिए। यह जवान है, इसे और भी जिन्दा रहने देना चाहिए। उस यमराज की दृष्टि में बच्चा, जवान, बूढ़ा आदि सभी एक समान हैं। जो चाहे जब चाहे मर सकता है अर्थ उसका यह है। तो जब ऐसी स्थिति है कि हमारी आयु पहले कभी भी खत्म हो सकती थी। बचपन में ही गुजर जाते तो अपने लिए यह वर्तमान समागम फिर क्या था?

फिर यहां किसमें मोह करते? मोह करने के लिए फिर ये चीजें तो न मिलतीं। ऐसा ही समझ ले कोई कि मैं चलो बचपन में ही गुजर गया और गुजरकर किसी अन्य गति में पहुंचा, उस स्थिति में इस मेरे लिए यहां का वातावरण तो कुछ भी नहीं होता। जब सुयोग से आयु हमारी अब तक है और साथ ही बुद्धि भी मिली है तो हमें ज्ञान का सदुपयोग इस तरह करना चाहिए कि हम अपने आत्मस्वरूप की दृष्टि अधिक बनाये रहें और आत्मदर्शन कर करके कुछ-कुछ कर्मों की निर्जरा करें, पाप का क्षय करें, जन्म-मरण के संकटों के टलने का उपाय मजबूत बनायें, यह हमारा परम कर्त्तव्य है। यद्यपि गृहस्थजनों को दो कार्य बताये हैं--आजीविका और आत्मोद्धार। लेकिन उन दोनों में भी यह विवेक करना होगा कि आजीविका तो करनी पड़ती है, यह करने योग्य बात नहीं है, और आत्मोद्धार करने योग्य बात है क्योंकि जब गृहस्थी का त्याग कर दिया जाता है तब आजीविका का तो त्याग हुआ, मगर आत्मोद्धार के काम का त्याग नहीं हुआ। तो इन दोनों कामों में भी आत्मोद्धार का काम मुख्य है। आजीविका का कार्य गौण है। इसलिए बताया है कि हम न्यायोचित आजीविका करके अपने को जीवित बनायें और जीवन इसलिए बनायें कि हमें अभी न्यायोचित आजीविका करके अपने को जीवित बनायें कि हमें अभी संसार से तिरने का उपाय बनाना है। इसलिए कुछ काल तक मनुष्य जीवन बनाये रखना सफलता है।

देवाण णारयाणं सायर-संखा हवंति तेत्तीसा।
उक्किट्ठं च जहण्णं वासाणं दस सहस्साणि।।१६५।।

देवगति व नरकगति के जीवों की आयु का वर्णन--उक्त कथन में तिर्यञ्च और मनुष्य गति के जीवों की आयु बतायी गई है, अब शेष रही देवगति और नरकगति के जीवों की आयु को बताते हैं। देव और नारकी ये दोनों वैक्रियक शरीर वाले हैं। यद्यपि इनके वैक्रियक शरीर में परस्पर बहुत भेद हैं, देवों का शुभ वैक्रियक शरीर है, नारकियों का अशुभ वैक्रियक शरीर है। देव अनेक शरीर बना सकते हैं, नारकी अपने एक शरीर से ही कोई चीज एक बना लें, शस्त्र बना लें, सिंहादिक का रूप बना लें। देवों के शरीर में सुगंध होती है, नारकियों के शरीर में दुर्गन्ध होती है। देवों को बहुत वर्षों में कभी भूख लगती है तो कंठ से अमृत झड़ता है उससे ही तृप्ति हो जाती है, किन्तु नारकियों को भूख-प्यास की असीम वेदना रहती है और उस भूख प्यास की वेदना को बुझाने का उपाय भी वहां कोई नहीं है। यों अन्तर है उनके शरीर में तो भी वैक्रियक शरीर नाम कर्म के उदय से देवों को वैक्रियक शरीर मिला और वैक्रियक शरीर नामकर्म के उदय से नारकियों को वैक्रियक शरीर मिला और इससे इनकी आयु बहुत बड़ी है। जितनी किसी भी गति में संभव नहीं, इतनी अधिक उत्कृष्ट आयु देवगति और नरकगति में होती है। सामान्यतया देवों की उत्कृष्ट आयु ३३ सागर की और जघन्य आयु १० हजार वर्ष की होती है। इसी प्रकार नारकियों की उत्कृष्ट आयु ३३ सागर और जघन्य आयु १० हजार वर्ष की होती है।

भवनवासी, व्यन्तर व ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट व जघन्य आयु--अब विशेष विवरण के साथ अलग-अलग स्थिति वाले देवों व नारकियों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु का विवरण करते हैं। देव ४ प्रकार के होते हैं--भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। इन चार में से भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव छोटी श्रेणी के देव कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव-मरण करके इन तीन प्रकार के देवों में उत्पन्न नहीं होता। ये भवनत्रिक देव धर्मोपदेश आदिक किसी निमित्त को पाकर भले ही सम्यग्दृष्टि हो जायें, पर सम्यग्दर्शन में मरण करने वाले जीव इन तीन प्रकार के देवों में उत्पन्न नहीं होते भवनवासियों की उत्कृष्ट स्थिति उनकी जाति के

भेद से नाना प्रकार की है। भवनवासी १० प्रकार के होते हैं–असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार। इनमें से असुरकुमार की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर प्रमाण है। नागकुमार जाति के देवों कीउत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य की है। सुपर्ण कुमार जाति के भवनवासियों की उत्कृष्ट आयु ढाई पल्य की है, द्वीप कुमार जाति के देवों की आयु दो पल्य की है। भवनवासी देवों की जघन्य आयु १० हजार वर्ष की है। शेष छह प्रकार के भवनवासियों की उत्कृष्ट आयु डेढ-डेढ पलय है। भवनवासी देवों के बाद अब व्यन्तर जाति के देवों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति देखिये–व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य की होती है और जघन्य आयु १० हजार वर्ष की होती है। व्यन्तरों के बाद ज्योतिषियों की आयु देखिये, ज्योतिषी देव सूर्य, चन्द्र, तारा, नक्षत्र, ग्रह आदिक विमानों में रहने वाले होते हैं। ज्योतिषियों की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य की होती है और जघन्य आयु पल्य के ८वें भाग प्रमाण होती है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी इन तीन प्रकार के देवों में उत्कृष्ट स्थिति सबसे कम ज्योतिषी की है, उनसे अधिक उत्कृष्ट स्थिति व्यन्तरों की है और उनसे अधिक उत्कृष्ट आयु भवनवासी देवों की होती है।

वैमानिक देवों में मुख्य दो भेद–अब वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु का विवरण करते हैं, वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं–कल्पवासी और कल्पातीत। सोलह स्वर्गों में रहने वाले देवों को कल्पवासी देव कहते हैं। जिनमें इन्द्र, सामानिक त्रायस्त्रिंश (मंत्री) पारिषद (सदस्य) आत्मरक्षकलोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक आभियोग्य, किल्विषिक ये १० प्रकार की कल्पनायें होती हैं उन्हें कल्प कहते हैं। इन १६ स्वर्गों में ये भेद हैं, कोई देव इन्द्र कहलाते हैं। कोई देव इन्द्र के बराबर, किन्तु आज्ञा जिनकी नहीं चलती, इस प्रकार सामानिक देव होते हैं। कुछ लोग इन्द्रों के मंत्री की तरह होते हैं, कुछ लोग इन्द्र की सभा के खास सदस्य होते हैं। कोई देव इन्द्र की रक्षा के लिए होते हैं। रक्षा की आवश्यकता तो नहीं है किन्तु कुछ पुण्योदय ही ऐसा है कि कुछ आत्मरक्षक देव होते हैं। कोई देव लोकपाल कहलाते हैं, जो सभी देवों में न्याय नीति की व्यवस्था बनाये रहते हैं । कुछ देव अनीक होते हैं–७ प्रकार की सेना होती है। कुछ देव प्रकीर्णक होते हैं। जो प्रजाजनों की भाँति फैल फुट रहने वाले देव। कुछ देव सवारी के लिए नियुक्त होते हैं। इन्द्र या अन्य ऋद्धि वाले देव इन आभियोग्य देवों को हुकुम करते हैं कि अमुक वाहन का रूप रखकर चलो। उन्हें वाहन रूप बनना पड़ता है। कुछ देव किल्विषिक होते हैं–यहां जैसे अत्यन्त अस्पर्श शुद्र गांवों के अन्त में रहते हैं, इस तरह के देव उनमें होते हैं। तो ये १० भेद जहां तक चलते हैं उन कल्पों में रहने वाले देवों का नाम है कल्पवासी देव। कल्पवासी देवों में यद्यपि कुछ छुद्र जाति के देव भी हैं इस आभियोग्य व किल्विषिक कहते हैं–लेकिन उनको कष्ट नहीं है, रोग, भूख, प्यास आदिक का क्लेश नहीं दृष्टि से वे अपने को सुखी माना करते हैं।

स्वर्ग में रहने वाले देवगति के जीवों की उत्कृष्ट आयु–अब उन कल्पवासी देवों में प्रथम सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देवों की आयु बतलाते हैं। पहले और दूसरे स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु दो सागर प्रमाण है। यदि किसी सम्यग्दृष्टि जीव ने तीन चार सागर की आयु की देवायु बांधी हो, पीछे उसका भाव कम हो जाये, या सम्यक्त्व नष्ट हो जाये तो आयु कम हो जायेगी और ऐसी स्थिति में ढाई सागर की भी आयु रहे तो भी प्रथम द्वितीय स्वर्ग में उत्पन्न हो जाता है। तो घातायुष्क जीव की अपेक्षा पहले दूसरे स्वर्ग में आधा सागर अधिक दो सागर की उत्कृष्ट आयु है। तीसरे चौथे स्वर्ग में उत्कृष्ट आयु ७ सागर की है व घातायुष्क जीव की आधा सागर और अधिक आयु हो सकती है। पांच वें छठवें स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु १० सागर है, घातायुष्क जीव की साढ़े दस सागर की उत्कृष्ट आयु हो सकती है। यहां ब्रह्म स्वर्ग के अन्त में लौकान्तिक

देव रहते हैं। जैसे किसी नगर के चारों ओर साधु संन्यासी की कोई कुटी बनी रहती है ऐसे ही ५वें स्वर्ग के अन्त में लौकान्तिक देवों का निवास है। उनकी उत्कृष्ट आयु ८ सागर की होती है। इन्हें लौकान्तिक देव इस कारण से कहते हैं कि एक तो ये ब्रह्मलोक में निवास करते हैं दूसरे–संसार का लोक का अन्त आ गया अर्थात् ये बहुत ही जल्दी संसार से मुक्त हो जायेंगे। ये एक मनुष्य का भव पाकर मुनि होकर संसार संकटों से सदा के लिए छूट जायेंगे इसलिए इन्हें लौकान्तिक देव कहते हैं। ७वे ८वें स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु १४ सागर है पर घातायुष्क देवों की उत्कृष्ट आयु साढ़े चौदह सागर की हो सकती है। ९वे १०वें स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु १६ सागर प्रमाण है। घातायुष्क देव की आयु आधा सागर और अधिक हो सकती है। ११वे १२वें स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु १८ सागर प्रमाण है। घातायुष्क जीव आधा सागर और अधिक तक पा लेते हैं। १२वें स्वर्ग तक ही घातायुष्क जीवों की यह व्यवस्था है। उसके ऊपर घाताष्युक जीव नहीं होते। १३वें १४वें स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु २० सागर प्रमाण है और अन्त में दो स्वर्गों के देवों की उत्कृष्ट आयु २२ सागर प्रमाण है। यहां यह बात विशेष जानना कि देवियों की उत्पत्ति पहले और दूसरें स्वर्ग में ही होती है। १६वें स्वर्ग के देव के भी देवी उत्पन्न तो होगी पहले दूसरे स्वर्ग में किन्तु नियोगवश देव आते हैं और उनके साथ देवी १६वें स्वर्ग में रहने लगती हैं। अब उन देवियों की आयु प्रथम कल्प में उत्पन्न होने के नाते दो सागर से अधिक तो हो ही नहीं सकती, लेकिन देवियों की आयु अधिक से अधिक ५५ पल्य की बतायी गई है।

कल्पातीत वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु–अब कल्पवासी देवों के बाद कल्पातीत वैमानिक देवों की आयु का वर्णन किया जा रहा है। जिनमें इन्द्रादि की कल्पना नहीं है, जहां सभी अहमिन्द्र हैं, देवियां नहीं हैं, जहां सभी देव अप्रवीचारी हैं, उन्हें कल्पातीत देव कहते हैं। कल्पातीतों में प्रथम नवग्रैवेयक की रचना है, अर्थात् ९ पटलों में ग्रैवेयक देवों के निवास हैं। नवग्रैवेयकों के नाम हैं १. सुदर्शन, २.अमोघ, ३. सुप्रबुद्ध, ४. यशोधर, ५. सुभद्र, ६. सुविशाल ७. सुमनस, ८. सौमनस्य, और नौवें प्रीतिंकर। प्रथम ग्रैवेयक के देवों की उत्कृष्ट आयु २३ सागर की है, दूसरे ग्रैवेयक के देवों की उत्कृष्ट आयु २४ सागर की है। इस तरह आगे-आगे एक सागर आयु बढ़-बढ़ कर अंतिम ९वें ग्रैवेयक में देवों की आयु ३१ सागर की होती है। ग्रैवेयक से ऊपर ९ अनुदिश की रचना है। यह रचना एक पटल में है जिसका नाम है–आदित्य। आदित्य पटल में ९ विमान हैं–एक बीच में, चार चारों दिशाओं में और चार चारों विदिशाओं में, इस तरह ९ विमानों में रहने वाले देवों की उत्कृष्ट आयु ३२ सागर है। इस पटल के ऊपर सर्वार्सिद्धि वाला पटल है, जहां ५ विमान हैं, इसे बोलते हैं अनुत्तर पटल। बीच में सर्वार्सिद्धि है और पूर्व आदिक चारों दिशाओं में विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजित नामक विमान हैं। इनकी उत्कृष्ट आयु ३३ सागर की है, लेकिन सर्वार्सिद्धि के देवों की उत्कृष्ट और जघन्य दोनों ही आयु ३३ सागर की है। इस सर्वार्सिद्धि के ऊपर और कोई भी देव नहीं पाये जाते और न कोई त्रस जीव है। इससे ऊपर ८वीं पृथ्वी है जिसका नाम है ईषत्प्रागभार और, उसके बहुत ऊपर तीन वातवलय हैं, उनमें जो अन्तिम वातवलय है वहां अन्त में रहते हैं सिद्ध भगवान। वे सिद्ध हैं। उनकी आयु तो होती ही नहीं है। वे तो कर्मरहित हैं।

वैमानिक देवों की जघन्य आयु–अब इन कल्पवासी और कल्पान्तर देवों की जघन्य स्थिति सुनिये जो कि इस प्रकार है–पहले और दूसरे स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु तो १० हजार वर्ष हैं और ऊपर दूसरे तीसरे स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु वह है जो पहले दूसरे स्वर्ग की उत्कृष्ट आयु है। इस तरह आगे-आगे के विमानों के देवों की जघन्य आयु वह है जो पहले के विमानों के देवों की उत्कृष्ट आयु है। इस तरह यह सर्वा

सिद्धि से पहले तक समझना। इनमें लौकांतिक देवों की आयु ८ सागर की होती है, कम अधिक नहीं। उनमें भी एक जाति के ऐसे लौकांतिक देव हैं जिनकी ९ सागर भी आयु होती है। यों चार प्रकार के देवों में उत्कृष्ट और जघन्य आयु का विवरण किया गया।

नारकी जीवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु—अब नरकों में रहने वाले नारकियों की आयु सुनिये, पहले नरक में नारकियों की उत्कृष्ट आयु १ सागर है, दूसरे में ३ सागर है, तीसरे में ७ सागर, चौथे में १० सागर, ५वें में १७ सागर, छठे में २२ सागर और ७वें में ३३ सागर है। जघन्य आयु नारकियों की १० हजार वर्ष होती है और दूसरे नरक की जघन्य आयु वह है जो पहले नरक की उत्कृष्ट आयु है। इस तरह नीचे-नीचे के नरकों में यह व्यवस्था है कि उससे पहले नरक की उत्कृष्ट आयु अगले नरक की जघन्य आयु होती है। इस तरह सब जीवों की आयु का वर्णन पूरा हुआ।

अंगुल-असंख-भागो एयक्ख-चउक्ख-देह-परिमाणं।
जोयण-सहस्समहियं पन्यं उक्कस्सयं जाण।।१६६।।

एकेन्द्रियों की जघन्य अवगाहना व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु काय के एकेन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना—इस अवगहना में संसारी जीवों के वर्णन के प्रसंग में उनकी संख्या और आयु का वर्णन करके अब शरीर की अवगाहना १० गाथाओं में बतायेंगे। जिसमें इस गाथा में एकेन्द्रिय जीवों के शरीर की उत्कृष्ट और जघन्य अवगाहना बतायेंगे। एकेन्द्रिय जीवों के शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग है। और पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना भी घनागुंल के असंख्यातवें भाग हैं। यहां घनांगुल से मतलब है एक अंगुल मोटा, एक अंगुल लम्बा, एक अंगुल चौड़ा क्षेत्र। अंगुल होता है ८ यव प्रमाण। अर्थात् ८ यव की बीच की मोटाई और से क्रम से रख दिया जाये तो वह एक अंगुल का परिमाण होता है, अर्थात् एक परिमाण क्षेत्र में ८ यव प्रमाण अंगुल क्षेत्र में आकाश के जितने प्रदेश आये उन प्रदेशों से जितने अनेक प्रदेश पंक्तियों की लम्बाई हुई है उतने का नाम है द्रव्यांगुल। ऐसे-ऐसे चारों ओर से अंगुल प्रमाण क्षेत्र के असंख्याते भाग किए जायें उन असंख्याते भागों में से एक भाग प्रमाण इतना सूक्ष्म शरीर इन एकेन्द्रिय जीवों का जघन्य शरीर होता है, और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनका उत्कृष्ट शरीर भी घनांगुल का असंख्यातवां भाग होता है। अब यहां यह अनुमान करिये कि पृथ्वी का एक पत्थर है जमीन में, उस पत्थर में एक पृथ्वी जीव नहीं है, असंख्याते पृथ्वी जीव हैं। और, एक-एक पृथ्वी जीव का शरीर इतना हल्का है, छोटा है कि वह घनांगुल के असंख्यातवें भाग पड़ता है यानि वह शरीर आंखों से दिखने में नहीं आ सकता। बारीक से बारीक कोई पृथ्वी का कण हो, उस कण के भी करोड़वां हिस्सा से भी छोटा पृथ्वी जीव का एक शरीर होता है। इसी तरह जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक का भी शरीर घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण छोटा होता है। एकेन्द्रिय में बादर एकेन्द्रिय और सूक्ष्मएकेन्द्रिय ऐसे दो भेद होते हैं। जिन जीवों के बादर नाम कर्म का उदय है उन्हें बादर एकेन्द्रिय कहते हैं। जिन जीवों के सूक्ष्म नामकर्म का उदय है उन्हें सूक्ष्म एकेन्द्रिय कहते हैं। तो जितने भी बादर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु हैं और सूक्ष्म भी पृथ्वी, जल, अग्नि वायु हैं, सबका ही शरीर उत्कृष्ट से उत्कृष्ट घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। किन्तु अपेक्षाकृत सूक्ष्म जीवों की अवगाहना बादर जीवों से कुछ कम रहती है। इसमें भी अपेक्षाकृत, किसकी अपेक्षा किसका देह कम है, इसका विशेष संक्षेप करणानुयोग के अन्य ग्रन्थों से जान लिया जायेगा। उसका विस्तार बहुत बताया गया है। यहां संक्षेप में इतनी ही बात कह रहे हैं कि एकेन्द्रिय जीवों की देह की जघन्य

अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है, और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, इन चार प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों के शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना भी घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

वनस्पतिकायिक जीवों के देह की जघन्य व उत्कृष्ट अवगाहना—वनस्पतिकायिक जीवों में साधारण वनस्पतिकायिक जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग है और प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक एक हजार योजन प्रमाण की है। यह उत्कृष्ट अवगाहना कमल की है। कमल का फूल बहुत बड़ी ऊंची डंडी को लिए हुआ होता है। तालाब में कोई कमल यदि तालाब से ४-५ हाथ निकला हुआ है तो तालाब के भीतर जितने नीचे पानी है चाहे वह ५० हाथ भी पानी है, उसकी डंडी उतने नीचे है। तो बाहर के अन्तिम समुद्र में ऐसी ऊंचाई वाले कमल पाये जाते हैं कि जिनकी अवगाहना कुछ अधिक? एक हजार योजन है। यह अवगाहना लम्बाई की अपेक्षा से कही गई है।

बारस-जोयण-संखो कोस-तियं गोब्भिया समुद्दिठा।
भमरो जोयणमेगं सहस्स संमुच्छिमो मच्छो।।१६७।।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय जीवों के देह की उत्कृष्ट अवगाहना—इस गाथा में दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना बताई गई है। ये उत्कृष्ट अवगाहना वाले जीव स्वयंभूरमण नाम के अन्तिम द्वीप में व समुद्र में पाये जाते हैं। दो इन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना १२ योजन है, और यह अवगाहना शंख की है। सम्मूर्छन जन्म वाले जीव उत्पन्न होने के समय से ही बड़े शरीर को लिए हुए होते हैं। बाद में उनका शरीर कुछ ही थोड़ा और बढ़ता है, लेकिन गर्भ जन्म वाले जीवों की तरह जन्म समय में बड़ा ही छोटा शरीर हो और बाद में बढ़कर वह हजार गुना बढ़ जाता है, इस तरह से सम्मूर्छन जीवों का शरीर शुरू में अति छोटा होता हो, बाद में बढ़कर बड़ा बने ऐसा नहीं है। इसका कारण यह है कि उनका जन्म सम्मूर्छन जन्म है। पहले से ही पड़े हुए उन पृथ्वी, कूड़ा, करकट आदिक पर जीव आते हैं और वही का वही का पूरा शरीर बन जाता है। जैसे कि एक बिलस्त प्रमाण मेढक जब मर जाता है तो उसका छाल एकदम सूख जाता है। वह सूखी छाल कड़ी रहती है। दूसरे बरसात के समय वह गीली होती है और योनिभूत बन जाती है। उस समय कोई जीव उस शरीर को ग्रहण करता है, मेढक बनता है तो वह पूरा का ही पूरा शरीर उसका बन जाता है। तब इतना बड़ा मेढक बनने में उसे १ दिन भी नहीं लगता। एक रात के बाद ही इतने बड़े मेढक दिखने में आ जाते हैं तो ऐसे महान् द्वीप में शरीर बनने के योग्य स्कंध पड़ा होता है और वह ही स्कंध एकदम शरीर बन जाता है। ऐसे यह सम्मूर्छन जन्म वाले शरीर प्रारम्भ से ही बन जाते हैं। यों दोइन्द्रिय जीवों में शंख की उत्कृष्ट अवगाहना बारह योजन प्रमाण है। एक योजन ४ कोस का होता है। कुछ कम ४८ कोस प्रमाण ढेर का किसी जीव ने ग्रहण किया और वह इतना बड़ा बन गया। कुछ थोड़ा बहुत छोटा बड़ा भी बन जाता है। यों १२ योजन प्रमाण उत्कृष्ट अवगाहना दोइन्द्रिय में शंख की है। तीन इन्द्रिय जीवों में कानखजूरा की उत्कृष्ट अवगाहना ३ कोस की है। कानखजूरा तीन इन्द्रिय जीवों में सबसे बड़ा होता है यह तो यहां भी देखा जाता है। पटार भी उसे कहते हैं। और एक-एक हाथ प्रमाण लम्बी पटारें तो यहां भी पायी जाती हैं। यह गोभिका (कानखजूरा) अन्तिम द्वीप की है, जिसकी उत्कृष्ट अवगाहना ३ कोश की है। इतने बड़े सम्मूर्छन जन्म वाले शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना में सन्देह यों नहीं होता कि वहां की पड़ी हुई पृथ्वी वनस्पति आदिक ढेरों का ही शरीर बना लिया जाता है। चार इन्द्रिय जीवों में भ्रमर की उत्कृष्ट अवगाहना एक योजन बतायी गई है। पंचेन्द्रिय जीव के शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना एक

हजार योजन प्रमाण है और यह उत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्य की है।

उत्कृष्ट अवगाहना से सम्बन्धित कुछ ज्ञातव्य—जब क्षेत्र परिवर्तन में स्वक्षेत्र परिवर्तन का स्वरूप बताया जाता है तो घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीर की उत्पत्ति से लेकर एक-एक प्रदेश बढ़ा-बढ़ाकर एक हजार योजन प्रमाण महामत्स्य की उत्कृष्ट अवगाहना वाले शरीर के ग्रहण तक की बात कही जाती हैं। यह सब उत्कृष्ट अवगाहना बतायी जा रही है। देह जघन्य अवगाहना से लेकर उत्कृष्ट अवगाहना तक के बीच में एक-एक प्रदेश बढ़ा-बढ़ा कर जितने प्रदेश हो सकते हैं उतनी मध्यम अवगाहना वाले देह कहे जा सकते हैं। मत्स्यों की बात देखो यहां के बड़े-बड़े समुद्रों में भी एक-एक मील प्रमाण की मछलियां पायी जाती हैं। जैसा कि लोगों ने देखा है और जिसका वर्णन आता है कि यहां के समुद्रों में ऐसी एक-एक मील बड़ी मछलियां पड़ी हुई हैं कि जिनके ऊपर कुछ धूल आ गई और उस धूल पर थोड़ी वनस्पति भी उग गई। सैर करने वाले लोग उस पर अपने जहाज खड़े कर देते हैं या लोग आराम करने लगते हैं और नीचे से वह मछली थोड़ा नीचे धंसी या उसने करवट लिया कि वे सैकड़ों मनुष्य वहीं डूबकर मर जाते हैं। इतनी बड़ी-बड़ी मछलियां यहां भी समुद्रों में पायी जाती हैं। तो प्रकृत्या यह बात समझ लीजिये कि मत्स्यों की अवगाहना पंचेन्द्रिय जीवों में सबसे अधिक होती है। यह महामत्स्य स्वयंभूरमण समुद्र नाम के अन्तिम समुद्र में है, जिसकी उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन प्रमाण बतायी जा रही है। यह अवगाहना लम्बाई की अपेक्षा से है। यदि उन शरीरों की लम्बाई चौड़ाई सबकुछ निरखी जाये तब उनके देह का क्षेत्रफल विदित होता है और वास्तविक देह की पूरी अवगाहना ज्ञात होती है। जैसे दोइन्द्रिय जीवों में शंख की लम्बाई १२ योजन प्रमाण बताया है किन्तु उसका मुख चार योजन का है। शंख का मुख भी बहुत बड़ा हुआ करता है। सो यहां विदित ही है। और उसकी ऊंचाई सवा योजन की है। तीन इन्द्रिय जीवों में कानखजूरा की लम्बाई बतायी है, किन्तु यह जीव लम्बाई को अधिक लिए हुए रहता है अतएव चौड़ाई इसकी बहुत कम है। चौइन्द्रिय में भ्रमर एक योजन का बताया है, उसकी चौड़ाई तीन कोस की है और ऊंचाई दो कोस की है। महामत्स्य की अवगाहना १००० योजन लम्बी है, ५०० योजन चौड़ी है और २५० योजन ऊंचाई है। ये सब देह की उत्कृष्ट अवगाहना कही गई है।

एकेन्द्रिय देह के उत्कृष्ट अवगाहना का क्षेत्रफल—एकेन्द्रिय आदिक जीवों की जो उत्कृष्ट अवगाहना इस गाथा में बतायी है वह केवल लम्बाई की दृष्टि से बतायी है, अतएव उसका पूरा क्षेत्रफल सही अवगाहना का स्पष्ट बोध नहीं होता, अतः अब उनके क्रम से चौड़ाई मोटाई आदि को मिलाकर जो क्षेत्रफल हो सकता है उसका वर्णन करते हैं। एकेन्द्रिय जीवों में उत्कृष्ट अवगाहना कमल की बतायी है वह है साधिक १००० योजन। इसका क्षेत्रफल निकालने के लिए सबसे पहले जो कमल का पुष्प वाला हिस्सा है उस हिस्से का प्रमाण निकालते हैं। चूंकि वह गोल वस्तु है अतएव गोल वस्तुओं का क्षेत्रफल निकालने की विधि गणित की यह है कि वस्तु का जितना व्यास हो उससे तिगुनी परिधि होती है और परिधि के व्यास के चौथाई भाग से गुणित किए जाने पर उसका क्षेत्रफल होता है। इस विधि से कमल का पुष्प वाले हिस्से का क्षेत्रफल देखिये—कमल का व्यास है एक योजन का। तो एक योजन का तिगुना हुआ तीन योजन। यह तो हुई कमल की परिधि अब इस परिधि को व्यास के चौथे भाग से गुणा करना है, तो व्यास का चौथा भाग हुआ पाव योजन। इस तीन योजन को पाव योजन से गुणा करने पर क्षेत्रफल पौना योजन होता है, अर्थात् तीन कोश हो जाता है। अब इस पुष्प वाले हिस्से के क्षेत्रफल को कमल की लम्बाई में गुणा किया जायेगा तो कमल की

लम्बाई है एक हजार योजन और यह पुष्प वाला क्षेत्रफल निकला है तीन बटा ४ योजन। सो १००० में ३ बटा ४ का गुणा करने पर ७५० योजन लब्ध होता है अर्थात् कमल का कुल क्षेत्रफल ७५० योजन है।

द्वीन्द्रिय प्राणी के देह की उत्कृष्ट अवगाहना का क्षेत्रफल–अब दो इन्द्रिय के देह की उत्कृष्ट अवगाहना का क्षेत्रफल देखिये–दोइन्द्रिय में बतायी जा रही है शंख की! यह ध्यान में रखिये कि जितनी उत्कृष्ट अवगाहना कही गई है यहां तिर्यञ्चों की उनमें जो थलचर हैं वे तो हैं अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप के उत्तरार्द्ध में अर्थात् समुद्र के निकट वाले हिस्से में और जो जल के जीव हैं वे पाये जाते हैं स्वयंभूरमण समुद्र में। यह शंख भी स्वयंभूरमण समुद्र में पाया जाने वाला है। इसकी उत्कृष्ट अवगाहना बतायी है १२ योजन लम्बा, सवा योजन ऊंचा और चार योजन का मुख वाला। अब ऐसी गोल टेढ़ी वस्तु का क्षेत्रफल निकालने का नियम यह है कि व्यास का व्यास से गुणा करके उसमें मुख का आधा प्रमाण घटाओ, फिर जो लब्ध हो उसमें मुख के आधे प्रमाण के वर्ग को जोड़ा जाता है। जो लब्ध हो उसे दूना किया जाये, पुनः ४ से भाग देकर ५ से गुणा किया जाये। इतनी प्रक्रिया इस शंख के क्षेत्रफल निकालने में होगी। सो देखिये शंख की लम्बाई है १२ योजन, सो यहां इस व्यास को यानि १२ योजन को १२ योजन से गुणा किया तो लब्ध हुए १४४। अब इस १४४ में मुख का आधा कम करना है। मुख है ४ योजन का, तो ४ योजन का आधा २ हुआ। २ कम करने से १४२ योजन रहे। अब इसमें मुख के आधे का वर्ग जोड़ना है। मुख का आधा हुआ २ और २ का वर्ग हुआ ४ तो ४ जोड़ने से लब्ध हुआ १४६। अब १४६ का दुगुना किया जायेगा सो लब्ध होगा २९२, अब इस २९२ में ४ भाग देकर ५ का गुणा करना है तो २९२ में ४ का भाग देने से लब्ध हुए ७३ और ७३ में ५ का गुणा करने ३६५ लब्ध हुए। तो शंख का क्षेत्रफल ३६५ योजन हुआ।

त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय जीव के देह की उत्कृष्ट अवगाहना का क्षेत्रफल–अब तीन इन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट अवगाहना का क्षेत्रफल देखिये। तीन इन्द्रिय जीव में उत्कृष्ट अवगाहना कही गई है स्वयंभूरमण द्वीप के उत्तरार्द्ध भाग में जो कर्मभूमि है वहां उत्पन्न हुए लाल बिच्छू की जो तीन कोश लम्बा है। अर्थात् तीन बटा चार योजन लम्बा है और लम्बाई का ८वें भाग चौड़ा व चौड़ाई का आधा भाग ऊंचा, इस तरह यह क्षेत्र लम्बाई को लिए हुए चौकोर है। तब लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई का गुणा करने से क्षेत्रफ निकलेगा। इस विधि से अब क्षेत्रफल देखिये–लम्बाई तीन बटा चार में चौड़ाई है, लम्बाई का ८वां भाग
तीन बटा बत्तीस योजन तो तीन बटा चार को तीन बटा बत्तीस से गुणा करने पर नौ बटा एक सौ अठा॰
योजन हुए। अब इसको ऊंचाई से गुणा करना है। ऊंचाई है चौड़ाई की आधी अर्थात् तीन बटा चौसठ योजन तो नौ बटा एक सौ अट्ठाइस में तीन बटा चौसठ का गुणा करने से सही लब्ध हुआ सत्ताइस बटा आठ हजार एक सौ बाणवे योजन (याने २७/८१९२ योजन) यह लाल बिच्छू का क्षेत्रफल हुआ। अब चतुरिन्द्रिय जीव में उत्कृष्ट अवगाहना देखिये–स्वयंभूरमण द्वीप में कर्मभूमि वाले हिस्से में भवरा की उत्कृष्ट अवगाहना एक योजन लम्बी-चौड़ाई पौन योजन है और ऊंचाई आधा योजन है। सो इन तीन को परस्पर गुणा करने से इसका क्षेत्रफल निकलेगा तो १ गुणा तीन बटा चार गुणा एक बटा दो सही हुआ तीन बटा आठ योजन। अब पंचेन्द्रिय जीव में उत्कृष्ट अवगाहना बतायी गई है स्वयंभूरमण समुद्र में रहने वाले महामत्स्य की। इसकी अवगाहना १००० योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा और २५० योजन ऊंचा है। अब इन तीनों का परस्पर में गुणा करने से इसका क्षेत्रफल निकल आता है सो इन तीनों का परस्पर गुणा करने से साढ़े बारह करोड़ योजन लम्बा होता है और इतना महामत्स्य का घन क्षेत्रफल है।

प्रदेश दृष्टियों से एकेन्द्रियादि जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना–इस योजन वाले घनफलों को यदि प्रदेश प्रमाण की दृष्टि से निरखा जाये तो इन सबकी उत्कृष्ट अवगाहना के प्रदेश संख्या देखिये–घनांगुल को चार बार संख्या से गुणा करने पर जितना परिमाण आया उतने प्रदेश एकेन्द्रिय कमल की उत्कृष्ट अवगाहना का है। घनांगुल को तीन बार संख्यात से गुणा करने से जो प्रदेश लब्ध हुए उतने प्रदेश दोइन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना में होते हैं। तीन इन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना में उतने प्रदेश हैं जो घनांगुल को एक बार संख्यात से गुणा करने पर लब्ध हो। चौइन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना में उतने प्रदेश हैं जो घनांगुल को दो बार संख्यात से गुणा करने पर लब्ध हो और पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना में उतने प्रदेश हैं कि घनांगुल को पांच बार संख्यात से गुणा करने पर जितने प्रदेश हों। यह प्रदेशों को आंकने की दृष्टि से परिमाण बताया है। यों इन्द्रिय जाति के हिसाब से पांचों जातियों की अवगाहना बताकर अब नारकियों के शरीर की ऊंचाई बता रहे हैं।

पंच-सया-धणु-छेहा सत्तम-णरए हवंति णारइया।
तत्तो उस्सेहेण य अद्धद्धा होंति उवरुवरिं।।१६८।।

नारकी जीवों के देह की उत्कृष्ट अवगाहना–माघवी नामक सातवें नरक में रहने वाले नारकियों का शरीर ५०० धनुष ऊंचा है और फिर इस नरक के ऊपर के नरकों में शरीर की ऊंचाई आधी-आधी होती जाती है। जैसे माघवी नाम के ७वें नरक में नारकी जीवों की ऊंचाई उत्कृष्ट ५०० धनुष है, तो मघवी नामक छठवें नरक के नारकियों के शरीर की ऊंचाई उत्कृष्ट २५० धनुष है, अरिष्टा नाम के ५वें नरक के नारकी के शरीर की उत्कृष्ट ऊंचाई १२५ धनुष है। अंजना नाम के चौथे नरक के नारकी जीवों के देह की उत्कृष्ट ऊँचाई साढ़े बासठ धनुष है, मेघा नाम के तीसरे नरक के नारकी जीव के शरीर की उत्कृष्ट ऊंचाई सवा इकत्तीस धनुष है। यहां यह जानना कि एक धनुष चार हाथ का होता है और १ हाथ २४ अंगुल का होता है। तो अब इससे आधा करने पर लब्ध होता है १५ धनुष २ हाथ १२ अंगुल। इतनी उत्कृष्ट ऊंचाई वंशा नाम के दूसरे नरक के नारकी जीव के शरीर की होती है और पहला जो धर्मा नाम का नरक है उस नरक के नारकी जीव के शरीर की उत्कृष्ट ऊंचाई ७ धनुष ३ हाथ ६ अंगुल है।

प्रथम नरक के प्रत्येक पटल में उत्कृष्ट अवगाहना का कथन–इस प्रकरण में यह जानना कि यह जो नरक बिल है, जिसमें नारकी निवास करते हैं यह नरक बिल कोई आसमान के मुख की ओर नहीं है किन्तु बहुत मोटी पृथ्वी है और उस पृथ्वी के बीचो-बीच ये पोल बनी हुई हैं जिनका मुख पृथ्वी के किसी भी भाग की ओर बाहर निकलता नहीं है, ऐसे बिल कई पटलों में पाये जाते हैं। जैसे कि इस पहली पृथ्वी के तीन भाग हैं, जिनमें नीचे के तीसरे भाग में पहला नरक है। उस भाग में १३ पटल हैं अर्थात् उस जमीन के अन्दर ही अन्दर १३ मंजिलों में नारकियों के बिल (पोल) पाये जाते हैं। तो इन १३ पटलों में भिन्न-भिन्न पटलों में रहने वाले नारकियों के शरीर की ऊंचाई यदि निरखना है तो उसकी ऊंचाई निकालने का प्रकार यह है कि प्रथम नेरक के अन्तिम पटल में है यह उत्कृष्ट ऊंचाई जो अभी बताई गयी है, याने प्रथम नरक के १३वें पटल में रहने वाले नारकी की उत्कृष्ट अवगाहना है ७ धनुष, ३ हाथ ६ अंगुल और इससे दूनी है दूसरे नरक के अन्तिम पटल के नारकियों के देह की ऊंचाई है। तो प्रथम नरक के पटलों की ऊंचाई निकालना है तो प्रथम पटल के नारकियों के देह की ऊंचाई तीन हाथ है। अब पहले पटल में तीन हाथ ऊंचाई है और अन्तिम पटल में ७ धनुष तीन हाथ ६ अंगुल ऊंचाई है, तो बीच के पटलों में हानि वृद्धि जानने के लिए यह गणित का प्रयोग है कि अन्तिम पटल की ऊंचाई में पहले पटल की ऊंचाई कम कर दी जाये। जो शेष रहे उसमें एक

कम पटलों की संख्या का भाग दिया जाये। जो लब्ध हो उतना-उतना बढ़ा-बढ़ा कर उनकी ऊंचाई बना ली जाती है। जैसे १३वें पटल के देह की ऊंचाई है ७ धनुष, ३ हाथ, ६ अंगुल। उसमें तीन हाथ घटा दिया, शेष रहे ७ धनुष ६ अंगुल। अब इससे १ कम १३, यानि १२ का भाग देना, तो लब्ध होता है २ हाथ साढ़े आठ अंगुल तो इसका अर्थ यह हुआ कि दूसरे पटल के नारकियों का देह २ हाथ साढ़े आठ अंगुल और बढ़ गया। इस तरह इतना ही इतना बढ़ता जाये तो १३वें पटल की उत्कृष्ट अवगाहना ७ धनुष, ३ हाथ, ६ अंगुल बन जाती है। जैसे पहले पटल में उत्कृष्ट अवगाहना ३ हाथ, दूसरे में ५ हाथ साढ़े आठ अंगुल, तीसरे पटल में ७ हाथ १७ अंगुल (यानि १ धनुष ३ हाथ १७ अंगुल) चौथे पटल में २ धनुष २ हाथ १।। अंगुल, पांचवें पटल में ३ धनुष १० अंगुल, छठवें पटल में ३ धनुष २ हाथ १८।। अंगुल, सातवें पटल में ४ धनुष १ हाथ ३ अंगुल, आठवें पटल में ४ धनुष ३ हाथ। ११।। अंगुल, नव में पटल में ५ धनुष १ हाथ २० अंगुल, दसवें पटल में ६ धनुष ४।। अंगुल, ग्यारहवें पटल में ६ धनुष २ हाथ १३ अंगुल, बारहवें पटल में ७ धनुष २१।। अंगुल, तेरहवें पटल में ७ धनुष ३ हाथ ६ अंगुल। इस प्रकार प्रथम नरक के १३ पटलों मे रहने वाले नारकियों के देह की उत्कृष्ट अवगाहना होती है।

द्वितीय नरक के प्रत्येक पटलों में देहावसान—अब दूसरे नरक के प्रत्येक पटलों के नारकियों के देह की अवगाहना का प्रमाण देखिये—प्रथम नरक के अन्तिम पटल में देह की ऊंचाई है ७ धनुष ३ हाथ ६ अंगुल, इसे कम किया, द्वितीय नरक के अन्तिम पटल की देहावगाहना १५ धनुष २ हाथ १२ अंगुल से। सो लब्ध हुआ ७ धनुष ३ हाथ ६ अंगुल, इसमें भाग दिया द्वितीय नरक की पटल संख्या ११ का, सो लब्ध हुआ दो हाथ बीस सही दो बटा ११ अंगुल। अब प्रत्येक पटल में इतना बढ़ाते जाईये। द्वितीय नरक के पहले पटल में देह की ऊंचाई है ८ धनुष २ हाथ २ सही २ बटा ११ अंगुल, दूसरे पटल में ९ धनुष २२ सही ४ बटा ११ अंगुल ऊंचाई है। तीसरे पटल में ऊंचाई ९ धनुष ३ हाथ १८ सही ६ बटा ११ अंगुल है। चौथे पटल में ऊंचाई १० धनुष २ हाथ १४ सही ८ बटा ११ अंगुल है। पांचवें पटल में ऊंचाई ११ धनुष १ हाथ १० सही दस बटा ११ अंगुल है। छठवें पटल में ऊंचाई १२ धनुष ७ सही १ बटा ११ अंगुल है। सातवें पटल में ऊंचाई १२ धनुष ३ हाथ सही ३ बअा ११ अंगुल है। आठवें पटल में ऊंचाई १३ धनुष १ हाथ २३ सही ५ बटा ११ अंगुल है। नवमें पटल में ऊंचाई १४ धनुष १९ सही ७ बटा ११ अंगुल है। दसवें पटल में ऊंचाई १४ धनुष ३ हाथ १५ सही ९ बटा ११ अंगुल है। ग्यारहवें पटल में ऊंचाई १५ धनुष २ हाथ १२ अंगुल है।

तृतीय नरक के प्रत्येक पटलों में देहावगाहना—अब तीसरे नरक के पटलों में ऊंचाई देखिये—तीसरे नरक के अन्तिम पटल में ऊंचाई है ३१ धनुष १ हाथ है, उसमें से दूसरे नरक के अन्तिम पटल की ऊंचाई १५ धनुष २ हाथ १२ अंगुल कम करने से शेष रहे १५ धनुष २ हाथ १२ अंगुल। अब १५ धनुष २ हाथ १२ अंगुल में पटल संख्या ९ का भाग देने से १ धनुष २ हाथ २२ सही २ बटा ३ अंगुल आया। अब इतना प्रत्येक पटल में बढ़ाना। पहले पटल में १७ धनुष १ हाथ १० सही २ बटा ३ अंगुल ऊंचाई है। दूसरे पटल में ऊंचाई १९ धनुष ९ सही १ बटा ३ अंगुल है। तीसरे पटल में ऊंचाई २० धनुष ३ हाथ ८ अंगुल है। चौथे पटल में ऊंचाई २२ धनुष २ हाथ ६ सही २ बटा ३ अंगुल है। पांचवें पटल में ऊंचाई २४ धनुष १ हाथ ५ सही १ बटा ३ अंगुल है। छठवें पटल में २६ धनुष ४ अंगुल है। सातवें पटल में ऊंचाई २७ धनुष ३ हाथ, २ सही २ बटा ३ अंगुल है। आठवें पटल में ऊंचाई २९ धनुष २ हाथ १ सही १ बटा ३ अंगुल है। नवमें पटल में ऊंचाई ३१ धनुष १ हाथ है।

चतुर्थ, पंचम व षष्ठ नरक के प्रत्येक पटलों में व सप्तम नरक में देहावगाहना–अब चौथे नरक के पटलों में रहने वाले नारकियों के देह की अवगाहना सुनिये–चौथे नरक के अन्तिम पटल के नारक की देह की ऊंचाई ६२ धनुष २ हाथ है, इसमें से तृतीय नरक के अन्तिम पटल के देह की ऊंचाई ३१धनुष १ हाथ घटाने से शेष रहे ३१ धनुष १ हाथ। इसमें पटल संख्या ७ का भाग देने से हानि वृद्धि का परिमाण आया ४ धनुष १ हाथ २० सही ४ बटा ७ अंगुल। अब इस वृद्धि को प्रत्येक पटल में बढ़ाते जायें। सो पहले पटल में ऊंचाई हुई ३५ धनुष २ हाथ १३ सही ५ बटा ७ अंगुल, दूसरे पटल में ४० धनुष १७ सही १ बटा ७ अंगुल, तीसरे पटल में ४४ धनुष २ हाथ १३ सही ५ बटा ७ अंगुल, चौथे पटल में ४९ धनुष १० सही २ बटा ७ अंगुल, पांचवें पटल में ५३ धनुष २ हाथ ६ सही ६ बटा ७ अंगुल, छठवें पटल में ५८ धनुष ३ सही ३ बटा ७ अंगुल, सातवें पटल में ६२ धनुष २ हाथ की देहावगाहना है। अब पांचवें नरक के पटलों में देहावगाहना सुनिये–पांचवें नरक के अन्तिम पटल में देहावगाहना है १२५ धनुष उसमें चौथे नरक के अन्तिम पटल के देहावगाहना ६२।। धनुष घटायें सो शेष रहा ६२ धनुष २ हाथ। इसमें पटल संख्या ५ का भाग देने से लब्ध हुआ वृद्धि हानि प्रमाण १२ धनुष २ हाथ अब प्रत्येक पटल में यह वृद्धि बढ़ाते जाइये। सो पहले पटल में देह की ऊंचाई हुई ७५ धनुष, दूसरे पटल में ८७ धनुष २ हाथ, तीसरे पटल में १०० धनुष, चौथे पटल में ११२ धनुष २ हाथ व पांचवें पटल में १२५ धनुष देहावगाहना हुई। अब छठे नरक के पटलों में देहावगाहना निकालिये–छठे नरक के अन्तिम पटल में देहावगाहना है २५० धनुष, उसमें पांचवें नरक के अन्तिम पटल वाली देहावगाहना १२५ धनुष कम किये सो शेष रहे १२५ धनुष। इसमें पटल संख्या ३ का भाग दीजिये सो वृद्धि हानि का प्रमाण निकला ४१ धनुष २ हाथ १६ अंगुल। अब इस वृद्धि को प्रत्येक पटल में बढ़ाते जायें। सो पहले पटल में देह की ऊंचाई हुई १६६ धनुष २ हाथ १६ अंगुल, दूसरे पटल में २०८ धनुष १ हाथ ८ अंगुल, तीसरे पटल में देहावगाहना हुई २५० धनुष। सातवें नरक में एक ही पटल है सो २५० का दुगुना ५०० धनुष प्रमाण देहावगाहना है अर्थात् वहां के नारकियों के देह की ऊंचाई है। इन नरक पृथ्वियों में प्रत्येक पटल में इस प्रकार रचना है कि सातवें नरक में १ बीच का इन्द्रक बिल व चार दिशाओं में एक-एक बिल सो कुल ५ बिल हैं। छठे नरक के अन्तिम पटल में बीच में १ में इन्द्रक बिल, दिशाओं में दो-दो व विदिशाओं में एक-एक व यत्र-तत्र अनेक इससे ऊपर के पटल में बीच में एक इन्द्रक बिल, दिशाओं में ३-३, विदिशाओं में दो-दो व यत्र यत्र अनेक। इस तरह ऊपर ऊपर के पटलों में वह ऊपर की समस्त पृथ्वियों के पटलों में क्रमशः दिशा विदिशा में एक बढ़ाते जायें और सर्वत्र यत्र-तत्र अनेक बिल भी बताते जावें।

ऐसे इन बिलों में नारकी बड़ी आयु पर्यन्त महा दुःखसहित निवास करते हैं।

असुराणं पणवीसं सेसं णव-भावणा य दह-दंडं।
विंतर-देवाण तहा जोइसिया सत्त-धणु-देहा।।१६९।।

भवनवासी व्यन्तर व ज्योतिष्क देवों के देह की अवगाहना–इस गाथा में भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के देह की अवगाहना बतायी जा रही है। असुर कुमार के देह की ऊंचाई २५ धनुष है और शेष जो ९ भेद हैं, उन ९ कुमारों के देह की ऊंचाई १० धनुष है। व्यन्तर देवों के शरीर की ऊंचाई भी १० धनुष है और ज्योतिषी देवों के शरीर की ऊंचाई ७ धनुष है। भवनवासियों के जो शेष ९ भेद हैं उनके नाम हैं नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्ण कुमार, अग्नि कुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार व दिक्कुमार। इन ९ प्रकार के भवनवासी देवों के शरीर की ऊंचाई १० धनुष कही गई है और जो व्यन्तर देवों में १० धनुष

की ऊंचाई कही गई वह सभी प्रकार के व्यन्तर देवों के शरीर की ऊंचाई है। व्यन्तर देव ८ प्रकार के होते हैं–किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच। ज्योतिषी देवों में जो शरीर की ऊंचाई ७ धनुष कही गई है वह पांचों प्रकार के ज्योतिषियों में सम्भव है। ज्योतिषी देव ५ प्रकार के ये हैं–सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे। इस प्रकार भवनत्रिक देवों के शरीर की ऊंचाई बतायी है। अब कल्पवासी और ग्रैवेयक आदिक देवों के शरीर की ऊंचाई बतलाते हैं।

दुग-दुग-चदु-चदु-दुग-दुग-कप्प-सुराणं सरीर-परिमाणं।
सत्तच्छ-पंच-हत्था चउरो अद्धद्ध-हीणा य।।१७०।।

वैमानिक देवों के देह की अवगाहना–दो, दो, चार, चार, दो, दो कल्पों में रहने वाले देवों के शरीर की ऊंचाई क्रम से ७, ६, ५, ४, और ३।। व ३ हाथ की है। इसके ऊपर भी यथा सम्भव आधा आधा हाथ कम होती गई है। इसका विवरण इस प्रकार है कि पहले दूसरे स्वर्गों में रहने वाले देवों के शरीर ७ हाथ ऊंचा है। तीसरे और चौथे स्वर्ग के देवों का शरीर ६ हाथ ऊंचा है। ५वें, छठे, ७वें, ८वें स्वर्ग के देवों का शरीर की ऊंचाई ५ हाथ है। ९वें, १०वें, ११वें, १२वें स्वर्ग के देवों का शरीर ४ हाथ ऊंचा है। १३वें १४वें स्वर्ग में देवों के शरीर की ऊंचाई ३।। हाथ और १५वें, १६वें, स्वर्ग के देवों के शरीर की ऊंचाई तीन हाथ है। यहां तक तो कल्पवासी देवों के शरीर की अवगाहना कही गई है। अब ग्रैवेयक में देखें तो प्रथम तीन ग्रैवेयकों के शरीर की ऊंचाई २।। हाथ है, दूसरे तीन ग्रैवेयकों के देवों के शरीर की ऊंचाई २ हाथ है और अन्तिम तीन ग्रैवेयक के देवों के शरीर की ऊंचाई १।। हाथ है और ९ अनुदिश एवं ५ अनुत्तर विमानों में रहने वाले देवों का शरीर १ हाथ ऊंचा है। इस प्रकार समस्त वैमानिक देवों में शरीर की ऊंचाई हुई।

हिट्ठिम-मज्झिम-उवरिम-गेवज्जे तह विमाण-चउदसए।
अद्ध-जुदा वे हत्था हीणं अद्धद्धयं उवरिं।।१७१।।

कल्पातीत वैमानिक देवों के देह की अवगाहना–इस गाथा में कल्पोत्तर विमान वासी अहिमिन्द्रों के देह की ऊंचाई बतायी गई है जो कि सामान्य रूप से इसके पहले की गाथा के अन्त में कुछ दिखाया गया है। ग्रैवेयक होते हैं ९ पटलों में, जिनमें पहले के तीन पटल कहलाते हैं अधोग्रैवेयक। इसके बाद के तीन पटल कहलाते हैं मध्यम ग्रैवेयक और इसके अन्तिम तीन पटल कहलाते हैं उपरिमग्रैवेयक। इनके शरीर की ऊंचाई क्रम से २।। हाथ २ हाथ और १।। हाथ है। इन ग्रैवेयकों के ऊपर कुल १४ विमान हैं–९ अनुदिश में जहां कि एक पटल में बीच में एक विमान और चार दिशायें, चार विदिशाओं में एक-एक विमान है। इसके ऊपर १ पटल है अनुत्तर का जिसमें बीच में १ विमान और चार दिशाओं में चार विमान हैं। इस तरह इन १४ विमानों में रहने वाले देवों के शरीर की ऊंचाई एक हाथ है। यहां तक नरक गति और देव गति में रहने वाले जीवों के देह की अवगाहना बता दी गई है। अब मनुष्यगति के जीवों के देहों की अवगाहना बतायेंगे।

अवसप्पिणीए पढमे काले मणुया ति-कोस-उच्छेहा।
छट्ठस्स वि अवसाणे हत्थ-पमाणा विवत्था य।।१७२।।

भरत ऐरावत क्षेत्र के पर्याप्त मनुष्यों के देह की अवगाहना–मनुष्यों की अवगाहना बताने के प्रसंग में सर्वप्रथम भरत और ऐरावत क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों की अवगाहना बता रहे हैं। इन दो क्षेत्रों में काल का परिवर्तन होता रहता है। एक समान काल नहीं रहता। और एक कल्पकाल में अवसर्पिणी और एक उत्सर्पिणी काल होता है। अवसर्पिणी काल में तो मनुष्यों का देह, आयु, बल आदिक सब ह्रास को प्राप्त होते

हैं और उत्सर्पिणी काल में देह बल आदिक उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होते हैं। अवसर्पिणी काल में ६ प्रकार के समय आते हैं, जिन्हें ६ काल के नामों से कहते हैं–पहले काल में जिनका कि नाम सुषमसुषमा है उस अवसर्पिणी के पहले काल में मनुष्य तीन कोश की ऊंचाई के शरीर वाले होते हैं, उस प्रथम काल के अन्त में अर्थात् द्वितीय काल की आदि में यानि सुषमा काल में २ कोश के शरीर की ऊंचाई वाले मनुष्य होते हैं। उस द्वितीय काल के अन्त में और तृतीय काल की आदि में सुषमादुषमा के आदिक में १ कोश की ऊंचाई के देह वाले होते हैं। तृतीय काल के अन्त में और दुषमासुषमा नामक चतुर्थ काल के आदि में उत्पन्न हुए मनुष्यों के शरीर की ऊंचाई ५०० धनुष है और चतुर्थकाल के अन्त में तथा दुषमा नामक पंचम काल की आदि में ७ हाथ की ऊंचाई वाले मनुष्य होते हैं। महावीर भगवान का समय चतुर्थकाल के अन्त का था और तब पंचम काल की आदि होने वाली थी। उस समय मनुष्यों के देह की अवगाहना ७ हाथ ऊंची होती थी। अब घटते-घटते दुषमादुषमा नामक छठे काल के अन्त में १ हाथ की ऊंचाई के मनुष्य होंगे। और ये छठे काल के मनुष्य वस्त्र रहित होंगे, भूषण गहने आदिक भी उनके न होंगे। यों समझिये कि पशुओं की भांति मांसाहारी और यों ही स्वच्छन्द बुद्धिहीन होंगे। छठे काल के अन्त में भरत ऐरावत क्षेत्र में आर्यखण्ड में प्रलय होती है। उस प्रलय के बाद फिर उत्सर्पिणी का छठा काल आयेगा वहां से उत्सर्पिणी काल शुरू होगा। और जैसे-जैसे काल बढ़ेगा मनुष्यों के देह बल आदि भी बुद्धि को प्राप्त होंगे, और तब यहां के छठे, ५वें, चौथे, तीसरे, दूसरे पहले काल की भांति वहां भी छठे, ५वें, चौथे, तीसरे दूसरे, पहले काल के मनुष्यों के शरीर की ऊंचाई होती है। अब सामान्यतया सभी जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना बताकर जघन्य अवगाहना कहते हैं।

सव्व-जहण्णो देही लद्धि-अपुण्णाण सव्व-जीवाणं।
अंगुल-असंख-भागो अणेय-भेओ हवे सो वि।।१७३।।

लब्ध्य पर्याप्तकों के सर्वजघन्य देह का परिमाण–लब्ध्य पर्याप्तक सभी जीवों का सबसे जघन्य शरीर होता है, वह घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। और उस घनांगुल के असंख्यातवें भाग के भी अनेक भेद हैं। लब्ध्य पर्याप्तक जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय में पाये जाते हैं। उन सब लब्ध्य पर्याप्तकों का शरीर सबसे जघन्य शरीर होता है, उसकी अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण कही गई है। घनांगुल कहते हैं–एक अंगुल लम्बा, एक अंगुल चौड़ा ओर एक अंगुल मोटा जो क्षेत्र है उसको। उसके असंख्यातवें भाग किए जायें, उसमें से एक भाग प्रमाण इन जीवों के देह की अवगाहना होती हैं। इन लब्ध पर्याप्तकों की अवगाहना के भी परस्पर अनेक भेद हैं। अब दो इन्द्रिय आदिक जीवों की जघन्य अवगाहना दो गाथाओं में बतायेंगे।

वि-ति-चउ-पंचक्खाणं जहण्ण-देहो हवेइ पुण्णाणं।
अंगुल-असंख-भागो संख-गुणो सो वि उवरुवरिं।।१७४।।

द्वीन्द्रियादि जीवों की जघन्य देहावगाहना–दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। सो देखिये–अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण अवगाहना लब्ध्य पर्याप्तकों के भी बतायी है, और दो इन्द्रिय आदिक पर्याप्त जीवों की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग कही है। फिर भी उससे यह अवगाहना कुछ अधिक है और इसमें भी ऊपर ऊपर संख्यातगुनी अवगाहना है अर्थात् दो इन्द्रिय पर्याप्तक जीवों की जघन्य अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग है। उससे संख्यातगुनी तीन इन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के शरीर की अवगाहना है, फिर भी है घनांगुल के

असंख्यातवें भाग। इससे चौइन्द्रिय पर्याप्तक जीवों की अवगाहना संख्यातगुनी है। चौइन्द्रिय जीवों के देह की अवगाहना से संख्यातगुनी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के देह की अवगाहना है, फिर भी ये समस्त जघन्य अवगाहनायें अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। पर्याप्तक दो इन्द्रिय आदिक के शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना जघन्य अवगाहना से कुछ अधिक जानना चाहिए। इस प्रकार दो इन्द्रिय आदि जीवों के देह की अवगाहना कहा। लेकिन इन जघन्य अवगाहनाओं के स्वामी कौन-कौन होते हैं? यह एक प्रश्न रह जाता है। उसका उत्तर अगली गाथा में बतलाते हैं।

अणुद्धरीयं कुंथो मच्छी काणा य सालिसित्थो य।
पज्जत्ताण तसाणं जहण्णदेहो विणिद्दिट्ठो।।१७५।।

त्रस जीवों में जघन्य अवगाहना के स्वामी प्राणियों का कथन—पर्याप्त द्वीन्द्रिय में जघन्य अवगाहना का अणुंधरी जन्तु विशेष है। इसके अवरुद्ध देह के प्रदेशों का परिमाण उतना है जितना कि घनांगुल में चार बार संख्यात का भाग देने से लब्ध होता है। त्रीन्द्रिय में जघन्य अवगाहना का धारी कुन्थु जन्तु विशेष है। घनांगुल में तीन बार संख्यात का भाग देने से लब्ध हुए प्रदेशों परिमाण इसके देह द्वारा अवरुद्ध क्षेत्र है। चतुरिन्द्रिय में जघन्य अवगाहना का धारी काणमक्षिका नाम का जन्तु विशेष है। घनांगुल में दो बार संख्यात का भाग देने से लब्ध हुए प्रदेशों परिमाण इसके देह द्वारा अवरुद्ध क्षेत्र है। पंचेन्द्रिय जीव में जघन्य अवगाहना का धारी सालिसिक्थ (सन्दुल मत्स्य) नाम का मत्स्य है। घनांगुल में एक बार संख्यात का भाग देने से लब्ध हुए प्रदेशों प्रमाण इस सालिसिक्थ मत्स्य के शरीर द्वारा क्षेत्र अवरुद्ध है। शरीर की अवगाहना का मतलब ही यह दिखाना है कि उस शरीर ने कितना क्षेत्र रोका? सो यद्यपि इन द्वीन्द्रियादि जीवों की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग कही है सामान्यतया, फिर भी यह विशेष समझना कि द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीव के देह की जघन्य अवगाहना क्रम से संख्यात संख्यातगुनी हैं। अब सामान्यतया विचार करें तो सर्व जीवों में अति जघन्य अवगाहना ऋजु गति से उत्पन्न हुए सूक्ष्म निगोद लब्ध्य पर्याप्त के तृतीय समय में है वह भी घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। सर्वोत्कृष्ट अवगाहना स्वयंभूरमण समुद्र के मध्य में रहने वाले महामत्स्य की है। इस प्रकार देह की अवगाहना के प्रमाण का कथन संपूर्ण हुआ।

लोय-पमाणो जीवो देह-पमाणो वि अच्छदे खेत्ते।
उग्गाहण-सत्तीदो संहरण-विसप्प-धम्मादो।।१७६।।

जीव का स्वक्षेत्र परिमाण—उक्त गाथाओं में जीवों के शरीर की अवगाहना बतायी है कि किस जीव के शरीर की कितनी-कितनी बड़ी ऊंचाई चौड़ाई आदिक होती हैं? इस प्रकरण को सुनकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि जीव आखिर है स्वयं कितना बड़ा? क्या जीव शरीर के बराबर ही है, अथवा यह जीव सारे संसार में व्याप जाये इतना बड़ा है। इस सम्बन्ध में यह बताया गया है कि जीव कथंचित् लोक प्रमाण है और कथंचित् शरीर प्रमाण है। कभी यह जीव अपने प्रदेश से बढ़े तो सारे लोक को व्याप कर ठहर जायेगा और यह सिकुड़े तो जितने-जितने शरीर हैं उतने शरीर प्रमाण का यह रहता है। किसी भी स्थिति में यह जीव अपने शरीर से कम नहीं रहता। यदि मरण भी हो जाये, विग्रहगति में गमन करे तो जिस शरीर को इसने पहले छोड़ा था उस शरीर प्रमाण आत्मा रहेगा। जब कभी यह जीव कर्मों से छूट जाता है, जहां शरीर नहीं रहता ऐसे सिद्ध भगवन्तों में अन्तिम शरीर प्रमाण उनका आत्मा रहता है। कुछ कम बताया गया है तो जितने नख और केश यहां हम आपके बढ़े हुए हैं उनमें जीव नहीं है लेकिन ये सभी अंग कहलाते हैं। सो वहां अंग तो रहे ही नहीं,

उतना का ही उतना रहता है। कुछ ऐसे भी मंतव्य हैं कि भीतर जो कुछ थोड़ी पोल या निष्प्रदेश आकाश रहता था वह भी मर जाता है सो इससे कुछ कम हो जाता है। तो वह कुछ गणना में नहीं हैं। यह जीव लोकप्रमाण है, निश्चय से लोकप्रमाण है और व्यवहार से भी लोक प्रमाण है तथा देह प्रमाण है। इस आत्मा में इतने प्रदेश हैं कि एक-एक प्रदेश यदि फैल जाये सारे लोक में तो सारे लोक के एक-एक प्रदेश पर इस जीव का एक-एक प्रदेश होगा। यों असंख्यात प्रदेश हैं। तो इतने असंख्याते प्रदेश जीव में सदा रहते हैं, पर संकोच और विस्तार होता है। जैसे दीपक यदि किसी घड़ा वगैरह बर्तन में रखा हो तो उतना ही उजाला देगा जितना कि वह बर्तन है और उस दीपक को यदि कमरे में रख दिया जाये तो सारे कमरे में उसका उजाला फैल जायेगा, ऐसी ही जीव के प्रदेश की बात है। यह जीव चींटी के शरीर में रह रहा है तो जितना उसका शरीर है उतने ही प्रमाण उसके प्रदेश हैं और यह जीव हाथी के शरीर में पहुंच जाये तो जितना बड़ा वह शरीर है उतने में प्रदेश फैल जाते हैं तो इसमें संकोच और विस्तार का स्वभाव है सो जैसा देह पाता है उस देह प्रमाण यह जीव फैल जाता है। पर निश्चयतः देखो तो इस जीव में लोकाकाश के प्रदेश के बराबर के प्रदेश हैं। कभी किसी कारणवश यह जीव फैलता है तो सारे लोक में व्यापकर रहता है। केवल एक कारणवश हुआ, अतः उसे व्यवहारतः भी कह सकते हैं।

एक जीव की समस्त लोक व्यापकता का अवसर—जब केवली समुद्घात होता है तो भगवान के आत्मा के प्रदेश सारे लोक में फैल जाते हैं। अरहंत भगवान कहते हैं उन्हें जिनके चार घातिया कर्म नष्ट हो गए, जिनके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द यह चतुष्टय प्रकट हुआ है। अरहंत भगवान के चार घातिया कर्म तो हैं नहीं, किन्तु चार अघातिया कर्म हैं। घातिया कर्म का अर्थ है जो आत्मा के गुणों का घात करे जैसे ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञानगुण का घात करता है। दर्शनावरण कर्म जीव के दर्शनगुण का घात करता है। मोहनीय कर्म जीव के सम्यक्त्व और चारित्र गुण का घात करता है। अन्तराय कर्म जीव की शक्ति का घात करता है। तो जीव के गुणों का घात करने वाले ये चार घातिया कर्म तो नष्ट हो चुके। अब उनमें अघातिया कर्म रह गए। अघातिया कर्म उन्हें कहते हैं जो जीव के गुणों का घात तो न करें, किन्तु कुछ ऐसी बात मिला दें कि जो जीव के दुःख के सहकारी कारण बनते हैं। जैसे इष्ट-अनिष्ट संयोग मिलना, यह वेदनीय कर्म का काम है। शरीर में जीव का बना रहना यह आयुकर्म का काम है। शरीर का नाना आकारों में निर्माण होना यह नामकर्म का काम है और ऊंच-नीच कुल में उत्पन्न होना यह गोत्रकर्म का काम है। तो इन चार अघातिया कर्मों ने कुछ ऊपरी बातें की हैं। ये चार अघातिया कर्म अरहंत भगवान के हैं। सो जब उनके मोक्ष जाने का समय होता है तब जिनके आयुकर्म तो रह गया हो अन्तर्मुहूर्त, मानो कि कुछ सेकेण्ड रह गया और बाकी के तीन अघातिया कर्म बड़ी स्थिति के हों, लाखों वर्ष के हों, तो ऐसा न होगा कि आयु तो पहले नष्ट हो जाये अरहंत भगवान की और तीन अघातिया कर्म रह जायें? कहां रहेंगे? चारों के चारों अघातिया कर्म एक साथ नष्ट होंगे तो एक साथ नष्ट होने के लिए यह आवश्यक है कि उन चार कर्मों की स्थिति एक समान हो जाये। तभी तो एक समय में चारों कर्म एक साथ दूर होंगे। तो बाकी के वे तीन अघातिया कर्म आयुकर्म के बराबर बन जायें इसके लिए उनका समुद्घात होता है। समुद्घात का अर्थ है कि शरीर को न छोड़कर आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर भी हो जायें, यदि अरहंत भगवान बैठे हुए हों तो शरीर की जितनी मोटाई है उससे तिगुने प्रमाण मोटे रूप में, (क्योंकि पद्मासन से बैठे हैं ना, तो घुटने के अंग भी लिए जायेंगे(तो इतने मोटे परिमाण में पहले भगवान के आत्मा के प्रदेश नीचे से ऊपर तक फैल जाते हैं, तब समझिये कि एक दंड जैसा आकार

बन जाता है। नीचे से ऊपर तक १४ राजू हैं। वातवलय को छोड़कर १४ राजू तक आत्म प्रदेश फैल जाते हैं। इसके बाद दूसरे समय में अगल-बगल में जीव के प्रदेश फैल जाते हैं। सो जहां तक वातवलय नहीं है वहां तक फैल जाते हैं इसे कहते हैं कपाट समुद्धात। इसके बाद तीसरे समय में आगे और पीछे आत्मा के प्रदेश फैलते हैं, जहां तक वातवलय न हो वहां तक फैल जाते हैं, इसे कहते हैं प्रतर समुद्धात। इसके बाद वातवलय में जो इस लोक को घेरे हुए तीन वायु का पुंज है वहां भी फैल जाता है, इसे कहते हैं लोकपूरण समुद्धात। तो इस समुद्धात में अब भगवान आत्मा के प्रदेश सारे लोक में फैल गए फिर इसके बाद सिकुड़ जायेंगे। तो पांचवें समय में प्रतर के समान बन गए। फिर छठे समय में कपाट के समान बन गए, सातवें समय में दंड के समान बन गए। फिर ८वें समय में शरीर में प्रवेश हो जाते हैं। फिर जितना अरहंत भगवान का शरीर है उतने में ही उनके प्रदेश हो गए। इस समुद्धात की घटना में जो तीन अघातिया कर्म बहुत बड़ी स्थिति के थे उनकी स्थिति घट जाती है और आयुकर्म के बराबर हो जाते हैं। इसके बाद अन्तर्मुहूर्त बाद १४वें गुण स्थान में पहुंचते हैं और वहां से उनका निर्वाण होता है। तो बताना यहां यह है कि केवली समुद्धात के समय इस जीव के प्रदेश सारे लोक में फैल जाते हैं, बाकी कुछ अन्य और समुद्धात हैं जिनमें प्रदेश शरीर से बाहर रहते हैं शेष समय शरीर प्रमाण यह जीव रहता है।

जीव की लोकालोक व्यापकता की दृष्टि—अब इस तरह भी जीव का फैलना देख लीजिये कि जीव है केवल ज्ञानस्वरूप, ज्ञान ज्ञान ही जीव है तो जब हम ज्ञानस्वरूप को ही मात्र निरखते हैं तो यह देखना होगा कि भगवान का ज्ञान कहां तक फैला हुआ है? यद्यपि निश्चयनय से ज्ञान बाहर फैलता नहीं है, ज्ञान का आधार है आत्मा, सो आत्मा के प्रदेशों में ही ज्ञान का बना रहना होता है। लेकिन ज्ञान को निरखा जाता है एक जानन के रूप में तो भगवान के ज्ञान में कहां तक की वस्तुओं का प्रतिभास किया है, इस व्यवहार से देखा जाये तो यह कहा जायेगा कि भगवान के ज्ञान ने लोक को सबको जाना है और अलोक को भी जाना है। इस तरह प्रभु का ज्ञान लोक और अलोक में सर्वत्र व्याप्त है तो यों लोकालोक व्यापक जीव हो गया, पर ज्ञान की अपेक्षा से व्यवहार नय से हुआ। प्रदेश की अपेक्षा से तो यह अधिक से अधिक व्यापक हो सकता है तो लोक में व्यापक हो सकता है।

जीव की देह प्रमाणता—अब देह प्रमाण की बात देखिये—व्यवहार नय से इस जीव के नामकर्म का उदय होने से यह देह के बराबर रहता है। देह के बराबर रहता है तो कम से कम कितने देह में और अधिक से अधिक कितने देह में रहता है इसका परिमाण पहले बताया ही गया है कि जघन्य तो घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र को घेरे हुए शरीर रहता है। वह शरीर है सूक्ष्म निगोद लब्ध्य पर्याप्तक का और अधिक से अधिक देह की अवगाहना होती है तो एक हजार योजन प्रमाण होती है। यह अवगाहना है स्वयंभूरमण समुद्र में रहने वाले महामत्स्य की। अब इतनी छोटी देह से बढ़कर और उत्कृष्ट देह से कम कितने भेद हैं? असंख्याते भेद हैं। यो असंख्याते प्रकार के शरीर में जीव फैला हुआ रहता है। यह जीव देह प्रमाण ही है, यह बात आपको अपने अभ्यास से ही विदित हो सकती है। जैसे आपका आत्मा आपको स्वयं अनुभव हो रहा होगा कि इस शरीर भर में ही व्यापक है। इस शरीर से बाहर नहीं है। यह आत्मा भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीरों में व्याप जाता है। अभी था चींटी तो दो-चार सूत प्रमाण ही देह था और अब हो गया हाथी तो कितने-कितने परिमाण में बढ़ गया। तो यह घटना बढ़ना होता क्यों है? इसका कारण है कि इस आत्मा के

जदि जीवादो भिण्णं सव्व-पयारेण हवदि तं णाणं।
गुण-गुणि-भावो य तदा दूरेण पणस्सदे दण्हं।।१७९।।

ज्ञान को जीव से सर्वथा भिन्न मानने पर गुणगुणि भाव की असंभवता—यदि ज्ञान जीव से सर्वथा ही भिन्न हो तब तो उनमें गुणगुणी भेद भी नहीं बन सकता। याने न इस तरह भी जीव का और ज्ञान का सम्बन्ध माना जाये कि जीव जनक है और ज्ञान जन्य है। जीव ज्ञान को उत्पन्न करता है इतना भी सम्बन्ध नहीं माना जाये अथवा ज्ञान आत्मा का स्वभाव है यह भी सम्बंध नहीं माना जाये अथवा ज्ञान विभाव होगा, जीव का ही एक अंग है इस तरह भी न माना जाये। किसी भी प्रकार से सम्बंध न माना जाये तो फिर जीव और ज्ञान में यह जीव गुणी है और यह ज्ञान गुण है यह बात दूर से ही खत्म हो जायेगी। जीव में कई बातें जन्य जनक भाव से देखी जाती हैं और कई तत्त्व स्वभाव रूप से देखी जाती हैं। और उसमें कोई तत्त्व स्वभाव और विभाव रूप से देखा जाता है। जैसे जीव मति श्रुत आदिक भावों को उत्पन्न करता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञानादिक अनेक भेद हैं, उनका उत्पादक है जीव, यों भी देखा जाता है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, यों भी परखा जाता है। उन ज्ञानों में कोई ज्ञान स्वभावज्ञान है, कोई ज्ञान विभावज्ञान है, और वहां ज्ञान स्वभाव एक स्वभाव है और जितनी भी उसकी व्यक्तियां हैं वे सब परिणतियां हैं। यों अनेक प्रकार से जीव में अभेद रूप से गुण देखे जाते हैं, परिणति रूप से भी देखे जाते हैं, लेकिन जो गुण और गुणी को सर्वथा ही जुदा समझे उसने तो इतना कहने का भी अवसर नहीं रखा कि ज्ञान गुण है और जीव गुणी है। देखिये—जो अत्यन्त भिन्न चीज हैं उसमें गुण गुणी का सम्बन्ध नहीं घटित होता। जैसे हिमालय पर्वत कहां पड़ा है और विन्ध्याचल पर्वत कहां पड़ा है? दूर-दूर हैं, सैंकड़ों कोशों का अन्तर है तो क्या वहां यह कहा जा सकता है कि विन्ध्याचल का विशेषण है हिमालय या हिमालय का विन्ध्याचल या इनमें एक गुणी है एक गुण है, जो अत्यन्त भिन्न चीज है उसमें गुण गुणी की बात नहीं देखी जाती। इसी तरह जब जीव को न्यारा माना और ज्ञान गुण को न्यारा माना तो उनमें भी गुण गुणी भेद सिद्ध नहीं होते। जैसे जो चीज हमें दिख रही है उसका जो निजी रूप है यह रूप क्या उससे जुदा है, नहीं, बल्कि तादात्म्य रूप से है। इसी तरह आत्मा का स्वरूप ही और क्या? सिवाय ज्ञान के। हम आत्मा को भली प्रकार लक्ष्य में ले सकते हैं तो ऐसा ही निरखकर कि यह मैं ज्ञानस्वरूप ही हूं। ज्ञानमय के सिवाय मैं आत्मा और कुछ नहीं हूं। इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श ये कुछ भी नहीं पाये जाते, सिर्फ ज्ञान ज्ञान ही जीव में है और ऐसा ज्ञानस्वरूपी आत्म द्रव्य का परिचय होने पर ही जीव का उद्धार होना सम्भव है। यों ज्ञान को जीव स्वभावी सिद्ध किया। इस सिद्धि को सुनकर यदि कोई यह शंका करे कि जब जीव ज्ञान स्वभाव है, ज्ञानमय है तो उसमें गुण और गुणी का भेद कैसे बनेगा? उत्तर में कहते हैं कि—

जीवस्स वि णाणस्स वि गुणि-गुणभावेण कीरए भेओ।
जं जाणदि तं णाणं एवं भेओ कहं होदि।।१८०।।

तीर्थप्रवृत्ति के लिये जीव और ज्ञान में गुणगुणी भाव के भेद के कथन की समुचितता—जीव और ज्ञान में गुणगुणी भाव की अपेक्षा भेद किया जाता है। यदि ऐसा न हो तो जो जानता है वह ज्ञान है, ऐसा भेद कैसे हो सकता है? यानि जीव और ज्ञान है वस्तुतः एक, पर वहां ज्ञान गुण है आत्मा गुणी है ऐसा भेद किया जाता है, क्योंकि लक्षण जुदा-जुदा विदित हो रहे हैं। ज्ञान का लक्षण है जानन गुण, जीव का लक्षण है जो ज्ञानमय है और अनन्त धर्ममय है, तो जीव हुआ गुणी, ज्ञान वाला और ज्ञान हुआ गुण। गुणी का भिन्न लक्षण होने से लक्षण की अपेक्षा जीव और ज्ञान को जुदा-जुदा पद्धति में समझा जाता है यानि गुण का लक्षण

जुदा है और गुणी का लक्षण जुदा है। जैसे कहते हैं–इंसान और इंसानियत। तो इंसानियत इंसान से जुदा चीज तो नहीं है एक ही है लेकिन उसका जब अर्थ करेंगे कि इंसानियत का अर्थ क्या है और इंसान का अर्थ क्या है तो शब्द जुदा-जुदा कहने ही पड़ेंगे। जो भला अभिप्राय है उसका नाम है इंसानियत और भला अभिप्राय रखने वाला जो पुरुष है उसका नाम है इंसान तो लक्षण के भेद से जैसे यहां भेद किया जाता है पर है बात एक ही। इसी प्रकार लक्षण के भेद से आत्मा और ज्ञान में भेद किया जाता है, पर वस्तुतः है वह एक ही। गुणी परिणामी है ओर गुण उसका परिणाम है। गुणी शक्तिमान है और गुण उसकी शक्ति है। शक्ति और शक्ति वाला ऐसा कहा जाता है ना। फिर भी शक्ति कुछ अलग पड़ी रहती हो और शक्ति वाला अलग बैठा रहता हो, ऐसे जुदा प्रदेश तो नहीं है। इसी तरह ज्ञान गुण है, शक्ति है और आत्मा गुणी है, शक्तिमान है, यह भेद है, किन्तु ये जुदा-जुदा प्रदेशों में हों ऐसी बात नहीं हैं। गुणी कारण है और गुण कार्य है। गुण और गुणी यह नाम भी निराला है। संख्या की दृष्टि से देखो तो गुणी एक होता है और गुण अनेक होते हैं। जैसे आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक अनेक गुण हैं, पर आत्मा तो एक है। इन सब गुणों का तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाला जीव एक ही है। तो गुणी एक गुण अनेक। इस तरह संख्या, नाम, शक्ति, परिणाम आदिक की अपेक्षा इसमें भेद है।

जीव और ज्ञान में अभेद और भेद समझाने वाली दृष्टियों का कथन–यद्यपि द्रव्य और पर्याय या गुण एक ही वस्तु है, अभिन्न हैं लेकिन विवक्षावश इन दोनों में कथंचित भेद है, स्वभाव निराला है। आत्मद्रव्य अनादि अनन्त होता है। द्रव्य एक स्वभाव रूप है, पर्यायों के अनेक स्वभाव हैं। द्रव्य शक्तिमान होता और पर्याय शक्ति की व्यक्तियां हैं। द्रव्य संख्या एक है, अर्थात् किसी भी एक द्रव्य में अनेक पर्यायें होती हैं। पर्यायों की संख्या अनेक हैं और द्रव्य एक है। लक्षण भी देखो तो द्रव्य का लक्षण किया गया है, जो गुण पर्यायवान हो सो द्रव्य। जिसमें त्रिकाल शक्ति हो और उन शक्तियों की अवस्थायें बनती रहती हों, उसका नाम द्रव्य है। गुण का लक्षण किया है कि जो द्रव्य के आश्रित हो किन्तु गुणरहित हो सो गुण है। पर्याय का लक्षण किया है पदार्थ का जो होना है, जो क्षण-क्षण की परिणति है वह पर्याय है, तो देखिये लक्षण के भेद से इनमें भेद हो गया किन्तु प्रदेशभेद नहीं है। जैसे अंगुली और अंगुली का रूप। तो अंगुली और जगह रहती हो और रूप और जगह रहता हो ऐसा भेद है क्या? भेद नहीं है, लेकिन रूप का लक्षण जुदा है, अंगुली का लक्षण जुदा है। अंगुली में रूप, रस, गंध, स्पर्श ये चार गुण हैं, पर रूप में रूप ही है। रूप उसे कहते हैं जो चक्षु इन्द्रिय के द्वारा जाना जाये। रूप को हम आंखों से ही तो परखते हैं। पर अंगुली है वह तो स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु आदिक सबके द्वारा परखा जाता है। तो अंगुली हुई एक पिण्डभूत चीज और रूप हुआ उसका धर्म। तो लक्षण के भेद से उनमें भेद हो सकता है लेकिन रूप अलग हो और अंगुली अलग हो ऐसा नहीं है। यों ही जीव को भी अब निरखो। जब समझाने का प्रकरण हो तब तो इस आत्मा में भेद दृष्टि करके ज्ञानादिक गुणों को भिन्न-भिन्न बताया जाता है और उससे ही परख करायी जा सकती है। देखो, जो जानता है वह आत्मा है, जो देखता है वह आत्मा है, जो श्रद्धान् करता है वह आत्मा है, जो कहीं रमण करता है वह आत्मा है। यों समझाने के लिए भेद है, किन्तु जब कोई एक अपने आत्मा का अनुभव करने के लिए प्रयास करे तो उसे अभेद को ही आदर देना होगा। मैं एक हूँ, अखण्ड हूँ, चैतन्य स्वरूप मात्र हूँ। इस एक आत्मा में गुणों के भेद का भी दर्शन न करे तब वह अपने आत्मा का अनुभव कर सकेगा। आत्मा के अनुभव के लिए निर्विकल्पता की आवश्यकता है और जहां भेद देखे जा रहे हों वहां निर्विकल्प बन नहीं सकते। अतएव आत्मानुभूति के लिए दोनों को अभेद

अखण्ड चिन्मात्र रुप में निरखना होता है। तो यह तो अपने उपकार के लिए अनुभूति की बात कही है। लेकिन तीर्थ प्रवृत्ति कैसे चले, लोगों में ज्ञान प्रचार कैसे बने उसके लिए भेद दृष्टि का सहारा लेना होता है। भिन्न-भिन्न विशेषण बता-बताकर समझाया जायेगा। तो उनमें गुण और गुणी का भेद करना आवश्यक है। यों गुण गुणी का भेद विवक्षा से किया जाता है, तब यह समझना चाहिए कि ज्ञान आत्मा से कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है, अथवा यों कहो कि ज्ञान आत्मा से तत्त्वतः अभिन्न है और व्यवहार दृष्टि से भिन्न है। उसका भाव यह है कि ज्ञान और आत्मा में क्षेत्र भेद नहीं, प्रदेश भेद नहीं, सत्ता भेद नहीं वे स्वतंत्र-स्वत्रंत पदार्थ नहीं। पदार्थ तो केवल एक आत्मा है, उसे भेद दृष्टि से गुण गुणी के भेद से परखना है।

परमार्थ प्राप्ति के लिये जीव की ज्ञानस्वभावता का वर्णन–जीव ज्ञानस्वभावी है। जैसे कि अग्नि उष्ण स्वभावी है। स्वभाव अभिन्न हुआ करता है। तब इन शब्दों में भी कह सकते हैं कि जीव के ज्ञान ज्ञानमात्र है। जो ज्ञानभाव है वही जीव है। इस तरह ज्ञानस्वभाव ज्ञान की बात सुनकर नैयायिक सिद्धान्त के अनुयायी दार्शनिक प्रश्न करते हैं कि जीव ज्ञानस्वभाव कैसे होगा? ज्ञानगुण नामक पदार्थ है। जीव द्रव्य नामक पदार्थ है, ये दोनों सर्वथा भिन्न हैं। इस तरह सर्वथा ज्ञान को जीव से भिन्न बताने वाले नैयायिकों के प्रति उत्तर था कि यदि जीव सर्व प्रकार से ज्ञान से भिन्न हो अथवा ज्ञान जीव से भिन्न हो तब तो उनमें गुणगुणी भाव की बात भी नहीं कह सकते। जैसे हिमालय पर्वत बिल्कुल अलग जगह है, विन्ध्याचल बहुत दूर है, तो क्या विन्ध्याचल और हिमालय में गुणगुणी का सम्बंध बताया जा सकता है? नहीं, क्योंकि सर्वथा भिन्न हैं। इसी तरह सर्वथा भिन्न में विशेषण विशेष्य भाव भी नहीं बताया जा सकता कि विन्ध्याचल का विशेषण हिमालय है या हिमालय का विशेषण विन्ध्याचल है। और, न कार्य कारण भाव भी बताया जा सकता कि हिमालय का कार्य विन्ध्याचल है या विन्ध्याचल का कार्य हिमालय है। और न इसमें स्वभाव स्वभाववान की बात चल सकती है। दो पर्वतों में स्वभाव क्या है और स्वभाववान क्या है? सर्वथा भिन्न पदार्थों में यह बात घटित नहीं होती। तो यों ही यदि ज्ञान को जीव से भिन्न मान लिया जाये तो बतलाइये ज्ञान गुण है, जीव गुणी है, ऐसा तो नैयायिक भी कहते हैं। तो यह सम्बंध कैसे बना? कोई यों ही कह बैठे कि ज्ञान गुणी है, जीव गुण है, तो कहने मात्र से क्या होता। यों ही जीव व ज्ञान का जब भेद सिद्धान्त बना दिया तब जीव का और ज्ञान का कोई गुणगुणी सम्बन्ध ही नहीं घटित हो सकता। जैसे घट और पट। ये आपस में कौन गुणी है कौन गुण है? कोई भी नहीं। इसी तरह जीव को और ज्ञान को सर्वथा भिन्न मान लेने पर इनमें गुणगुणी सम्बन्ध नहीं रहता और, फिर जन्य जनक भाव भी न बनेगा कि जीव तो जनक है और ज्ञान जन्य है। यहां ज्ञानस्वभाव की बात नहीं कह रहे हैं। क्योंकि परिणमने में जो ज्ञान आता है उसकी बात है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदिक ये तो जन्य हैं ना। तो भेद मान लेने पर जन्य जनक भाव भी नहीं बनता। स्वभाव विभाव भी क्या? जैसे ज्ञानस्वभाव स्वभाव है, ज्ञान की परिणतियां विभाव हैं। अथवा विभाव परिणतियां विभाव हैं, स्वभाव परिणतियां स्वभाव हैं, यह भेद भी घटित न होगा। जब कि ज्ञान को जीव से भिन्न मान लिया तो यह कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता है। अतः मानना होगा कि जीव और ज्ञान घट पट आदिक पदार्थ के समान भिन्न नहीं हैं, किन्तु जीव ज्ञान स्वभाव है, और उस ज्ञान स्वभाव जीव के परिणमन निरन्तर चलते हैं। उन परिणमनों में प्रत्येक ज्ञान परिणमन यह क्षणिक है और जीव ज्ञानस्वभाव यह ध्रुव है। तो द्रव्य और पर्यायों के भेद की अपेक्षा इसमें भेद डाला जा सकता है। पर सर्वथा ये भिन्न नहीं हैं।

जीवप्रतिबोध के लिये गुणगुणी के भेद का कथन–अब कोई यहां यह प्रश्न कर सकता था कि तब

फिर जीव और ज्ञान जब अभिन्न हैं, ज्ञानस्वभाव ही जीव है तो गुणगुणी का भी भेद मत करिये। उसके उत्तर में कहा है कि गुणगुणी जीवों की अपेक्षा जीव और ज्ञान में भेद किया जाता है। यदि जीव और ज्ञान सर्वथा एक ही अभिन्न हुए किसी भी प्रकार उनमें भेद की समझ न बनायी जा सकती हो तो यह भी वचन कैसे कहा जा सकेगा कि जो जानता है सो जीव है। ऐसा लोग कहते ही हैं, समझाना ही पड़ता है कि जीव किसे कहते हैं। जो जाने सो जीव। अब इतना कहने से ही यह भेद आ गया कि जान कुछ और चीज है, ज्ञान कुछ और स्वरूप रखता है, यहां इस भिन्न स्वरूप में सर्वथा भिन्न नहीं किन्तु जीव द्रव्यरूप है, ज्ञान पर्यायरूप है, जीव एक धर्मी है, ज्ञान धर्म है, ज्ञान दर्शन आदि अनन्त धर्म हैं जीव में उनमें से एक ज्ञानधर्म है। आदिक अनेक भेदों से उनमें भिन्न लक्षणता कही गई है। जीव शक्तिवान है। ज्ञान एक शक्ति है। जीव का नाम और है, ज्ञान का नाम और है। जीव कारणभूत है, ज्ञान कार्यभूत है। जो-जो भी ज्ञान परिणमन चल रहे हैं वे एक इस जीव पदार्थ का उपादान करके ही तो चला करते हैं। इस कारण से जीव में और ज्ञान में समझने के लिए, तीर्थ प्रवृत्ति चलाने के लिए तो भेद है और परमार्थतः ये भिन्न प्रदेश नहीं हैं अतएव ये परस्पर एक हैं। अब जीव और ज्ञान की चर्चा सुनकर चार्वाक प्रश्न करते हैं कि जीव नाम का कोई पदार्थ किसी ने देखा है क्या? अगर हो तो कोई हमें दिखाकर बताओ। ये तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के विकार हैं। जहां ये चार भूत जुड़ गए वहां एक ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार जीव के स्वरूप का ही अभाव करने वाले चार्वाकों के प्रति कह रहे हैं।

णाणं भूय-विथारं जो मण्णादि सो वि भूद-गहिदव्वो।
जीवेण विणा णाणं किं केण वि दीसदे कत्थ।।१८१।।

चैतन्य स्वरूप जीव भूत विकारत्व का निषेध—जो लोग ऐसा कहते हैं कि ज्ञान अर्थात् जीव भूत का विकार है सो मालूम होता है कि उन्हें भूतों ने पकड़ रखा है तभी तो यों अटपट बात कर रहे हैं। भला जीव के बिना ज्ञान कहीं भी प्राप्त हो सकता है? जहां ज्ञान है वह जीव है। यहां ज्ञान स्वभाव कहकर भी अर्थ लेना जीव का, क्योंकि ज्ञान और जीव में भेद है। तो गुणगुणी की अपेक्षा से भेद है, किन्तु वस्तु एक है, चाहे ज्ञानतत्व कह लीजिए, चाहे जीवतत्त्व कह लीजिए, इस जीव को चार्वाक मत वाले पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का विकार मानते हैं। सो भला बतलाओ कि किसी भी जगह बिना आत्मा के ज्ञान देखा है। चारों चीजें हर एक जगह मौजूद हैं। किस जगह ये चारों नहीं हैं? कहीं सूक्ष्म हैं, कहीं स्थूल। प्रत्येक जगह चार चीजें भरी हैं। जो यह आंगन है इसके आकाश के पोल में दिखता तो कुछ नहीं है पर इसमें भी ये चारों चीजें हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये सर्वत्र भरे पड़े हैं। और अनेक जगह ये चारों चीजें इकट्ठी मिलती हैं लेकिन जीव तो उत्पन्न होते दिख नहीं रहे। अगर इन भूतों से जीव उत्पन्न हों तो किसी भी जगह सारे जीव क्यों नहीं उत्पन्न हो जाते? जहां चाहे जिस चाहे से हर एक शरीर क्यों नहीं बन जाता? अथवा जब जैसे चूल्हे पर कोई खिचड़ी पकायी जा रही है—मान लो मिट्टी के बर्तन में बर्तन सभी पृथ्वी हैं, मिट्टी का बर्तन जरा स्पष्ट रूप से समझ में आता है कि यह पृथ्वी की चीज है, वैसे पीतल, तांबा आदिक सभी पृथ्वी हैं) तो वहां पृथ्वी भी मौजूद है, जल भी मौजूद है, गर्मी भी स्पष्ट है, अग्नि मौजूद है और हवा भी है (भाप के द्वारा ढक्कन गिर जाता है) तो वहां चारों चीजें एक साथ हैं तो वहां क्यों नहीं मनुष्य, सिंह, हाथी आदिक सभी जीव एकदम निकल भागते हैं? तो मालूम होता है कि इन चार भूतों के समुदाय को ज्ञान नहीं कहते। ज्ञान जीव एक अलग पदार्थ है और वह मरकर जिस पुद्गल शरीर पर आता है तो जीव के निमित्त से वह धीरे-धीरे शरीर रूप बढ़ता रहता है, बनता

रहता है। तो चार भूतों के विकार का नाम जीव नहीं है। ज्ञान और अज्ञान, जड़ता और चेतना, ये दोनों जब भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं तो जड़ता का जो आधार है वह जड़ है और चेतना का जो आधार है वह चेतन है। यदि भूत विकार का नाम ही ज्ञान हो तो मुर्दा शरीर में तो चारों चीजें मौजूद हैं, वे अभी बिखरी तो नहीं हैं, वहां क्यों नहीं ज्ञान उत्पन्न हो जाता? इसलिए जानना चाहिए कि जीव नामक पदार्थ वास्तविक है।

आत्म सहज स्वरूप के आश्रय बिना संकटों से छुटकारा मिलने की असंभवता—भैया! हम आपमें सुख-दुःख आदिक अनेक बातें होती रहती हैं और ये सब इस जीव को अनिष्ट है। यह सुख भी न हो, दुःख भी न हो, केवल चेतना ही रहे, केवल जाननहार स्थिति रहे वह तो इस जीव की पवित्र दशा है, इस जीव के कल्याणरूप है, पर केवल चेतन मात्र की स्थिति नहीं है और सुख-दुःख आदिक अनेक विकार उत्पन्न होते हैं, ये अकल्याण हैं। फल क्या होता है कि यह जीव जन्म-मरण करता ही रहता है। तो अपने आप पर हमें दया करनी है और अपने आपके सम्बंध में चिन्तन करना है कि यह जन्म-मरण का संकट मेरा टले। जन्म-मरण का संकट न टल सकेगा तो इस जीव का कुछ भी भला नहीं है। संसार में रुलने में इस जीव का क्या कल्याण है? थोड़े दिन के लिए कूपमंडूक की तरह कुछ चीजें मिलीं तो उन्हें सर्वस्व समझ लेते हैं। जैसे कि मेढक कुएं में ही रहा, वहां कुएं के तट पर एक हंस बैठा था। तो मेढक पूछता है कि भाई तुम कहां रहते हो? तो हंस कहता है कि हम मानसरोवर में रहते हैं?...वह कितना बड़ा है?...वह तो बहुत बड़ा है। एक पैर फैलाकर पूछता है—क्या इतना बड़ा है?...नहीं, इससे भी बड़ा। दूसरा पैर फैलाकर पूछा—क्या इतना बड़ा है?..इससे भी बड़ा। फिर तीसरा और चौथा पैर क्या इतना बड़ा?...इससे भी बड़ा। फिर मेढक ने पेट फुलाकर पूछा, क्या इतना बड़ा?...इससे भी बड़ा, फिर कुएं के एक तट से दूसरे तट तक उछलकर पूछा—क्या इतना बड़ा? अरे। इससे भी बड़ा। तो मेढक कहता है कि तब तो आपकी बात बिल्कुल झूठ है। इससे बड़ी तो दुनिया ही नहीं है। तो जैसे कूप मंडूक की समझ में उस कुएं से अधिक विस्तार की दुनिया नहीं है उसी तरह इस मिथ्यादृष्टि जीव को जब-जब जो समागम मिले हैं, जब जो गति मिली है उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, ऐसा दृष्टि में बसा हुआ है। पर अनादि अनन्त काल के सामने ये १०-५० वर्ष कुछ गिनती रखते हैं क्या? इनकी कोई गिनती नहीं है। इतने समय में मोह न रहे, ज्ञान चेता हुआ रहे तो जीव के कल्याण होने में फिर कोई संदेह नहीं है। लेकिन इस मिथ्यात्व दशा में जीव की यह आदत बनी है कि जहां गया उसी को ही अपना मानता है। राजा मरकर विष्टा का कीड़ा भी बने तो वह कीड़ा अपने शरीर से मोह रखता है और उस ही गंदी चीज में रहकर राजी रहता है। वहां भी मरना नहीं चाहता। तो सत्य बात ज्ञान में आये इससे बढ़कर हम आपके लिए सम्पत्ति और कुछ हो ही नहीं सकती। शान्ति का आधार सम्यग्ज्ञान है, न कि बाहरी पदार्थों का संयोग है। ऐसा यह ज्ञान स्वरूप जीव है इसकी दृष्टि रखने पर इस जीव के जन्म-मरण के संकट दूर हो सकेंगे। अब केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण मानने वाले चार्वाक जो जीव का अभाव बताते हैं उन चार्वाकों के प्रति कहते हैं—

सच्चेयण-पच्चक्खं जो जीवं णेव मण्णदे मूढो।
सो जीवं ण मुणंतो जीवाभावं कहं कुणदि।।१८२।।

जीवतत्व के अभाव में जीव के अभाव का ज्ञान किये जाने की अशक्यता—यह जीव चेतन है, इसका प्रत्यक्ष ज्ञान भी चेतनात्मक है, ऐसे सचेतन जीव को जो न माने वह जीव का अभाव भी कैसे कहेगा? कोई कहे कि जीव नहीं है। तो उससे पूछें कि क्या आपने अच्छी तरह समझ लिया कि जीव नहीं है? हां-हां समझ लिया। किसने समझ लिया? मैंने समझ लिया। 'अरे वही मैं समझने वाला हूं कोई,' यही तो बात कही

जा रही है। चाहे जीव के अभाव की ही बात समझी हो मगर समझी तो। और किसी ने समझा तो जिसने समझा वह जीव है। जो समझ बनी वह ज्ञान है। लोक में जीव कहीं नहीं है, इस प्रकार का भी एक ज्ञान बनाया है। किसने बनाया है? जीव ने ही तो बनाया है। जो मोही जीव इस जीव को नहीं मानते जो कि स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध है, (सबका अपने आपमें अनुभव बना हुआ है) और फिर भी कहे कि जीव नहीं है, तो जीव को बिना जाने ये चार्वाक कैसे कह रहे कि जीव नहीं है? दूसरी बात यह है कि कोई मनुष्य किसी कमरे में जाकर कहे कि यहां तो पुस्तक नहीं है, तो उसने पुस्तक को जाना, समझा, तभी तो वहां उसका अभाव कहेगा कि यहां पुस्तक नहीं है। तो जिसने जीव को जाना ही नहीं कभी तो जीव के अभाव की बात कैसे कह सकता है? जो जिसको नहीं जानता वह उसका अभाव भी नहीं कह सकता। चार्वाक सिद्धान्त में केवल एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष को प्रमाण माना है। जो दीखा सो है। नरक, स्वर्ग, परमात्मा, आत्मा, ज्ञान, परमाणु आदिक जो चीजें आंखों नहीं दिख सकतीं, किसी इन्द्रिय के द्वारा जानने में नहीं आ सकती, वह कुछ भी नहीं है, ऐसा सिद्धान्त इन चार्वाकों का है। उनकी मान्यता में भी जीव का सद्भाव ही सिद्ध होता है। प्रत्येक व्यक्ति को 'मैं हूं' यह अनुभव होता है। 'मैं हूं' यह बात झूठ तो नहीं है, न इसमें कोई सन्देह है। कोई यह कहे कि 'मैं हूं' ऐसा अनुभव तो होता है लेकिन इस अनुभव का आधार शरीर है। शरीर में 'मैं हूं' यह अनुभव होता है। शरीर ही 'मैं हूं' ऐसा अनुभव करता। तो 'मैं हूं' इसका आलम्बन शरीर है, यह ठीक नहीं है। मैं हूं यह अनुभव तो बिना बाहरी इन्द्रियों की सहायता के हो जाता है। आंखों से देखे नहीं, कानो से सुने नहीं, किसी इन्द्रिय का ग्रहण करे नहीं तो भी यह व्यक्ति अपने भीतर यह अनुभव कर लेता है कि मैं हूं। शरीर तो बाह्य इन्द्रिय से जाना जायेगा और बाह्य इन्द्रिय से न जानकर जो जाना जा रहा है वह सत्ता शरीर से न्यारी है। ऐसा ही जान लो तो 'मैं हूं' इस प्रकार के ज्ञान का आलम्बन शरीर से भिन्न ज्ञानवान् पदार्थ में ही होता है। अतः चार्वाक का यह कहना ठीक नहीं है कि जीव नाम का कोई पदार्थ नहीं है। क्योंकि–

जदि ण य हवेदि जीवो ता को वेदेदि सुक्ख-दुक्खाणि।
इंदिय-विसया सव्वे को वा जाणदि विसेसेण।।१८३।।

जीवतत्व के अभाव में सुख-दुःखानुभव की असंभवता–यदि जीव नहीं है तो सुखादिक को कौन जानता है? और विशेष रूप से इन्द्रिय के विषयों को कौन जानता है? स्पर्श ८ होते हैं, रस ५ होते हैं, गंध २ हैं, रूप ५ हैं, शब्द ७ प्रकार के हैं, इन सब विषयों को बड़े विश्लेषण के साथ अपनी भावना के अनुसार जो जानना बन रहा है वह कौन जानेगा? आत्मा यदि नहीं है तो प्रत्यक्ष प्रमाण मानने वाले चार्वाक का इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी कैसे बन सकता है? इन सब विषयों का जाननहार होने से भी सिद्ध होता है कि जीव नामक कोई पदार्थ है और प्रत्येक जीव में जो भिन्न-भिन्न प्रकार से ज्ञान का सद्भाव जाना जा रहा है–कोई बालक कम ज्ञानी, कोई बालक विशेष बुद्धि वाला, किसी को एक बार पढ़ाने से ही पाठ याद होता, कोई बहुत-बहुत रटता रहता फिर भी याद नहीं होता। यह सब जीव के ज्ञानावरण हटने की विशेषता है। ज्ञान स्वभावी जीव पर जो आवरण छाया है वह आवरण जिसका जितना हटा उसके उतना ज्ञान प्रकट हो जाता है। जीव ज्ञानमय है और अपने ज्ञानस्वभाव को ही जानता है। यह ज्ञान स्वभाव यदि ज्ञान मात्र ही रह जाये रागद्वेष न करे, ऐसा ज्ञान करे, ऐसा ही होने का यत्न करे तो इस जीव का कल्याण है।

संकप्प-मओ जीवो सुह-दुक्खमयं हवेइ संकप्पो।
तं चिय वेदेदि जीवो देहे मिलिदो वि सव्वत्थ।।१८४।।

सुख-दुःख संकल्पानुभव से जीव की सत्ता का प्रदर्शन--बारह भावनाओं में आत्म कल्याण का उपाय निहित है और इन सब उपायों की आधारशिला है जीव के स्वरूप को यथार्थ मान लेना। यहां लोक भावना चल रही है। लोक में कैसे-कैसे पदार्थ हैं, कितना बड़ा लोक है, यह जीव लोक के समस्त प्रदेशों पर अज्ञानता के कारण अनन्त बार जन्म-मरण कर चुका। वह जीव क्या है, उसका सही स्वरूप जानने पर यह लोक का भ्रमण दूर हो जायेगा। कितने ही जीव हैं, ऐसे, अनेक जीव हैं ऐसे जो जीव का सद्भाव ही नहीं मानते। जीव की सत्ता का निषेध करते हुए, जीव नहीं है इस प्रकार की जानकारी करते हुए भी जानकारी जिसमें हो रही है उसे नहीं मानते। इन कथनों में आत्मा का सद्भाव सिद्ध करने का स्थूल रूप से वर्णन करेंगे। इतना तो सबको मानना होगा, जो जीव की सत्ता का निषेध करते हैं ऐसे चार्वाक को भी मानना होगा कि संकल्प विकल्पमय है तो कुछ, जिसमें सुख-दुःख विचार विकल्प उठा करते हैं ऐसा है ना कुछ। भाव तो है। तो जब संकल्पमय कुछ है और संकल्प कहलाता है सुख-दुःख। सुख दुःखमय संकल्प जब है तो संकल्पवान ही तो जीव कहलाता है। वह संकल्प को जानता है, यह बात सब जगह विदित हो रही है। इस देह में मिला हुआ यह जीव सुख-दुःख को भोग रहा है। इस समय चार्वाक जब जीव की सत्ता का सर्वथा निषेध कर रहे हैं तो उनको जीव की सत्ता बनाने के लिए स्थूल रूप से वर्णन कर रहे हैं। अध्यात्म दृष्टि तो जीव मात्र चैतन्य स्वरूप है, संकल्प विकल्प भी जीव नहीं है, सुख-दुःख भी जीव नहीं है, यह जीव के विभावों का क्षणिक परिणमन है। जीव शाश्वत है लेकिन जो लोग जीव को मानते ही नहीं उनके प्रतिबोध व्यवसाय को कैसे शुरू किया जाये? उनको मोटे रूप से ही बताना होगा कि देखा संकल्प तो तुम भी मानते हो और संकल्प होता है सुख दुःखमय तो जिसमें सुख-दुःख है, जिसमें संकल्प है वही तो जीव कहलाया। सो सर्वपर्यायों में यह जीव देह में मिश्रीभूत होकर सुख-दुःख को जानता है। लो इस सूक्ष्म चैतन्य स्वरूप को न जानकर और देह में ही सारी बात निरखकर कि क्रिया भी करता है तो देह कर रहा है, कुछ अनुभव कर रहा तो देह कर रहा है, ऐसा समझकर जीव का कोई निषेध करता है, लेकिन ऐसा बिल्कुल नहीं है। भले ही आज यह देह में मिला हुआ जीव है। जहां देह है वहीं जीव प्रदेश हैं और यह सुख-दुःख भी भोग रहा है लेकिन देह नहीं भोगता, देह नहीं करता, इन सब परिणामों का करने वाला जीव ही है।

देह-मिलिदो वि जीवो सव्व-कम्माणि कुव्वदे जम्हा।
तम्हा पयट्टमाणो एयत्तं बुज्झदे दोण्हं।।१८५।।

मोह व अज्ञान से जीव की देहात्मबुद्धि--यह जीव देह में मिला हुआ ही सर्व कर्मों को कर रहा है। इसलिए यह प्रवर्तमान जीव और देह में एकत्व को समझ रहा है। वस्तुतः ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। एक मोटे रूप में इतना भी जान लें। थोड़ी श्रद्धा तो है ही कि इस मनुष्य का मरण होगा। और मरण होने के बाद यह जीव चूंकि सत् है अतः नष्ट तो होगा नहीं। यह किसी अन्य देह में जायेगा। तो देह से अन्य देह बदलता हुआ यह जीव चला आ रहा है। तब किसी देह के सुख का उठता क्या है? वह तो एक भ्रम था, थोड़े समय का था, मिट गया। मरण हो गया। अब यह जीव जन्म-मरण की परम्परा बनाये हुए है, सो कभी कैसे में जन्म मिला, कभी कीट-पतंगा के रूप में जन्म मिला, कभी निगोद स्थावर आदि में--ऐसे जन्मों की परम्परा चल रही है। तो जरा अपने आप पर दया की दृष्टि करके सोचिये--क्या इस तरह के जन्म-मरण की परम्परा में ही उलझे रहना मंजूर है? यह थोड़े वर्षों का मोह राग बुद्धि ये सब खत्म हो जायेंगे। पर मोह राग से जो कर्म बांधा, संस्कार बांधा वे आगे दुःख देंगे। तो आत्म दया करके भी इतनी बात तो निरखना चाहिए कि इस पाये

हुए समागम में मोह करना व्यर्थ है। जिस काल में मोह कर रहे हैं तब भी शान्ति नहीं है। तब मोह बिल्कुल व्यर्थ की चीज है, इससे हटकर हम अपने आत्मा के सत्य स्वरूप का प्रकाश पायें और अपना जन्म सफल कर लें।

देहमिलित जीव में कर्त्तव्य बताकर जीव सत्ता की सिद्धि का समर्थन—जो लोग इस जीव की सत्ता ही नहीं मानते उनको इस स्थूल कथन से समझाया जा रहा है। देखिये भाई जो कुछ भी ये कार्य किए जा रहे हैं—दुकान, मकान आदि बनाना, घड़ा कपड़ा आदि बनाना, उपदेश करना, सुनना, लिखना-पढ़ना आदिक, यह सब इस देह से मिला हुआ जीव ही तो कर रहा है। अध्यात्म दृष्टि से सोचा जाये तो देह की चेष्टा देह में है, जीव की चेष्टा जीव में है। वर्तमान में परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध पाकर यह सब हो रहा है किन्तु यहाँ तो जीव की सत्ता ही न मानने वाले और इस इन्द्रिय से जो कुछ ज्ञान में आ रहा है वही सबकुछ मानने वालों को प्रतिबुद्ध किया जा रहा है। तब इस स्थूल कथन से समझाया जा रहा है कि कौन करता है ये सारे काम? देह में मिला हुआ यह जीव कर रहा है। शरीर सहित जीव, (विग्रहगति में मोटा शरीर नहीं है तो भी सूक्ष्म शरीर है) पुण्य पाप कर्मों को कर रहा हैं जैसे घर बनाना, गाड़ी, कपड़ा, लकड़ी, घड़ा आदि बनाना, असि मसी कृषि आदिक आजीविका के कार्य करना देह मिलित जीव ही तो कर रहा है। वैसे ही देह सहित जीव ज्ञानावरण आदिक पुण्य पाप कर्म को भी कर रहा है। देखो यह देह से मिला हुआ जीव ही तो कर रहा है, देह न हो, सूक्ष्म स्थूल किसी भी प्रकार का देह न रहने पर केवल चैतन्य मात्र यह जीव इन सब कर्मों को नहीं करता। तो यहां जो यह भ्रम हो गया है कि यह देह करता है और यह मैं हूं। मैं देह से निराला और कुछ नहीं हूं। करने वाला यह ही है जो दिख रहा है यह ही जीव है। उनको समझाया जा रहा है कि ये निमित्तनैमित्तिक भाव से सब काम बन रहे हैं पर इनमें करने वाला कौन है? तो मोटे रूप से समझ लो—देह में मिला हुआ जीव। यह एक स्थूल बोध है! अब वस्तुतः देखो तो देह और जीव अत्यन्त विपरीत भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। लेकिन जब देह में मिला हुआ जीव इन सब कामों को कर रहा है, ऐसा विदित हो रहा तब यह जीव मानता है कि देह और जीव में भेद नहीं है, किन्तु वास्तव में ऐसा तो नहीं है। जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है। जीव में सुख-दुःख, ज्ञान, विचार, विकल्प उत्पन्न होते हैं। मूर्त पदार्थ में पिण्ड वाले पुद्गल देह में क्या विचार विकल्प उठ सकेंगे? वे तो रूप रस आदिकमान हैं। वहां जानन धर्म पाया ही नहीं जाता, इसलिए जीव और पुद्गल ये दोनों बिल्कुल विपरीत पदार्थ हैं।

देह-मिलिदो वि पिच्छदि देह-मिलिदो वि णिसुण्णदे सद्दं।
देह-मिलिदो वि भुंजदि देह-मिलिदो वि गच्छेदि।।१८६।।

देहमिलित जीव के दर्शकत्व से जीव के अस्तित्व की सिद्धि—यह जीव देह से मिला हुआ है तब वह देखता है, सुनता है, भोगता है, जाता है। शरीर से मिला हुआ होने पर भी ये सब क्रियायें हो रही हैं। इससे पहली गाथा में मोटे काम की बात कही गई थी। अब इस गाथा में जरा कुछ और भीतर की बात कही जा रही है। जो सहज, बिना अंतस्तत्व का कार्य तो नहीं है लेकिन कुछ साधनों से ऐसा ही बन रहा है। यह जीव देखता है आंखों से काला, पीला, नीला आदिक रूप। तो देह में मिला हुआ होने पर इस तरह दिख रहा है। दिख तो रहा, पर जानने वाला जीव है। और देह की जो यह चक्षुरिन्द्रय है यह एक साधनमात्र है। जैसे किसी मकान की खिड़कियां हैं। कोई मनुष्य बाहर की बात देखना चाहता है तो इन खिड़कियों से देखेगा। खिड़कियां देखने वाली नहीं हैं, पर उस बंद मकान में देखने का साधन वही है। इसी तरह यह जीव इस देह

में बद्ध है। पर बाहरी चीजों को देखता है तो इन इन्द्रियों द्वारा देख पाता है, इसका साधन भी यही है। और अंतस्तत्व की बात देखिये–जैसे उस मकान में बैठा हुआ मनुष्य बाहर की बातें न देखना चाहे, अपने आपको ही देखना चाहे तो उसे खिड़कियों का सहारा लेने की जरूरत भी नहीं, वह तो अपने आपको देख लेगा, इसी प्रकार इस देह मकान में कैद हुआ यह जीव कभी सुभवितव्य से इस ज्ञान ज्योति का प्रकाश होने से जब कोई अपने आपके स्वरूप को निरखना चाहता है तो वहां इसको आंख आदिक का सहारा लेने की जरूरत **नहीं। तो** यों देह में मिला हुआ जीव ही तो देखता है इससे जीव का अस्तित्व स्पष्ट सिद्ध है।

देहमिलित जीव के श्रोतापन से जीव की सत्ता की सिद्धि–देहमिलित जीव ही तो बाहर की बात इन्द्रिय से निरखता है और कानों से शब्दों को सुनता है। स्वर बताये गये हैं ७, जिन स्वरों के नाम आजकल संगीत में एक-एक अक्षर से प्रचलित हैं–उन ७ स्वरों के नाम स रे ग म प ध नि। स का अर्थ है षड्ज, रे का अर्थ है ऋषभ, ग के मायने गान्धार, म का अर्थ है मध्यम, प का अर्थ है पंचम, ध का अर्थ है ध्वैत, नि का अर्थ निषाद। इन स्वरों का विश्लेषण किया जाये तो यों किया जाये कि जो स्वर कंठदेश में स्थित है उसे षड्ज कहते हैं। जब सरगम का अभ्यास करते हैं तो एक स का तो बिल्कुल मन्द स्वरों में मोटा स्वर और अंतिम से बिल्कुल अंतिम स्वर है। और दोनों स्वरों में कंठ पर जोर है। वह स्वर कंठ में स्थित है। जो स्वर शिरो देश में है उसे ऋषभ कहते हैं, जो स्वर नासिका देश में स्थित होता है उसे गान्धार कहते हैं। जो स्वर हृदय देश में स्थित होता है उसे मध्यम कहते हैं। मुख देश में स्थित स्वर को पंचम कहते हैं। यह संगीत प्रक्रिया से स्वरों का वर्णन है। ये ७ स्वर इन कामों के द्वारा जाने जाते है। संगीत में ही ये ७ स्वर नहीं हैं, सर्वत्र हैं। संगीत में इनका उपयोग क्रम परिपाटी से होता है। वैसे यदि इनकी तुलना करना चाहें तो जो हाथी का स्वर है वह निषाद है, गौ का स्वर वृषभ है, बकरी का स्वर गान्धार है और गरुड़ का स्वर षड्ज है, क्रौंच पक्षी का स्वर मध्यम है। अश्व का स्वर ध्वैत है, और बसन्त ऋतु में कोयल जिस स्वर से कूकती है वह पंचम है। नासिका, कण्ठ, उर, तालू, जीभ और दांत–इन ६ के स्पर्श से षड्ज स्वर उत्पन्न होता है इसी से उसे षड्ज कहते हैं। सब स्वरों के तीन प्रकार हैं। मनुष्यों के उर प्रदेश से जो २२ प्रकार की ध्वनि उच्चरित होती है वह मन्द्र है, वही जब कंठ देश से उच्चरित होती है तो मध्यम है ओर जब शिरोदेश से गाई जाती है तब 'तार' है। बाह्य स्वर चार प्रकार से उत्पन्न होते हैं, कांसे के बाजों के शब्द को घन कहते हैं। बांसुरी वगैरह के शब्द को सुषिर कहते हैं। वीणा वगैरह वाद्यो के शब्द को तत कहते हैं। और ढोल वगैरह के शब्द को वितत कहते हैं। तो ये सर्व प्रकार के शब्द कानों द्वारा सुनने में आते हैं तो कौन सुनता है? यह जीव।

देहमिलित जीव का जाने व भोगने का व्यापार, जीव की सत्ता का निर्देशक–देह में मिला हुआ होने पर जाने वाला, भोगने वाला यह जीव ही हैं। यह जीव शरीर को ग्रहण करता है और भोगता है, देह में मिला हुआ भोगता है। यदि देह से निराला हो जाये तो यह जीव मुक्त कहलायेगा। देह में मिला हुआ होकर यह जीव जो भोग रहा है सो वस्तुतः इच्छाओं और विकल्पों को ही भोगता है, किन्तु व्यवहार दृष्टि से यह जीव देहमिलित स्थिति में भोजन पान आदि को भी भोगता है। देह में मिला हुआ जीव यह चलता है, देखिए एक जगह से दूसरी जगह पहुंचने की प्रकृति जीव में भी है और पुद्गल में भी। सकल परमात्मा जब मुक्त होते हैं तो यही वह शरीर कपूरवत् उड़ जाता है, रह जाता है केवल जीव, सो वह भी लोक के अन्त में चला जाता है, उसका स्वभाव है ऊर्ध्वगमन। लोक के बाहर गमन का सहायक धर्म द्रव्य है नहीं, अतएव लोक के बाहर नहीं जाता, पर स्वभाव ऊर्ध्वगमन का सदा रहता है। पुद्गल एक देश से दूसरे देश में पहुंच जाता है।

यह भी दिख रहा है। पुद्गल परमाणु तो बिना दूसरे के सहारे ही एक समय में १४ राजू तक गमन करता है। तो यह जीव देह में मिला हुआ जा रहा है। मोटे रूप में देखो तो जब मुर्दा रहता है तब तो यह नहीं जा पाता इस समय जा रहा है, इससे ही सिद्ध है कि देह में जीव है और यह देह से कोई जुदा ही पदार्थ है।

राओ हं भिच्चो हं सिट्ठी हं चेव दुब्बलो बलिओ।
इदि एयत्ताविट्ठो दोण्हं भेयं ण बुज्झेदि।।१८७।।

देहात्मैकत्वबुद्धि में जीव की मिथ्या मान्यतायें–यह मिथ्यादृष्टि जीव देह को ही आत्मा समझने वाला देह से ही अपना बड़प्पन सुख मानने वाला ऐसा जाना करता है कि मैं राजा हूं, नौकर हूं, सेठ हूं, दुर्बल हूं, बलवान हूं, इस तरह शरीर और आत्मा के एकत्व को मानने वाला जीव इन दो पदार्थों में भेद नहीं मानता। ऐसा मानने वाले तो प्रायः सभी मनुष्य हैं। कुछ बिरले ज्ञानियों को छोड़कर शेष सभी लोग मानते हैं कि मैं दुर्बल हो गया, बलिष्ठ हो गया, पर आत्मा तो केवल ज्ञानस्वरूप है। उस ज्ञानमात्र आत्मा में क्या है? क्या दुर्बलता और क्या बलिष्ठता? मिथ्यादृष्टि जीव ही इनमें भेद नहीं समझते। जितने भी ये विकल्प हैं ये सब शरीरपरक ही हैं, शरीर में लगाये हुए हैं, क्योंकि आत्मा न राजा है, न नौकर, न सेठ है, न गरीब है, न दुर्बल है। केवल बाह्य दृष्टि वाला जीव ही अपने आपको ऐसा मानता है। देखिये दुःख इसी बुद्धि में लगा है। लोग सम्मान अपमान क्यों महसूस करते हैं? उन्होंने देह को माना कि यह मैं जीव हूं और इसको देखने वाले ये बहुत से लोग हैं। ये लोग क्या सोचते होंगे कि इस का इन्होंने यों तिरस्कार किया, ऐसा ख्याल करके उसे क्रोध आ जाता है। सम्मान की बात मन में आ जाती है। किन्तु जो यह जानेगा कि मैं तो इस देह से निराला ज्ञानमात्र तत्व हूं, इसका परखने वाला कोई नहीं, यह तो सब में साधारण स्वरूप है, इस तरह अपने जीव में ही जीव की बुद्धि रखने वाले दुःखी नहीं होते। मोहवश देह को जब मान लिया कि यह मैं हूं तो सारे उपद्रव उस पर टूट पड़ते हैं और यही मिथ्या भाव इसके दुःख का कारण है। जिन्हें दुःख न चाहिए उन्हें भेद विज्ञान का यत्न करना होगा। यह पूर्ण निर्णय रखिये कि बाह्य समागमों से कभी भी शान्ति नहीं मिल सकती।

जीवो हवेइ कत्ता सव्वं कम्माणि कुव्वदे जम्हा।
कालाइ-लद्धि-जुत्तो संसारं कुणइ मोक्खं च।।१८८।।

जीव के कर्त्तव्य धर्म द्वारा जीव के अस्तित्व का ज्ञापन–जो लोग जीव की सत्ता नहीं मानते हैं उनके प्रति ही बहुत स्थूल रूप से जीव का अस्तित्व बताकर क्रमशः उस जीव के सम्बन्ध में सूक्ष्म-सूक्ष्म बातों का प्रतिपादन किया जा रहा है। प्रसंग यह चल रहा था कि देखिये–इन सब कामों को जीव ही तो कर रहा है। सुनता है, देखता है, जाता है, भोगता है, देह में मिला हुआ जीव ही तो ये सब कर पाता है। यदि देह ही देह हो, इसमें जीव न हो तो मृतक देह तो कुछ नहीं कर पाते, इसी प्रकार जैसे इन बाह्य पदार्थों से, घट पट आदिक वस्तुओं को देह से मिला हुआ जीव कर रहा है तो अन्तः भी देखिये कि यह ही जीव तो सर्व प्रकार के कर्मों को करता है। पुण्य पाप कर्मों की रचना, संसार में नाना विकल्प करना आदि इन सब बातों को क्या कोई अजीव कर रहा है? जीव ही इन समस्त कर्मों को कर रहे है और यह जीव ही जब कालादिक को लब्धि प्राप्त हो तो मोक्ष को भी करता है। जीव ही संसार को बना रहा और मोक्ष को करता है। जीव के अस्तित्व का कैसे निषेध कर रहे हो? यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से यह जीव आदि मध्य अन्त से रहित अपने और पर का प्रकाश करने वाला अविनाशी उपाधिरहित चैतन्य स्वरूप से ही जीता है। लेकिन जब अशुद्ध नय से देखते हैं तो यहां अनादि काल से कर्मबन्ध पड़ा हुआ है। इस कारण मन, वचन, काय का बल, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास

और आयु इन द्रव्यप्राणों से और संकल्प विकल्पादिक इन विभाव परिणमनों में रहने पर भाव प्राणों से यह जी रहा है ऐसा भी कहते हैं। मुक्त दशा में यह जीव शुद्ध चैतन्य प्राण से है। इसलिए यह भी समझ लेना चाहिए कि जीव शुभ-अशुभ कर्मों का करने वाला है। कुछ बातें उपचार से हैं, कुछ कर्त्तव्य व्यवहार से हैं, कुछ कर्त्तव्य अशुद्ध निश्चयनय से हैं लेकिन सबका सारांश यह है कि जीव का अस्तित्व हुए बिना ये सब बातें नहीं बन सकतीं। तो मानना चाहिए कि जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक भूतों से भिन्न स्वतंत्र चैतन्य पदार्थ है। शरीर की पर्याप्तियों को भी यह जीव करता है। यद्यपि भूतार्थनय से, स्वकीय द्रव्य की ही दृष्टि रखने वाले नय से सबका परिणमन खुद में हो रहा है, पर व्यवहार से, निमित्त दृष्टि से देखिये कि शरीर का ऐसा बनना क्या जीव के अस्तित्व के बिना हो सकता था? हो गया वृद्धि परिणमन शरीर का शरीर में लेकिन जीव के सम्बन्ध बिना नहीं हो पा सकता। तब प्रसंग में यही निश्चय करा ना कि जीव कुछ है। यहां तो चार्वाक सिद्धान्तानुयायी यह कह रहे हैं कि जीव है ही नहीं, भूतों का विकार है। देख लिया ना कि यह जीव है और इतनी बातों को करने वाला है। यद्यपि निश्चयनय से यह जीव केवल ज्ञान स्वभाव है और यह अपने अनन्त चतुष्टय को ही निश्चय से करने वाला है। लेकिन व्यवहार दृष्टि से निरखिये वर्तमान में क्या परिणमन हो रहा है, इस दृष्टि से देखिये तो यह संसार का करने वाला है और यही कर्मों से बंधा हुआ जीव जब अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल शेष रह जाता है संसार का तो वहां इसमें योग्यता आती है कि इसमें सम्यक्त्व उत्पन्न हो। तब काललब्धि पाने पर यह सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है और जो-जो योग्य निमित्त चाहिए वे सब प्राप्त होते हैं और यह जीव अपनी अन्तर्भावना के बल से इस संसार को, जन्म-मरण को भी समाप्त कर देता है। तो ये सब कार्य इस जीव के बिना तो नहीं हो सकते हैं। इससे मानो कि जीव है, मैं हूं। तो इस तरह यह संसार व मोक्ष विधियों का करने वाला जीव है यह विदित हो रहा है। जीव तत्व का निषेध किसी भी प्रकार किया नहीं जा सकता।

जीवो वि हवइ भुत्ता कम्म-फलं सो वि भुंजदे जम्हा।
कम्म-विवायं विविहं सो वि य भुंजेदि संसारे।।१८९।।

कर्मफलभोक्तृत्व बताकर जीव के अस्तित्व का ज्ञापन—जीव कर्मफल को भोग रहा है इस विधि से भी जीव का अस्तित्व समझ लीजिए। यहां जो जीव का अभाव ही मानने पर जो उतारू हैं उनको समझाया जा रहा है। निश्चयनय से जीव का क्या स्वरूप है ? इस प्रकरण का यह प्रसंग नहीं है, किन्तु 'पृथ्वी आदिक भूतों के समुदाय का नाम जीव है', ऐसा अज्ञान रखने वालों को जीव का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए कह रहे हैं, कि देखो ना—यह जीव कर्मफल को भोगता है। इसलिए यह जीव भोक्ता भी है। नाना प्रकार के कर्मों के भोगने से जीव का अस्तित्व निश्चित होता है भोगने की बात यद्यपि यह व्यवहारनय से है कि शुभ-अशुभ कर्मों के उदय से जो सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं उनको जीव भोगता है। यद्यपि कर्म में जो बात बन रही है उसका भवन कर्म में ही है और कर्म के निमित्त से जो बात हो रही है जीव में उसका भवन जीव में है। निश्चयनय से शुद्ध स्वभाव दृष्टि से यह किसी का भी भोगने वाला नहीं है। लेकिन व्यवहार दृष्टि से अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से कर्मफल का भोक्ता भी कहलाता है। भोक्तृत्व बताकर यहां यह समझना है कि जीव है। जीव न हो तो यह संसार भ्रमण कैसे बन जाता है, यह जीव सुख-दुःख परिणामों को कैसे भोगता है? व्यवहार से इष्ट अनिष्ट पदार्थों को भोगता है। तो जहां ऐसा भोगने का गुण पड़ा हुआ है तो जीव है, जीव का अभाव कैसे कहा जा सकता है?

जीवो वि हवे पावं अइ-तिव्व-कसाय-परिणदो णिच्चं।
जीवो वि हवइ पुण्णं उवसम-भावेण संजुत्तो।।९०।।

जीव की पुण्यपापरूपता का वर्णन–जब यह जीव अत्यन्त तीव्र कषाय से परिणत होता है तो यह ही पाप कहलाता है और जब यह कषायों के उपशमन रूप से परिणमता है तब यह जीव पुण्य कहलाता है। तीव्र परिणाम हैं अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व भाव। ये तीव्र परिणाम कहलाते हैं। इनमें जो जीव है वह पापी है। भैया! अपने आपके सुरक्षित रहने का निर्णय बाह्य सामग्री से करना बिल्कुल भूल है। अपने अन्तरङ्गपरिणामों से अपनी रक्षा का निर्णय करिये। यदि मोहरूप परिणाम है तो भले ही वह आज बड़ा सस्ता लग रहा है, पुण्य का उदय है, ठाठबाट सामने हैं, खूब मोह करना, राग करना बड़ा आसान लग रहा है, लेकिन अज्ञान और मोह से जो महापाप संचित किया जा रहा है उससे क्या आत्मरक्षा की आशा की जा सकती है? कुछ समय की बात है, अन्त में इसको महाक्लेश भोगना होगा। कोई पुरुष धनी हो अथवा निर्धन–अपने आपकी रक्षा का निर्णय अपने शुद्ध परिणामों के बल से कर रहा है तो उसकी रक्षा है, और पाप परिणाम किया है, कर्मों की प्रेरणा में ज्ञान का तिरस्कार किया है तो अब भविष्य में आत्म रक्षा नहीं है। हां उस समय यदि थोड़ा आन्तरिक बल उत्पन्न करके उन पाप परिणामों का हटा दिया जाये तो वे पाप परिणाम हटने तो थे ही, क्योंकि वे क्षणिक भाव हैं। अब विवेक द्वारा हटाये तो फल यह होगा कि उन पाप परिणामों की संतान न बन पायेगी और जीव की रक्षा हो जायेगी। यह मानव जीवन बड़ा दुर्लभ जीव है। अब तक परवस्तु के लगाव की धुन में बहुत-बहुत विकल्प रच डाले, लेकिन अपने आपकी दया के भाव से सोचना चाहिए कि मुझ जीव का आगे क्या हाल होगा? मुझे किस तरह रहना चाहिए? मेरा भविष्य कैसे सुधरे? मैं आगे शान्त रहूं और पवित्र होऊं, संकटों से छूट जाऊं, वह उपाय कर लेने का यह सुन्दर अवसर है। उसकी ओर तो हो उपेक्षा और पौद्गलिक ढेला पत्थर की ओर लगाव हो तो न यह परिवार आपके काम आयेगा, न आपका कोई यहां वैभव काम आयेगा। आपका जिस प्रकार के परिणामों में जीवन गया है उसके अनुसार फल भोगना होगा।

दुर्लभ अवसर के लाभ के सदुपयोग का अनुरोध–भैया! एक यह दुर्लभ मौका ऐसा मिला है, जैन शासन की प्राप्ति, उच्चकुल की प्राप्ति, बुद्धि की प्राप्ति, और निर्विघ्न जिन्दा रह सकें ऐसी सुविधा की प्राप्ति, ये सब सुन्दर अवसर मिले हैं, इनमें तो यह करना चाहिए कि इस जन्म-मरणमय संसार के गहन बन से निकल जायें और जैसे सिद्धप्रभु अपने आपमें अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्दमय विरामजान हैं उस तरह की पवित्रता पा लें, इसका उपाय बना लें और संसार में रुलने का उपाय तो बनाते आये ही है। उसमें तो कुछ कठिनाई जंच ही नहीं रही है। वह उपाय भी बना सकते हैं, पर कुछ विवेक करना चाहिए। इस बुद्धि को छोड़ना चाहिए कि परिवार में ये ४-६ जीव हैं ये ही मेरे सर्वस्व हैं। वास्तव में उनका भी वही स्थान है जो स्थान जगत के अनन्तानन्त जीवों का है आपके लिए। बिल्कुल स्वतंत्र पदार्थ हैं, उनसे आपमें कोई परिणति नहीं आती। वे आपका सुधार नहीं कर सकते, शान्ति सुख नहीं दे सकते। उनकी ओर से इस लगाव को दूर करें। घर में रहते हैं रहें, मगर सच्चा ज्ञान प्रकाश बनाये रहें। मैं मैं ही हूं, मेरा मेरे स्वरूप से बाहर कहीं कुछ नहीं है, ऐसा ज्ञान प्रकाश बनाकर परिजनों से मोह दूर कीजिए। न दूर करोगे मोह तो उसका फल भोगने को परिजन तैयार नहीं हैं, कोई तैयार नहीं है। सब लोग सोचते हैं अपने मन में कि हम अपने घर के बादशाह हैं। मेरे ठाठ-बाट हैं। मैं चाहे थोड़ा ही धनी हूं अथवा गरीब हूं लेकिन हूं तो घर का बादशाह। जो कुछ साधन मिला है स्वच्छन्दतापूर्वक उसका सदुपयोग कर लें। लेकिन बादशाही इसमें नहीं है। अपने आपके आत्मा का सत्यस्वरूप

दृष्टि में आये तो आप अपने बादशाह हैं। अन्यथा जैसे अनन्तानन्त जीव मिथ्या दृष्टि गरीब हैं, राजा महाराजा जैसे बनकर भी गरीब हैं जिनको आत्म ज्ञान का लाभ नहीं है। तो यह जीव एक सम्यक्त्व लाभ बिना, आत्म ज्ञान के लाभ बिना तीव्र परिणामों से परिणत होकर पापी हो रहा है। और जब यह जीव कषायों के उपशमन में आता है, सम्यक्त्व चारित्र रूप परिणामों से युक्त होता है तो यही जीव सकल कर्ममल से रहित होता है तो पूर्ण पुण्यमय है। अर्थात् पवित्र परमात्मा होता है, अरहंत सिद्ध होता है। गुणस्थान के हिसाब से देखा जाये तो जहां अनन्तानुबंधी कषाय है, मिथ्यात्व भाव है वह अति पापी जीव है। पहले और दूसरे गुण स्थान के जीव पापमय हैं। तीसरे गुणस्थान के जीव मिश्र कहलाते हैं चतुर्थ गुण स्थान और इससे ऊपर के जीव पुण्यमय जीव हैं। अब तरतमता हर एक बात सब जगह घटा लेना चाहिए, पर एक प्रधानता से यह बात कही जा रही है। यद्यपि पुण्य पाप के भेद अजीव कर्म में हैं, पर यह जीव की बात कही जा रही है कि यह जीव पापी कब है और पुण्यमय कब है? तो अपनी सुरक्षा का निर्णय इस पाप और पुण्यभाव से कीजिए और जब स्वरक्षा की बात समझ में आये उससे सन्तोष कीजिए। बाह्य जड़ वैभवों से कोई रक्षा नहीं है।

रयणत्तय-संजुत्तो जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं।
संसारं तरइ जदो रयणत्तय-दिव्व-णावाए।।९९।।

रत्नत्रय रूप दिव्य नौका द्वारा संसार से तिर सकने का सामर्थ्य—जीव का अस्तित्व न मानने वालों को स्थूल दृष्टि से जीव की सत्ता समझाते हुए अन्त में यह कह रहे हैं कि देखो यही जीव रत्नत्रय से सहित होता है तो वह उत्तम तीर्थ कहलाता है। तीर्थजीवो, तीर्थ की वन्दना करो—इसका सीधा अर्थ यह है कि इस आत्मा का जो विशुद्ध स्वरूप है, उसकी और उस विशुद्ध स्वरूप की उपासना में जो लगे हुए रत्नत्रयधारी पुण्यात्मा हैं उनके स्वरूप की उपासना में ज्ञान को ले जाओ। यही उत्तम तीर्थ है। ऐसा पुरुष क्यों तीर्थ है कि वह रत्नत्रय रूपी अलौकिक नौका से संसार को पार कर लेता है। तीर्थ उसे कहते हैं जिसके द्वारा संसार को तिरा जाये। सो व्यवहार रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रय सहित आत्मा यह ही तीर्थों में उत्कृष्ट तीर्थ है। यह जीव अपनी प्रतीति करके उस रूप रहकर परिणम कर यह जीव संसार से तिर लेता है। यह रत्नत्रय आत्मा का ही धर्म है इसलिए इस आत्मा को ही तीर्थ कहते हैं। तीर्थ यह आत्मा इसलिए भी है कि स्वयं भी संसार से तिर जाता है और दूसरों को संसार से तिराने में निमित्त होता है। परमात्मा अरहंत का उपदेश यदि आज इस परम्परा में न मिलता तो हम आप आत्मा के रहस्य को कैसे जानते? तो देखिये—उन प्रभु तीर्थंकरों ने हम लोगों को तिराने का भी साधन बता दिया ना। तो ऐसे पुण्यवान जीव स्वयं भी संसार से तिर जाते हैं, दूसरों को तिराने में कारण भी होते हैं। पुण्यवान के मायने यहां समझिये पवित्र स्वभाव में रहने वाले पवित्र आत्मा। यही एक उत्कृष्ट तीर्थ है जहां पूर्ण शान्ति प्राप्त हो सकती है। जो शान्ति का उपाय बना सकता है उस जीव का निषेध ये चार्वाक लोग कह रहे हैं। तो जो जीव के रहस्य को ही नहीं जानता। वह अपना कल्याण कैसे कर सकता है? जीव है और उसे अपने आपके सत्य स्वरूप में अनुभविये, इससे ही संसार के सारे संकट दूर हो जाते हैं।

●●●

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्वाष्टकम्

शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्वम्

यस्मिन् सुधाम्निनिरता गतभेदभावाः, प्रापुर्लभन्त अचलं सहजं सुशर्म।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्वम्।।१।।
शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूल मंत्र, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतंत्रम्।
यत्र प्रयातिं विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्वम्।।२।।

भिन्नं समस्तपरतः परभवतश्च, पूर्ण सनातनमनन्तमखण्डमेकम्।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्ध चिदस्मि सहजं परमात्मतत्वम्।।३।।
ज्योतिः परं स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वर साप्तसत्वम्।
चिन्मात्रधाम नियतं सतत प्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्वम्।।४।।

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम्।
सद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्।।५।।
आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्टयाम।
आनंदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्।।६।।

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमि, नित्यं निरावरणमज्जनमुक्तमौरम्।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मिसहजं परमात्मतत्त्वम्।।७।।
ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः।
यद्दर्शनात्प्रभवतिप्रभुमोक्षमार्गः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम्।।८।।

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः।
सहजानन्दसुबन्धं स्वभाव मनुपर्ययं याति।।